अर्थविज्ञान और व्याकरणदर्शन

[प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा डी० फ़िल्०
के लिए स्वीकृत प्रबंध]

कपिलदेव द्विवेदी आचार्य

एम्० ए०, एम्० ओ० एल्०, डी० फ़िल्०

१९५१

हिंदुस्तानी एकेडेमी

उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद

प्रथम संस्करण : : १९५१ : : २०००

मूल्य [illegible] रुपये

मुद्रक : महादेव प्रसाद, आज़ाद प्रेस, प्रयाग

स्वर्गीय डा० काशी प्रसाद जायसवाल की सुपुत्री

डा० ज्ञानशीला एम० बी०, बी० एस०

के कर कमलों में

प्रकाशकीय

हिन्दुस्तानी एकेडेमी का यह प्रयास रहा है कि हमारे साहित्य की जिन दिशाओं में अभी बिल्कुल कार्य नहीं हुआ है, उन पर उत्तम प्रामाणिक ग्रन्थ प्रकाशित किये जायें। प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय—'अर्थविज्ञान और व्याकरण'—अभी तक हिन्दी में अछूता है, यद्यपि शब्द और अर्थ के पारस्परिक सम्बन्ध और व्याकरण द्वारा उनके नियोजन पर संस्कृत के आचार्यों ने बहुत गूढ़ चिन्तन किया है और यूरोप के भाषा-शास्त्रियों ने भी उस दिशा में कार्य किया है तथा अपनी नवीन खोजें प्रकाशित की हैं।

डा० कपिलदेव द्विवेदी ने समस्त प्राचीन और नवीन सामग्री को संकलित कर उन पर यथेष्ट विचार किया है। उनका दृष्टिकोण शास्त्रीय है और विषय गूढ़ होते हुए भी उनकी विवेचना-शैली सरल और स्पष्ट है।

हम आशा करते हैं कि यह ग्रन्थ हिन्दी के एक विशेष अभाव की पूर्ति करेगा।

धीरेन्द्र वर्मा

१५ मई, १९५१ **मंत्री तथा कोषाध्यक्ष**

एक शब्द

प्रस्तुत निबन्ध श्री डा० बाबूराम जी सक्सेना एम० ए०, डी० लिट्० (अध्यक्ष संस्कृत-विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) के तत्त्वावधान में लिखा गया है। इस निबन्ध के तीन परीक्षक थे :—(१) श्री पं० गोपीनाथ जी कविराज (बनारस) एम० ए०, डी० लिट्०, (२) श्री डा० सिद्धेश्वर वर्मा (नागपुर), एम० ए०, डी० लिट्० और (३) श्री डा० बाबूराम जी सक्सेना। तीनों परीक्षकों ने प्रस्तुत निबन्ध की विशेष प्रशंसा की है। तीनों परीक्षकों की पूर्ण स्वीकृति पर यह निबन्ध डी० फिल्० उपाधि के लिए प्रयाग विश्वविद्यालय द्वारा स्वीकृत हुआ और ३ दिसम्बर १९४६ को उक्त निबन्ध पर डी० फिल्० की उपाधि प्राप्त हुई। प्रयाग विश्वविद्यालय से प्रकाशनार्थ स्वीकृति प्राप्त करके यह निबन्ध विद्वद्वृन्द के सन्मुख उपस्थित किया जा रहा है।

निबन्ध का विषय—अर्थविज्ञान विषय पर भारतीय वैयाकरणों ने जो विचार किया है उसका संकलन इस निबन्ध का विषय है। भारतीय वैयाकरणों ने अर्थविज्ञान विषय पर स्थूल दृष्टि से नहीं, अपितु अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया है। अतएव प्रस्तुत निबंध भौतिक अर्थविज्ञान ही न रहकर दार्शनिक एवं आध्यात्मिक अर्थविज्ञान का भी विवेचन हो गया है। पदार्थ के विषय में सारे शास्त्रों और दर्शनों आदि में जो विचार प्रस्तुत किए गए हैं, उनका वैयाकरणों ने संग्रह किया है। पदार्थ के विषय में विभिन्न १२ मत प्रस्तुत करके उनका विवेचन किया है।[1] वैयाकरणों के मतानुसार इन बारह विभिन्न मतों में सृष्टि के समस्त पदार्थविषयक मत संगृहीत हो जाते हैं। वैयाकरण पद और पदार्थ को अन्तिम सत्य नहीं मानते हैं, वे पद और पदार्थ को काल्पनिक मानते हैं, असत्य मानते हैं, अनित्य मानते हैं, मिथ्या मानते हैं, माया मानते हैं; पद और पदार्थ अविद्या हैं, अज्ञान हैं, अवास्तविक हैं। अतएव वैयाकरण पदवाद का खण्डन करके वाक्यवाद की स्थापना करते हैं, पदस्फोट का खण्डन करके वाक्यस्फोट का ही समर्थन करते हैं। पद से पृथक् वाक्य की सत्ता है। वाक्य से ही अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। वाक्य से ही अर्थ का ज्ञान होता है, पद या पदों से नहीं। वाक्य ही सार्थक होता है, प्रत्येक पद नहीं। वाक्य ही सत्य है, पद नहीं। वाक्य ही नित्य है, पद नहीं। वाक्य ही अक्षर ध्रुव कूटस्थ अपरिणामी अक्षय एवं किसी प्रकार के भी अवयवों से रहित है, पद नहीं। वाक्य में अन्वय-व्यतिरेक के आश्रय से पदों का अस्तित्व माना जाता है, पदों के अर्थ का अस्तित्व

---

१. देखो वाक्यपदीय काण्ड २, श्लोक १२१ से १४३ तथा प्रस्तुत निबन्ध का द्वितीय अध्याय।

माना जाता है, परन्तु यह सब काल्पनिक है। यह सब व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है। तात्त्विक दृष्टि से वाक्य में पदों का अस्तित्व नहीं है। वाक्य स्वतंत्र सत्ता है, उसका पृथक् अस्तित्व है। उसी से अर्थ का निश्चित और पूर्ण ज्ञान होता है। जिस प्रकार पद से पृथक् वाक्य की सत्ता है, उसी प्रकार पदार्थ से पृथक् वाक्यार्थ की सत्ता है। प्रत्येक पद के अर्थ से पृथक् वाक्य का अर्थ होता है। वाक्य के अर्थ की स्वतंत्र सत्ता है, वह पदों के अर्थ पर निर्भर नहीं रहता है। पदों के अर्थ अनिश्चित, अपूर्ण, संदिग्ध और अस्पष्ट होते हैं परन्तु वाक्य का अर्थ निश्चित, पूर्ण, असंदिग्ध और स्पष्ट होता है। इस प्रकार से पद और पदार्थ से पृथक् सूक्ष्म तत्त्व वाक्य और वाक्यार्थ है, वही अन्तिम सत्य है। वैयाकरणों के मतानुसार संसार में प्रतिभा ही वाक्यार्थ है, वही सृष्टि की आत्मा है, वही आत्म-तत्त्व है, वही वाक्-तत्त्व है। वह सत्य है, नित्य है, ध्रुव है, अक्षर है, अक्षय है, अपरिणामी है और अवयव-रहित एक है। वैयाकरणों ने वाक्य के विषय में विद्यमान समस्त मतों का संग्रह करके उनको आठ भागों में विभक्त किया है। इन आठ विभिन्न मतों में समस्त दार्शनिक और वैज्ञानिक मतों का समावेश हो जाता है। इन आठ विभिन्न मतों पर विचार करने से वाक्यार्थ ६ प्रकार का सिद्ध होता है[1]। इस ६ प्रकार के वाक्यार्थ में सभी सूक्ष्म दार्शनिक और वैज्ञानिक सिद्धान्तों का संकलन हो जाता है। इस प्रकार से पदार्थ १२ प्रकार का तथा वाक्यार्थ ६ प्रकार का होने से अर्थ अठारह प्रकार का होता है। अतएव हेलाराज ने वाक्यपदीय में (काण्ड २ पृ० ११०) अर्थ अठारह प्रकार का तथा शब्द ६ प्रकार का बताकर उसकी व्याख्या की है[2]। उपर्युक्त अभिप्राय का विवेचन शब्द और अर्थ का स्वरूप, पद और पदार्थ, वाक्य और वाक्यार्थ तथा स्फोटवाद और अर्थविज्ञान इन अध्यायों में विशेष रूप से किया गया है।

निबन्ध में मौलिकता—प्रस्तुत निबन्ध में मौलिक अंश कितना है या मौलिकता कितनी है, यह निर्णय करना कुछ कठिन कार्य प्रतीत होता है, क्योंकि सृष्टि में शब्द-तत्त्व, शब्द-ब्रह्म, वाक्-तत्त्व, अर्थतत्त्व अथवा प्रतिभा के अतिरिक्त किसी भी मौलिक पदार्थ की या वाक्यार्थ की आशा करना दुराशामात्र है। मूल-तत्त्व के अतिरिक्त मौलिकता और हो भी क्या सकती है। उस मूल-तत्त्व को वैयाकरण संक्षेप में शब्द-तत्त्व, वाक्तत्त्व, अर्थ-तत्त्व या प्रतिभा नाम से संबोधित करते हैं। पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि और भर्तृहरि ने अर्थ-तत्त्व अथवा अर्थविज्ञान के विषय में जो विचार सूत्ररूप में रखे हैं, वे अर्थ-गाम्भीर्य के कारण अत्यन्त गम्भीर, दुर्बोध और अज्ञेय हैं। सारे निबन्ध में जो प्रयत्न किया गया है, वह है उस मौलिक-तत्त्व को स्पष्ट और सुबोध बनाना। इसके अतिरिक्त और मौलिक विचारों को प्रस्तुत करना न सम्भव है और न अभीष्ट ही है, क्योंकि वैयाकरणों के अभिप्राय को स्पष्ट करना ही प्रस्तुत निबन्ध का विषय है, लक्ष्य है, उद्देश्य है और इष्ट है।

---

१. देखो वाक्यपदीय काण्ड २, श्लोक १-२ की व्याख्या

२. अर्थोऽष्टादशधा। वाक्य० काण्ड २, पृष्ठ ११०।

अर्थ-तत्त्व के विवेचन का प्रारम्भ—यद्यपि शब्दतत्त्व अर्थात् स्फोट के अतिरिक्त कोई मौलिक तत्त्व नहीं है, तथापि उसकी प्राकृत (मौलिक, स्वाभाविक) ध्वनि में गौणरूप से लक्षणावृत्ति के आश्रय से मौलिकता स्वीकार की जाती है। अतएव वाक्य में वर्ण, पद और वाक्य इन तीन तत्त्वों की कल्पना की जाती है। सृष्टि में ईश्वर, जीव और प्रकृति इन तीन रहस्यात्मक तत्त्वों का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। एक ही ज्ञान-तत्त्व (वेद) को वाक्-तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व इन तीन भागों में विभक्त करके वेदत्रयी अर्थात् ऋग्, यजुः, साम का अस्तित्व स्वीकार किया जाता है। मीमांसादर्शन ने इस विवेचन को पद्य, गद्य और गीति (क्रमशः ऋग्, यजुः और साम) इन तीन भागों में प्रस्तुत किया है। साहित्यशास्त्रियों ने स्फोट, वाक्तत्त्व आदि नामों को न रखकर शक्ति या शब्दशक्ति नाम से उक्त विवेचन को प्रस्तुत किया है। वैयाकरणों ने वर्ण और पद से आगे वाक्य की सत्ता सिद्ध की है, वर्णस्फोट और पदस्फोट से आगे अन्तिम सत्य वाक्य-स्फोट को माना है, उसी प्रकार साहित्यशास्त्रियों ने वैयाकरणों के मत का अनुसरण करते हुए अभिधा और लक्षणाशक्ति से आगे व्यंजना शक्ति की सिद्धि की है। व्यंजना शक्ति की सिद्धि के कारण ही शब्द व्यंजक होता है और अर्थ व्यंग्य होता है। व्यंग्य अर्थ न पद पर निर्भर रहता है और न पदार्थ पर। उसकी स्वतन्त्र सत्ता है। वह स्वतन्त्र शक्ति है, वह स्वतन्त्र अर्थ है, वह कभी भी पराधीन नहीं है। अर्थ-तत्त्व के विवेचन का प्रारम्भ वैदिक वाङ्मय के प्रारम्भ से ही हुआ है। वैदिक ऋषियों ने उसको मन्त्रात्मक रूप देकर प्रस्तुत किया है। चारों वेदों में स्फोट शब्द का उल्लेख न होने पर भी वाक्-तत्त्व को वाक्ब्रह्म के रूप में प्रस्तुत किया गया है और स्फोटवाद के सिद्धांत का पूर्णतया प्रतिपादन किया गया है। वाक्-तत्त्व जिसको आत्मतत्त्व, ब्रह्म, शब्दतत्त्व आदि रूपों में प्रस्तुत किया गया है, वह प्रतिभा की ही विभिन्न रूपों से व्याख्या है। सृष्टि के मूल में प्रतिभा ही मौलिक पदार्थ है। वेदों में मेधा, मनीषा आदि शब्दों के द्वारा प्रतिभा का अभिप्राय स्पष्ट किया है। वेदों ने सृष्टि को, जो कि अर्थ तत्त्व की प्रतिमूर्ति है, वाक्-तत्त्व का ही विकास माना है। वाक्-तत्त्व को पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि, रावण और भर्तृहरि आदि महा-वैयाकरणों ने शब्द, शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म आदि नामों से प्रस्तुत किया है। पतञ्जलि ने अतएव व्याकरण को 'अथ शब्दानुशासनम्' कहकर शब्दानुशासन नाम दिया है। वैयाकरण को वाक्तत्त्व के विवेचन के कारण 'वाग्योगवित्' अर्थात् वाक्-तत्त्व के यथार्थ सम्बन्ध का ज्ञाता कहा है। वाक्-तत्त्व अर्थ रूप में परिणत होता है, वही सृष्टि का कारण है, वही सृष्टि का आधार है।[1]

वेदों ने जिस भाव को मन्त्र-रूप में रक्खा है उसको ब्राह्मण ग्रंथों में विस्तार से स्पष्ट किया गया है। उपनिषदों में वाक्तत्त्व को ब्रह्म रूप में रखकर औपनिषदिक भाषा में बहुत विस्तार से विवेचन का विषय बनाया गया है। वेद के षडंगों में से शिक्षा, निरुक्त और व्याकरण से इस विषय पर वैयाकरणों की पद्धति से विवेचन प्रारम्भ हुआ है। दर्शन

---

१. अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्तते ऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥ वाक्य० १. १.

ग्रंथों स्मृतियों और पुराणादि में उस एक मौलिक तत्त्व की विभिन्न नामों और विभिन्न रूपों से व्याख्या की गई है।

व्याकरण-दर्शन और अर्थ-विवेचन—प्रातिशाख्य ग्रन्थों में वेदों को लक्ष्य में रखते हुए वाक्-तत्त्व का विवेचन और विश्लेषण विशेष रूप से हुआ है। आचार्य पाणिनि से पूर्व कतिपय महावैयाकरणों ने इस विषय पर विशेष कार्य किया था। उनके उपादेय ग्रंथरत्न सम्प्रति अनुपलब्ध होने के कारण प्रस्तुत निबन्ध में विशेष सहायक न हो सके। आचार्य पाणिनि ने अष्टाध्यायी में अपने से प्राचीन कतिपय आचार्यों का उल्लेख किया है। जिनमें आपिशलि, काश्यप, गार्ग्य, गालव, चाक्रवर्मण, भारद्वाज, शाकटायन, शाकल्य, सेनक और स्फोटायन के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।[1] पाणिनि-व्याकरण के साथ ही कतिपय अन्य व्याकरणों का उल्लेख प्राचीन ग्रंथों में मिलता है। जिनमें से आठ प्राचीन व्याकरण मुख्य हैं :—ऐन्द्र, चान्द्र, काशकृत्स्न, कौमार, शाकटायन, सारस्वत, आपिशल और शाकल।

> ऐन्द्रं चान्द्रं काशकृत्स्नं कौमारं शाकटायनम्,
> सारस्वतं चापिशलं शाकलं पाणिनीयकम्। परिभाषेन्दु टीका पृ० २

श्री जयद्रथ ने हरचरितचिन्तामणि नामक ग्रंथ के सत्ताइसवें प्रकाश (अध्याय) का नाम 'शब्दशास्त्रावतारप्रकाश' नाम रखकर पाणिनि-व्याकरण की उत्पत्ति और विकास तथा पाणिनि, कात्यायन (वररुचि), व्याडि, स्वामिकुमार, वर्ष, इन्द्रदत्त आदि महावैयाकरणों के अध्ययन देश कालादि का परिचय कराया है। श्री जयद्रथ का कथन है कि ऐन्द्र व्याकरण संसार से नष्ट हो चुका था (श्लोक ७६) अतएव भगवान् शिव ने ऐन्द्र व्याकरण के स्थान पर पाणिनीय व्याकरण की सृष्टि की। उस समय से लेकर समस्त शब्दज्ञान का प्रकाशक दिव्य पाणिनीय व्याकरण भूमि पर प्रसिद्ध है। भगवान् पाणिनि स्वयं शिव के अवतार हैं, अन्यथा किसकी यह शक्ति थी कि वह दिव्य व्याकरण को भूतल पर प्रतिष्ठापित कर सकता। समस्त शास्त्रों के होते हुए भी ऐसा कौन है जो कि पाणिनि की स्तुति (प्रतिष्ठा) न करता हो, क्योंकि उसकी कृपा से ही अर्थतत्त्व का ठीक-ठीक बोध होता है।

---

१. वा सुप्यापिशलेः। अष्टा० ६. १. ९२
तृषिमृषिकृशेः काश्यपस्य। अष्टा० १. २. २५
ओतो गार्ग्यस्य। अष्टा० ८. ३. २०
तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद् गालवस्य। अष्टा० ७. १. ७४
ई३ चाक्रवर्मणस्य। अष्टा० ६. १. १३०
ऋतो भारद्वाजस्य। अष्टा० ७. २. ६३
लङः शाकटायनस्यैव। अष्टा० ३. ४. १११ तथा अष्टा० ८. ३. १८
संबुद्धौ शाकल्यस्येतावनार्षे। अष्टा० १. १. १६ तथा ६. १. १२७ एवं ८. ३. १९
गिरेश्च सेनकस्य। अष्टा० ५. ४. ११२
अवङ् स्फोटायनस्य। अष्टा० ६. १. १२३.

ऐन्द्रं व्याकरणं नष्टं समग्रं चाभवद्भुवि ।७६
ऐन्द्रं व्याकरणं हित्वा पाणिनीयं व्यधाच्छिवः । १६३
ततः प्रभृति निःशेषशब्दज्ञानप्रकाशकम् ।
दिव्यं व्याकरणं भूमौ पाणिनीयं प्रसिध्यति । १६४
पाणिनिर्भगवानेव स्वयं चन्द्रार्धशेखरः ।
प्रतिष्ठापयते कोऽन्यो दिव्यं व्याकरणं भुवि । १६५
अशेषेष्वपि शास्त्रेषु स्तूयते कैर्न पाणिनिः ।
ज्ञायन्ते सम्यगेवैते यत्प्रसादेन वाचकाः । १६६ (हरचरितचिन्तामणि, अध्याय २७, श्लोक ७६ तथा १६३-१६६)

भर्तृहरि और अर्थविज्ञान—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड के अन्त में व्याकरण-दर्शन और अर्थविज्ञानविषयक वैयाकरणों के विवेचन का संक्षिप्त इतिहास लिखा है। पाणिनि के पश्चात् व्याकरण-दर्शन पर आचार्य व्याडि का संग्रह नामक ग्रंथ, जो कि एक लाख श्लोकों से युक्त था, व्यास-रचित महाभारत के तुल्य विशालकाय अनर्घरत्नपरिपूरित व्याकरण-ग्रंथ था। व्याकरण-दर्शन की दृष्टि से यह ग्रन्थ कितना बहुमूल्य था यह स्वयं पतञ्जलि के कथन से स्पष्ट होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में 'शब्द नित्य है कि अनित्य' जैसे महत्त्वपूर्ण विषय को यह कह कर छोड़ दिया है कि संग्रह में इस विषय पर विशेष विस्तार से विवेचन किया गया है, वहीं पर नित्यता और अनित्यता दोनों पक्षों के गुण-दोषों का विस्तार से विश्लेषण किया गया है।[1] भर्तृहरि ने तथा उनके टीकाकार पुण्यराज ने करुणापूर्ण शब्दों में लिखा है कि पाणिनीय व्याकरण में व्याडि का बनाया हुआ एक लाख श्लोकों का संग्रह नामक ग्रन्थ था। खेद का विषय है कि वह महान् ग्रन्थ वैयाकरणों की शिथिलता, उपेक्षादृष्टि, अध्यवसायहीनता, पल्लवग्राहिपाण्डित्य की प्रकृति के कारण संसार से लुप्त हो गया।

प्रायेण संक्षेपरुचीनल्पविद्यापरिग्रहान् ।
सम्प्राप्य वैयाकरणान् संग्रहेऽस्तमुपागते ॥ वाक्य० २, ४८४
इह पुरा पाणिनीयेऽस्मिन् व्याकरणे व्याड्युपरचितं ग्रन्थलक्षणपरिमाणं संग्रहाभिधानं निबन्धनमासीत् । (पुण्यराज)

पतञ्जलि का महाभाष्य—भर्तृहरि तथा पुण्यराज का कथन है कि तत्त्वदर्शी भगवान् पतञ्जलि ने व्याकरण-दर्शन को अक्षुण्ण रखने के लिए करुणाभाव से प्रेरित होकर कात्यायन के बनाये हुए वार्तिकों की व्याख्या करके समस्त दार्शनिक सिद्धान्तों एवं न्यायों का अपने महाभाष्य में समावेश किया है। इसमें केवल व्याकरण के ही सिद्धांतों

---

१. संग्रह एतत् प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात् कार्यो वेति ।
तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि । तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि लक्षणं प्रवर्त्यमिति । (महाभाष्य, आह्निक १)
संग्रहो व्याडिकृतो लक्षश्लोकसंख्यो ग्रन्थ इति प्रसिद्धिः । (नागेश, महाभाष्य, पूर्ववत्)

का समावेश नहीं है, अपितु समस्त सिद्धांतों का संक्षेप में समावेश है। अतः इसे 'महाभाष्य' यह सार्थक नाम दिया गया है।[1]

महाभाष्य के विषय में आगे स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है कि यह महाग्रंथ पतञ्जलि की लेखन परिपाटी की सुबोधता और सरलता के कारण स्पष्टप्राय प्रतीत होता है, परन्तु अर्थगाम्भीर्य, भाव गाम्भीर्य तथा प्रमेय-बाहुल्य के कारण अत्यन्त दुर्बोध, अगाध और अज्ञेय है। अतएव अतत्त्वज्ञ, प्रतिभाविहीन एवं सुकुमारबुद्धि जिज्ञासुओं का उसमें प्रवेश नहीं हो पाता है। (पुण्यराज)[2]

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थित निश्चयः। वाक्य०, २, ४८६।

बैजि, सौभव और हर्यक्ष ये वैयाकरण हैं, जिन्होंने केवल और शुष्क तर्क-पद्धति का आश्रय लेकर आर्ष व्याकरणदर्शन का, जिसका स्वरूप संग्रह ग्रंथ में स्थिर किया गया था, दुर्भावना से प्रेरित होकर सर्वनाश किया है।[3]

रावण और व्याकरण-दर्शन—पतञ्जलि के शिष्यों ने इस व्याकरण-दर्शन की रक्षा की और यह दर्शन अस्तव्यस्त रूप में दाक्षिणात्यों में केवल ग्रन्थमात्र में अवशिष्ट रह गया था। हेलाराज के कथन से ज्ञात होता है कि व्याकरण-दर्शन के मौलिक रूप के जन्मदाता आचार्य रावण थे। यह मूल-दर्शन शिलालेख के रूप में दक्षिण में था जो कि हेलाराज के कथनानुसार त्रिकूट पर्वत के एक विभाग त्रिलिंग स्थान के एक कोण में था। लुप्तप्राय व्याकरण-दर्शन को इस शिलालेख के आधार पर आचार्य चन्द्र तथा भर्तृहरि के गुरु आचार्य वसुरात आदि ने महाभाष्य की सहायता तथा योगसिद्धि का आश्रय लेकर पुनरुज्जीवित और विकसित किया। इस समय प्राप्य व्याकरण-दर्शन का श्रेय इन्हीं आचार्यों को है। आचार्य वसुरात ने आचार्य भर्तृहरि को जिस रूप में यह

---

१. कृते ऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना।
सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने॥ (वाक्य० २. ४८५)

तच्च भाष्यं न केवलं व्याकरणस्य निबन्धनं यावत्सर्वेषां न्यायबीजानां बोद्धव्यमित्यत एव सर्वन्यायबीजहेतुत्वादेव महच्छब्देन विशिष्य महाभाष्यमित्युच्यते लोके। (पुण्यराज, वाक्य० पूर्ववत्)

२. अतिगम्भीरं हि भाष्यमुपरचितं भगवता पतञ्जलिनेति न तस्याभिधेयं व्यवच्छेत्तुं केनचिच्छक्यत इति। एतद्भाष्यं परिपाटिलक्षणादत्र सौष्ठवादुत्तानं स्पष्टप्रायं प्रतिभाति। प्रमेयबाहुल्येन दुरवगाहत्वम्। अत एवेदं महाभाष्यमकृतबुद्धयो नैव बोद्धुमलम्। (पुण्यराज वाक्य० २.४८६)

३. बैजिसौभवहर्यक्षैः शुष्कतर्कानुसारिभिः।
आर्षे विप्लाविते ग्रन्थे संग्रहप्रतिकञ्चुके॥ (वाक्य० २. ४८७)
तथा च संग्रहप्रतिपक्षभूतैराचार्यैस्तर्कविद्यामात्रवेदिभिर्बुद्ध्यपाटवादिदमाप्लावितम्। (पुण्यराज, वही)।

दर्शन समर्पित किया था, उसी का मूर्तरूप भर्तृहरि का सर्वमान्य अक्षयभंडार वाक्यपदीय है [१]।

पुण्यराज और हेलाराज—वाक्यपदीय की अत्यन्त प्रामाणिक और अगाध विद्वत्तापूर्ण टीका काश्मीरी ब्राह्मणों ने की है। प्रथम कांड की व्याख्या महावैयाकरण हरिवृषभ ने की है। द्वितीय कांड की पुण्यराज ने और तृतीय कांड की भूतिराज के पुत्र हेलाराज ने।[२] प्रथम ने ६२ पृष्ठ, द्वितीय ने २३० पृष्ठ तथा तृतीय ने ७४४ पृष्ठ क्रमशः लिखे हैं। इतिहासज्ञों के लिये यह विचारणीय विषय है कि ये तीनों व्यक्ति एक हैं या तीन। ये एकही व्यक्ति के तीन विभिन्न नाम हैं या तीन व्यक्तियों के विभिन्न तीन नाम? तीनों कांडों के उपसंहार से तथा तृतीय कांड के प्रारम्भिक मंगलाचरण के श्लोकों में 'तत् प्रातिभं संस्तुमः' तथा 'प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः' में बहुवचन से यही स्पष्ट होता है कि यह व्याख्या का कार्य सामूहिक कार्य है, उपर्युक्त तीनों

---

१. (क) यः पतञ्जलिशिष्येभ्यो भ्रष्टो व्याकरणागमः।
काले स दाक्षिणात्येषु ग्रन्थमात्रे व्यवस्थितः॥ (वाक्य० २. ४८८)

(ख) पर्वतादागमं लब्ध्वा भाष्यबीजानुसारिभिः।
स नीतो बहुशाखत्वं चन्द्राचार्यादिभिः पुनः॥ (वाक्य० २. ४८९)

अथ कालान्तरेण चन्द्राचार्यादिभिरागमं लब्ध्वा तेन चोपायभूतेन सकलानि भाष्यावस्थितानि न्यायबीजानि तान्यनुसृत्य व्याकरणागमः पुनरपि स्फीततां नीतः। (पुण्यराज, वहीं)।

पर्वतात् त्रिकूटैकदेशवर्तित्रिलिङ्गैकदेशादिति। तत्र ह्युपलतले रावणविरचितो मूलभूतव्याकरणागमस्तिष्ठति। केनचिच्च ब्रह्मराक्षसानीय चन्द्राचार्यवसुरात गुरुप्रभृतीनां दत्त इति। ते खलु यथावद् व्याकरणस्य स्वरूपं तत उपलभ्य सातं च शिष्याणां व्याख्याय बहुशाखित्वं नीतो विस्तरं प्रापित इत्यनुश्रूयते। (पुण्यराज, वहीं)।

(ग) न्यायप्रस्थानमार्गांस्तानभ्यस्य स्वं च दर्शनम्।
प्रणीतो गुरुणाऽस्माकमयमागमसंग्रहः॥
(वाक्य० २. ४९०)।

अथ कदाचिद् योगतो विचार्य तत्र भगवता वसुरातगुरुणा ममायमागमः संज्ञाय वात्सल्यात् प्रणी इति। (पुण्यराज, वहीं)

२. (क) इति श्रीमहावैयाकरणहरिवृषभविरचितवाक्यपदीयप्रकाशे आगमसमुच्चयो नाम ब्रह्मकाण्डं प्रथमं समाप्तम्। (वाक्य० १ पृष्ठ ६२)

(ख) इति श्रीपुण्यराजकृता वाक्यपदीयद्वितीयकाण्डटीका समाप्ता।
(वाक्य० २ पृष्ठ २९१)

(ग) इति भूतिराजतनयहेलाराजकृते प्रकीर्णप्रकाशे वृत्तिसमुद्देशश्चतुर्दशः। प्रकीर्णप्रकाशाख्यं समाप्तं चेदं पदकाण्डम्।
(वाक्य० ३ पृष्ठ ७४३)

व्यक्तियों ने वाक्यपदीय का विभाजन करके उक्तक्रम से व्याख्या की है।[1] सूक्ष्म दृष्टि से विचार करने तथा प्रतिभा के पूर्वोक्त विवेचन के अनुसार उसकी नानारूपता को ध्यान देने से ज्ञात होता है कि ये नाम एक ही व्यक्ति के विभिन्न तीन नाम हैं, जो कि स्थूल दृष्टि से तीन व्यक्ति प्रतीत होते हैं। तीन विभिन्न नामों को रखने की आवश्यकता विषय की विभिन्नता के कारण हुई। एक ही व्यक्ति के ये तीनों नाम हैं। यह काण्ड ३, पृष्ठ ७४४ पर टीकाकार के स्वपरिचय से स्पष्ट होता है। तीनों काण्डों की प्रकाश नामक टीका का कर्ता भूतिराज का पुत्र हेलाराज ही है।[2] प्रथमकाण्ड ब्रह्मकाण्ड है, ब्रह्म वैयाकरणों के मतानुसार महावैयाकरण है, अतः ६२ पृष्ठ लिखने पर भी टीकाकार ने अपने नाम के साथ महावैयाकरण की उपाधि लगाई है, स्फोट और ध्वनि दोनों का भाव स्पष्ट करने के लिए 'हरिवृषभ' काल्पनिक नाम रखा है। निर्विकल्प समाधि अवस्था में ब्रह्म के साथ एकरूपता के कारण व्याख्याकार ने वाक्यस्फोट के पिता का नाम नहीं दिया है। द्वितीय काण्ड जो कि वाक्यस्फोट का विवेचन है, ग्रन्थकार ने अपना नाम हेलाराज के स्थान पर पुण्यराज अधिक उपयुक्त समझा है। यहाँ पर न महावैयाकरण उपाधि है और न पितृनाम का उल्लेख है। तृतीय काण्ड पदस्फोट या पदवाद की व्याख्या है, पदार्थ की व्याख्या है, व्यावहारिक सृष्टि की व्याख्या है, अतः अपोद्धार पद्धति का आश्रय लेकर अपना भौतिक नाम तथा अपने भौतिक पिता का नाम तृतीय काण्ड के १४ समुद्देशों में प्रत्येक के अन्त में दिया है। ७४४ पृष्ठ लिखने पर भी हेलाराज भौतिक रूप में होने के कारण अपने नाम को महावैयाकरण की उपाधि से वंचित रखते हैं। प्रस्तुत निबन्ध में कहीं पर एकत्व और कहीं पर अनेकत्व का आश्रय लेकर कहीं पर हेलाराज नाम ही दिया गया है और कहीं पर पृथक् पृथक् नाम दिया है।

कैयट, भट्टोजि, नागेश आदि—भर्तृहरि तथा हेलाराज को परवर्ती वैयाकरणों ने आधार एवं प्रमाणरूप मानकर व्याकरण के सिद्धांतों का प्रतिपादन किया है। जिनमें से कैयट कृत महाभाष्य की प्रदीप टीका, भट्टोजिदीक्षित कृत शब्दकौस्तुभ, मनोरमा, सिद्धांत

---

१. (क) धामानन्दसुधामयोर्जितवपुस्तत्प्रातिभं संस्तुमः। १।
(वाक्य० ३, पृष्ठ १)

(ख) काण्डद्वये यथावृत्ति सिद्धान्तार्थसतत्त्वतः।
प्रबन्धो विहितोऽस्माभिरागमार्थानुसारिभिः॥ २॥
तच्छेषभूते काण्डेऽस्मिन् सप्रपञ्चे स्वरूपतः।
श्लोकार्थद्योतनपरः प्रकाशोऽयं विधीयते॥ ३॥
(वाक्य० काण्ड ३, पृष्ठ १)

२. टीकाकृतः स्वपरिचयः।
मुक्तापीड इति प्रसिद्धिमगमत् काश्मीरदेशे नृपः,
श्रीमान् ख्यातयशा बभूव नृपतेस्तस्य प्रभावानुगः।
मन्त्री लक्ष्मण इत्युदारचरितस्तस्यान्ववाये भवो—
हेलाराज इमं प्रकाशमकरोच्छ्रीभूतिराजात्मजः। १।
(वाक्यपदीय काण्ड ३, पृष्ठ ७४४)

कौमुदी आदि, नागेशभट्टकृत वैयाकरणसिद्धान्तमंजूषा, लघुमंजूषा, शब्देन्दुशेखर, परिभाषेन्दुशेखर, महाभाष्य की उद्योत टीका तथा स्फोटवाद आदि, कौण्डभट्ट विरचित वैयाकरणभूषण, मण्डन मिश्र कृत स्फोटसिद्धि, वामन जयादित्य कृत काशिका आदि ग्रंथों में अर्थविज्ञान विषय के अंग और उपांगों का विशेष विस्तार से विचार किया गया है।

दार्शनिक विद्वानों ने जिन अमर कृतियों में अर्थविज्ञान का विवेचन किया है, तथा जिन ग्रन्थरत्नों का विशेष सदुपयोग किया गया है, उनके नाम आदि सहायक ग्रन्थों की सूची में विशेषरूप से दिये गए हैं।

वैयाकरणों का दृष्टिकोण—इस निबन्ध में वैयाकरणों के इस सिद्धांत को समुचित और ग्राह्य समझा है कि "सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्-तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्" (महाभाष्य २, १, ५८) व्याकरण सारे वेदों, समस्त दर्शनों आदि का पथप्रदर्शक है, अतः किसी एक मार्ग-विशेष (दर्शन-विशेष, धर्म-विशेष, सम्प्रदाय-विशेष) का आश्रय नहीं लिया जा सकता है। वैयाकरणों को अतएव चतुर्मुखी उत्तरदायित्व के मध्य में अपना उत्तरदायित्व सुचारुरूप से निभाना होता है। वैयाकरणों ने इस समस्त उत्तरदायित्व को एक संक्षिप्त नियम में पूरा कर दिया है। वैयाकरणों का दृढ़ मन्तव्य है कि सारे सुखों का मूल, समस्त विवादों, विग्रहों और दुखों का परिहार एक समन्वयवाद है। प्रत्येक शब्द में, प्रत्येक अणु और परमाणु में स्फोट और ध्वनि का समन्वय है, प्रकृति और प्रत्यय का समन्वय है। इसी समन्वय के आधार पर प्रत्येक अर्थ, प्रत्येक सृष्टि का कार्य चलता है। जहाँ पर दोनों में से एक की उपेक्षा की जाती है, वहीं से वादविवाद, विरोध, संघर्ष प्रारम्भ हो जाता है। अतः वैयाकरण कहते हैं कि :—

न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः।

न केवल प्रकृति का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का, न केवल प्रकृतिवाद का प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्ययवाद का, न केवल भौतिकवाद का प्रचार और व्यवहार करना चाहिए और न केवल अध्यात्मवाद और विज्ञानवाद का। न केवल ज्ञान-मार्ग का ही प्रयोग करना चाहिए और न केवल कर्ममार्ग का। दोनों का समन्वय करके ही प्रत्येक वाद, प्रत्येक सिद्धान्त और प्रत्येक मन्तव्य का प्रयोग करना चाहिए जैसा कि सरल और सुन्दर शब्दों में इसके समन्वय का प्रकार भगवान् कृष्ण ने गीता में प्रतिपादित किया है।[1]

व्याकरण और वैयाकरणों को जो सन्मान सब ओर से प्राप्त हुआ है, उसका कारण उनकी निर्लेपता, निष्पक्षता और सत्यता है। इस सत्यता के कारण ही व्याकरण नीरस होते हुए भी सब से अधिक सरस है, अप्रिय होते हुए भी सर्वप्रिय है, निवार्य होते हुए भी अनिवार्य है, व्याकरण होते हुए भी दर्शन एवं साहित्य है, ध्वनि होते हुए भी स्फोट है, अभिधा होते हुए भी व्यंजना है, वाच्यार्थ होते हुए भी व्यंग्यार्थ-प्रधान है, ज्ञान होते हुए भी ज्ञेय है, साधन होते हुए भी साध्य है, असिद्ध होते हुए भी सिद्ध है। व्याकरण ही

---

१. देखो गीता अध्याय २ से ५.

प्रकृति-प्रत्यय के विभाजन को करते हुए भी सन्धि सिखाता है, विग्रह में भी सन्धि का प्रकार बताता है, द्वन्द्व (विरोध, विवाद) में भी समाहार (एकत्व, एकता) सिखाता है, व्यपेक्षाभाव (पारस्परिक-सहयोग) समास के साथ एकार्थीभाव समास (एकलक्ष्यता, एक-उद्देश्यता) सिखाता है। आकृति के साथ ही द्रव्य को पदार्थ मानना सिखाता है, भौतिकवाद के साथ ही आत्मवाद और ब्रह्मवाद की शिक्षा देता है, जाति और व्यक्ति दोनों को ही पदार्थ मानना सिखाता है। न जाति की उपेक्षा की जा सकती है और न व्यक्ति की। जाति की सिद्धि द्वारा वैयाकरण जिस लक्ष्य पर पहुँचते हैं, वह है कि व्यक्ति जाति का अंग है, जाति नित्य है और व्यक्ति अनित्य, जाति सत्य है और व्यक्ति असत्य।[1] व्यक्ति जाति का अंग है, अंग अंगी के लिए है, व्यक्ति जाति के लिए है, व्यक्ति समष्टि के लिए है, व्यक्ति समाज का एक अंग है, वह समाज की सेवा के लिए है, व्यक्ति राष्ट्र का एक अंग है, अतः राष्ट्र की सेवा उसका कर्त्तव्य है। वैयाकरण इतने से सन्तुष्ट नहीं होते हैं, वे पदवाद पदस्फोट को भी त्रुटिपूर्ण समझते हैं, वे जातिवाद को भी पृथक् करके शुद्ध नहीं समझते हैं, वे वाक्यस्फोट की सिद्धि करके यह सिद्ध करते हैं कि जातिभेद से, राष्ट्रभेद से, समाजभेद से सैकड़ों अनर्थ होते हैं। जिस प्रकार व्यक्ति जाति का एक अंग है उसी प्रकार जाति, राष्ट्र और समाज वाक्य के एक अंग हैं, विश्व के एक अंग हैं। उन्हें विश्व के हित के लिए अपना अस्तित्व रखना चाहिए, विश्व-हित में ही अपना हित निहित समझना चाहिए। विश्व-शान्ति, विश्व-बन्धुत्व, विश्व-धर्म, विश्व-संस्कृति एवं विश्व को ही अखण्ड और निरवयव तथा अनिर्वचनीय शब्द-ब्रह्म का एकमात्र प्रतिनिधि समझना चाहिए।

वैयाकरणों ने एक इस सत्य का निर्वाह किया है जिसको भगवान् कृष्ण ने कहा है कि 'न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्'[2] कर्मयोगियों में बुद्धिभेद उत्पन्न न करे। अतएव वैयाकरण ज्ञानियों के लिए प्रतिभा की प्राप्ति उद्देश्य बताते हैं तथा कर्मयोगियों के लिए क्रिया, कर्मण्यता, कर्मठता एवं निष्कामभाव से कर्म करने की शिक्षा देते हैं। पतञ्जलि एवं भर्तृहरि ने उक्त प्रकार से विभेदों में अभेद और अनेकताओं में एकता को समझाया है।

यदि सारे वेद, सारे दर्शन, समस्त व्याकरण, समस्त ज्ञान, विज्ञान, अन्वेषण, अनुसंधान और सर्वतोमुखी विकास होने पर भी विश्व में शान्ति, सुख, ज्ञान, एकता, प्रेम, अहिंसा और सत्य की सिद्धि नहीं होती है तो इसका सारा कलंक वेद, दर्शन, ज्ञान, विज्ञान, अनुसंधान और तथाकथित सर्वतोमुखी विकास पर है और मुख्य रूप से उनके अनुयायियों पर है। यह शब्दब्रह्म और अर्थब्रह्म दोनों का अनादर और अपमान है। शब्दतत्त्व की रक्षा के लिए अर्थतत्त्व (सृष्टि) है और अर्थतत्त्व की रक्षा के लिए

---

१. सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः॥
(वाक्य० ३, पृष्ठ २८)

२. गीता : ३. २६.

शब्दतत्त्व है। दोनों का समन्वय करना सिखाना ही ज्ञान और विज्ञान है। यही शब्दवाद है, यही स्फोटवाद है, यही वाक्यस्फोट है, यही ब्रह्मवाद है, यही आत्मवाद है, यही सत्य-भौतिकवाद है और यही अर्थविज्ञान है।

कृतज्ञता-प्रकाशन—शब्द-ब्रह्म एवं वाक्यस्फोट के स्वरूप को स्वीकार करने पर कृतज्ञता-प्रकाशन एवं धन्यवाद जैसा प्रश्न ही नहीं उठता है, क्योंकि धन्यवाद देने वाला कौन और धन्यवाद लेने वाला कौन ? जहाँ तक द्वैत बुद्धि है वहाँ तक अज्ञान, अविद्या और तमोगुण का प्रसार है। माया का आवरण है। अज्ञानावस्था का कृतज्ञता-प्रकाशन कहाँ तक सत्य है, यह विचारणीय है। अद्वैत-बुद्धि होने पर कृतज्ञता-प्रकाशन असंगत-सा प्रतीत होता है। पाणिनि, पतञ्जलि आदि आचार्यों का मन्तव्य है कि लोक में लौकिक शिष्टाचार का परित्याग नहीं करना चाहिए, अतएव अभिन्न में शिष्टाचार की रक्षा-हेतु भिन्नता की बौद्ध कल्पना करके धन्यवाद देने का साहस करता हूँ।

सर्वप्रथम शब्दब्रह्म (वाक्तत्त्व, प्रतिभा) का कृतज्ञ हूँ, जिसकी कृपा से अर्थतत्त्व का विकास हुआ है और जिसकी कृपा रहस्यात्मक-रूप में प्रारम्भ से अन्त तक सर्वदा इस कार्य में बनी रही है।

वैदिक ऋषि मुनियों से लेकर आज तक के जितने भी शब्दशास्त्री हैं, पतञ्जलि के शब्दों में 'वाग्योगवित्' हैं, जिन्होंने शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व का विवेचन करके वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, दर्शन, व्याकरण, साहित्य, एवं ज्ञान और विज्ञान की विभिन्न शाखाओं को जन्म दिया है और जिनके ग्रन्थरत्नों या प्रकाशस्तम्भों से प्रकाश पाया है, उन सभी प्राचीन और अर्वाचीन, भारतीय और वैदेशिक शब्दशास्त्रियों का सादर कृतज्ञ हूँ।

प्रस्तुतः निबन्ध में अर्थतत्त्व का बीज श्री डा० बाबूराम सक्सेना, (अध्यक्ष संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय) ने रक्खा है, श्री पंडित गोपीनाथ कविराज (बनारस) ने शब्दतत्त्व के वारि द्वारा उसको सिक्त किया है और श्री डा० सिद्धेश्वर वर्मा (नागपुर) ने शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व को सम्बद्ध करके स्वनामानुकूल वार्तिककार कात्यायन के (सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे) की सिद्धि की है, अतः शब्दशास्त्र की सिद्धत्रयी का विशेष कृतज्ञ हूँ।

साथ ही जिन महानुभावों से इस निबन्ध के विषय में विशेष आशीर्वाद, प्रोत्साहन, सत्परामर्श एवं आवश्यक विचार प्राप्त हुए हैं उनका विशेष आभारी हूँ। उनमें विशेष उल्लेखनीय निम्नलिखित हैं :—

श्री डा० राधाकृष्णन्, श्री डा० सुनीतिकुमार चटर्जी, श्री पं० गोविन्दवल्लभ पन्त (प्रधानमन्त्री यू० पी०), श्री डा० सम्पूर्णानन्द (शिक्षामन्त्री यू० पी०), श्री डा० आचार्य नरेन्द्रदेव, श्री पुरुषोत्तमदास टंडन, श्री प्रो० लुई रेनु (प्रो० संस्कृत विभाग, पेरिस), श्री प्रो० मार्गेन स्टाइन (अध्यक्ष, संस्कृत विभाग, ओसलो, नार्वे विश्वविद्यालय), श्री डा० प्रसन्नकुमार आचार्य, श्री डा० उमेशमिश्र, श्री पं० क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, श्री डा० धीरेन्द्र वर्मा, श्री रघुवर मिट्ठूलाल शास्त्री, श्री डा० वासुदेवशरण अग्रवाल, श्री

महापंडित राहुल सांकृत्यायन, श्री प्रो॰ सत्याचरण (भू॰ पू॰ हाईकमिश्नर वेस्ट इंडीज़), श्री डा॰ मंगलदेव शास्त्री, श्री डा॰ सूर्यकान्त (पूर्वी पंजाब विश्वविद्यालय) श्री डा॰ रामकुमार वर्मा, श्री डा॰ उदयनारायण तिवारी, श्री डा॰ माताप्रसाद गुप्त, श्री आचार्य रघुवीर (नागपुर), श्री आचार्य विश्वबन्धु (होशियारपुर), श्री आचार्य हरिदत्त शास्त्री सप्ततीर्थ, श्री आचार्य सुरेन्द्रनाथ दीक्षित (मुजफ्फरपुर), श्री श्यामलाल यादव वकील, (काशी), श्री ठा॰ दीवानसिंह (रामगढ़, नैनीताल), श्री बा॰ केदारनाथ गुप्त, रईस (प्रयाग) ।

श्री रूपनारायण शास्त्री (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग) ने निबन्ध की आवश्यक सामग्री के संकलन और सम्पादन में विशेष सहयोग प्रदान किया है। प्रूफ देखने, अनुक्रमणी के सम्पादन आदि का कार्य बड़े प्रयत्नपूर्वक उन्होंने किया है। तदर्थ उनका कृतज्ञ हूँ।

इनके अतिरिक्त कतिपय वे महान् और दिव्य आत्माएँ भी हैं जिनका कि भौतिक शरीर सम्प्रति हमारे मध्य में नहीं है और जिनका वरदहस्त सदा मेरे ऊपर रहा है, उनका चिर ऋणी हूँ।

भारतीय साहित्य की उन्नति में हिन्दुस्तानी एकेडेमी (प्रयाग) का विशेष स्थान है। प्रस्तुत निबन्ध को हिन्दुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित कराने का सारा श्रेय श्री डा॰ धीरेन्द्र जी वर्मा (मंत्री, हिन्दुस्तानी एकेडेमी) को है। श्री रामचन्द्र जी टंडन (सहा॰ मंत्री हिन्दुस्तानी एकेडेमी) ने पुस्तक के प्रकाशन एवं किसी प्रकार का विलम्ब न होने देने में अत्यन्त प्रशंसनीय कार्य किया है। मैं उक्त दोनों महानुभावों का अत्यन्त ही कृतज्ञ हूँ।

प्रयाग विश्वविद्यालय ने इस निबन्ध को छपवाने की जो स्वीकृति दी है, उसके लिए मातृ-संस्था का सादर कृतज्ञ हूँ।

उपसंहार—मीमांसा दर्शन में जैमिनि मुनि का कथन है कि 'पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्' (मीमांसा दर्शन ३,१,६) पुरुष कर्म करने के लिए है। निष्काम कर्म ही उसका अविच्छिन्न उद्देश्य होना चाहिए, उसी उद्देश्य को लक्ष्य में रखकर अपने अन्दर अयोग्यता, अज्ञता और दुर्बोध के होते हुए भी इस विषय पर लेखनी उठाने की धृष्टता की है। आशा है विवेचकवृन्द 'बालादपि सुभाषितम्' उक्ति के अनुसार अवगुणों और अज्ञान के कारण त्रुटियों पर ध्यान न देकर गुणों पर ध्यान देंगे। विद्वद्वृन्द इस विषय पर जो आवश्यक संशोधन एवं सुधार आदि के विचार प्रस्तुत करने की कृपा करेंगे, उनका मैं विशेष कृतज्ञ रहूँगा। आगामी संस्करण में तदनुसार ही परिवर्तन, परिवर्धन आदि किया जा सकेगा।

जीव अल्पज्ञ है, अल्पज्ञ है अतएव जीव है। उसी अल्पज्ञता को दूर करने के लिए

शब्द-ब्रह्म का आश्रय चाहता है। कुमारिल भट्ट के शब्दों में अन्त में यही निवेदन करना है कि :—

तद् विद्वांसोऽनुगृह्णन्तु चित्तश्रोत्रैः प्रसादिभिः ।
सन्तः प्रणयिवाक्यानि गृह्णन्ति ह्यनसूयवः ॥
आगमप्रवणश्चाहं नापवाद्यः स्खलन्नपि ।
न हि सद्वर्त्मना गच्छन् स्खलितेष्वप्यपोद्यते ॥

(श्लोकवार्तिक, ग्रन्थकार-प्रतिज्ञा श्लोक ३ और ७)।

विषय-सूची

(सूचना—विषय-सूची में अंकों की संख्या पृष्ठ-बोधक है)

एक शब्द

अध्याय १

भूमिका

अध्याय २

शब्द और अर्थ का स्वरूप

अध्याय ३

अर्थविकास

स

अध्याय ४

अर्थ-निर्णय के साधन

अध्याय ५

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

अध्याय ६

शब्द-शक्ति

अध्याय ७

पद और पदार्थ

अध्याय ८

वाक्य और वाक्यार्थ

अध्याय ९

स्फोटवाद और अर्थविज्ञान

सहायक ग्रन्थ

प्रमुख सहायक-ग्रन्थों के नाम

वैदिक साहित्य

१. ऋग्वेद
२. यजुर्वेद
३. सामवेद
४. अथर्ववेद
५. तैत्तिरीयसंहिता
६. मैत्रायणीसंहिता
७. काठकसंहिता
८. ऋग्वेद-भाष्य—वेंकट माधव
९. ऋग्वेद-भाष्य—सायण
१०. ऋग्वेद-भाष्य और यजुर्वेद भाष्य—स्वामी दयानन्द
११. दैवतसंहिता, तीनों भाग, दामोदर सातवलेकर द्वारा संपादित
१२. ऐतरेय ब्राह्मण
१३. कौषीतकि ब्राह्मण
१४. षड्विंश ब्राह्मण
१५. तैत्तिरीय ब्राह्मण
१६. शतपथ ब्राह्मण
१७. गोपथ ब्राह्मण
१८. ताण्ड्यमहाब्राह्मण
१९. जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
२०. ऐतरेयारण्यक
२१. तैत्तिरीयारण्यक
२२. निघण्टु
२३. निरुक्त—यास्क
२४. छान्दोग्य उपनिषद्
२५. बृहदारण्यक उपनिषद्

२६. ईशोपनिषद् आदि १०८ उपनिषदें
२७. सर्वानुक्रमणी—षड्गुरु शिष्य
२८. बृहद्देवता—शौनक
२९. ऋक्प्रातिशाख्य—शौनक
३०. शुक्लयजुः प्रातिशाख्य—कात्यायन
३१. तैत्तिरीयप्रातिशाख्य
३२. अथर्वप्रातिशाख्य
३३. सामप्रातिशाख्य—पुष्पसूत्र
३४. ऋग्वेदीय प्रातिशाख्य (पार्षद-सूत्र-वृत्ति)—उव्वटाचार्य
३५. ऋक्तन्त्र
३६. ऋग्वेदादिभाष्य भूमिका—स्वामी दयानन्द

व्याकरण

३७. अष्टाध्यायी—पाणिनि
३८. महाभाष्य—पतञ्जलि (कैयट की प्रदीप और नागेश की उद्योत टीकाएँ)
३९. वाक्यपदीय, (व्याकरण-दर्शन)—भर्तृहरि, (बनारस, १९०५) हेलाराज पुण्यराज की टीकाएँ
४०. शब्दकौस्तुभ—भट्टोजिदीक्षित
४१. प्रौढमनोरमा— ,,
४२. सिद्धान्तकौमुदी— ,,
४३. वैयाकरणभूषण— ,, तथा कौण्डभट्ट
४४. काशिका—वामन जयादित्य
४५. न्यास—जिनेन्द्र
४६. पदमंजरी—हरदत्त
४७. वैयाकरणसिद्धान्तलघुमंजूषा—नागेश भट्ट बनारस, १९८५
४८. शब्देन्दुशेखर— ,,
४९. परिभाषेन्दुशेखर— ,,
५०. स्फोटसिद्धि—मण्डनमिश्र, गोपालिका टीका (मद्रास यूनिवर्सिटी १९३१)
५१. ,, — भरत मिश्र
५२. स्फोटसिद्धिन्यायविचार—गणपति शास्त्री द्वारा संपादित, १९१७
५३. स्फोटप्रतिष्ठा—केशव कवि
५४. स्फोटतत्त्व—शेषकृष्णकवि
५५. स्फोटचन्द्रिका—श्रीकृष्ण भट्ट
५६. स्फोटनिरूपण—आपदेव
५७. स्फोटवाद—कुन्द भट्ट
५८. परिभाषावृत्ति—सीरदेव

५६. भाषावृत्ति—पुरुषोत्तमदेव
६०. चन्द्रवृत्ति—डा० लीबिश द्वारा संपादित
६१. याज्ञवल्क्यशिक्षा—याज्ञवल्क्य
६२. पाणिनीयशिक्षा—पाणिनि
६३. वासिष्ठीशिक्षा—वसिष्ठ
६४. कात्यायनीशिक्षा—कात्यायन,
६५. शिक्षा-संग्रह (३२ शिक्षाग्रन्थों का संग्रह)

दर्शन

६६. वेदान्तदर्शन—शांकरभाष्य
६७. भामती—वाचस्पतिमिश्र
६८. खण्डनखण्डखाद्य— श्री हर्ष
६९. चित्सुखी—चित्सुखाचार्य
७०. पंचदशी—विद्यारण्य
७१. परमार्थसार—आदिशेष
७२. शांकरवेदान्त—(गंगानाथ झा का अनुवाद)
७३. अद्वैतवेदान्त—शांकरभाष्यानुवाद की प्रस्तावना, गोपीनाथ कविराज
७४. नादकारिका—रामकण्ठ
७५. अष्टप्रकरण— ,,
७६. मीमांसा दर्शन—शाबरभाष्य
७७. मीमांसाश्लोकवार्तिक—कुमारिलभट्ट (पार्थसारथि मिश्र की टीका)
७८. तन्त्रवार्तिक— ,,
७९. मीमांसाभाष्य पर बृहती टीका—प्रभाकर मिश्र
८०. सर्वदर्शन-संग्रह—माधव
८१. पाणिनीय-दर्शन—माधव
८२. तत्त्वबिन्दु—वाचस्पति
८३. योगदर्शन—व्यासभाष्य
८४. योगदर्शन—शांकरभाष्य (स्फोट-प्रकरण), अध्याय ४ (अड्यार लाइब्रेरी-सीरीज नं० ३६, भाग २, पृ० ५७७)
८५. सांख्यदर्शन - टीका विज्ञानभिक्षु
८६. सांख्यकारिका—ईश्वरकृष्ण
८७. सांख्यवृत्ति—अनिरुद्ध
८८. वैशेषिकदर्शन—प्रशस्तपादभाष्य
८९. न्यायकन्दली - श्रीधर
९०. न्यायसिद्धान्त-मुक्तावली—विश्वनाथ
९१. न्यायदर्शन—वात्स्यायनभाष्य

९२. न्यायवार्तिक—उद्योतकर
९३. न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका—वाचस्पति मिश्र
९४. न्यायमंजरी—जयन्तभट्ट
९५. न्यायकुसुमांजलि—उदयनाचार्य
९६. तत्त्वचिन्तामणि—गंगेश
९७. दीधिति—रघुनाथशिरोमणि
९८. शब्दशक्तिप्रकाशिका—जगदीशभट्ट
९९. व्युत्पत्तिवाद—गदाधरभट्ट
१००. शक्तिवाद—गदाधरभट्ट
१०१. विषयतावाद— ,,
१०२. त्रिपिटक—गौतमबुद्ध
१०३. मज्झिमनिकाय—,,
१०४. माध्यमिक कारिका—नागार्जुन
१०५. प्रमाणसमुच्चय—दिङ्नाग
१०६. योगाचारभूमि—असंग
१०७. प्रमाणवार्तिक—धर्मकीर्ति
१०८. प्रमाणविनिश्चय—,,
१०९. न्यायबिन्दु— ,,
११०. न्यायावतार—सिद्धसेनदिवाकर
१११. षड्दर्शनसमुच्चय—हरिभद्र
११२. अष्टशती—भट्टअकलंक
११३. अष्टसहस्री—विद्यानन्द
११४. प्रमाणनयतत्त्वालोकालंकार—देवसूरि
११५. स्याद्वादरत्नाकर— ,,
११६. स्याद्वादमंजरी—मल्लिषेणसूरि
११७. प्रमेयकमलमार्तण्ड—प्रभाचन्द्र
११८. अपोहसिद्धि—रत्नकीर्ति
११९. तत्वसंग्रह—शान्तरक्षित
१२०. न्यायकणिका—वाचस्पति
१२१. पदवाक्यरत्नाकर—गदाधरभट्ट
१२२. शब्दार्थतर्कामृत—जयकृष्ण
१२३. अर्थसंग्रह—लौगाक्षिभास्कर
१२४. भगवद्गीता तथा उसके विभिन्न भाष्य
१२५. गीता-रहस्य—बालगंगाधर तिलक
१२६. भारतीय-दर्शन—बलदेवउपाध्याय
१२७. दर्शन-दिग्दर्शन—राहुल सांकृत्यायन

१२८. सूतसंहिता—(स्कन्दपुराणान्तर्गत)
१२९. प्रपञ्चसार—शंकराचार्य
१३०. काशीखंड—(स्कन्दपुराणान्तर्गत)

साहित्य

१३१. नाट्यशास्त्र—भरत
१३२. भट्टि काव्य—भट्टि
१३३. काव्यालंकार—भामह
१३४. काव्यादर्श—दण्डी
१३५. काव्यालंकारसूत्र—वामन
१३६. ध्वन्यालोक—आनन्दवर्धन
१३७. ध्वन्यालोकलोचन—अभिनवगुप्त
१३८. काव्यमीमांसा—राजशखेर
१३९. व्यक्ति-विवेक—राजानकमहिमभट्ट
१४०. सरस्वतीकण्ठाभरण—भोज
१४१. काव्यप्रकाश—मम्मट
१४२. साहित्यदर्पण—विश्वनाथ
१४३. कुवलयानन्द—अप्पयदीक्षित
१४४. रसगंगाधर—जगन्नाथ
१४५. वाल्मीकि रामायण—वाल्मीकि
१४६. महाभारत—व्यास
१४७. भागवतपुराण
१४८. विष्णुपुराण

अन्य

१४९. कौटिल्य अर्थशास्त्र—चाणक्य
१५०. व्याकरणदर्शनेर इतिहास—भाग १ (बंगला) श्री गुरुपद हालदार
१५१. वैदिक सम्पत्ति—रघुनन्दन शर्मा, बम्बई १९८७ वि०
१५२. उपसर्गवर्ग—महादेवभट्टाचार्य
१५३. नानार्थार्णवसंक्षेप—केशवस्वामी
१५४. नानार्थसंग्रह—अनुन्डोरम बोरोश
१५५. पातञ्जल महाभाष्य की पदसूची—श्रीधरशास्त्री पाठक, पूना
१५६. पाणिनि-सूत्रपाठ की पदसूची— ” ” ”
१५७. वैदिकपदानुक्रमकोष— विश्वबन्धु शास्त्री
१५८. कन्कार्डेन्स टू पाणिनि एण्ड चन्द्र—लीबिश, १९२८
१५९. ऋग्वेद-पदसूची —स्वामी विश्वेश्वरानन्द, नित्यानन्द
१६०. यजुर्वेदपदसूची— ” ” ”

१६१. सामवेद-पदसूची—स्वामी विश्वेश्वरानन्द नित्यानन्द
१६२. अथर्ववेद-पदसूची— ,, ,, ,,
१६३. वैदिककोष—भगवद्दत्त, हंसराज
१६४. पाणिनि—बॉटलिंक
१६५. पाणिनि—गोल्डस्टयूकर

इंग्लिश

१६६. पाणिनि एज़ ए सोर्स आव् इण्डियन हिस्ट्री—वासुदेव शरण अग्रवाल
(पी-एच० डी० के लिए स्वीकृत अप्रकाशित निबन्ध)
१६७. मीनिङ् ऑव् मीनिङ्—आग्डेन रिचार्डस
१६८. प्रिन्सिपल्स ऑव् हिस्ट्री आव् लैंग्वेज्—हर्मन पाउल
१६९. सीमेन्टिक्स—मिशेल ब्रेआल
१७०. द हिस्ट्री ऑव् वर्ड्स—आर्सेन डार्मेस्टेटर
१७१. द हिस्ट्री आव् मीनिङ्—जे० पी० पोस्टगेट
१७२. लैंग्वेज एण्ड द स्टडी आव लैंग्वेज—ह्विटने
१७३. द साइन्स ऑव् लैंग्वेज (भाग १, २)—सईस
१७४. लैंग्वेज—ओटो येस्पर्सन
१७५. फिलासफी आव् ग्रामर—ओटो येस्पर्सन
१७६. फिलासफी आव् संस्कृत ग्रामर—प्रभातचन्द्र चक्रवर्ती
१७७. लिङ्ग्विस्टिक स्पेक्यूलेशन्स ऑव् हिन्दूज़—,, ,,
१७८. थ्योरी ऑव् स्पीच एन्ड लैंग्वेज—गार्डिनर
१७९. लेक्चर्स आन् द साइन्स ऑव् लैंग्वेज—मैक्समूलर
१८०. बायोग्राफीज़ ऑव् वर्ड्स— ,,
१८१. लेक्चर्स ऑन् द स्टडी ऑव् लैंग्वेज—ओर्टेल, १९०२
१८२. आन् द स्टडी ऑव् वर्ड्स—ट्रेन्च
१८३. एनेलिसिस आव् मीनिङ् इन इण्डियन सीमेन्टिक्स—सिद्धेश्वर वर्मा
(जर्नल ऑव् द डिपार्टमेन्ट ऑव् लेटर्स, कलकत्ता विश्वविद्यालय, भाग १३, सन् १९२६)
१८४. एस्से आन् ह्यूमन अन्डरस्टैंडिंग—लॉक
१८५. इण्डियन फिलासफी (भाग १, २)—राधाकृष्णन्
१८६. हिस्ट्री ऑव् इण्डियन फिलासफी—(भाग १, २)—दासगुप्त
१८७. हिन्दी सीमेन्टिक्स—हरदेव बाहरी

भूमिका

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् (अष्टा०, १, २, ४५)

अर्थ-विज्ञान की समस्त विज्ञानों से अभिन्नता—वेद, ब्राह्मण, आरण्यक, उपनिषद्, निरुक्त, प्रातिशाख्य, शिक्षा तथा समस्त दर्शनग्रन्थों एवं समस्त साहित्य में जिस एक तत्त्व का विवेचन किया गया है, वह अर्थ है। अतएव अर्थविज्ञान विषय में भारतीय वैयाकरणों ने सृष्टि-तत्त्व के मूलभूत समस्त ज्ञान और विज्ञान का विशद विवेचन किया है। अर्थ-विज्ञान का किस विज्ञान से सम्बन्ध नहीं है, यह बताना असम्भव है। ध्वनिविज्ञान, स्वरविज्ञान, मनोविज्ञान, भौतिकविज्ञान, अध्यात्मविज्ञान आदि से इसका अभिन्न सम्बन्ध है। अतएव प्रस्तुत विषय स्थूल व्याकरण न होकर मौलिक व्याकरण हो जाता है। अतः इसका समस्त वैदिक साहित्य, समस्त दर्शनों एवं अन्य समस्त सिद्धांतों से साक्षात् सम्बन्ध है। व्याकरण, दर्शन एवं साहित्य के दृष्टिकोण से अग्रिम अध्यायों में विवेचन किया गया है। वेद एवं ब्राह्मणादि ग्रन्थों में इस विषय पर कहां तक और क्या विवेचन हुआ है, इसका संक्षिप्त रूप से यहां पर उल्लेख किया जाएगा।

निबन्ध का नामकरण

व्यास, कुमारिल भट्ट, वेंकट माधव और मण्डन मिश्र का अर्थविज्ञान शब्द—सृष्टि के मूल में जो मौलिक तत्त्व विद्यमान है, वह है शब्द, उसका विकास ही अर्थ है। अतः अर्थ-विषयक समस्त विवेचन को अर्थ-विज्ञान (इंग्लिश में Semantics सीमेन्टिक्स) नाम दिया गया है। अर्थ-विज्ञान शब्द का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग व्यास, कुमारिल भट्ट, वेंकटमाधव तथा मण्डनमिश्र ने किया है। अर्थविज्ञान शब्द का सबसे प्रथम पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग व्यास ने महाभारत के वनपर्व में किया है। व्यास ने बुद्धि के गुणों का वर्णन करते हुए लिखा है कि बुद्धि के ये गुण हैं :—(१) शुश्रूषा अर्थात् शब्द और अर्थ के गुणों की जिज्ञासा, (२) श्रवण—अर्थात् शब्द और अर्थ के गुणों एवं स्वरूप का श्रवण करना, (३) ग्रहण अर्थात् शब्द और अर्थ के स्वरूप और गुणों का ज्ञान प्राप्त करना, (४) धारण अर्थात् शब्द और अर्थ-विषयक प्राप्त हुए ज्ञान को आत्मसात् करना, (५) ऊहापोह—

अर्थात् शब्द और अर्थ-विषयक अन्वेषण, विश्लेषण एवं विवेचन करना, (६) अर्थ-विज्ञान अर्थात् अर्थतत्त्व (प्रतिभा) का वास्तविक ज्ञान प्राप्त करना, (७) तत्त्वज्ञान अर्थात् आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करना।

शुश्रूषा श्रवणं चैव ग्रहणं धारणं तथा।
ऊहापोहोऽर्थविज्ञानं तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः॥
(महाभारत, वनपर्व २,१६)

अर्थतत्त्व का विवेचन, विश्लेषण और परीक्षण यह बुद्धि का गुण है। अर्थ-तत्त्व के विज्ञान से ही तत्त्वज्ञान होता है, अतएव व्यास ने तत्त्वज्ञान को भी बुद्धि का गुण बताया है।

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के शब्दपरिच्छेद में कहा है कि जिस प्रकार वैदिक साहित्य में "चोदना" शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया जाता है, अर्थात् धर्म (लक्ष्य, उद्देश्य, साध्य) का लक्षण है चोदना रूपी अर्थ (प्रेरणा, प्रगति, अन्तःप्रेरणा, कर्मण्यता, कर्मठता, प्रतिभाशक्ति का उद्बोधन) 'चोदना लक्षणोऽर्थो धर्मः' मीमांसा ० १, १, २, उसी प्रकार शास्त्र में शब्द-ज्ञान और अर्थ-विज्ञान शब्द पारिभाषिक अर्थ में प्रयुक्त होते हैं।

यथा च चोदनाशब्दो वैदिक्यामेव वर्तते।
शब्दज्ञानार्थविज्ञानशब्दौ शास्त्रे तथा स्थितौ॥ श्लोक० शब्द० १३.

वेंकट माधव ने ऋग्वेद के भाष्य में अर्थविज्ञान शब्द का प्रयोग करते हुए इस बात पर भी ध्यान आकृष्ट किया है कि अर्थ-विज्ञान की सिद्धि कैसे होती है, अर्थात् अर्थ-तत्त्व (वाक्-तत्त्व) का पूर्ण रूप से ज्ञान कैसे होता है। इसका साधन बताते हुए उनका कथन है कि कर्म-विज्ञान का ठीक ठीक ज्ञान होने से अर्थविज्ञान का ज्ञान होता है। प्रस्तुत निबन्ध में वैयाकरणों के कथनानुसार कर्म-विज्ञान का विवेचन ध्वनि-विज्ञान के नाम से किया गया है। इस ध्वनि-विज्ञान का सम्बन्ध संस्कार-विज्ञान से है। पूर्व जन्मों तथा इस जन्म के संस्कारों का क्या प्रभाव होता है और उसकी क्या उपयोगिता है। वेंकटमाधव ने शब्द-विज्ञान को यज्ञ-विज्ञान के नाम से रखकर उसका साधन कर्म-विज्ञान बताया है।

यजुषामर्थ-विज्ञानं नाकर्मज्ञस्य सिध्यति (वेंकटमाधव, ऋग्वेदभाष्य, भाग १ पृ० ३)

मण्डनमिश्र ने 'स्फोटसिद्धि' में कुमारिल भट्ट आदि की त्रुटि का निर्देश करते हुए तथा वैयाकरण-संमत स्फोट सिद्धांत का प्रतिपादन करते हुए 'अर्थविज्ञान' शब्द का प्रयोग पारिभाषिक अर्थ में किया है।

न चान्त्यवर्णमात्रमर्थसम्बन्धितया प्रतिपद्यन्ते पुरस्तात्, मा भूत केवल-दर्थविज्ञानमिति। (स्फोटसिद्धि श्लोक १२ की व्याख्या)

अर्थ-विज्ञान क्या है

अर्थ-विज्ञान का साधारणतया विषय है कि अर्थ-तत्त्व क्या है, अर्थ-तत्त्व का क्या स्वरूप है। शब्दतत्त्व से इसका सम्बन्ध है या नहीं, यदि है तो शब्दतत्त्व का क्या स्वरूप है। शब्द और अर्थ नित्य हैं या अनित्य। यदि नित्य हैं तो उनका क्या स्वरूप है और यदि अनित्य, तो उनका क्या रूप है। अर्थतत्त्व का ज्ञान कैसे और क्योंकर होता है। अर्थतत्त्व का निर्णय किस प्रकार से और किन साधनों से होता है। शब्द-तत्त्व अर्थ-निर्णय में किस प्रकार और क्योंकर सहायक होता है। शब्द और अर्थ में शक्ति है या नहीं, यदि है तो किसमें और किस रूप में, यदि नहीं तो अर्थ-विकास किस प्रकार का होता है। पद किसे कहते हैं, वह कितने प्रकार का होता है। पद के विभाजन का पदार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। पद-विभाजन के कारण पदार्थ कितने प्रकार का हो जाता है। वाक्य किसे कहते हैं, वाक्य का क्या स्वरूप है; वाक्य कितने प्रकार का होता है। वाक्य का वाक्यार्थ पर क्या प्रभाव पड़ता है। वाक्य का वाक्यार्थ पर प्रभाव पड़ता है या नहीं। यदि वाक्य का वाक्यार्थ पर प्रभाव पड़ता है तो किस रूप में और क्यों। यदि नहीं तो वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान किस प्रकार और क्यों होता है। वाक्यार्थ एक होता है या अनेक, यदि एक है तो उसका क्या स्वरूप है और अनेकता क्यों और कैसे है। यदि अनेक है तो अनेकता का आधार और मूल क्या है, अनेक में एक वाक्यार्थ का ज्ञान कैसे और किस रूप में होता है। पदार्थ और वाक्यार्थ का अन्तिम स्वरूप क्या है। वह सत्य है या असत्य, वह नित्य है या अनित्य, वह निर्वचनीय है या अनिर्वचनीय, वह ज्ञान रूप है या अज्ञान रूप, वह सत्रूप है या असत्, वह विद्यारूप है या अविद्या।

अर्थ का स्वरूप प्रतिभा—उपर्युक्त विषय का वैयाकरणों और दार्शनिकों के दृष्टिकोण से अग्रिम अध्यायों में वर्णन किया गया है। वैयाकरण अर्थतत्त्व के जिस अन्तिम निष्कर्ष पर पहुँचे है, वह है प्रतिभा। सृष्टितत्त्व के मूल में, समस्त ज्ञान और विज्ञान के मूल में, समस्त वेद, षाडंग, उपांगों के मूल में, जो एक परमतत्त्व परमाणु रूप से व्याप्त है, वह है प्रतिभा। प्रतिभा के ही विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन को वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, व्याकरण, दर्शन, साहित्य तथा ज्ञान और विज्ञान के विभिन्न अंग और उपांग कहा जाता है।

प्रस्तुत निबन्ध में उसी को वैयाकरणों के शब्दों में अर्थतत्त्व, अर्थविज्ञान शब्दविज्ञान, ध्वनिविज्ञान, स्फोट-विज्ञान, शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म आदि नामों से सम्बोधित किया गया है। प्रतिभा की शक्ति अनन्त अपरिमित और अनिर्वचनीय है। उसी को वैयाकरणों ने वाक्तत्त्व कहा है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में जितना जो कुछ भी चैतन्य है, वह वाक्तत्त्व है, वह प्रतिभा है। उसी को महा-

सत्ता, जाति, भाव, नित्य, सत्य आदि की व्याख्या करके पतञ्जलि और भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है। (वाक्यपदीय कांड २, श्लोक ११६-१५४)

प्रतिभा का नाम स्फोट—सृष्टि के इतिहास में वेदों के पश्चात् आज तक यदि कोई सबसे बड़ा अभूतपूर्व क्रान्तिकारी अन्वेषण या आविष्कार हुआ है तो वह है स्फोटसिद्धान्त, वह है प्रतिभा का साक्षात् विश्लेषण, वह है प्रतिभा के नित्यांश और अनित्यांश का दो भागों में पृथक्करण, वह है प्रतिभा के नित्यांश का साक्षात्कार। इस अन्वेषण और आविष्कार का सबसे बड़ा श्रेय आचार्य स्फोटायन को है। आचार्य पाणिनि ने अतएव वाक्तत्त्व के परमतत्त्वज्ञ आचार्य स्फोटायन को 'अवङ् स्फोटायनस्य' (अष्टा० ६, १, १२३) सूत्र में विशेष समादर के साथ स्मरण करके प्रतिभा-विषयक सिद्धान्त को तीन सूत्रों में स्पष्ट किया है[1] और 'इन्द्रे च नित्यम्' (अष्टा० ६. १, १२४) सूत्र द्वारा अपना मन्तव्य स्थिर किया है कि इन्द्र (आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा, परमाणु, मूलप्रकृति, परम-पुरुष, परमतत्त्व) में वह स्फोट नित्यरूप में रहता है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में दो मौलिक तत्त्व हैं, एक स्फोट दूसरा ध्वनि। स्फोट नित्य है, ध्वनि अनित्य। स्फोट अभिव्यक्त होता है, वह व्यङ्ग्य है, वह प्रकाशित होता है, उसी को वैयाकरण 'अक्षर' कहते हैं। उसमें क्षर अंश नहीं है। अनित्यांश नहीं है, वह सृष्टि का आधार है। सृष्टि के प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण स्फोट होता है। जिसका अभिप्राय आधुनिक वैज्ञानिकों की दृष्टि से स्थूल शब्दों में 'विस्फोट' शब्द की व्याख्या से समझा जा सकता है, वह है क्रान्ति, विप्लव, परिवर्तन, वृत्ति। इस मौलक क्रान्ति, परिवर्तन, वृत्ति के कारण ही सृष्टि की स्थिति है। इस मौलिक सत्य को वैयाकरण शब्दब्रह्म कहते हैं, उसी को दूसरे शब्दों में ब्रह्म, ईश्वर, आत्मा, आकाश, द्रव्य, स्वभाव और तत्त्व आदि नामों से विभिन्न दार्शनिकों ने सम्बोधित किया है। वेदान्तदर्शन उसको ब्रह्म कहता है, योग ईश्वर और सांख्य पुरुष, वैशेषिक विशेष तथा न्याय शब्द। उसी को बौद्धदर्शन ज्ञान, जैनदर्शन अणु (पुद्गल) चार्वाकदर्शन भूत या तत्त्व तथा आधुनिक भौतिक विज्ञानवादी प्रकृति, द्रव्य, तत्त्व आदि नाम देते हैं। (वाक्यपदीय ब्रह्म-काण्ड तथा काण्ड ३ पृष्ठ ८५)

एक महान् अनर्थ, एक महान् भ्रम (अज्ञान)

प्रतिभा के ही अनेक नाम—संसार में एक महान् भ्रम है, जिसका मूल-कारण अज्ञान, अविद्या, भ्रम और अतत्त्वज्ञता है। वह है आस्तिकवाद और

---

१. सर्वत्र विभाषा गोः। अष्टा० ६. १. १२२
अवङ् स्फोटायनस्य। अष्टा० ६. १. १२३
इन्द्रे च नित्यम्। अष्टा० ६. १. १२४

नास्तिकवाद का विवाद, वह है शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व का विवाद, वह है अध्यात्मवाद और भौतिकवाद का विवाद, वह है ब्रह्मवाद और शून्यवाद का विवाद, वह है ज्ञानवाद और विज्ञानवाद का विवाद, वह है शान्तिवाद और क्रान्तिवाद का विवाद, वह है जातिवाद और व्यक्तिवाद का विवाद, वह है समष्टिवाद और व्यष्टिवाद का विवाद, वह है अद्वैतवाद और द्वैत या त्रैत-वाद का विवाद, वह है वृत्तिवाद और अवृत्तिवाद का विवाद, वह है प्रत्यक्ष-वाद और परोक्षवाद का विवाद, वह है स्फोटवाद और ध्वनिवाद का विवाद, वह है भाववाद और अभाववाद का विवाद, वह है विद्या और अविद्या का विवाद, वह है ज्ञानयोग (ज्ञानमार्ग) और कर्मयोग (कर्ममार्ग) का विवाद वह है अस्तिवाद और नास्तिवाद का विवाद, सरल शब्दों में यह विवाद है 'है' और 'नहीं' का विवाद, सृष्टि में कुछ सत्य है या नहीं, यह सारा विवाद प्रतिभा के स्वरूप के न जानने के कारण है। यह सारा भ्रम स्फोट और ध्वनि स्वरूप को न जानने के कारण है, शास्त्रीय भाषा में यह सारा भ्रम नाम और रूप को ठीक न जानने के कारण है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को ठीक न सम-झने के कारण है।

विवाद और भ्रम का मूल अज्ञान और भ्रम—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में प्रतिभा के स्वरूप को समझाकर तथा स्फोट और ध्वनि का जो स्वरूप पतञ्जलि ने समझाया है, उसको स्पष्ट करके संसार का एक अनुपम और असाधारण उपकार किया है। प्रतिभा के साक्षात्कार द्वारा प्रतिभा का स्वरूप ठीक समझकर प्रतिभामू-लक माया या अज्ञान के कारण जो संसार में विवाद, भ्रम, अज्ञान और अविद्या है, तथा जिसके कारण को समझने में अनेकों दार्शनिक भी असमर्थ रहे हैं, उसको दूर किया है। उपर्युक्त सारे विवादों का मूल यह है कि आत्मा ब्रह्म, पर-मात्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर, तत्त्व, द्रव्य आदि नामों को विभिन्न दार्शनिकों ने भिन्न-भिन्न समझा है, अतएव विवाद है। भर्तृहरि ने इस भ्रम, माया और अज्ञान को दूर करते हुए बताया है कि ये प्रतिभा के ही सारे नाम हैं। उसी को कोई दर्शन ब्रह्म कहता है, कोई ईश्वर, कोई परमात्मा, कोई पुरुष, कोई वस्तु, (पदार्थ) कोई स्वभाव, कोई प्रकृति, कोई शरीर, कोई तत्त्व और कोई द्रव्य। उसी को वैया-करण प्रतिभा, ज्ञान, शब्द, अक्षर, ब्रह्म, पदार्थ, वाक्यार्थ, परमार्थ, पुरुष, पुरु-षार्थ, जाति, व्यक्ति, महासत्ता, सत्, सत्य, नित्य, प्रकृति, प्रत्यय, धातु, धात्वर्थ, नाम, आख्यात, उपसर्ग, निपात, परा, पश्यन्ती, मध्यमा, वैखरी, वाक्य-स्फोट, वाक्य, आदि नाम देते हैं। प्रत्येक दार्शनिक सूक्ष्म एवं तात्त्विक विवेचन से जिस अन्तिम तत्त्व पर पहुँचते हैं, जिसके कारण ज्ञान होता है, जिसके कारण चैतन्य है, जिसके कारण ज्ञान का अस्तित्त्व है, जिसके कारण चेतनता की सत्ता है, जिसके कारण सृष्टि में अस्तित्व है, जिसके अस्तित्व के कारण सृष्टि प्रत्यक्ष है, प्रत्येक अणु, प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक स्थावर और जंगम में जो सूक्ष्म दृष्टि से दृश्य है, जो स्थूल दृष्टि से अनुमेय और व्यङ्ग्य है, उसको वैयाकरण द्रव्य

कहते हैं। संग्रह ग्रन्थ के समादरणीय आचार्य व्याडि ने उसको द्रव्य कहा है, आचार्य वाजप्यायन ने उसको जाति (आकृति) कहा है।[1]

आचार्य पाणिनि का विवेचन—आचार्य पाणिनि ने अर्थ-तत्त्व, वाक् तत्त्व, प्रतिभा शब्द-तत्त्व, एवं स्फोट के स्वरूप को संक्षेप में किन्तु बहुत स्पष्ट शब्दों में प्राति- पदिक और अंग की व्याख्या करते हुए स्पष्ट किया है।[2] आचार्य पाणिनि का कथन है कि —

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। (अष्टा०, १,२,४५)

उस परम-तत्त्व को प्रातिपदिक कहते हैं, वह न धातु है और न प्रत्यय, वह न द्रव्य है और न आकृति, वह न नाम है न रूप, वह न प्राकृतिक पदार्थ है और न जीव- रूप पदार्थ है, वह न वर्ण है न पद, वह न वर्ण-स्फोट है न पदस्फोट। प्रतिभा इनसे पृथक् है। उसका एकमात्र लक्षण यह है कि वह अर्थवत् है, सार्थक है, चेतन है, ज्ञानमय है, वही वाक्य है, वही वाक्यार्थ है, वह प्रतिभा है, वह प्रत्येक पद में व्याप्त है, वह प्रत्येक अणु में व्याप्त है, अतः उसे प्राति- पदिक कहते हैं, इसीको शब्दब्रह्म, प्रतिभा-विज्ञान, अर्थ-विज्ञान कहते हैं।

इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि प्रतिभा न प्राकृतिक तत्त्व है, और न जीवतत्त्व, यदि ब्रह्म न प्रकृति है और न जीव तो उसका रूप कैसे जाना जा सकता है। त्रिगुणातीत, वृत्तित्रय से बहिर्भूत का कोई रूप नहीं बन सकता है, अतः किसी भी शब्द का कोई भी रूप नहीं होना चाहिए। अतएव वे कहते हैं कि—

कृत्तद्धितसमासाश्च (अष्टा०, १,२, ४६)।

तीन वृत्तियाँ,—मुख्य रूप से प्रातिपदिक ब्रह्म ही है, प्रतिभा ही है, तथापि कृत्, तद्धित प्रत्यय और समास इन तीनों को भी प्रातिपदिक कहते हैं। सांख्य के शब्दों में सत्व, रजस् और तमस् इन तीन गुणों के कारण प्रकृति (जीव) को भी

---

१. जातिं विशेषणभूता पदार्थं व्यवस्थाप्य व्याडिदर्शनेन विशेष्यरूपं द्रव्यम प पदार्थं व्यवस्थापयितुं यथादर्शनं पर्यायान्तरैरुद्दिशति। (हेलाराज)

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥

वाक्य० ३ पृष्ठ ८५

द्रव्यं च द्विविधं पारमार्थिकं साव्यवहारिक च। अनेन च द्रव्येण व्याडिदर्शने सर्वे शब्दा द्रव्याभि धायिनो भवन्ति। इह तु पारमार्थिकं द्रव्यं निरूप्यते। तदेवमेतैः परमार्थ एकमेव वस्तूच्यते। द्रव्यं नाम यः पदार्थः, तस्यैत एव पर्यायाः। एतेषामेव पारमार्थिकरूपाभिधायित्वात्। केवलं यदस्माकं द्रव्यं तदन्यैरेवमभिधीयत इति। (हेलाराज, वही)

२. यस्मात् प्रत्ययविधिस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम्। अष्टा० १,४, १३

गौण रूप से ब्रह्म, आत्मा या प्रतिभा कहा जाता है। सत्व, रजस् और तमस इन तीन गुणों के कारण प्रकृति (स्वभाव) त्रिगुणात्मिका कही गई है। इन तीन गुणों का प्रतिविम्ब पुरुष (प्रतिभा) में पड़ता है, अतः वह सात्विक राजस और तामस वृत्ति-युक्त कहा जाता है। इन तीन वृत्तियों को साहित्य शास्त्रियों ने शक्ति (प्रतिभा) नाम दिया है और उसके तीनरूप माने हैं – अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना।

पांच वृत्तिय—भट्टोजिदीक्षित ने कृत् ,तद्धित और समास के साथ एक-शेष समास तथा सनाद्यन्त धातु रूप को भी समन्वित करके वृत्तियों की संख्या ५ मानी है। वृत्ति का स्वरूप है परार्थाभिधान-पर के अर्थ का बोध कराना, परअर्थात् ब्रह्म के अर्थ-परमार्थ-की अभिव्यक्ति कराना वृत्तियों का कार्य है। प्रतिभारूपी परमार्थ की अभिव्यक्ति के साधन ये पांच वृत्तियाँ हैं। इन पांच वृत्तियों के यथार्थ ज्ञान से परार्थ, परमार्थ प्रतिभा का ज्ञान होता है।

कृत्तद्धितसमासैकशेषसनाद्यन्तधातुरूपाः पञ्च वृत्तयः, परार्थाभिधानं वृत्तिः। (सिद्धान्तकौमुदी, सर्वसमासशेषप्रकरण)।

तीन वृत्तियों का स्पष्टीकरण—यहां पर यह स्मरण रखना चाहिए कि वृत्तियों के तीन या पांच भेद का कारण उनका मौलिक अन्तर नहीं है। अपितु प्रकार भेद से विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन का परिणाम है। सांख्य के दृष्टिकोण से सत्व, रजस् और तमस् के ही विवेचन से सृष्टि के मूल-तत्त्व (अर्थ, प्रतिभा, प्रकृति) का विवेचन हो जाता है। इन तीन के गुणों की व्याख्या से ही पञ्च-तत्त्वों की व्याख्या हो जाती है। शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गंध इन पांच गुणों की व्याख्या सत्व, रजस्, तमस् की व्याख्या को यथार्थ रूप से जानने से हो जाती है। इन तीन गुणों के कारण वृत्तियां तीन प्रकार की हो जाती हैं, सात्विक, राजस और तामस। परमपुरुष (परमात्मा, शब्दब्रह्म, प्रतिभा) को यथार्थतः जानने के लिए मूल प्रकृति (स्वभाव, आचरण, प्रतिभा) में विद्यमान सात्विक, राजस और तामस प्रवृत्तियों का जानना अनिवार्य है। मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से प्रत्येक पुरुष को यथार्थ रूप से जानने के लिए उसकी प्रकृति (स्वभाव, आचरण, प्रतिभा) में विद्यमान सात्विक, राजस और तामस प्रवृत्तियों का जानना अनिवार्य है। साहित्यिकों ने इसकी व्याख्या के लिए परम पुरुष का प्रतिनिधि शब्द रखा है, शब्द में तीन प्रकार की शक्तियां मानी हैं, अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना। इन तीनों शक्तियों के कारण शब्द वाचक, लक्षक और व्यञ्जक माना जाता है। तथा अर्थ वाच्य, लक्ष्य और सांख्य जिसको त्रिगुण और वृत्तित्रय से स्पष्ट करता है, साहित्यशास्त्री उसको शक्तित्रय की व्याख्या से स्पष्ट करते हैं। जब तक अभिधा, लक्षणा, व्यञ्जना शक्तियों का यथार्थ ज्ञान नहीं होगा, तब तक साहित्य का ज्ञान ठीक नहीं होगा। साहित्यशास्त्री पहले शक्तियों का प्राकृतिक तथा मौलिक दृष्टिसे विवेचन

करते हैं, परन्तु अन्त में ध्वनिकाव्य को उत्तम साहित्य मानते हैं। साहित्य, काव्य वही सर्वोत्तम है, जिसमें व्यङ्ग्यार्थ मुख्य हो। वर्ण ध्वनि हैं, सृष्टि ध्वनि है, पञ्चभूत-पञ्चतत्त्व ध्वनि है, इनसे प्रतिभा की अभिव्यक्ति होती है, शक्ति की सिद्धि होती है, अक्षर की प्राप्ति होती है, स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, मौलिक तत्त्व (परमाणु, आकाश, (ईथर) प्रतिभा) की प्राप्ति होती है। अतएव मम्मट ने काव्य-प्रकाश में कहा है कि—

इदमुत्तममतिशायिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत् काव्यमुत्तमम् (काव्य १,४)

वैयाकरणों का अभिप्राय—पाणिनि ने इन तीन वृत्तियों की व्याख्या विशद रूप में कृत् तद्धित प्रत्ययों तथा समास की व्याख्या द्वारा की है। प्रत्येक शब्द में दो तत्त्व अवश्य रहते हैं, एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। नित्यांश स्फोट है और अनित्यांश ध्वनि। नित्यांश की व्याख्या पाणिनि ने प्रकृति की व्याख्या द्वारा की है और अनित्यांश की व्याख्या प्रत्ययों की व्याख्या से। प्रत्येक शब्द को जब तक स्फोट और ध्वनि के रूप में पृथक् नहीं किया जायगा, तब तक व्याकरण (विवेचन) सम्भव नहीं है। अतः मूल-प्रकृति में विद्यमान सत्व, रजस् और तमस् का विवेचन (विश्लेषण) वैयाकरणों के लिए सर्वप्रथम आवश्यक होता है, क्योंकि उसी से वृत्ति का ठीक ज्ञान होता है और उससे अर्थविज्ञान की सिद्धि होती है। प्रत्येक शब्द में कितना अंश मौलिक है और कितना अमौलिक, कितना धातु का अंश है और कितना प्रत्यय का, कितना अक्षर अंश है और कितना क्षर अंश, कितना अक्षर पुरुष का अंश है और कितना क्षर पुरुष का, कितना स्फोट का अंश है और कितना ध्वनि का, कितना शब्द का अंश है और कितना अर्थ का, कितना शब्द-तत्त्व है और कितना अर्थ-तत्त्व, यह प्रत्येक शब्द में कृत् तद्धित समास वृत्तियां स्पष्ट करती हैं। कृत् प्रत्ययों के विभिन्न अर्थों द्वारा पाणिनि ने प्रत्येक शब्द में विद्यमान ध्वनि, क्षर अंश, क्षर पुरुष, अर्थ-तत्त्व का सात्विक वृत्ति के दृष्टिकोण से विवेचन किया है। प्रत्येक शब्द में सत्त्व अंश अवश्य रहता है, अन्यथा उसका प्रयोग नहीं हो सकता है। वैयाकरणों का अतएव सिद्धान्त है कि न केवल प्रकृति का प्रयोग करना चाहिये और न केवल प्रत्यय का।

न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि केवलः प्रत्ययः।

भाव यह है कि न केवल स्फोट का प्रयोग करना चाहिये और न केवल ध्वनि का, न केवल अक्षर का प्रयोग करना चाहिए और न केवल क्षर का, न केवल शब्द का प्रयोग करना चाहिए न केवल अर्थ का। जहां तक प्रयोग का सम्बन्ध है स्फोट और ध्वनि का पृथक्करण नहीं किया जा सकता है, क्योंकि जहां स्फोट शब्द रूप से है वहाँ ध्वनि गुण रूप से है, गुण और गुणी, संज्ञा और संज्ञी, अंग और अंगी, अवयव और अवयवी अविनाभाव से एकत्र रहते हैं. दोनों का पृथक् अस्तित्व नहीं है, अतः वैयाकरण समन्वय मार्ग को सर्वोत्तम मानते हैं,

अतएव वैयाकरणों का मत है कि शब्दतत्त्व और अर्थतत्त्व एक ही आत्मा के दो स्वरूप हैं, दोनों की पृथक्-पृथक् सत्ता नहीं है।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ। (वाक्य० २,३१)

समन्वय की स्थापना—यही कारण है कि स्फोट और ध्वनि, शब्द और अर्थ, पुरुष और प्रकृति एकत्र रहते हैं। मौलिक दृष्टि से वैयाकरणों का अभिप्राय यह है कि सृष्टि में प्रतिभा ही एक मौलिक तत्त्व है। उसी के दो रूप हैं, नित्य रूप को शब्द कहते हैं और अनित्य रूप को अर्थ, नित्यांश को स्फोट और अनित्यांश को ध्वनि, नित्यांश को सत् और अनित्यांश को असत्, नित्यांश को सत्य और अनित्यांश को असत्य, नित्यांश को अक्षर और अनित्यांश को क्षर, नित्यांश को द्रव्य और अनित्यांश को आकृति (आकार), नित्यांश को ब्रह्म और अनित्यांश को माया, नित्यांश को परमात्मा और अनित्यांश को सृष्टि, नित्यांश को जाति और अनित्यांश को व्यक्ति नित्यांश को नाम और अनित्यांश को रूप, नित्यांश को अकर्मक और अनित्यांश को सकर्मक, नित्यांश को परमात्मा और अनित्यांश को जीवात्मा, नित्यांश को निर्गुण और अनित्यांश को सगुण, नित्यांश को एक और अ नत्यांश को अनेक, नित्यांश को अद्वैत और अनित्यांश को द्वैत या त्रैत, नित्यांश को विद्या और अनित्यांश को अविद्या, नित्यांश को संभूति और अनित्यांश को असंभूति (विनाश), नित्यांश को श्रेयस् और अनित्यांश को प्रेयस्, नित्यांश को देव (अमर) और अनित्यांश को मर्त्य नित्यांश को परा विद्या और अनित्यांश को अपराविद्या, नित्यांश को प्राण और अनित्यांश को रयि, नित्यांश को अमूर्त और अनित्यांश को मूर्त नित्यांश को स्वर और अनित्यांश को व्यंजन, नित्यांश को अक्षर और अनित्यांश को वर्ण, नित्यांश को क्रिया और अनित्यांश को भावना, नित्यांश को वाक्य और अनित्यांश को पद, नित्यांश को वाक्यार्थ और अनित्यांश को पदार्थ।

शब्दार्थ के समन्वय की अनिवार्यता—आचार्य पाणिनि का अभिप्राय यह है कि सृष्टि में मौलिक-तत्त्व एक ही है वह न धातु है और न प्रत्यय, उसको न भाव पदार्थ कहा जा सकता है और न अभाव, उसको न सक्रिय कहा जा सकता है और न निष्क्रिय। प्रतिभा की सत्ता मात्र से सब कार्य चलता है जैसे कि सूर्य की सत्ता से इस सृष्टि का कार्य चलता है, उसको भौतिक दृष्टि से गतिशील, सकर्मक (सक्रिय) उदय अस्त आदि क्रिया-युक्त समझा जाता है, परन्तु तात्त्विक दृष्टि से वह न उदय होता है और न अस्त होता है,[1] (ऐतरेयब्रा० ३, ४४, गोपथ० उत्तर० ४, १०)। यह ज्ञात होने पर भी

---

१. (क) स वा एष (आदित्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यते रात्रिमेवावस्तात् कुरुतेऽहः परस्तादथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्तमित्वाऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवावस्तात् कुरुते रात्रिं परस्तात् स वा एष न कदाचन निम्रोचति। ऐतरेय ब्रा० ३. ४४.

उसका उदय और अस्त कहा जाता है, क्योंकि सृष्टि का व्यवहार केवल एक दृष्टिकोण से नहीं चलता है। जो वैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है वह भौतिक दृष्टि से असत्य है और जो भौतिक दृष्टि से सत्य है वह वैज्ञानिक दृष्टि से असत्य है। अतएव वैयाकरणों, वैज्ञानिकों, दार्शनिकों, मीमांसकों, साहित्यिकों, समीक्षकों और आलोचकों को एक ओर वैज्ञानिक दृष्टिकोण रखना पड़ता है और दूसरी ओर व्यावहारिक दृष्टिकोण। न वैज्ञानिक दृष्टिकोण की उपेक्षा की जा सकती है और न व्यावहारिक दृष्टिकोण की। अतएव इन सब को दोनों दृष्टियों से विवेचन करके मार्ग उपस्थित करना पड़ता है, एक ओर वैयाकरणों, वैज्ञानिकों और तत्त्वज्ञों के लिए मार्ग बनाना होता है, दूसरी ओर साधारण जनों के लिए। वे तत्त्वज्ञों के लिए तात्त्विक पारमार्थिक देवयान निर्वाण और मोक्ष का मार्ग बताते हैं, उनके लिए प्रतिभा, वाक्-शक्ति, अर्थतत्त्व का नित्यरूप ज्ञेय, प्राप्य और साध्य बताते हैं, दूसरों के लिये व्यावहारिक, पितृयाण, स्वर्ग का मार्ग बताते हैं। तत्त्वज्ञों के लिए जैसा कि सांख्य आदि दर्शनों में वर्णन किया गया है वह ज्ञान-मार्ग है। वैयाकरण तात्त्विक और पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञान-मार्ग के समर्थक हैं। अद्वैतवाद, ब्रह्मवाद, परमात्मवाद, ईश्वरवाद, स्फोटवाद, निर्गुणवाद, निराकारवाद, की पारमार्थिक दृष्टि से सत्ता स्वीकार करते हैं। उसका साधन सत्य अहिंसा अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह जिनको पतञ्जलि ने यम कहा है, माना है।[1] यह प्रतिभा, ब्रह्म, तत्त्वज्ञान, अर्थतत्त्व, वाक्यतत्त्व और शब्दतत्त्व की सिद्धि का ज्ञान-मार्ग से प्रकार है। व्यावहारिक दृष्टिकोण से वे ध्वनिवाद को भी सत्य मानते हैं। प्रत्यक्ष को भी सत्य मानते हैं, पञ्च-भूतों एवं पञ्चतत्त्वों में भी सत्यता मानते हैं, व्यावहारिक दृष्टिकोण वाले जिज्ञासुओं के लिए कर्ममार्ग उपयोगी मानते हैं। भगवान् कृष्ण ने भगवद्गीता में उनके लिए जो सर्वश्रेष्ठ मार्ग बताया है वह है, निष्काम कर्मयोग, निष्काम भावना से अपने-अपने कार्य को करना और उसमें दक्षता प्राप्त करना (योगः कर्मसु कौशलम्-गीता २, ५०)।

वाक् तत्त्व के मूल में समन्वय—वैयाकरण उपर्युक्त मार्गों को विभक्त मानने को दूषित समझते हैं। सृष्टि के मूल में समन्वय है, अर्थ-

---

(ख) स वा एष (आदित्यः) न कदाचनास्तमयति नोदयति। तद्यदेनं पश्चादस्तमयतीति मन्यन्ते अन्ह एव तदन्तं गत्वाऽथात्मानं विपर्यस्यतेऽहरेवाधस्तात् कुरुते रात्रीं परस्तात्।

गोपथ ब्रा० उ० ४. १०.

१. अहिंसासत्याऽस्तेय ब्रह्मचर्याऽपरिग्रहा यमाः। योगदर्शन २. ३०.

तत्त्व के मूल में समन्वय है। शब्द स्वयं स्फोट और ध्वनि का समन्वय है। न स्फोट के बिना ध्वनि रह सकती है और न ध्वनि के बिना स्फोट, स्फोट शब्द-तत्त्व है और ध्वनि उसका गुण, स्फोट आकाश है और ध्वनि अर्थात् शब्द उसका गुण, स्फोट शब्द है और ध्वनि अर्थात् प्रतिभा उसका गुण है, स्फोट शब्द है और ध्वनि अर्थ है, स्फोट प्रकृति है और ध्वनि प्रत्यय, स्फोट ब्रह्म है और ध्वनि माया, स्फोट आत्मा है और ध्वनि शरीर, स्फोट प्रतिभा है और ध्वनि ज्ञान, स्फोट परोक्ष है और ध्वनि प्रत्यक्ष, स्फोट परमाणु है और ध्वनि अणु, स्फोट अक्षर है और ध्वनि क्षर, स्फोट नित्य है और ध्वनि अनित्य। पतञ्जलि ने अतएव स्फोट और ध्वनि दोनों को शब्द कहा है। स्फोट रूपी शब्द की व्याख्या की है कि वह नित्य है, कूटस्थ है, अविचाली है, उसमें किसी प्रकार का कोई अपाय (क्षय) उपजन (आगम, विकास) और विकार (परिवर्तन) नहीं होता है।

नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः।

(महा० आह्निक २)

स्फोटरूपी प्रतिभा की व्याख्या उक्त शब्दों में की गई है। वह कूटस्थ है, उसमें गति नहीं है, उसमें न क्षय होता है और न वृद्धि, उसमें न ह्रास होता है और न विकास, वह त्रिगुणात्मिका प्रकृति से पृथक् है अतएव वह सब प्रकार के विकारों, परिवर्तनों, वृत्तियों से विहीन है। अतएव पतञ्जलि ने उसको नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध माना है। 'सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे' (महा० आ० १), पाणिनि, कात्यायन पतञ्जलि ये मुनित्रय प्रतिभा को ही नित्य शब्द, नित्य अर्थ और नित्य सम्बन्ध मानते हैं। प्रतिभा का ही तीन रूप से विभाजन है। अतः वह तीन रूप से दृश्य है। इसी प्रतिभा को सत् चित् आनन्द इन तीन भागों में विभक्त करके एक सच्चिदानन्द शब्द की सिद्धि की जाती है। इसी को अ उ म् तीन भागों में विभक्त करके एक ओम् शब्द की सिद्धि की जाती है। (तस्य वाचकः प्रणवः, योग०, १, २७) इसी को भूः भुवः स्वः इन तीन भागों में विभक्त करके एक 'भूर्भुवः स्वः' महाव्याहृति की सिद्धि की जाती है। अतएव यजुर्वेद का कथन है कि महाव्याहृति परमेष्ठी (कूटस्थ) प्रजापति जो कि वाक्-तत्त्व है, का सम्बोधन है।

परमेष्ठ्यभिधीतः प्रजापतिर्वाचि व्याहृतायाम् (यजु० ८, ५४)

उसी एक प्रतिभा का विभाजन करके वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती नामों से तीन वाक्-तत्त्वों की स्थापना की जाती है। सरल शब्दों में इस विभाजन को वाक्-

तत्त्व के स्थूल, सूक्ष्म और परोक्ष इन तीन भागों में विभाजन से समझा जा सकता है।[1] इसका स्पष्टीकरण आगे किया गया है।

तीन तत्त्वों की सृष्टि में स्थिति— अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से प्रतिभा का तीन भागों में विभाजन किया जाता है, वाक्-तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व। सृष्टि का समग्र विवेचन इन तीन तत्त्वों के विवेचन में समाविष्ट है। समस्त ज्ञान और विज्ञान की इन तीनों तत्त्वों के विवेचन विश्लेषण परीक्षण समीक्षण अन्वेषण गवेषण और साक्षात्कार में इतिश्री हो जाती है। सृष्टि के प्रत्येक अणु, प्रत्येक परमाणु, प्रत्येक शब्द और प्रत्येक अर्थ में इन्हीं तीन तत्त्वों का अनिवार्य रूप से समावेश और समन्वय है। इन्हीं को वैयाकरणों ने क्रमशः नाम आख्यात और उपसर्ग कहा है, इन्हीं को पाणिनि ने क्रमशः कृत् तद्धित और समास कहा है। इन्हीं को सांख्यदर्शन में सत्व रजस् और तमस् तीन गुण कहा गया है और इनकी वृत्ति को सात्त्विक राजस और तामस। योग-दर्शन में इनको चित्त की तीन वृत्तियां प्रख्या प्रवृत्ति और स्थिति कहा गया है। (योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः, योग० १, २) मनस्-तत्त्व की दृष्टि से उसको ज्ञाता, ज्ञेय और ज्ञान इन तीन भागों में विभक्त किया जाता है। प्राण-तत्त्व की दृष्टि से उसको भोक्ता, भोक्तव्य और भोग इन तीनों रूपों में विभक्त किया जाता है।[2] वाक् तत्त्व की दृष्टि से उसको शब्द अर्थ और सम्बन्ध तीन भागों में विभक्त किया जाता है। दर्शन व्याकरण विज्ञान आदि की दृष्टि से यही प्रतिभा की काल्पनिक त्रयी सर्वत्र व्याकरण, विवेचन, विश्लेषण आदि रूपों से दृश्य होती है।

भौतिक दृष्टि से उसको अग्नि, वायु और आकाश इन तीनों रूपों में विभक्त किया जाता है। वैदिक शब्दों में उसको अग्नि, वायु, आदित्य तीन भागों में विभक्त किया गया है। वैदिक शब्दों में उसको वाक्-तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व इन तीनों रूपों में विभक्त किया गया है। अतएव यजुर्वेद का कथन है कि एक ही प्रतिभा को वाक् तत्त्व, मनस्-तत्त्व और प्राण-तत्त्व इन भागों में विभक्त करने के कारण एक वेद (प्रतिभा) को वेदत्रयी नाम दिया जाता है। इनमें ऋग्वेद प्रतिभा के वाक्-तत्त्व की व्याख्या करता है, यजुर्वेद प्रतिभा के मनस् तत्त्व की व्याख्या करता है और सामवेद प्रतिभा के प्राण-तत्त्व

---

१. वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥

वाक्य० १,१४४

२. एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥

वाक्य १,४

की व्याख्या करता है। प्रतिभा के वाक्-तत्त्व की व्याख्या प्रतिभा के आग्नेय अंश की व्याख्या है, प्रतिभा के मनस्-तत्त्व की व्याख्या प्रतिभा के वायव्य अंश की व्याख्या है प्रतिभा के प्राणतत्त्व की व्याख्या प्रतिभा के आदित्य (अनिर्वचनीय, अविवेच्य, अव्याकरणीय, अक्षर, नित्य, अविनाशी, कूटस्थ) अंश की व्याख्या है।

ऋचं वाचं प्रपद्ये मनो यजुः प्रपद्ये साम प्राणं प्रपद्ये (यजु० ३६, १)

स्फोट-सिद्धान्त की विविध व्याख्या- पतञ्जलि, भर्तृहरि, भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश आदि वैयाकरणों ने तथा शंकराचार्य एवं मण्डन मिश्र आदि दार्शनिकों ने स्फोट सिद्धान्त की सत्यता और प्रामाणिकता को स्वीकार करते हुए स्फोट को कई प्रकार से समझाया है। शब्द की नित्यता को स्वीकार करने पर इसको तीन भागों में विभक्त करके स्फोट (ब्रह्म, आत्मा, प्रतिभा) को समझाया है। स्फोट शब्द का अर्थ है 'स्फुटति अर्थोऽस्मात्' जिससे अर्थ-तत्त्व प्रस्फुटित होता है। तीन विभागों को निम्न रूप से रखकर विषय को स्पष्ट किया जाता है। (१) वर्णस्फोट - वर्ण सार्थक हैं, वर्णों का अर्थ होता है, वर्णों की सत्ता से ही पद की सत्ता है, वर्णों से पद बनता है और पदों से वाक्य। वर्णों के अतिरिक्त पद और कोई पृथक् सत्ता नहीं है, तथा पदों के अतिरिक्त वाक्य और कोई पृथक् सत्ता नहीं। दार्शनिक शब्दों में इसका अभिप्राय यह होता है कि प्रकृति सार्थक है, प्रकृति ही अन्तिम सत्य है, प्रकृति से अर्थ का विकास होता है, प्रकृति के अतिरिक्त जीव और कोई पृथक् सत्ता नहीं है. तथा जीव के अतिरिक्त ब्रह्म और कोई पृथक् सत्ता नहीं है, (२) पदस्फोट अर्थ का ज्ञान पदों से होता है, वर्णों से नहीं। प्रत्येक पद सार्थक हैं, प्रत्येक वर्ण नहीं। पद नित्य हैं, वर्ण नहीं। दार्शनिक शब्दों में इसका अभिप्राय यह है कि प्रकृति साथक नहीं है, प्रकृति से अर्थतत्त्व की अभिव्यक्ति नहीं होती है, जीव सार्थक है, जीवात्मा से अर्थतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है, जीवात्मा अन्तिम सत्य है। जीवात्मा के अतिरिक्त परमात्मा, परमपुरुष ब्रह्म या प्रतिभा अन्य कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। सृष्टि के मूल में पद हैं, जीव हैं। प्रथम पक्ष को दार्शनिक शब्दों में 'अभिहितान्वयवाद' कहा जाता है। अर्थात् अभिहित का अन्वय, प्रत्येक वर्ण अपना अपना अर्थ बताते हैं, उनके समूह का ही पद में अन्वय हो जाता है और पद समूह का वाक्य में अन्वय हो जाता है। वर्णों की अपेक्षा पद में जो विशेषता आती है। वह उनके अन्वय के कारण है। पदों की अपेक्षा वाक्य में जो विशेषता आती है। वह पदों के वाक्य में अन्वय के कारण हैं। अतः उनका मत है कि 'यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः' (वाक्य० २, ४२) केवल पद जिस अर्थ का वाचक है वाक्य में सम्बद्ध होने पर भी उसी अर्थ का बोध कराता है। वाक्य में पदों का परस्पर अन्वय होने पर पदार्थ के कारण जो अधिकता हो जाती है, उसको वाक्यार्थ कहते हैं, इस पक्ष को पारिभाषिक शब्दों में 'संसर्गवाद' कहते हैं। इस मत का अभिमत यह है कि पदों के समूह का ही नाम वाक्य है। 'संघातो वाक्यम्'। पदों के अतिरिक्त वाक्य कोई पृथक अस्तित्व

नहीं है, और जीव के अतिरिक्त ब्रह्म,आत्मा, प्रतिभा कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। परमाणुओं के समूह से चेतनता आ जाती है और चेतनता के ही समूह को वाक्य और वाक्यार्थ कह देते हैं। अर्थात् चेतनता के ही समूह को ब्रह्म, परमात्मा या प्रतिभा कहते हैं। वैयाकरणों ने इस वाद को निरर्थक असंभव और अयुक्ति-संगत माना है, क्योंकि प्रत्येक पद में प्रत्येक वर्ण का अर्थ नहीं होता है, वर्णों से अतिरिक्त पद का अस्तित्व है, अतएव कूप (कुआं) सूप (दाल) यूप (यज्ञ-स्तम्भ) ये तीनों पद सर्वथा विभिन्न अर्थ बताते हैं, इनमें यदि क स य के कारण विभिन्नता मानें तो ऊप के कारण आधे से अधिक तीनों में समानता होनी चाहिए, परन्तु ऐसा नहीं है, ये तीनों शब्द वर्णों से पृथक् हैं, वर्णों के अतिरिक्त पद का पृथक् अस्तित्व होता है और पद के अतिरिक्त वाक्य का। परमाणुओं के अतिरिक्त जीव (चेतनता) का पृथक् अस्तित्व है. और जीव के अतिरिक्त शब्द, आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा जिसको कि व्याकरण में वाक्य एवं वाक्यार्थ कहा जाता है, पृथक् अस्तित्व है।

पदार्थ से पृथक् प्रतिभा का अस्तित्व—पद स्फोट को दार्शनिक शब्दों में 'अन्विताभिधानवाद' कहा जाता है, इसका अर्थ है कि अन्वित का अभिधान, प्रत्येक पदार्थ में वाक्यार्थ विद्यमान रहता है, पदार्थों के समूह का ही नाम वाक्यार्थ है, पदार्थ के अतिरिक्त वाक्यार्थ और कोई सत्ता नहीं है, प्रत्येक पद में प्रत्येक पद अन्वित है अर्थात् प्रत्येक शब्द में प्रत्येक अर्थ समन्वय-भाव से है, प्रत्येक पदार्थ में प्रत्येक पदार्थ विद्यमान है। अन्वित अर्थात् समन्वययुक्त पदार्थों का समूह वाक्यार्थ होता है। वाक्य में अन्वित पदार्थ का ही अभिधान अर्थात् कथन होता है, पदार्थ से अतिरिक्त और कोई बात नहीं कही जाती है. इसका अभिप्राय यह है कि प्रत्येक परमाणु के अतिरिक्त जीव की पृथक् सत्ता है, प्रकृति के अतिरिक्त जीवात्मा की पृथक् सत्ता है, प्रत्येक जीव में आत्मा, ब्रह्म, प्रतिभा का समन्वय है। जीव-परमाणुओं के अतिरिक्त आत्मा, ब्रह्म या प्रतिभा और कोई पृथक् अस्तित्व नहीं है। 'पदार्थ एव वाक्यार्थः' (वाक्य० २, ४४), जीवों के समूह का ही नाम परमात्मा, ब्रह्म-प्रतिभा है, वैयाकरणों ने इस वाद को भी निरर्थक असंभव और अयुक्तिसंगत माना है। (वाक्य०२,१७-१८;२,२८-२६;२, ११७;२,२४५-२४६) वैयाकरणों का कथन है कि पदों के समूह का ही नाम वाक्य नहीं होता है, अपितु वाक्य का अस्तित्व पदों से पृथक् है, वाक्य स्वतन्त्र सत्ता है, प्रत्येक पद निरर्थक हैं, असंबद्ध पदों का उच्चारण करने या प्रयोग करने से सार्थक वाक्य नहीं बन जाता है। सृष्टि में वाक्यों का ही प्रयोग होता है, पदों का नहीं। वाक्यों के द्वारा ही अर्थ का बोध कराया जाता है। पृथक् पृथक् पदों के द्वारा नहीं 'राम पुस्तक पढ़ता है', में प्रत्येक पद के अर्थ के अतिरिक्त वाक्य में कुछ विशेषता है, वह है, प्रत्येक पद का परस्पर सम्बन्ध। प्रत्येक पद में प्रत्येक पदार्थ में, वह सम्बन्ध नहीं है, जो कि वाक्य में है। इस वाक्य

में राम ही कर्ता है अन्य नहीं, पुस्तक ही कर्म है अन्य कोई पदार्थ नहीं, पढ़ना ही क्रिया है अन्य कोई क्रिया नहीं; यह नियम, यह सम्बन्ध वाक्य में ही है, पदों में नहीं, यह सम्बन्ध वाक्यार्थ में ही है, पदार्थ में नहीं। वाक्य के अतिरिक्त पड़े हुए ये पद उक्त नियम और सम्बन्ध को नहीं बता सकते हैं कि राम शब्द का कर्म पुस्तक ही है, ग्राम वृक्ष या पशु आदि नहीं। राम पढ़ना क्रिया का कर्त्ता है, जाना सींचना या हाँकना क्रिया का कर्त्ता नहीं। प्रत्येक पद किसी भी अर्थ को बता सकते हैं, उसका जिस-जिस वाक्य में, जिस-जिस प्रकार, जिस सम्बन्ध को विचार कर प्रयोग किया जायगा, वही उनका अर्थ हो जायगा। 'राम ग्राम को जाता है', 'राम वृक्ष को सींचता है', 'राम पशु को हाँकता है, में राम वही है जो कि पुस्तक पढ़ने की क्रिया का कर्ता था परन्तु वही विभिन्न कर्म और विभिन्न क्रिया का कर्ता है। कर्ता का नाम और रूप परिवर्तित होता रहता है, कर्म परिवर्तित होकर भिन्न-भिन्न नाम और रूप धारण करता रहता है, क्रिया भी कर्ता और कर्म के अनुसार परिवर्तित होती रहती है। प्रत्येक जीव और प्रत्येक पदार्थ के नाम और रूप बदलते रहते हैं, उनके कर्म (सात्विक, राजस, तामस) बदलते रहते हैं, उनके कर्म के अनुसार उनकी क्रियाएं (सात्विक, राजस, तामस वृत्तियाँ) बदलती रहती हैं। अतः पदार्थ को ही वाक्यार्थ नहीं कहा जा सकता है। पदों में सम्बन्ध नहीं है। वाक्य में सम्बन्ध है, नियम है। पदार्थ में सम्बन्ध नहीं है, वाक्यार्थ में सम्बन्ध है, नियम है।

वाक्य का स्वतन्त्र अस्तित्व—वैयाकरणों का इस पर यह भी कथन है कि यदि पदार्थ को ही वाक्यार्थ मान लिया जायगा, तो अर्थ का अनर्थ हो जाएगा, जैसे किसी अपकार करने वाले व्यक्ति को जब यह कहा जाता है कि आपने मेरा बड़ा उपकार किया है, आपके उपकार का क्या कहना, आपका सौजन्य सर्वत्र व्याप्त हो रहा है, आप कृपया सदा ऐसा ही किया करें। परमात्मा करे आप सुख से सौ वर्ष जीवें।[1] यदि अन्विताभिधान के आदेशानुसार यहाँ पर पदों के अर्थ को ही वाक्य का अर्थ मान लिया जाएगा, तो वह महान् अनर्थ होगा। जो कुछ कहा गया है, उसका व्यङ्ग्यार्थ सर्वथा विपरीत है। इसी प्रकार जब किसी की स्तुति में काकु, वक्रोक्ति या उपालम्भन द्वारा निन्दा-सूचक वाक्य कहा जाता है, तब उसका अर्थ पदार्थ के आधार पर निन्दा नहीं होती है, अपितु वाक्यार्थ के आधार पर स्तुति, प्रशंसा अर्थ होता है। अतएव वैयाकरणों का मन्तव्य है कि पद से अतिरिक्त वाक्य की सत्ता है और पदार्थ से

---

१. उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम्॥

साहित्यदर्पण २.७

अतिरिक्त वाक्यार्थ सत्य है। पदों को वाक्य मान लेना और पदार्थ को वाक्यार्थ मान लेना अर्थ नहीं है, अपितु अनर्थ है। प्रकृति से अतिरिक्त जीव की सत्ता है और जीव से अतिरिक्त आत्मा (परमात्मा), ब्रह्म, प्रतिभा की सत्ता है। वाक्य अखंड एक और अवयव से रहित होता है, वाक्यार्थ भी एक अखंड और निरवयव होता है[1] (वाक्य, २, १३) वैयाकरण एक आत्मा (ब्रह्म प्रतिभा) को ही दो नाम देते हैं, शब्द और अर्थ (वाक्य और वाक्यार्थ) प्रतिभा के नित्य नाद को स्फोट, वाक्य, शब्द आदि नाम देते हैं और नित्य अर्थ को ध्वनि, वाक्यार्थ आदि नाम देते हैं। शब्द की आत्मा का नाम प्रतिभा है, और अर्थ की आत्मा का रूप प्रतिभा है।

प्रतिभा के दो रूप, स्फोट और ध्वनि · वैयाकरणों के मतानुसार समस्त ब्रह्माण्ड, समस्त विश्व, समस्त लोकलोकान्तर, समस्त ज्ञान और विज्ञान केवल एक वाक्य है और उसमें केवल एक वाक्यार्थ रहता है। उस पूर्ण वाक्य को वे शब्द कहते हैं और पूर्ण वाक्यार्थ को अर्थ कहते हैं। उसको शब्द-विज्ञान की दृष्टि से स्फोट और ध्वनि कहते हैं। स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। "स्फोटः शब्दः, ध्वनिः शब्दगुणः (महाभाष्य १, १, ६६)। समस्त सृष्टि में, प्रत्येक अणु और प्रत्येक परमाणु में स्फोट है, प्रत्येक परमाणु में प्रतिक्षण स्फोट (विस्फोट) होता है, हो रहा है और होता रहेगा। ध्वनि शब्द का गुण है। ध्वनि स्फोट (विस्फोट) का गुण है। ध्वनि भी दो प्रकार की है। (१) प्राकृत-मौलिक, स्वाभाविक, नित्य। (२) वैकृत—अनित्य, प्राकृत ध्वनि के कारण शब्द को ह्रस्व, दीर्घ प्लुत आदि कहा जाता है। स्फोट नित्य है उसमें काल का भेद नहीं है। ह्रस्व दीर्घ, प्लुत, भूत भविष्यत्, वर्तमान आदि का भेद स्फोट में नहीं है, वह काल-रूप से नित्य है काल के उक्त भेद प्राकृतध्वनि में रहते हैं, उसी के आधार पर गौण रूप से लाक्षणिक प्रयोग के रूप में प्राकृत ध्वनि के काल को स्फोट का काल कह दिया जाता है। यह प्राकृत ध्वनि ही है, जिसके आश्रय से शब्द को सुन पाते हैं, सृष्टि को देख पाते हैं, सृष्टि में दृश्यरूपता प्राकृत ध्वनि के कारण है, अन्यथा सृष्टि नित्य आकाश के रूप में ही होती, उसमें दृश्यता न होती। सूर्य, चन्द्र, तारागण, ग्रह-उपग्रह एवं महासूर्य आदि इस प्राकृत ध्वनि के कारण दृश्य हैं, लक्ष्य हैं, अभिव्यक्त होते हैं।[2]

१—शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते॥
वाक्य० २. १३.

२—स्फोटस्याभिन्नकालस्य ध्वनिकालानुपातिनः।
ग्रहणोपाधिभेदेन वृत्तिभेदं प्रचक्षते॥
स्वभावभेदान्नित्यत्वं ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते॥
वाक्य० १. ७५—७६

स्फोट और प्राकृत ध्वनि का सम्बन्ध विम्ब प्रतिविम्ब-भाव सम्बन्ध है[1]। यह समग्र दृश्य ब्रह्माण्ड उसी स्फोट का प्रतिविम्ब है। जिस प्रकार जल में सूर्य या चन्द्रमा का प्रतिविम्ब दीखता है, उसमें गति चंचलता आदि दीखती है, जो कि अवास्तविक है, उसके आधार पर सूर्य या चन्द्रमा को गतिशील या चंचल आदि समझा जाता है, उसी प्रकार नित्य स्फोट जो कि सर्वव्यापक है, सर्वत्र स्थिर रूप से है, उसके प्रतिविम्ब, सूर्य, चन्द्र, ग्रह, उपग्रह, महासूर्य आदि हैं, जो कि दृश्य हैं। वे एक अखंड अवयव-रहित स्फोट-रूपी वाक्य के अर्थ हैं।

ध्वनि के दो रूप प्राकृत और वैकृत—प्रत्येक अणु और परमाणु में प्रति क्षण स्फोट (विस्फोट) का परिणाम वह होता है कि सृष्टि में प्रतिक्षण प्रत्येक पदार्थ में ध्वनि होती रहती है। आधुनिक भौतिक विज्ञान, गणित विज्ञान, मनोविज्ञान तथा अध्यात्म-विज्ञान ने उसको विभिन्न नामों से प्रस्तुत किया है, ध्वनि-प्रतिध्वनि, क्रिया-प्रतिक्रिया, तथा मनोविज्ञान की दृष्टि से चैतन्य एवं अन्तश्चैतन्य, बाह्यात्मा एवं अन्तरात्मा, जीवात्मा तथा परमात्मा। वैयाकरणों ने उसको स्फोट और ध्वनि में विभक्त करके स्फोट की सिद्धि द्वारा अन्तश्चैतन्य, अन्तरात्मा परमात्मा एवं ब्रह्म की स्थापना की है। वह नित्य है तथा अविनाशी, अक्षय, अखण्ड और अव्यवहित रूप से प्रतिक्षण प्रत्येक परिमाणु में स्फोट (विस्फोट, प्रतिभा) के रूप में विद्यमान रहता है, अतएव सृष्टि की सत्ता है, स्फोट के कारण ध्वनि अवश्यम्भावी है, अतः प्रत्येक पदार्थ में आकृति (अकार) है, प्रत्येक अक्षर (अ आ, क ख आदि) में वर्ण (आकृति, आकार, रूप) है। स्फोट-रूप में प्रत्येक पदार्थ अक्षर (अविनाशी, नित्य) होने के कारण निर्गुण, निराकार है उसके रूप को यह है, ऐसा है, इस रूप में नहीं बताया जा सकता है। परन्तु क्षर अवस्था अर्थात् ध्वनि की अवस्था में जिसको वैयाकरण अक्षर न कहकर वर्ण की अवस्था कहते हैं, वह आकृति-समन्वित होने के कारण यह है, ऐसा है, इसका यह स्वरूप है, इसका आकार इसका वर्ण ऐसा है इत्यादि रूप में बताया जाता है। प्राकृत ध्वनि का फल यह होता है कि अक्षर वर्ण की अवस्था को प्राप्त हो जाता है, निर्विकल्प सविकल्प अवस्था को प्राप्त हो जाता है। अतएव भर्तृहरि का कथन है कि प्राकृत (नित्य, स्वाभाविक) ध्वनि के कारण ही वर्ण (आकृति, आकार-प्रकार, रूप-रंग) का ग्रहण होता है[2]। प्राकृत ध्वनि में वृत्ति-भेद नहीं

---

१. प्रतिबिम्बं यथान्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः ॥
वाक्य० १, ४९।

२. वर्णस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥
वाक्य० १, ७७।

होता है, अर्थात् सत्व रजस् और तमस् तीनों गुण साम्यावस्था में रहने के कारण मूलप्रकृति में सात्विक, राजस और तामस वृत्तियों का भेद नहीं होता है, अतएव सांख्यदर्शन में मूलप्रकृति को अविकृत अर्थात् किसी प्रकार के भी विकार से रहित कहा गया है। स्फोट में जो प्राकृत (मौलिक, स्वाभाविक) ध्वनि होती है, वह उसी अवस्था में शान्त नहीं हो जाती है, उस ध्वनि की वैकृत ध्वनि होती है अर्थात् मौलिक ध्वनि से जो प्रतिध्वनि प्रतिक्षण प्रत्येक परमाणु में होती है, वह वैकृत ध्वनि है[1]। उसको वैकृत इसलिए कहा जाता है, क्योंकि वह प्राकृत ध्वनि का विकार है, दार्शनिक शब्दों में इसे परिणामवाद कहा जाता है। यह प्रतिध्वनि स्वाभाविक नहीं है, नित्य और अक्षय नहीं है, अतः इसे वैयाकरणों एवं वैज्ञानिकों की दृष्टि से प्राकृत ध्वनि न कहकर वैकृत (विकृत अपभ्रंश) ध्वनि कहते हैं। ध्वनि न कहकर प्रतिध्वनि कहते हैं।

क्रिया न कहकर प्रतिक्रिया कहा जाता है। इसमें स्थिरता, शान्ति, सत्यता, और नित्यता नहीं है, अतएव इसको अनित्य, अस्थिर आदि कहा जाता है। दार्शनिक दृष्टि से वैकृत ध्वनि की इस अस्थिरता और अनित्यता को दृष्टि में रखते हुए इसको असत्य कहा जाता है, क्योंकि वैकृत ध्वनि नित्यरूप से सत्य नहीं है, उसमें क्षय, परिवर्तन, भेद आदि होता है। इस वैकृत ध्वनि को लक्ष्य में रखकर विभिन्न दर्शनों ने इसको विवर्त नाम दिया है, अर्थात् यह अनित्य है, असत्य है, पारमार्थिक सत्य नहीं है, यह माया है, भ्रम है, विकल्प है, इसमें परिवर्तन होते रहते हैं, अतः असत्य है, मिथ्या है, वेदान्तदर्शन, बौद्धदर्शन आदि ने जिसको लक्ष्य में रखकर विवर्तवाद, शून्यवाद, अभाववाद, क्षणभंगुरवाद आदि की स्थिति मानी है, उसका अभिप्राय यही है कि वैकृत ध्वनि प्रतिक्षण नष्ट होती रहती है। उसमें ह्रास और विकास होता है, उसमें वर्तन और परिवर्तन होता है। इस वैकृत ध्वनि के कारण सात्विक, राजस, तामस, वृत्तियों का भेद होता है।

अर्थविज्ञान की आवश्यकता और उपयोगिता

अर्थज्ञान की अनिवार्यता—अर्थ-ज्ञान की आवश्यकता और उपयोगिता के विषय में आचार्य यास्क ने निरुक्त में तथा आचार्य पतञ्जलि ने महाभाष्य में बहुत गम्भीर शब्दों में वैदिक ऋषियों का सिद्धान्त उद्धृत किया

---

१. शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते॥

वाक्य० १,७८

है। आचार्य यास्क का कथन है कि अर्थविज्ञान से रहित शब्दज्ञान प्रतिभा की व्युत्पत्ति का साधन नहीं है, जिस प्रकार अग्नि के अभाव में शुष्क ईन्धन अग्नि को प्रज्वलित नहीं कर सकता है उसी प्रकार अर्थ-तत्त्व की उपेक्षा करके समस्त शब्दतत्त्व का अध्ययन प्रतिभा को कभी भी प्रदीप्त नहीं कर सकता है।

यद् गृहीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते,
अनग्नाविव शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित्। निरुक्त १,१८

आचार्य पतञ्जलि ने इसी श्लोक को थोड़े शाब्दिक अन्तर से महाभाष्य के प्रथम आह्निक में उद्धृत किया है। आचार्य सायण ने ऋग्वेद भाष्य के प्रारम्भ तथा मन्त्रब्राह्मण की भूमिका में उपर्युक्त श्लोक उद्धृत किया है।

अर्थ-ज्ञान और अर्थ-सिद्धि—यास्क ने ज्ञान-प्रशंसा एवं अज्ञान-निन्दा का बोध कराते हुये श्रुतिवचन उद्धृत किया है कि जो मनुष्य समस्त वेद अर्थात् समस्त ज्ञान और विज्ञान का अध्ययन करने के पश्चात् भी अर्थ-तत्त्व अर्थात् प्रतिभा की सिद्धि नहीं करता है, उसका समस्त अध्ययन उसी प्रकार निरर्थक है, जैसे वेद शास्त्रों के भार को ढोने वाले गर्दभ का। जो व्यक्ति अर्थतत्त्व का ज्ञान कर लेता है, प्रतिभा की सिद्धि कर लेता है, वह समस्त सुखों का उपभोग करता है और ज्ञान-अग्नि के द्वारा समस्त ध्वनिदोषों, संस्कार-दोषों और अज्ञान-जन्य-दोषों का नाश करके परम-तत्त्व, परमार्थ और अपने अभीष्ट की सिद्धि करता है।

स्थाणुरयं भारहारः किलाभूदधीत्य वेदं न विजानाति योऽर्थम्,
योऽर्थज्ञ इत् सकलं भद्रमश्नुते नाकमेति ज्ञानविधूतपाप्मा। (निरुक्त,१,१८)

प्रतिभा का साक्षात्कार—वैदिक ऋषियों ने अर्थज्ञान की अतिसूक्ष्मता और दुर्बोधता पर बहुत स्पष्ट और मार्मिक शब्दों में ध्यान आकृष्ट किया है। उनका कथन है कि अज्ञानी व्यक्ति वाक्तत्त्व, अर्थतत्त्व को देखता हुआ भी नहीं देखता है। सुनता हुआ भी नहीं सुनता है। वह प्रतिभा का प्रतिक्षण दर्शन करते हुए भी दर्शन नहीं करता है, उसकी अनुभूति करते हुए भी साक्षात् अनुभूति नहीं करता हैं। इसके सर्वथा विपरीत ज्ञानी व्यक्ति प्रतिक्षण प्रतिभा का साक्षात्कार करता है और उसकी अनुभूति करता है, अर्थतत्त्व का ज्ञान प्राप्त करता है। प्रतिभा पतिव्रता स्त्री के तुल्य उस आत्मन्तत्त्वज्ञ व्यक्ति को अपना स्वरूप प्रकट करती है।

उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्,
उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे जायेव पत्य उशती सुवासाः (ऋग्,१०,७१,४)

यास्क ने निरुक्त १, १६ तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य आह्निक १ में इसकी विशेष व्याख्या की है। दुर्गाचार्य और नागेश ने इस मन्त्र की व्याख्या में वाक्तत्त्व के विभिन्न रूपों पर विचार किया है। नागेश का कथन है कि वाक्तत्त्व की सफलता यही है कि अर्थतत्त्व का ठीक-ठीक ज्ञान हो जाय। अर्थतत्त्व वाक्तत्त्व का शरीर है, वाक्-तत्त्व आत्मा है।

अर्थपरिज्ञानफला हि वाक्। सम्यक् ज्ञानं हि प्रकाशनमर्थस्य। अर्थो हि वाचः शरीरम्, (उद्योत)

अर्थविज्ञान और अक्षरतत्त्व—वेद का कथन है कि अक्षरतत्त्व ही अक्षरता अक्षयता अमरत्व का साधन है, उसी में समस्त तत्त्वों का, समस्त दिव्य विभूतियों का समावेश है, वह अक्षरतत्त्व वेद के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है, वह ज्ञान और विज्ञान के प्रत्येक अक्षर में व्याप्त है। जो उस अक्षरतत्त्व को नहीं जानता है उसके लिए समस्त वेद, ज्ञान और विज्ञान निरर्थक हैं, जो उसको जानता है वह उसका उपयोग करता है, उपभोग करता है और अमरत्व लाभ करता है।

ऋचो अक्षरे परमे व्योमन् यस्मिन् देवा अधि विश्वे निषेदुः
यस्तन्न वेद किमृचा करिष्यति य इत् तद् विदुस्त इमे समासते।
(ऋग्० १,१६४,३६)

यास्क ने निरुक्त १३,१० में इसकी व्याख्या करते हुए यह प्रश्न उठाया है कि यह अक्षर कौन और क्या है? इसके उत्तर में आचार्य शाकपूणि का मत दिया है कि 'ओम्' यह वाक्तत्त्व ही अक्षरतत्त्व है अर्थात् ब्रह्म-तत्त्व, परमात्म-तत्त्व ही अक्षरतत्त्व है। कौषीतकि ब्राह्मण का कथन है कि यही अक्षरतत्त्व है जो वेदत्रयी के प्रत्येक अक्षर में अनुस्यूत है।

ओमित्येषा वागिति शाकपूणिः (निरुक्त, १३,१०)
एतद्ध वा एतदक्षरं यत्सर्वां त्रयीं विद्यां प्रतिप्रति। कौ० ब्रा० ६, १२

अर्थविज्ञान के बिना महती विनष्टि—केनोपनिषद् का कथन है कि मनुष्य इस संसार में इसी जीवन में यदि अक्षरतत्त्व का (ब्रह्मतत्त्व का) ठीक-ठीक ज्ञान कर लेता है तो उसके जीवन की सफलता है। यदि वह नहीं जान पाता या जानने का अध्यवसाय नहीं करता है तो महान् अनर्थ है, जीवन की निरर्थकता है। अर्थतत्त्व-ज्ञान (ब्रह्म-ज्ञान, आत्म-विवेचन, आत्म-निरीक्षण,

आत्मपरीक्षण, आत्म-साक्षात्कार) से ही जीवन की सफलता है। आत्मतत्त्व ज्ञान के द्वारा मनुष्य प्रत्येक भूतों में प्रत्येक पदार्थ में उसी एक तत्त्व का दर्शन करता है तथा मृत्यु के अनन्तर अमरत्व का लाभ करता है।

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति न चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।
भूतेषु भूतेषु विचिन्त्य धीराः प्रेत्यास्माल्लोकादमृता भवन्ति। केन०, २,५

केनोपनिषद् का कथन है कि वह अक्षरतत्त्व वाणी के द्वारा प्रकट नहीं किया जा सकता है, किन्तु वाणी जिसके द्वारा वाक्-शक्ति-सम्पन्न है। वह मन के द्वारा मनन नहीं किया जा सकता है, परन्तु मन में मनन शक्ति उसी की सत्ता का फल है, उसको ही ब्रह्म, आत्मा, परमतत्त्व, तथा वैयाकरणों के शब्दों में प्रतिभा कहा जाता है। इसके अतिरिक्त जिस किसी तत्त्व या पदार्थ की उपासना की जाती है, वह अनात्मवाद है।[1]

अर्थज्ञान और आत्मज्ञान केनोपनिषद् ने इस विषय में एक आवश्यक विषय की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, जो कि विचारणीय और ग्राह्य है। उपनिषद् का वचन है कि जो यह मानता है और समझता है कि वह जानता है, समझता है या विशेष-रूप से समझता है, वह कुछ नहीं समझता है, कुछ नहीं जानता है या बहुत कम जानता है। और जो अनूचानमानिता के अभिमान से पृथक् है वह निरभिमानिता एवं विनीतता के कारण अर्थतत्त्व को जानता है और समझता है। अहंभाव, पंडितमंन्यता आदि उसके ज्ञान में व्यवधान हैं, बाधक हैं।

यस्यामतं तस्य मतं मतं यस्य न वेद सः।
अविज्ञातं विजानतां विज्ञातमविजानताम्॥ केन २,३

अर्थज्ञान और ऋषित्व—आचार्य यास्क का इस विषय में कथन है कि मन्त्रों में मन्त्रतत्त्व या मन्त्रशक्ति का ज्ञान ऋषित्व (आत्म-साक्षात्कार) एवं तपस्विता से ही होता है। इन्हीं दोनों साधनों से मन्त्रार्थ का प्रत्यक्ष होता है अन्यथा नहीं। अर्थतत्त्व के ज्ञान के यही मुख्य साधन हैं, इन्हीं से उसकी सिद्धि की जा सकती है।

---

१. यद् वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥
यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम्।
तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते॥

केन उप० १,४—५

न ह्येषु प्रत्यक्षमस्त्यनृषेरतपसो वा, निरुक्त १३,१२

शौनक ने बृहद्देवता ८,१२९ तथा उव्वट ने 'ऋग्वेद प्रातिशाख्य' में उक्त भाव को उद्धृत करते हुए लिखा है कि ऋषित्व की साधना से हीन व्यक्ति को मन्त्रशक्ति का प्रत्यक्ष नहीं होता है

न हि प्रत्यक्षमस्त्यनृषेर्मन्त्र इति (उव्वट)

ऋषित्व की साधना पर बल देने का मुख्य अभिप्राय है कि प्रतिभा शक्ति की प्राप्ति के बिना वस्तुतः अर्थतत्त्व का यथार्थतः ज्ञान नहीं होता है, अतः ऋषित्व की साधना अनिवार्य होती है। यास्क ने ऋषित्व का अभिप्राय स्पष्ट किया है कि धर्म का साक्षात्कार अर्थात् आत्मसाक्षात्कार, ब्रह्मसाक्षात्कार एवं प्रतिभा का साक्षात्कार करना ही ऋषित्व है।

साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः। निरुक्त १, २०

हेलाराज ने वाक्यपदीय कांड ३ पृ० ३७-३९ में यास्क के उक्त वचन को उद्धृत करते हुए इस विषय का विस्तार से विवेचन किया है और श्रुतिवचन उद्धृत किया है कि आत्मतत्त्व का ज्ञान करना चाहिए, मनन करना चाहिए, और निदिध्यासन अर्थात् एकाग्रचित्तता से उसी का ध्यान करना चाहिऐ। उसी के दर्शन, श्रवण, मनन और निदिध्यासन से यह सब कुछ ज्ञात हो जाता है।[1] योग-दर्शन का उद्धरण देते हुए हेलाराज कहते हैं कि 'तस्य वाचकः प्रणवः' 'तज्जप स्तदर्थभावनम्', 'ततः प्रत्यक् चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च' (योग० १, २७-२९)।

अर्थात् उस आत्म-तत्त्व का वाचक शब्द प्रणव (ओम्) है। उसके अर्थ की भावना (अनुभव) उसका चिन्तन है। इस चिन्तन का फल यह होता है कि चेतन-तत्त्व (चेतना) की प्राप्ति होती है और अर्थतत्त्व के व्यवधानों का अभाव हो जाता है।

अर्थनियमन और सर्वप्राणिध्वनि विज्ञान—हेलाराज ने अन्य उद्धरण योगदर्शन से दिया है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान इसके परस्पर अध्यास (तादात्म्य) के कारण संकर (मिथ्याज्ञान) होता है परन्तु इनके विभाग अर्थात्

---

१. (क) तथा च शास्त्रम्। आत्मा ज्ञातव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति। (हेलाराज)
वाक्य० ३ पृ० ३८

(ख) आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्यो मैत्रेय्यात्मनि खल्वरे दृष्टे श्रुते मते विज्ञात इदं सर्वं विदितम्।

बृहदारण्यक उप० ४,५, ६,

शब्द, अर्थ और ज्ञान के विवेचन में संयम करने से सारे प्राणियों की ध्वनियों का यथार्थ ज्ञान होता है, (वाक्य० ३ पृष्ठ ३८)

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्
सर्वभूतरुतज्ञानम्। योग० ३,१७

यास्क ने प्रतिभा-सम्पन्न ऋषियों के लिए लिखा है कि अनूचान (वेदवित्) जो विवेचन करते हैं या जो तर्कना करते हैं वह आर्ष होता है, सत्य होता है और प्रमाणसिद्ध होता है।

यदेव किंचानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद्भवति। निरुक्त, १३, १२

कुमारिल भट्ट ने तन्त्रवार्तिक (१, ३, ७) में यास्क के उक्त कथन का ऊहापोह-पूर्वक विवेचन किया है[1]।

प्रतिभा की प्राप्ति और अर्थ-सिद्धि—वैयाकरणों ने प्रतिभा को ही वाक्यार्थ सिद्ध करके जो अर्थ-सिद्धि बताई है, उसका योगदर्शन से स्पष्टीकरण होता है। योगदर्शन में पतञ्जलि का कथन है कि प्रतिभा की प्राप्ति से सर्वज्ञता की सिद्धि होती है। प्रतिभा का साक्षात्कार करने वाला संसार के समस्त अर्थ-तत्त्व का ज्ञान कर लेता है।—"प्रातिभाद्वा सर्वम्"। योग० ३,३२

व्याकरण का स्वरूप

सत्य और असत्य का व्याकरण अर्थात् विवेचन—वैयाकरण व्याकरण को स्थूल व्याकरण ही नहीं समझते हैं, अपितु सृष्टि के प्रत्येक विवेचन, विश्लेषण और सूक्ष्म परीक्षण को वे व्याकरण के अन्तर्गत समझते हैं। व्याकरण के इस स्वरूप का ज्ञान वेद से प्राप्त होता है। यजुर्वेद का कथन है कि प्रजापति ने रूपों को देखकर सत्य और अनृत (स्फोट और ध्वनि) का व्याकरण (विभाजन, विश्लेषण) किया। उसने अनृत में अश्रद्धा की स्थापना की तथा सत्य में श्रद्धा की प्रतिष्ठा की।

दृष्ट्वा रूपे व्याकरोत् सत्यानृते प्रजापतिः।
अश्रद्धामनृते दधाच्छ्रद्धाँ सत्ये प्रजापतिः॥ यजु० १९, ७७

तैत्तिरीय संहिता का कथन है कि वाक्-तत्त्व प्रारम्भ में अव्याकृत (व्याकरण

---

१. बहुकालाभ्यस्तवेदतदर्थज्ञानाहितसंस्काराणां वेदनियतमार्गानुसारिप्रतिभानां नोन्मार्गेण प्रतिभानं सम्भवतीत्याश्रित्योच्यते 'यदेव किं चानूचानोऽभ्यूहत्यार्षं तद् भवतीति'।

तन्त्रवार्तिक १. ३. ७.

विश्लेषण से रहित) था। देवों ने इन्द्र से प्रार्थना की कि इस वाक्तत्त्व का आप हमें व्याकरण(विवेचन) कर दें। इन्द्र ने उसका व्याकरण किया। अतः वाक्तत्त्व को "व्याकृता वाक्" (व्याकरणयुक्त, विवेचन-युक्त, विश्लेषण-समन्वित) कहा जाता है।

वाग्वै पराच्यव्याकृतावदत्ते देवा इन्द्रमब्रुवन्निमां नो वाचं व्याकुर्व्विति-तामिन्द्रो मध्यतोऽवक्रम्य व्याकरोत्तस्मादियं व्याकृता वागुद्यते। तै० सं०६,४,७

व्याकरण अक्षर-तत्त्व और ब्रह्म तत्त्व का विवेचन- पतञ्जलि ने महाभाष्य आह्निक २ के अन्त में प्रश्न उठाया है कि व्याकरण क्या है और उसकी क्या उपयोगिता है। इसके उत्तर में कात्यायन और पतञ्जलि ने कहा है कि अक्षर-तत्त्व एवं वर्णतत्त्व का यथार्थ ज्ञान व्याकरण है, अक्षर-समाम्नाय अर्थात् अकारादि अक्षर-समूह वाक-समाम्नाय अर्थात् वाक्-तत्त्व का संकलन है, यही ज्ञान और विज्ञान के विवेचन का विषय है, इसी में ब्रह्म का निवास है। यही पुष्पित और फलित होकर चन्द्र और तारामण्डल के तुल्य सर्वत्र अलंकृत हो रहा है, यह, ज्ञेय है यह ब्रह्मराशि है अर्थात् ब्रह्मतत्त्व ही सर्वत्र सृष्टि में शब्दतत्त्व रूप से प्रतिभा का विषय हो रहा है। अक्षर समाम्नाय का ज्ञान उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि समस्त वेदों का ज्ञान। दोनों के ज्ञान का फल समान है। अक्षर-तत्त्व, ब्रह्मतत्त्व एवं प्रतिभा के साक्षात्कार के लिए व्याकरण है। यह अभीष्ट-सिद्धि का साधन है। यह अर्थसिद्धि का सरल साधन है। (पतञ्जलि, कैयट, आह्निक २)

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लध्वर्थं चोपदिश्यते। (महाभाष्य आह्निक २)

अतः वैयाकरणों के मतानुसार व्याकरण सत्य और असत्य का विवेचन है। नाम रूपात्मक जगत् में नाम और रूप का व्याकरण एवं विवेचन है। द्रव्य और आकृति, जाति और व्यक्ति, सत् और असत्, सत्य और असत्य, भाव और अभाव, प्रकृति और प्रत्यय, उत्सर्ग और अपवाद, सामान्य और विशेष, स्फोट और ध्वनि, सन्धि और विग्रह, समास और व्यास, समष्टि और व्यष्टि, पदार्थ और वाक्यार्थ आदि का विवेचन और विश्लेषण व्याकरण है। वैयाकरण ब्रह्म को महावैयाकरण कहते हैं। प्रतिभा को महावैयाकरण कहते हैं क्योंकि सृष्टि में वही मौलिकतत्त्व है जो व्याकरण, विवेचन, विश्लेषण, परीक्षण और समीक्षण करता है।

वेद और अर्थ-विज्ञान

निरुक्त और वाक्तत्त्व का विवेचन—चारों वेदों में वाक्तत्त्व का विभिन्न रूपों में विभिन्न प्रकार से पर्याप्त विस्तार से विवेचन किया गया है। आचार्य

यास्क ने निरुक्त में वाक्तत्त्व के व्याख्यानभूत कतिपय मन्त्रों की व्याख्या की है। वेदमन्त्रों की ही व्याख्या निरुक्त में होने के कारण निरुक्त में उद्धृत मन्त्रों का पृथक् उल्लेख नहीं किया जायगा।

प्रो० सईस और ऋग्वेद का एक महत्त्वपूर्ण सूक्त—आक्सफर्ड विश्वविद्यालय में भाषा विज्ञान के महोपाध्याय प्रो० सईस ने "साइन्स ऑव् लैंग्वेज" भाग १ पृष्ठ १ पर ऋग्वेद के एक सूक्त पर भाषा-विशेषज्ञों का ध्यान आकृष्ट किया है। सईस का कथन है कि इन मन्त्रों में वैदिक ऋषि का वाक्तत्त्व के विषय में जो वक्तव्य है, वह बहुत ही गम्भीर विचारपूर्ण, भाषा-विज्ञान की दृष्टि से सत्य तथा बहुत ही दूरदर्शितापूर्ण है। ऋग्वेद मंडल १० सूक्त १२५ मन्त्र १ से ८ जिसका सईस ने उल्लेख किया है, वाकतत्त्व का आत्मविवेचन है। इसका ऋषि 'वाक् अम्भृणी' है और देवता अर्थात् प्रतिपाद्य विषय वाक् (वाक्तत्त्व) है। वाक्तत्त्व ने अपने स्वरूप को उत्तम पुरुष में आत्मविवेचन के रूप में प्रस्तुत किया है। वाक्तत्त्व का कथन है कि :—

वाक्तत्त्व समस्त तत्त्वों का धारक है मैं रुद्रों (प्राणतत्त्व, एकादशरुद्र), वसुओं (आठ वसुओं), आदित्यों (द्वादश आदित्य) तथा विश्वदेवों (समस्त देवों, दिव्य विभूतियों) के साथ विचरण करता हूँ। मैं मित्र और वरुण प्राण तत्त्व और अपानतत्त्व) दोनों को धारण करता हूँ। मैं इन्द्र और अग्नि (सौर-तत्त्व और अग्नि तत्त्व) दोनों को धारण करता हूँ।

अहं रुद्रेभिर्वसुभिश्चराम्यहमादित्यैरुत विश्वदेवैः।
अहं मित्रावरुणोभा बिभर्म्यहमिन्द्राग्नी अहमश्विनोभा। ऋग्० १०.१२५.१

सोमतत्त्व आदि का पोषक वाक्तत्त्व—मैं सोमतत्त्व का पालन और रक्षण करता हूँ। मैं त्वष्टा (विवेचक एवं विश्लेषक तत्त्व), पूषन् (पोषक-तत्त्व), तथा भग (रयितत्त्व, ऐश्वर्य) का पालक हूँ, मैं यज्ञिय पुरुषों (वाक्तत्त्वज्ञों, अर्थतत्त्वज्ञों) को ऐश्वर्य से समृद्ध करता हूँ।

अहं सोममाहनसं बिभर्म्यहं त्वष्टारमुत पूषणं भगम्।
अहं दधामि द्रविणं हविष्मते सुप्राव्ये यजमानाय सुन्वते॥
ऋग्० १०.१२५.२

वाक् तत्त्व राष्ट्रनिर्मात्री शक्ति—मैं राष्ट्र-निर्मात्री शक्ति हूँ, मैं वसुतत्त्वों का संगम अर्थात् संयोग एवं समन्वय करता हूँ, मैं विज्ञानमय हूँ, मैं यज्ञियों (पावनतत्त्व, उपास्यतत्त्व) में सर्वप्रथम हूँ। देव (भाषावित् शब्दशास्त्री) मुझको नाना रूप देकर नाना प्रकार से प्रस्तुत करके विभिन्न स्थानों में अनेक शक्ति-समन्वित करते हुए प्रतिष्ठापित करते हैं।

अहं राष्ट्री संगमनी वसूनां चिकितुषी प्रथमा यज्ञियानाम्।
तां मा देवा व्यदधुः पुरुत्रा भूरिस्थात्रां भूर्यावेशयन्तीम् ॥

ऋग्० १०. १२५. ३.

वाक्तत्त्व पर अविश्वास से विनाश—जो मेरा (वाक्तत्त्व, प्रतिभा) साक्षात्कार करता है, जो मुझको अनुप्राणित करता है और मेरे वचन को (वाक्तत्त्व को) यथार्थतः सुनता है, वह अन्न का (पदार्थात्मक जगत् का) उपभोग करता है। जो मुझ पर (वाक्तत्त्व, शब्दतत्त्व. प्रतिभा) पर विश्वास नहीं करते हैं, वे स्वयं नष्ट हो जाते हैं। मैं श्रद्धा के योग्य इस वचन को स्वयं कहता हूँ ।

मया सो अन्नमत्ति यो विपश्यति यः प्राणिति य ईं शृणोत्युक्तम्।
अमन्तवो मां त उपक्षियन्ति श्रुधि श्रुत श्रद्धिवं ते वदामि ॥

ऋग्० १०. १२५. ४.

प्रतिभा की सिद्धि से ब्रह्मत्त्व और ऋषित्त्व,—मैं स्वयं यह कहता हूँ कि देव और मनुष्य सभी मेरी उपासना करते हैं, मेरा आश्रय लेते हैं और मेरा उपयोग करते हैं। मेरी जिस पर दयादृष्टि होती है या मैं जिसको चाहता हूँ उसको उग्र (तेजस्वी, ओजस्वी) कर देता हूँ। उसको ब्रह्म (ब्रह्मवित्, आत्म-तत्त्वज्ञ, वाक्तत्त्वज्ञ) बना देता हूँ, उसको ऋषि (आत्मसाक्षात्कारकर्ता) बना देता हूँ, और उसको मेधावी एवं प्रतिभाशाली बना देता हूँ।

अहमेव स्वमिदं वदामि जुष्टं देवेभिरुत मानुषेभिः।
यं कामये तं तमुग्रं कृणोमि तं ब्रह्माणं तमृषिं तं सुमेधाम् ॥

ऋग्० १०. १२५. ५.

वाक्तत्त्व की सर्वव्यापकता—मैं ब्रह्मद्वेषी (वाक्तत्त्व, प्रतिभा पर विश्वास न रखनेवाले) के विनाश के लिए रुद्र (रुद्रशक्ति) को शक्ति-सम्पन्न करता हूँ। मैं मानवसमाज को आनन्दयुक्त करता हूँ। मैं आकाश और पृथ्वी में सर्वत्र व्यापक हूँ।

अहं रुद्राय धनुरा तनोमि ब्रह्मद्विषे शरवे हन्तवा उ।
अहं जनाय समदं कृणोम्यहं द्यावापृथिवी आविवेश ॥

ऋग्० १०. १२५. ६.

वाक्तत्त्व से विश्व का उद्भव—मैं इस सृष्टि के मूर्धा (मस्तिष्क) में इसके पिता (शब्द-तत्त्व, शब्दब्रह्म) को प्रेरित करता हूँ। मैं समुद्र के अन्तस्तल (ज्ञान-गुहा) में वास करता हूँ, मुझसे ही समस्त विश्व का उद्भव हुआ है। मैं अपने शरीर से द्युलोक को स्पर्श करता हूँ।

अहं सुवे पितरमस्य मूर्धन् मम योनिरप्स्वन्तः समुद्रे ।
ततो वि तिष्ठे भुवनानु विश्वोतामूं द्यां वर्ष्मणोप स्पृशामि ।
ऋग्० १०, १२५,७

वाक्तत्त्व से विश्व की सृष्टि—मैं ही वायु के तुल्य सर्वत्र गतिशील हूँ, मैं ही समस्त विश्व का उत्पादक हूँ। मैं द्युलोक और पृथिवी से परे हूँ, अर्थात् सर्वथा निर्लेप,निरंजन, निष्काम हूँ, मैं इतनी महिमा के साथ सर्वत्र विद्यमान हूँ।

अहमेव वात इव प्र वाम्यारभमाणा भुवनानि विश्वा ।
परो दिवा पर एना पृथिव्यैतावती महिना सं बभूव ॥ ऋग् १०,१२५,८

प्रतिभा से सृष्टि का विकास—वाक्तत्त्व का आत्मविवेचन बहुत गम्भीर और स्पष्ट है। आचार्य यास्क ने वाक्तत्त्व अर्थात् शब्दब्रह्म जो कि अर्थतत्त्व की प्रकृति है, जिससे अर्थतत्त्व का विकास हुआ है, उसका निरुक्त १३,१६-१७ में विस्तारपूर्वक विकास के क्रम-सहित स्पष्टीकरण किया है। भर्तृहरि ने वैयाकरणों के सिद्धान्तानुसार वाक्यपदीय के प्रथम श्लोक (अनादिनिधनम्०) में अक्षरतत्त्व, शब्दब्रह्म, स्फोट से अर्थतत्त्व का विकास बताया है, उसपर विभिन्न दार्शनिकों (मीमांसक, नैयायिक आदि) ने कतिपय आक्षेप किए हैं, उनके प्रश्नों का समाधान यास्क के अर्थविकास के विवेचन से अच्छे प्रकार होता है। यास्क का कथन है कि प्रतिभा समस्त लिंगों अर्थात् लक्षणों से ऊपर है, वह महान् आत्मा है। उसका लक्षण केवल सत्त्व अर्थात् अस्तित्व, सत्ता आदि शब्दों से स्पष्ट किया जा सकता है, उसी को पर अर्थात् परमतत्त्व कहते हैं, उसी को ब्रह्म कहते हैं उसी को सत्य कहते हैं, उसी को सलिल कहते हैं, उसी को अव्यक्त, अस्पर्श, अरूप, अरस, अगन्ध कहा जाता है, वह अमृत अर्थात् अमर अक्षरतत्त्व है, वह शुक्ल है, समस्त मर्तों अर्थात् समस्त पंचतत्त्वों की आत्मा का वही आधार है। इसी को कोई भूतप्रकृति (सांख्य के शब्दों में मूलप्रकृति, भूतप्रकृति) कहते हैं। इसी को पारिभाषिक शब्दों में क्षेत्र कहा जाता है।[1] इस क्षेत्र के ज्ञान से क्षेत्रज्ञ की प्राप्ति होती है। यह महान् आत्मा त्रिविध होती है, सत्त्व, रजस् और तमस् अर्थात् सात्विक, राजस और तामस गुणात्मक। इनमें से सत्त्वगुण विशुद्ध है, निर्लिप्त रूप से अवस्थित रहता है। रजस् और तमस् गुण उसके दोनों ओर रहते हैं। प्रतिभा जो कि महान् आत्मा है, उसका निश्चित लिंग (चिन्ह, परिचय, स्वरूप) आकाश है।[2]

---

१. देखो गीता अध्याय १३ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का विवेचन।

२. अथैष महानात्मा सत्त्वलक्षणस्तत्परं तद् ब्रह्म तत्सत्यं तत्सलिलं तदव्यक्तं तदस्पर्शं तदरूप तदरसं तदगन्धं तदमृतं तच्छुक्लं तन्निष्ठो भूतात्मा। सैषा भूतप्रकृतिरित्येके। तत्क्षेत्रं तज्ज्ञानात् क्षेत्रज्ञमनुप्राप्य निरात्मकम्। अथैष महानात्मा त्रिविधो भवति। सत्त्वं रजस्तम इति। सत्त्वं तु मध्ये। विशुद्धं तिष्ठति। अभितो रजस्तमसी इति। प्रतिभाऽतिलिङ्गो महानात्मा। अपि निश्चयलिङ्ग आकाशः।

निरुक्त १३.१६

शब्द उस आकाश का गुण है, आकाश से वायु की उत्पत्ति होती है, वायु में दो गुण हैं, उसमें शब्दतत्त्व के साथ ही स्पर्शगुण की और वृद्धि हो जाती है। वायु से अग्नि की उत्पत्ति होती है, अग्नि में तीन गुण हैं, इसमें शब्द और स्पर्श के अतिरिक्त रूप की अधिकता है। अग्नि से जल की उत्पत्ति होती है, जल में चार गुण हैं, उसमें शब्द, स्पर्श और रूप के अतिरिक्त रस की और अधिकता है। जल से पृथ्वी की उत्पत्ति होती है। पृथ्वी में पाँच गुण हैं, इसमें उक्त चार गुणों के अतिरिक्त गन्ध गुण की अधिकता है। पृथ्वी से स्थावर और जंगम समस्त भौतिकतत्त्वों का विकास होता है, इसको पारिभाषिक शब्दों में दिन अर्थात् सृष्टि कहते है, इसका स्थिति काल एक सहस्र युग है। उसके अन्त में अर्थात् प्रलयावस्था में अंगों का संकोच प्रारम्भ होता है और भौतिकतत्त्व पृथ्वी में लीन हो जाते हैं, पृथ्वी जल में, जल अग्नि में, अग्नि वायु में और वायु आकाश में लीन होते चले जाते हैं। आकाश मनस्तत्त्व में लीन हो जाता है, मनस्तत्त्व विद्या अर्थात् ज्ञान-तत्त्व में लीन होता है, विद्या महान् आत्मा में लीन होती है, महान् आत्मा प्रतिभा में लीन होती है और प्रतिभा प्रकृति अर्थात् मूल-प्रकृति शब्द-तत्त्व में लीन हो जाती है। इसको पारिभाषिक शब्दों में सृष्टि की स्वप्नावस्था एवं रात्रि कहते हैं। इसका भी समय एक सहस्र युग है। यही दोनों दिन और रात्रि अर्थात् सृष्टि और प्रलय सदा अपना चक्र काटते हैं, वैयाकरणों के शब्दों में यही वृत्ति है। इसी के करण सृष्टि में सदा परिवर्तन है। अतएव अन्तिम तत्त्व काल पुरुष है, उसको सांख्य ने पुरुष कहा है, योग दर्शन ने पुरुष-विशेष कहते हुए ईश्वर कहा है और वेदान्त ने ब्रह्म कहा है, वैयाकरणों ने उसे शब्द, शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म, वाक्तत्त्व, वाग्ब्रह्म आदि कहा है।[1]

ब्रह्म और वाक्तत्त्व की समानता—ऋग्वेद का कथन है कि वाक्तत्त्व सहस्र प्रकार से व्याप्त है। जितनी और जहां तक द्युलोक और पृथिवी प्रतिष्ठित हैं उतनी और वहां तक वाक्शक्ति प्रतिष्ठित है। इसका महत्त्व सहस्रों प्रकार से सहस्रमुखी व्याप्त है। जितना और जहां तक ब्रह्मतत्त्व व्याप्त है उतना और वहां तक वाक्तत्त्व भी व्याप्त है।

सहस्रधा पञ्चदशान्युकथा यावद् द्यावापृथिवी तावदित् तत्।
सहस्रधा महिमानः सहस्रं यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्।

ऋग्० १०, ११४, ८

१. आकाशगुणः शब्दः। आकाद् वायुर्द्विगुणः स्पर्शेन। वायोर्ज्योतिस्त्रिगुणः रूपेण। ज्योतिष आपश्चतुर्गुणा रसेन। अद्भ्यः पृथिवी पञ्चगुणा गन्धेन। पृथिव्या भूतग्रामस्थावरजङ्गमाः। तदेतदहर्युगसहस्रं जागर्ति। तस्यान्ते सुषुप्स्यन्नङ्गानि प्रत्याहरति। भूतग्रामाः पृथिवीमपि यन्ति। पृथिव्यपः। आपो ज्योतिषम्। ज्योतिर्वायुम्। वायुराकाशम्। आकाशो मनः। मनो विद्याम्। विद्या महान्तमात्मानम्। महानात्मा प्रतिभाम्। प्रतिभा प्रकृतिम्। सा स्वपिति युगसहस्रं रात्रिः। तावेतावहोरात्रावजस्रं परिवर्तेते। स कालस्तदेतदहर्भवति।

निरुक्त १३.१७

अचेतनों में भी वाक्तत्त्व—ऋग्वेद का कथन है कि अचेतनों में भी वाक्तत्त्व है। अचेतन भी वाक्तत्त्व का उपयोग करते हैं, वाक्तत्त्व दिव्य तत्त्वों में ज्योति का आधायक है, वह आनन्दरूप होकर स्थित है।

यद्वाग्वदन्त्यविचेतनानि राष्ट्री देवानां निषसाद मन्द्रा, ऋग्० ८,१००,१०

आधुनिक विज्ञान और प्रतिभा-तत्त्व—वैयाकरणों ने वाक्तत्त्व के सर्वतोमुखी प्रवाह को आचार्य स्फोटायन के सिद्धान्तानुसार स्फोट और ध्वनि कहकर स्पष्ट किया है। प्रत्येक अणु में प्रतिक्षण स्फोट (विस्फोट, किरण-प्रवाह, प्रकाश-प्रसार) होने से प्रत्येक अर्थतत्त्व में प्रतिक्षण प्रतिभा का प्रसार हो रहा है। चेतन और अचेतन सब में प्रतिभा अविच्छिन्न रूप से अपना कार्य कर रही है अतएव उक्त मन्त्र में वेद ने कहा है कि अचेतन भी उस वाक्तत्त्व का उपयोग करते हैं। वैयाकरणों के सिद्धान्त की सम्पुष्टि आधुनिक विज्ञान ने की है। डाक्टर ओस्कर ब्रनलर ने पच्चीस वर्ष के अनवरत अध्यवसाय के अनन्तर वैज्ञानिक पद्धति से वैयाकरणों के स्फोट सिद्धान्त की सम्पुष्टि की है। उनका कथन है कि "पर्वतों, वृक्षों और वनस्पतियों आदि के अन्दर स्फोट की सिद्धि ने मुझे इस निर्णय पर पहुँचाया है कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्फोट (किरण-प्रवाह, प्रकाश-प्रसार) हो रहा है। यदि हम वैज्ञानिक ढंग से यह सिद्ध कर देते हैं और जैसा कि हम सिद्ध करते हैं कि पृथ्वी पर प्रत्येक पदार्थ में स्फोट है तो यह असन्दिग्ध रूप से कहा जा सकता है कि मनुष्य में भी स्फोट है। प्रत्येक मनुष्य के मस्तिष्क में भी प्रतिक्षण स्फोट होता है अर्थात् मानव का मस्तिष्क प्रतिक्षण किरण-प्रवाह को संचारित करता है" (अमृतबाजार पत्रिका २६ जून १९४८)

वाक् कामधेनु है ऋग्वेद का कथन है कि देवों ने दिव्य वाणी को उत्पन्न किया। उसको ही सब प्रकार के पशु बोलते हैं, वह दिव्य वाक्तत्त्व ऐश्वर्य और बल दोनों को देने वाला है। वाक् कामधेनु है, वह सब कामनाओं को पूर्ण करती है।

देवीं वाचमजनयन्त देवास्तां विश्वरूपाः पशवो वदन्ति।
सा नो मन्द्रेषमूर्जं दुहाना धेनुर्वागस्मानुप सुष्टुतैतु॥ ऋग्० ८, १००, ११

यास्क ने सब प्रकार के पशुओं में व्यक्तवाक् और अव्यक्तवाक् अर्थात् स्पष्ट एवं व्यक्त वक्ता मनुष्यादि एवं अस्पष्टवादी पशु आदि सभी प्रकार के पशुओं का संग्रह किया है[1]। शतपथ ब्राह्मण ने पशुओं की व्याख्या करते हुए मनुष्य को भी

---

१. तां सर्वरूपाः पशवो वदन्ति। व्यक्तवाचश्चाव्यक्तवाचश्च॥
(निरुक्त, ११, २९)

पांच पशुओं में से एक पशु कहा है, उसका कथन है कि पांच पशु हैं:—पुरुष, अश्व, गाय, अवि (भेड़) और अज (बकरी)। ये पांच इस लए पशु कहे जाते हैं क्योंकि अग्नि ने इनको देखा, ये दर्शन के विषय हुए, अतः पशु हुए।

(अग्निः) एतान् पञ्च पशूनपश्यत्। पुरुषमश्वं गामविमजं यदपश्यत् तस्मादेते पशवः। शत० ६, २, १, २

एक शब्दतत्त्व के ही इन्द्र आदि अनेकों नाम—एक शब्दतत्त्व जो कि प्रतिभा रूप से सर्वव्यापक है और जिसका सर्वदा अस्तित्व है, उस एक सत्, नित्य और अक्षर तत्त्व का अनेकों नाम देकर अनेकों रूपों में वेद और समस्त शास्त्रों में वर्णन किया गया है। ऋग्वेद का कथन है कि सृष्टि में एक सत् तत्त्व है, उसी को विद्वानों ने अनेकों नाम देकर वर्णन किया है। कोई उसको इंद्र कहता है, कोई मित्र कोई वरुण, कोई अग्नि, कोई दिव्य सुपर्ण, कोई यम और कोई मातरिश्वा (वायु) कहता है।

इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गरुत्मान्।
एकं सद् विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः॥ ऋग्० १, १६४, ४६

यास्क और वाक्तत्त्व की सर्वव्यापकता—यास्क ने आत्मतत्त्व के ही ये सारे नाम हैं, इसका निरुक्त १३, १४ में विशेष रूप से प्रतिपादन किया है। यास्क ने (निरुक्त १३, १६) ऋग्वेद १, १६४, ३१ को उद्धृत करके यह स्पष्ट किया है कि वही आत्मतत्त्व अविनाशी है, शब्दतत्त्व का रक्षक है, वह विभिन्न मार्गों से विचरण करता है, वह सर्वत्र सूत्रात्मा रूप में ओत और प्रोत होकर बसा हुआ है, वह समस्त विश्व में सर्वथा व्याप्त है। उसका आत्मतत्त्वज्ञ साक्षात्कार करते हैं।

अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा च परा च पथिभिश्चरन्तम्।
स सध्रीचीः स विषूचीर्वसान आ वरीवर्ति भुवनेष्वन्तः॥ ऋग्० १, १६४, ३१

यास्क ने निरुक्त (१३, २३-२४) में अक्षर ब्रह्मणस्पति आदि नामों से सम्बोधित करते हुए उसको आत्मा, ब्रह्म आदि कहा है और उसका स्वरूप लिखा है कि वह साक्षिमात्र है, वह प्रज्ञा बुद्धि के द्वारा कर्मों को कराता है वह ज्ञान के कारण समस्त बंधनों से पृथक् है।[1] इससे आगे यास्क ने इस महान् आत्मा के ६५ भौतिक नामों का उल्लेख किया है, जिनमें से कुछ निम्नलिखित हैं :—

हंस, धर्म, यज्ञ, भूमि, विभु, प्रभु, शम्भु, सोम, भूत, भुवन (वर्तमान),

---

१. अक्षरं ब्रह्मणस्पतिम्०। प्रज्ञया कर्म कारयतीति। आत्मा ब्रह्मेति साक्षिमात्रो व्यवतिष्ठतेऽबन्धो ज्ञानकृतः। (निरुक्त १३, २३)

भविष्यत्, व्योम, अन्न, हविः, ऋत, सत्य, रयि, सत्, अमृत, अन्तरिक्ष, आपः, सगर, तपस्, वरेण्य, ब्रह्म, आत्मा, शरीर आदि।

अथात्मनो महतः प्रथमं भूतनामधेयान्यनुक्रमिष्यामः। निरुक्त १३, २३,

यजुर्वेद और ब्रह्मतत्त्व—यजुर्वेद ने ब्रह्मतत्त्व को अध्याय ३१ और ३२ में पुरुषतत्त्व कहकर उसकी विस्तृत व्याख्या की है, जैसा कि सांख्यदर्शन ने उसको ब्रह्म आदि नाम से सम्बोधित न करके पुरुष नाम को ही पारिभाषिक अर्थों में प्रयुक्त किया है। पुरुष सूक्त में उस पुरुष की 'सहस्रशीर्षा पुरुषः।", आदि मन्त्रों से सर्वव्यापकता और सर्वशक्तिमत्ता बताई गई है। पुरुष सूक्त अर्थात् ३१वें अध्याय की व्याख्या करके ३२वें अध्याय में उसकी दार्शनिक व्याख्या की गई है। जो दार्शनिक भाव ३२ वें अध्याय में विस्तार से बताया गया है, उसका सारांश निम्न है:–

वह परम पुरुष सृष्टि में व्यापक होकर सर्वत्र ओत और प्रोत है[1]। वह समस्त लोकों, समस्त दिशाओं और उपदिशाओं में व्याप्त है, वह ऋत (सत्य) रूप है, वह अपने आत्मतत्त्व से अपनी आत्मा (सृष्टि, ब्रह्माण्ड) में अनुप्रविष्ट है[2]। वह ऋततत्त्व का तंतु है अर्थात् सृष्टि में सूत्रात्मा रूप में व्यापक है। उस अक्षरतत्त्व का आत्म-साक्षात्कार करना ही ब्रह्म साक्षात्कार है और यही ब्रह्मरूपता है।[3]

वैयाकरणों ने जिसको प्रतिभा तत्त्व कहा है उसको यहाँ पर वेद ने मेधातत्त्व (बुद्धितत्त्व) कहा है और कहा है कि उस मेधातत्त्व की ही समस्त देव और समस्त पितृगण उपासना करते हैं[4]। अन्त में समन्वयवाद की स्थापना करते हुए यह स्पष्टरूप से प्रतिपादित किया है कि सृष्टि में ब्रह्म शक्ति और क्षत्रशक्ति अर्थात् ब्रह्मबल और क्षात्रबल इन दोनों के समुचित समन्वय से ही श्री (प्रज्ञा, प्रतिभा, ऐश्वर्य) की प्राप्ति होती है।

---

१. वेनस्तत् पश्यन्निहितं गुहा सद्यत्र विश्वं भवत्येकनीडम्।
तस्मिन्निदꣳ सं च वि चैति सर्वꣳ स ओतः प्रोतश्च विभूः प्रजासु॥
(यजु० ३२, ८)

२. परीत्य भूतानि परीत्य लोकान् परीत्य सर्वाः प्रदिशो दिशश्च।
उपस्थाय प्रथमजामृतस्यात्मनात्मानमभि सं विवेश॥ (यजु० ३२, ११)

३. ऋतस्य तन्तुं विततं विचृत्य तदपश्यत्तदभवत्तदासीत्॥
(यजु० ३२, १२)

४. यां मेधां देवगणाः पितरश्चोपासते।
तया मामद्य मेधयाग्ने मेधाविनं कुरु स्वाहा॥ (यजु० ३२, १४)

इदं मे ब्रह्म च क्षत्रं चोभे श्रियमश्नुताम्। यजु० ३२, १६

वैयाकरणों ने इसको ब्रह्म और क्षत्र नाम से प्रस्तुत न करके वैयाकरणों की पारिभाषिक भाषा में स्फोट और ध्वनि दोनों के समन्वय की स्थापना को बताकर इस भाव को स्पष्ट किया है।

यह अक्षरतत्त्व क्या, कैसा और किस रूप में है, इसको स्पष्ट करते हुए वेद का कथन है कि उस अक्षरतत्त्व को ही वेद में विभिन्न नामों से प्रस्तुत किया गया है। कहीं पर अग्नि नाम से उसकी व्याख्या की गई है, कहीं पर आदित्य, कहीं पर वायु और कहीं पर चन्द्रमा नाम से। कहीं पर उसको शुक्र (वीर्य) कहीं पर ब्रह्म, कहीं पर आपः (सोम) और कहीं पर उसी को प्रजापति कहकर उसकी व्याख्या की गई है, वस्तुतः तत्त्व एकही है, उसी के विभिन्न नाम और रूप हैं।

तदेवाग्निस्तदादित्यस्तद्वायुस्तदु चंद्रमाः।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म ता आपः स प्रजापतिः॥ यजु० ३२, १

उपनिषद् में अद्वैत की पुष्टि—वेद के उक्त मन्तव्य का उपनिषदों में अनेकों स्थलों पर विस्तार से समर्थन किया गया है। कैवल्य उपनिषद् ने इस भाव को विस्तार से स्पष्ट करते हुए कहा है कि वह अक्षरतत्त्व ही ब्रह्म कहा जाता है। उसी के शिव, इन्द्र, अक्षर, परमस्वराट्, विष्णु, प्राण, काल, अग्नि और चन्द्रमा आदि सभी नाम हैं। वर्तमान, भूत और भविष्यत् में जो कुछ है, वह अक्षरतत्त्व ही है।

स ब्रह्मा स शिवः सेन्द्रः सोऽक्षरः परमः स्वराट्।
स एव विष्णुः स प्राणः स कालोऽग्निः स चन्द्रमाः॥
स एव सर्वं यद्भूतं यच्च भव्यं सनातनम्। कैवल्य० १, ८-६

आगे जाकर उपनिषद् ने कहा है कि जो कुछ उत्पन्न होता है, वह मुझसे ही उत्पन्न होता है, मुझमें ही सब स्थित और प्रतिष्ठित है। मुझमें ही सब कुछ लीन होता है। वह अद्वितीय, अद्वैततत्त्व अर्थात् अक्षरब्रह्म मैं हूँ।

मय्येव सकलं जातं मयि सर्वं प्रतिष्ठितम्।
मयि सर्वं लयं याति तद्ब्रह्माद्वयमस्म्यहम्॥ कैवल्य०, १, १६

प्रतिभा के ही अनेकों नाम—ऐतरेय उपनिषद् में स्पष्टरूप से कहा गया है कि प्रतिभा, प्रज्ञान के ही निम्नलिखत सारे नाम हैं:—संज्ञान, आज्ञान, विज्ञान, प्रज्ञान, मेधा, दृष्टि (दर्शन), धृति (धर्म) मति, मनीषा, जूति स्मृति (स्मरणशक्ति) संकल्प, क्रतु (यज्ञ), असु (प्राण), काम (कामना, भावना), वश (यम, नियम, संयम, आचार, आचरण)।

संज्ञानमाज्ञानं विज्ञानं० इति सर्वाण्येवैतानि प्रज्ञानस्य नामधेयानि भवन्ति।
ऐ० उ०, ३, २

मनु और अद्वैततत्त्व—मनु ने मनुस्मृति में इसी भाव की सम्पुष्टि की है। मनु का कथन है कि जिसको शाश्वत परब्रह्म कहते हैं, उसी को कोई अग्नितत्त्व कहते हैं, कोई उसे मनु कहते हैं, कोई उसे प्रजापति कहते हैं, कोई उसे इन्द्र और कोई उसे प्राण।

> एतमग्निं वदन्त्येके मनुमन्ये प्रजापतिम्।
> इन्द्रमेके परे प्राणमपरे ब्रह्म शाश्वतम्॥ मनु० १२, १२३

वैयाकरण और अक्षरतत्त्व—वैयाकरणों ने समस्त विवादों के मूलभूत भ्रम को दूर करते हुए तथा समस्त दार्शनिकवादों को एक सूत्र में अनुप्रोत करते हुए उसे अक्षरतत्त्व, शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म आदि कहा है। भर्तृहरि ने दार्शनिकों के विवादों को अज्ञानमूलक बताते हुए वैयाकरणों के सिद्धांत का उल्लेख किया है कि कोई दर्शन उसको आत्मा कहता है, कोई वस्तु (पदार्थ), कोई स्वभाव (प्रकृति), कोई शरीर, कोई तत्त्व (पंचतत्त्व) और कोई उसे द्रव्य कहता है। ये सब द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं। वैयाकरण जिसको द्रव्य कहते हैं उसका यही भाव है। वह महासत्तारूपी जाति जो कि विशेषणरूप से सर्वव्यापक है, उस विशेषण का यह द्रव्य विशेष्य है। यह अक्षरतत्त्व रूपी द्रव्य नित्य है। आचार्य व्याडि ने "द्रव्याभिधानं व्याडिः" अर्थात् द्रव्य ही पदार्थ है, इस सिद्धांत द्वारा जो मौलिक सिद्धांत स्थापित किया है उसका यही भाव है[1]।

विद्या और अविद्या का समन्वय—वैयाकरणों ने प्रकृति और प्रत्यय, स्फोट और ध्वनि के जिस समन्वय के सिद्धान्त की स्थापना दृढ़ और सुस्पष्ट शब्दों में की है, उसका स्पष्ट और असंदिग्ध शब्दों में प्रतिपादन यजुर्वेद के ४० वें अध्याय में, जो कि ईश उपनिषद् भी है, किया गया है। वेद का कथन है कि जो केवल अविद्या अर्थात् केवल ध्वनिवाद, प्रकृतिवाद, भौतिकवाद एवं कर्ममार्ग की ही उपासना करते हैं, वे तमोमय मार्ग में प्रवेश करते हैं, परन्तु जो केवल विद्या अर्थात् केवल स्फोटवाद, प्रत्ययवाद, अध्यात्मवाद एवं ज्ञानमार्ग की ही उपासना करते हैं वे उनसे भी अधिक तमोमय मार्ग में प्रवेश करते हैं। दोनों मार्गों के फल विभिन्न हैं। वास्तविक मार्ग दोनों का ठीक-ठीक समन्वयमार्ग है। जो विद्या और अविद्या दोनों को, ज्ञान और कर्म दोनों को साथ ही साथ ठीक रूप से जानता और प्रयोग में लाता है, वह अविद्या अर्थात्

---

१. तत्र वाजप्यायनदर्शनेन जातिं विशेषणभूतां पदार्थं व्यवस्थाप्य व्याडिदर्शनेन विशेष्यरूपं द्रव्यमपि पदार्थं व्यवस्थापयितुं यथादर्शनं तदेव पर्यायान्तरैरुद्दिशति। (हेलाराज)

> आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
> द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥

व्याडिदर्शने सर्वे शब्दा द्रव्याभिधायिनो भवन्ति। इह तु पारमार्थिकं द्रव्यं निरूप्यते। (हेलाराज)
वाक्य० ३ पृष्ठ० ८५

कर्ममार्ग से मृत्यु-बन्धन को काटकर विद्या अर्थात् ज्ञानमार्ग से अमरतत्त्व, अक्षरतत्त्व, निर्वाण का उपभोग करता है। यजु० ४०,१२-१४)

अन्धन्तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते।
ततो भूय इव ते तमो य उ विद्यायाᳬरताः।
विद्यां चाविद्यां च यस्तद्वेदोभयᳬसह।
अविद्यया मृत्युं तीर्त्वा विद्ययामृतमश्नुते॥ यजु० ४०,१२-१४

अविद्या ही विद्या की प्राप्ति का साधन—वैयाकरणों ने समास में जो कि एक सबसे बड़ी समस्या थी, उसको प्रकृति और प्रत्यय, स्फोट और ध्वनि दो विभागों में विभक्त करके एक को साधन और एक को साध्य बताया है। स्फोट साध्य है, ध्वनि साधन है, प्रतिभा साध्य है, बुद्धि साधन है, विद्या साध्य है, अविद्या साधन है। ज्ञान साध्य है, कर्म साधन है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में वैयाकारणों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि समस्त शास्त्रों का विवेचन केवल व्यावहारिक उपयोगिता के लिए है, वे केवल अबुधों को बोध कराने के लिए हैं। शास्त्र तत्त्व को प्रकट करने में असमर्थ हैं, क्योंकि तत्त्व आत्मसाक्षात्कार का विषय है, वह स्वानुभूतिसंवेद्य है। अतः शास्त्रों में विभिन्न प्रकार से विभिन्न पद्धति से अविद्या का ही वर्णन किया गया है। जिस प्रकार बालकों को शिक्षा देने के लिए रेखा आदि का उपयोग करके गाय आदि के चित्र से, जो कि वस्तुतः असत्य है, गाय आदि का बोध कराया जाता है; इसी प्रकार से अविद्या एवं असत्य के प्रतिपादक शास्त्रों से विद्या एवं सत्य का ज्ञान कराया जाता है। परिणाम यह होता है कि अविद्या के द्वारा विद्या का, कर्म के द्वारा ज्ञान का, ध्वनि के द्वारा स्फोट का, बुद्धि के द्वारा प्रतिभा का निश्चित, नित्य, सत्य और निर्विकल्प स्वरूप ज्ञात और प्राप्त होता है। (पुण्य राज, वाक्य० २,२३४-२४०)

व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः...वाक्य० २,२३४
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते॥ वाक्य० २,२३५

उपायाः शिक्षमाणानां बालानामपलापनाः।
असत्ये वर्त्मनि स्थित्वा ततः सत्यं समीहते॥ वाक्य० २, २४०

जयन्त ने न्यायमंजरी में अतएव कहा है कि अविद्या ही विद्या का उपाय है, अतएव उसका आश्रय लिया जाता है। वाक्-तत्त्व ही वस्तुतः तत्त्व है। समस्त ज्ञानों में वही अक्षर, अविनाशी रूप में रहता है।

अविद्यैव विद्योपाय इत्याश्रीयते। वाग्रूपता तत्त्वम्, सर्वत्र प्रत्यये तदनपायात्, न्याय० आ० ६ पृ० ३४३।

वाक्तत्त्व और महादेव—ऋग्वेद ४, ५८, ३ की व्याख्या यास्क ने निरुक्त १३, ७ तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में की है। दोनों ने महान् देव की व्याख्या की है। यास्क के विवेचन के अनुसार वह महान् देवयज्ञ है और पतञ्जलि के अनुसार उसी का नाम शब्द है। पतञ्जलि ने उक्त मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि उस महान् देव के अर्थात् शब्दब्रह्म के चार सींग हैं, जिनको वैयाकरणों के शब्दों में नाम, आख्यात (क्रिया), उपसर्ग और निपात कहा जाता है। उसके तीन पैर हैं, वह कालपुरुष है, उसके भूत, भविष्यत् और वर्तमान ये तीन पैर हैं। उसके दो शिर हैं अर्थात् शब्दब्रह्म के दो स्वरूप हैं, एक नित्य और दूसरा अनित्य, एक सत्य और दूसरा असत्य, एक भावात्मक और दूसरा अभावात्मक, एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। उसके सात हाथ हैं अर्थात् सात विभक्तियाँ (कर्त्ता, कर्म आदि) हैं, जिनमें शब्दतत्त्व को विभक्त किया जाता है। वह तीन स्थानों पर बंधा हुआ है, वे स्थान हैं, हृदय, कंठ और शिर। इनमें शब्द-तत्त्व बद्ध और सम्बद्ध है। इसको वृषभ कहा जाता है क्योंकि यह अर्थतत्त्व की वृष्टि करता है। इसके कारण ही ध्वनि की सत्ता है। यह महादेव सब मनुष्यों में प्रविष्ट है। मर्त्य उस अक्षर और अमर्त्य महादेव का साम्य प्राप्त करने के लिए व्याकरण का आश्रय लेते हैं। व्याकरण के आश्रय से ही अन्तस्तल में प्रतिष्ठित आत्मतत्त्व के साथ सायुज्य की प्राप्ति होती है (नागेश० महा० आ० १)।

चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य।
त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्याँ आविवेश॥ ऋग्० ४, ५८, ३

भर्तृहरि के अनुसार व्याख्या - भर्तृहरि और पुण्यराज ने इसके भाव को स्पष्ट करते हुए कहा है कि शब्द दो प्रकार का है, अनित्य और नित्य। इनमें से प्रथम व्यावहारिक है। वाक्रूप पुरुष के प्रतिविम्ब को ग्रहण करता है। द्वितीय समस्त व्यवहारों का मूलभूत, क्रमरहित, सब के हृदय में सन्निविष्ट, कारणभूत एवं समस्त विकृतियों का आश्रय है। वह नित्य स्फोट रूप शब्द समस्त कर्मों का आधार, समस्त तत्त्वों की परिणामरहित प्रकृति है। वह सर्वेश्वर, सर्वशक्तिमान् और महान् शब्द-वृषभ है। वाग्योगवित् शास्त्रानुसार शब्दज्ञानपूर्वक प्रयोग के द्वारा निष्पाप होकर, अहंकार की ग्रन्थियों को नष्ट करके शब्दब्रह्म के साथ सायुज्य अर्थात् निकटतम संसर्ग को प्राप्त होते हैं। (पुण्यराज वाक्य० १, १३२ नागेश महा० आ० १)[1]

यास्क के अनुसार व्याख्या—यास्क ने वैदिक पद्धति के अनुसार उस महादेव को यज्ञ पुरुष कहकर इसकी वैदिक व्याख्या की है। यहां पर ध्यान रखना चाहिए

१—इह द्वौ शब्दात्मानौ कार्यो नित्यश्च। तत्राद्यो व्यावहारिकः पुरुषस्य वागात्मनः प्रतिबिम्बोपग्राही, अन्त्यस्तु सर्वव्यवहारयोनिः संहृतक्रमः सर्वेषामन्तः संनिवेशी प्रभवो विकाराणामाशयः। सर्वकर्मणामधिष्ठानं सर्वमूर्तीनामपरिणामा प्रकृतिः। सर्वेश्वरः सर्वशक्तिर्महान् शब्दवृषभस्तस्मिन् खलु वाग्योगविदो विच्छिद्याहङ्कारग्रन्थीनत्यन्तं संसृज्यन्ते। (पुण्यराज) वाक्य० १, १३२

कि सृष्टि में जो मौलिक तत्त्व हैं, वे वही हैं और वही रहते हैं। वैयाकरण उसे शब्द कहकर उसकी शाब्दिक व्याख्या करते हैं, अन्य उसकी अपने अपने दर्शन और शाखाओं के अनुसार व्याख्या करते हैं। वस्तुतत्त्व में कोई अन्तर नहीं होता है। व्याख्येय विषय वही रहता है। उक्त कारण से ही एक ही मन्त्र का विभिन्न शास्त्रों में विभिन्न अर्थ पाया जाता है। यास्क ने कहा है कि चार वेद उस महादेव के चार सींग हैं, तीन सवन अर्थात् प्रातः सवन, माध्यन्दिन सवन और सायं सवन ये तीन काल भेद उसके पैर हैं। प्रायणीय और उदयनीय ये दो उसके शिर हैं अर्थात् यज्ञ रूप पुरुष इन दो भागों में विभक्त है। सात छन्द (गायत्री आदि) उसके हाथ हैं, वह मन्त्र, ब्राह्मण और कल्प इन तीन प्रकारों से बद्ध और सम्बद्ध है। वह महादेव मनुष्यों में यज्ञ अर्थात् कर्मशीलता के लिये प्रविष्ट है।[1]

पद और पदार्थ के चार रूप—ऋग्वेद, १, १६४, ४५ की व्याख्या यास्क ने निरुक्त १३,९ तथा पतञ्जलि ने महाभाष्य आह्निक १ और भर्तृहरि तथा उसके टीकाकार हेलाराज ने वाक्य० १, १४४ में की है। ऋग्वेद का कथन है कि वाक्तत्त्व को पदविभाजन की दृष्टि से चार पदों में विभक्त किया जाता है, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। ये चार पद हैं। इनके कारण पदार्थ भी चार प्रकार का है, नामार्थ, आख्यातार्थ (धात्वर्थ), उपसर्गार्थ और निपातार्थ। इन चारों के रहस्यात्मक अर्थ को मनीषी, मेधावी और प्रतिभा-सम्पन्न ब्रह्मवित् ही जानते हैं। वाक् के उक्त चार विभागों में से प्रथम तीन निश्चेष्ट, निष्क्रिय और निरञ्जन रूप से रहते हैं, केवल चतुर्थांश ही है जिसको मनुष्य प्रयोग में लाता है।

चत्वारि वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः।
गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति॥ ऋग्० १,१६४,४५

यास्क के अनुसार व्याख्या—यास्क ने उक्त मन्त्र की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि वे चार पद कौन से हैं जो कि वाक्तत्त्व के विभाजन से सिद्ध होते हैं। यास्क ने नैरुक्तों के मत के अतिरिक्त अन्य शास्त्रों ने जो इसकी व्याख्या की है, उसका भी उल्लेख किया है। (१) आर्षपद्धति के अनुसार समस्त वाक्तत्त्व का संक्षेप में ओम्, भूः, भुवः, स्वः अर्थात् ओंकार और महाव्याहृति रूप में विभाजन से ही समस्त वाक्तत्त्व का विभाजन हो जाता है। (२) वैयाकरणों ने उसको नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात इन चार विभागों में विभक्त किया है। (३) उसी

---

१. चत्वारि शृङ्गेति वेदा वा एत उक्ताः। त्रयोऽस्य पादा इति सवनानि त्रीणि। द्वे शीर्षे प्रायणीयोदयनीये। सप्त हस्तासः सप्त छन्दांसि। त्रेधा बद्धो मन्त्र ब्राह्मणकल्पैः। महान् देवो यद्यज्ञो मर्त्यां आविवेश। एष हि मनुष्यानाविशति यजनाय। (निरुक्त १३, ७)

को याज्ञिकों ने यज्ञ-प्रक्रिया के अनुसार मंत्र, कल्प, ब्राह्मण और व्यावहारिक वाक् इन चार भागों में विभक्त किया है। (४) निर्वचनशास्त्र के विशेषज्ञों अर्थात् नैरुक्तों ने उसको ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और चौथे व्यावहारिक वेद (अथर्ववेद) इन चार भागों में विभक्त किया है।[1] (निरुक्त १३, ९)।

यास्क ने ब्राह्मण ग्रन्थ का वचन उद्धृत किया है कि वाक्तत्त्व की सृष्टि होने पर वह चार रूपों में विभक्त हो गया। उसके तीन भाग इन लोकों में है और चतुर्थांश पशुओं में। उसका जो एक अंश पृथ्वी में है, वही अग्नि में है और वही रथन्तर साम में है। उसका जो अंश अन्तरिक्ष में है, वही वायु में है और वही वामदेव्य साम में है। उसका जो अंश द्युलोक में है, वही आदित्य में है, वही बृहत् साम में है और वही विद्युत् में है। और चतुर्थांश पशुओं में है। चतुर्थांश के अतिरिक्त जो वाणी अवशिष्ट रही अर्थात् तीन चौथाई वाणी ब्राह्मणों (ब्रह्म-वेत्ताओं) में स्थापित हुई। अतएव ब्राह्मण दोनों प्रकार की वाणी बोलते हैं, एक देवताओं की और दूसरी मनुष्यों। की दिव्य और मानवी, सत्य और अनृतात्मक।[2]

वैखरी आदि चार वाणियाँ—पतञ्जलि ने वाक्तत्त्व के विषय में उक्त मन्त्र की व्याख्या में कहा है कि मनीषी ब्राह्मण ही उन विभागों को जानते हैं। नागेश ने इसकी व्याख्या में कहा है इन चार विभागों के पारिभाषिक नाम परा, पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी हैं। नाम आदि चार भागों में से प्रत्येक के चार भाग हैं। मनीषी चित्तशुद्धि के द्वारा आत्मतत्त्व को वश में करके उसका ज्ञान प्राप्त करते हैं। इनमें से तीन पद (नाम, आख्यात और उपसर्ग; परा, पश्यन्ती और मध्यमा) में चेष्टा नहीं है, वे ज्ञान-सामान्य के विषय नहीं हैं, वे ज्ञान-गुहा में गुप्तरूप से रहते हैं। वैयाकरण व्याकरणप्रदीप से उसको प्रकाशित करते हैं तथा उस गुहा के अन्धकार को दूर करके उक्त तीन अंश का भी ज्ञान प्राप्त करते हैं। पतञ्जलि ने जो यह कहा है कि उसका चतुर्थांश मनुष्यों में है, उसका अभिप्राय कैयट ने स्पष्ट किया है कि चारों पदों में से प्रयेक के चार

---

१. कतमानि तानि चत्वारि पदानि। ओंकारो महाव्याहृतयश्चेत्यार्षम्। नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः। मन्त्रः कल्पो ब्राह्मणं चतुर्थी व्यावहारिकीति याज्ञिकाः। ऋचो यजूंषि सामानि चतुर्थी व्यावहारिकीति नैरुक्ताः। (निरुक्त १३.९)

२. सा वै वाक् सृष्टा चतुर्धा व्यभवत्। एष्वेव लोकेषु त्रीणि पशुषु तुरीयम्। या पृथिव्यां साग्नौ सा रथन्तरे। यान्तरिक्षे सा वायौ सा वामदेव्ये। या दिवि सादित्ये सा बृहति सा स्तनयित्नौ। अथ पशुषु ततो या वागत्यरिच्यत तां ब्राह्मणेष्वदधुः। तस्माद् ब्राह्मणा उभयीं वाचं वदन्ति या च देवानां या च मनुष्याणाम्। (निरुक्त १३.९)

मैत्रायणी संहिता १,११, ५

काठक संहिता १४, ५

भाग हैं और अवैयाकरण केवल चतुर्थभाग का ही उपयोग करते हैं और उसको ही बोलते हैं। नागेश का कथन है कि चतुर्थांश ही ज्ञान का विषय है, अतः वेद ने मनुष्यों में चतुर्थ भाग की सत्ता बताई है। (कैयट और नागेश, महा० आ० १)

पतञ्जलि और यदृच्छा शब्दों का खण्डन— पतञ्जलि ने 'ऋलृक्' सूत्र की व्याख्या में कहा है कि शब्द की प्रवृत्ति चार प्रकार की है :— जातिवाचक शब्द, गुणवाचक शब्द, क्रियावाचक शब्द और यदृच्छा (ऐच्छिक) शब्द।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छा-शब्दाश्चतुर्थाः। महा० आ० २

पतञ्जलि ने जातिशब्दों को नित्य माना है, क्रिया को अत्यन्त सूक्ष्म, अप्रत्यक्ष माना है और गुणों को अव्यवहार्य, स्वानुभूतिसंवेद्य माना है। जैसे गुड़ का माधुर्य अव्यवहार्य एवं स्वानुभवगम्य है। ये तीन नित्य, सत्य, अक्षय, और अक्षर एवं अविनाशी रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। ये अव्यवहार्य, अवयवरहित, एवं सामान्य निर्वचन से परे हैं, केवल चतुर्थांश जिसको पतञ्जलि ने यदृच्छा शब्द कहा है, वही मुख्य रूप से व्यवहार का विषय है, ज्ञान का विषय है और प्रत्यक्ष का विषय है। पतञ्जलि का अभिप्राय है कि समस्त भाषाशास्त्र, समस्त भौतिक-ज्ञान यदृच्छाशब्द है। जाति, क्रिया और गुण इनके भावों को स्पष्ट करने के लिए प्रत्येक भाषाशास्त्र में स्वेच्छानुरूप संकेतात्मक शब्द रख लिए गए हैं। अतः संसार का व्यवहार चलता है, यदि यदृच्छा शब्दों की सत्ता न हो तो संसार का कोई व्यवहार नहीं चल सकता है। नित्य शब्दों को भौतिक रूप नहीं दे सकते हैं। अतः वे अव्यवहार्य हैं। यदृच्छा शब्द भौतिक शब्द हैं, वे नित्य नहीं हैं, प्रतिक्षण परिवर्तनशील हैं, अतएव भौतिक भाषाशास्त्र प्रतिक्षण परिवर्तनशील है, उसमें विकास और ह्रास है। यदृच्छा शब्दों के समान ही प्रत्येक शब्द के अर्थ भी यदृच्छा अर्थ हैं। प्रत्येक शब्द के अर्थ ऐच्छिक और संकेतात्मक हैं, जिस प्रकार भौतिक शब्दों में विकास और ह्रास है, उसी प्रकार प्रत्येक भौतिक अर्थ में भी प्रतिक्षण विकास और ह्रास है। पतञ्जलि ने ऋलृक् सूत्र में आगे जाकर यदृच्छा शब्दों के अस्तित्व का खण्डन किया है और कहा है कि शब्द तीन ही प्रकार का होता है, जातिवाची, गुणवाची और क्रियावाची। यदृच्छा शब्दों की सत्ता नहीं है। कैयट ने इसकी व्याख्या में कहा है कि वर्तमान समय में भी जो कोई नाम आदि रक्खा जाता है उसमें किसी न किसी क्रिया या गुण का ही भाव आरोपित किया जाता है, इसका अभिप्राय यह है कि समस्त भाषाशास्त्र जो कि यदृच्छा शब्द के अतिरिक्त और कुछ नहीं है, वह माया,

अविद्या, अज्ञान का ही प्रपंच है। उसका दार्शनिक दृष्टि से वस्तुतः कोई अस्तित्व नहीं है। अतः दार्शनिकों और तत्त्वज्ञों की दृष्टि में सर्वथा अग्राह्य और हेय है। वह वस्तुतः विवेचन का विषय होता ही नहीं है। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महा० आ० १) की व्याख्या में कात्यायन और पतञ्जलि ने यह मन्तव्य दिया है कि आचार्य पाणिनि ने शब्द, अर्थ और सम्बन्ध को नित्य मानकर व्याकरण की रचना की है। वे जातिरूप नित्य अर्थ को ही अर्थतत्त्व मानते हैं और आकृति की अनित्यता को सिद्ध कर केवल द्रव्य जिसको कि आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व आदि कहा जाता है वही सृष्टि में अर्थ है, पदाथ है, वह नित्य और सत्य है। उसी के लिए पतञ्जलि ने कहा है कि वह ध्रुव, कूटस्थ, अपरिणामी, अक्षय, आगम-रहित और समस्त विकारों (विकास और ह्रास) से रहित है। उसकी न उत्पत्ति होती है, न उसकी वृद्धि होती है और न वह कभी व्यय होता है। सरल शब्दों में वह अव्यय और नित्य है, (महा० आ० १) ।

वैखरी आदि वाणियों का स्पष्टीकरण—भर्तृहरि और हेलाराज ने पूर्वोक्त मन्त्र तथा वैखरी आदि चार वाणियों का वाक्यपदीय के ब्रह्मकांड में स्पष्टीकरण किया है। भर्तृहरि ने कहा है कि वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती इन तीन वाणियों का ही ये चमत्कार है, जो कि अनेक विभागों में विभक्त होने के कारण नानारूप है। हेलाराज ने चारों वाणियों का बहुत विस्तार और बहुत गम्भीर एवं गूढ़ शब्दों में विवेचन किया है। महाभारत अश्वमेध पर्व ब्रह्मगीता से उद्धरण दिया है कि वैखरी वाणी कंठ, तालु आदि स्थानों में वायु के विकृत होने पर जब वह वर्ण का स्वरूप धारण कर लेती है, तब उस वाणी को वैखरी वाणी कहते हैं, इसमें प्राणवायु का संचालन रहता है, अतः वह प्राणवृत्ति से निबद्ध और सम्बद्ध रहती है[1]। जयन्त ने न्यायमंजरी (आ० ६ पृ० ३४३) में कहा है कि 'विखर' शब्द का अर्थ है, देह और इन्द्रियों का समूह, उसमें उत्पन्न होने के कारण इसको वैखरी कहा जाता है। यही श्रवण का विषय है[2]।

२—मध्यमा वाणी उसको कहते हैं जो कि अन्तः संकल्प रूप है, बुद्धि ही जिसका उपादान कारण है, जो कि क्रमयुक्त है और प्राणवृत्ति से परे है, वह सूक्ष्म है, हृदयस्थ है, यद्यपि उसमें क्रमों का संहार है फिर भी क्रमशक्ति से युक्त है, वह अभिव्यक्ति से रहित है, उसमें पदों का प्रत्यक्ष नहीं होता है, वह व्यवहार का कारणभूत है।

केवलं बुद्ध्युपादाना क्रमरूपानुपातिनी ।
प्राणवृत्तिमतिक्रम्य मध्यमा वाक् प्रवर्तते ॥

१—स्थानेषु विवृते वायौ कृतवर्णपरिग्रहा ।
वैखरी वाक् प्रयोक्तॄणां प्राणवृत्तिनिबन्धिनी ॥ (पुण्यराज वाक्य० १, १४४)

२—विखर इति देहेन्द्रियसंघात उच्यते, तत्र भवा वैखरी । न्यायमंजरी आ० ६ पृ० ३४३

३—पश्यन्ती वाणी उसको कहते हैं जिसमें न भेद है और न क्रम है। वह केवल स्वप्रकाश रूप है, वह लोक व्यवहारातीत है। वह अन्तस्तल में प्रकाश रूप है। वह आकारों से रहित होने के कारण निराकार है। वह असंख्य प्रकार की है। जैसे (१) परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभास—अर्थात् जहाँ अर्थज्ञान या अर्थ की प्रतीति परिच्छिन्न, विविक्त और स्पष्ट रूप से होती है। (२)। संसृष्टार्थप्रत्यवभास—अर्थात् जहाँ पर अर्थ की प्रतीति संसृष्ट, संमिश्रितरूप से होती है। (३) प्रशांतसर्वार्थप्रत्यवभास—अर्थात् जहाँ पर समस्त अर्थतत्त्व की प्रतीति प्रशांत हो जाती है, निश्चेष्ट और निरीह हो जाती है। योगदर्शन के शब्दों में निर्विकल्प समाधि की व्याख्या से स्पष्ट समझा जा सकता है। (हेलाराज)।[1]

अविभागात्तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी ॥

हेलाराज का कथन है कि वाक्तत्त्व की समस्त व्यावहारिक अवस्थाओं में साधु और असाधु, संस्कृत और असंस्कृत का विवेचन रहता है। अतः वे अवस्थाएं पुरुष के संस्कारों के कारण हैं। परन्तु पश्यन्ती का स्वरूप अपभ्रंश से रहित है, संस्कृत है, उसमें किसी प्रकार की संकीर्णता नहीं है, वह लोकव्यवहारातीत है। उसी वाणी के व्याकरण अर्थात् विवेचन और विश्लेषण से साधुत्व का ज्ञान होता है और योग से उसकी प्राप्ति होती है।[2]

४ – भर्तृहरि आदि ने वाक्तत्त्व की उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में चतुर्थ अवस्था का समावेश किया है। पाणिनि और पतञ्जलि ने निपात को भी उपसर्ग और अव्यय की कोटि में रक्खा है। दोनों को पृथक् करके निर्वचन की आवश्यकता नहीं समझी है। नागेश ने उद्योत में तथा लघुमंजूषा (पृ० १७२-१७७) में परा वाणी का पृथक् भी विवेचन किया है। नागेश का कथन है कि पश्यन्ती अवस्था में भी योगियों को प्रकृति और प्रत्यय के विभाग का ज्ञान होता है, परा अवस्था में वह ज्ञान नहीं होता है। भर्तृहरि ने जो वाक्त्रयी को लिखा है, उसका अभिप्राय यही है कि वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती तक ही वाक्तत्त्व का विवेचन सम्भव है। परा अवस्था में द्वैत बुद्धि का सर्वथा अभाव हो जाता है और वाक्तत्त्व के साक्षात्कार के कारण अधिकार की निवृत्ति हो जाती है। उसको षोडश

---

१. पश्यन्ती तु सा चलाचलाप्रतिबद्धसमाधाना सन्निविष्टज्ञेयाकारा प्रतिलीनाकारा निराकारा च, परिच्छिन्नार्थप्रत्यवभासा संसृष्टार्थप्रत्यवभासा चप्रशान्तसर्वार्थप्रत्यवभासा चेत्यपरिमितभेदा। (हेलाराज) वाक्य० १, १४४।

२. तत्र व्यावहारिकीषु सर्वासु वागवस्थासु व्यवस्थितसाध्वसाधुप्रविभागा पुरुषसंस्कारहेतुः, परन्तु पश्यन्त्या रूपमनपभ्रंशमसंकीर्णं लोकव्यवहारातीतम्। तस्या एव वाचो व्याकरणेन साधुत्वज्ञानलभ्येन शब्दपूर्वेण योगेनाधिगम इति। (हेलाराज, वाक्य० १, १४४)।

कलापूर्ण पुरुष में अमृत अर्था अक्षय, अक्षर और अविनाशी कला कहा जाता है।

तस्यां दृष्टस्वरूपायामधिकारो निवर्तते।
पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्॥

हेलाराज का कथन है कि यह त्रयी वाक् चतुर्थांश रूप में ही मनुष्यों में प्रतिभासित हो रही है, इसका बहुत थोड़ा सा अंश व्यावहारिक है और शेष भाग सामान्य व्यवहार से सर्वथा परे है। (देखो महा० आ० १ प्रदीप और उद्योत; वाक्य० १, १४४ की व्याख्या;[1] न्यायमंजरी आ० ६ पृ० ३४३; लघुमंजूषा पृ० १६८ १८०)।

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्॥
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ वाक्य० १, १४४

वाक्तत्त्व और पुरुषतत्व—यजुर्वेद के पुरुषसूक्त में अतएव कहा गया है कि परमपुरुष ही वर्तमान भूत और भविष्यत् है, वही अमृततत्त्व अर्थात् अक्षरतत्त्व का स्वामी है। यह सब उसका ही माहात्म्य है, वह इस सबसे श्रेष्ठ है। समस्त-भूत अर्थात् पंचतत्त्व उसका एक पैर है। समस्त सृष्टि उसका चतुर्थांश है। उसके तीन पैर अमर और अक्षर हैं। (यजु० ३१, २-४)। ऋग्वेद ने जो यह कहा है कि उसके चतुर्थांश को मनुष्य बोलते हैं, उसकी व्याख्या पुरुष सूक्त में प्राप्त होती है कि परमपुरुष का तीनचौथाई अंश व्यवहारातीत है, वह निर्लेप और निरंजन है। उसका केवल चतुर्थांश ही व्यवहार का विषय है। उसी से ही सृष्टि का प्रादुर्भाव और सृष्टि का विकास हुआ है। वह वैखरी वाक् ही सृष्टि में विराट् पुरुष है (यजु० ३१, ४-२२)।

वाक्तत्त्व-ज्ञान और परमतत्त्व-ज्ञान—जैसा कि ऋग्वेद ने कहा है कि वाक् तत्त्व के तीन अंश व्यवहारातीत रहते हैं और जिस भाव की दार्शनिक व्याख्या यजुर्वेद के ३२ वें अध्याय में की गई है, उसी में यजुर्वेद का कथन है कि उसके तीन पद (जाति, क्रिया और गुणशब्द) बुद्धि में ही निहित हैं। जो यथार्थतः उन तीन पदों को अर्थात् मध्यमा, पश्यन्ती और परा इन तीन अवस्थाओं का स्वयं साक्षात्कार करता है, वह पिता का भी पिता हो जाता है अर्थात् परमतत्त्वज्ञ और वाक्तत्त्वज्ञ हो जाता है।

त्रीणि पदानि निहिता गुहास्य यस्ता नि वेद स पितुः पितासत्।

यजु० ३२, ९

अर्थ-ज्ञान के बिना निष्फलता—ऋग्वेद का कथन है कि जो वाक्तत्त्व के

---

१. सैषा त्रयीवाक् तुरीयेण भागेन मनुष्येषु प्रत्यवभासते। तत्रापि चास्याः किञ्चिदेव व्यावहारिकमन्यत्तु सामान्य व्यवहारातीतम्। (हेलाराज, वाक्य० १,१४४)

साथ सख्यभाव को प्राप्त होता है, वह स्थिर आनन्द को प्राप्त होता है। उसकी कोई भी बड़े से बड़े तत्त्वज्ञान के विषय में स्पर्धा नहीं कर सकता है, परन्तु जो इसके विपरीत वाक्तत्त्व की माया में ही लिप्त रहता है, वाक्तत्त्व के प्रतिरूप मायाजाल में ही विचरण करता है, उसका समस्त अध्ययन और श्रवण निष्फल होता है। अर्थतत्त्व (प्रतिभा) वाक्तत्त्व का फल और फूल है अर्थात् उपादेय सारांश है। वह व्यक्ति जो अर्थज्ञान से वञ्चित है, समस्त ज्ञान के बाद भी निष्फल रहता है। निरुक्त० १, २०।

उत त्वं सख्ये स्थिरपीतमाहुर्नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु।
अधेन्वा चरति माययैष वाचं शुश्रुवाँ अफलामपुष्पाम्॥
ऋग्० १०, ७१, ५

अक्षरतत्त्व से वाक्त्रयी का विकास—यास्क ने निरुक्त १३, २७ में ऋग्वेद १०, ६७, ३४ की व्याख्या करते हुए कहा है कि अक्षरतत्त्व ही तीनों वाणियों अर्थात् ऋग्वेद, यजुर्वेद, और सामवेद को प्रेरित करता है। ये ऋत तत्त्व के कर्मों के विवेचन हैं। ये ब्रह्मतत्त्व के मनीषा अर्थात् प्रतिभा रूप हैं, जिसको अक्षरतत्त्व प्रेरित करता है। इसकी आध्यात्मिक व्याख्या करते हुए, यास्क का कथन है कि आत्मतत्त्व ही तीनों वाणियों अर्थात् वैखरी, मध्यमा, और पश्यन्ती का प्रेरक है। विद्या मति और बुद्धि से सम्पन्नों के कर्म ऋत तत्त्व के कर्म माने गए हैं। वह आत्मतत्त्व, अक्षरतत्त्व, इस सबका अनुभव करता है।

तिस्रो वाच ईरयति प्र वह्निर्ऋतस्य धीतिं ब्रह्मणो मनीषाम्।
ऋग्० १०,६७,३४

वाक्तत्त्व की अमरता—ऋग्वेद ने वाक्तत्त्व को विरूप और नित्य कहा है। विरूप शब्द के दो अभिप्राय हैं, एक यह कि वह रूप, आकार आदि से पृथक् होने के कारण निरूप, निराकार और अमूर्त है। दूसरा यह कि, वह निराकार होते हुए भी अनेकों रूपों, अनेकों आकारों से युक्त है।

वाचा विरूपनित्यया। ऋग्० ८, ७५, ६

यास्क ने ऋग्वेद के मन्त्र की व्याख्या करते हुए कहा है कि वाक्तत्त्व दिव्य काव्य है, वह अपनी महिमा के कारण सदा मरता है, परन्तु फिर भी जीवित रहता है, यही उसकी विशेषता है। निरुक्त १३, ३१

देवस्य पश्य काव्यं महित्वाद्या ममार स ह्यः समान।
ऋग्० ८, ५५, ५

यास्क ने यह स्पष्ट रूप से माना है कि अर्थतत्त्वों का विकास वाक्तत्त्व से ही होता है, वही अर्थों को प्रकाशित करता है।

वाक् पुनः प्रकाशयत्यर्थान् । निरुक्त६, १६

अर्थतत्त्व के दर्शन से ऋषित्व की प्राप्ति होती है और आनन्द का लाभ होता है।

ऋषेर्दृष्टार्थस्य प्रीतिर्भवत्याख्यानसंयुक्ता । निरुक्त १०, १०

ऋग्वेद ने वाक्तत्त्व को सर्वज्ञ प्रतिपादित किया है।

विश्वविदं वाचम्० । ऋग्० १, १६४, १०

वाक्तत्त्व का आधार ब्रह्म—ऋग्वेद में प्रश्न उठाया गया है कि वाक्तत्त्व का परम तत्त्व क्या है। उसका परम आधार क्या है। उत्तर में कहा गया है कि ब्रह्मतत्त्व ही वाक्तत्त्व का परम आधार है, वही उसमें परम तत्त्व है।

पृच्छामि वाचः परमं व्योम ।
ब्रह्मायं वाचः परमं व्योम । ऋग्० १, १६४, ३४—३५

आगे कहा गया है कि उस एक का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है।

एकस्य ददृशे न रूपम् । ऋग्० १, १६४, ४४

वाक्तत्त्व और भाषाविज्ञान—वेद का कथन है कि शब्दतत्त्व ही संसार को नापे हुए है। इस परिमाण का परिणाम यह होता है कि वाक्यों की सत्ता है। वाक्य विभिन्न प्रकार के हैं, किसी में केवल एक ही पद होता है किसी में दो, किसी में चार और किसी में नौ आदि। यहाँ तक कि एक वाक्य में सहस्रों अक्षरों का समावेश होता है। उसके कारण संसार में क्रम है, अतएव पंक्तियों की सत्ता है। यहीं तक नहीं, उस वाक्तत्त्व के कितने ही समुद्र फैले हुए हैं अर्थात् उस वाक्तत्त्व के विकास से कितनी ही छोटी और बड़ी विभिन्न भाषाएँ प्रसृत और प्रचलित हैं, इससे चारों दिशाओं और उपदिशाओं में जीवन का संचार है। उसी से अक्षरतत्त्व प्रचलित होता है, उसी से संसार अनुप्राणित होता है।

गौरिन्मिमाय सलिलानि तक्षत्येकपदी द्विपदी सा चतुष्पदी ।
अष्टापदी नवपदी बभूवुषी सहस्राक्षरा भुवनस्य पंक्ति-
स्तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति ॥ अथर्व ६, १०, २१
तस्याः समुद्रा अधि वि क्षरन्ति तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः ।
ततः क्षरत्यक्षरं तद् विश्वमुप जीवति ॥ ऋग्० १, १६४, ४२

अक्षरतत्त्व और सातवाणियां—ऋग्वेद का कथन है कि समस्त देव अक्षरतत्त्व के द्वारा ही सातों वाणियों अर्थात् सात छंदों को नापते हैं। अक्षरतत्त्व के द्वारा ही सातों छंदों को नियमित और परिमित करते हैं।

अक्षरेण मिमते सप्त वाणीः । ऋग्० १, १६४, २४

ऋग्वेद का अन्यत्र कथन है कि एक वाक्तत्त्व को ही विद्वान् और कवि अनेकों रूपों में प्रस्तुत करते हैं। वे वाक्तत्त्व के आश्रय से उसको सात विभागों में विभक्त करते हैं अर्थात् सात स्वरों, सात छन्दों को जन्म देते हैं।

सुपर्णं विप्राः कवयो वचोभिरेकं सन्तं बहुधा कल्पयन्ति।
तं धीरा वाचा प्रणयन्ति सप्त। ऋग् १०, ११४, ५—७

वाक्तत्त्व और सायुज्यप्राप्ति—यास्क और पतञ्जलि ने ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत करते हुए कहा है कि जिस प्रकार छलनी से सत्तू को स्वच्छ किया जाता है, इसी प्रकार वैयाकरण ध्यान-शक्ति के द्वारा मनन अर्थात् प्रज्ञान (विज्ञान) का आश्रय लेकर वाक्तत्त्व को संस्कृत करते हैं, उसमें से असंस्कृत अंश को दूर करके संस्कृत और साधु अंश को ग्रहण करते हैं। इस व्याकरण में वाक्तत्त्व के साथ वे सख्यभाव (सायुज्य) को प्राप्त होते हैं, पतञ्जलि ने प्रश्न किया है कि कहां वे सख्य भाव को प्राप्त होते हैं? उसके उत्तर में कहा है कि जो कि यह दुर्गम मार्ग है, जो कि यह ज्ञान के द्वारा ही प्राप्य है, और जो वाक्तत्त्व का विषय है। कौन उसको प्राप्त करते हैं, इसके उत्तर में कहा है कि वैयाकरण, क्योंकि इनकी वाणी में भद्र लक्ष्मी का वास है।

व्याकरण और अद्वैतदर्शन—कैयट और नागेश ने मन्त्र की व्याख्या में वैयाकरणों के दार्शनिक दृष्टिकोण का विस्तार से प्रतिपादन किया है। कैयट का कथन है कि सख्यभाव का अभिप्राय यह है कि वैयाकरण भेद-बुद्धि अर्थात् द्वैतबुद्धि के सर्वथा निवृत्त हो जाने के कारण सब को अद्वैत-बुद्धि से देखते हैं। समस्त विश्व को वे एक ब्रह्मतत्त्व मानते हैं। नागेश ने इसकी व्याख्या में कहा है कि ध्यान-शक्ति के द्वारा असंस्कृत से संस्कृत का विवेचन करने से वे अपने अन्तःकरण को सर्वथा शुद्ध बना लेते हैं। वैयाकरण शब्द से जिसका प्रतिपादन समझते हैं, वह है ब्रह्म का प्रतिपादन और ब्रह्म का विवेचन। शब्द और अर्थ दोनों में अभेद अद्वैत-बुद्धि के कारण वे सख्यभाव को प्राप्त कर ब्रह्म के समान ही ज्ञानयुक्त होते हैं। शब्द में ब्रह्म के एकत्व का ज्ञान होने के कारण वे उसी दृष्टांत से समस्त पदार्थों में ब्रह्मतत्त्व की अभिन्नता का अनुभव करते हुए सायुज्यभाव को प्राप्त करते हैं। इसकी प्राप्ति का साधन निर्विकल्पक ज्ञान है। योगदर्शन के शब्दों में निर्विकल्प समाधि है। कठिन मार्ग से प्राप्य होने के कारण इसको दुर्गम मार्ग कहा है। जैसा कि वेद में कहा है कि "नान्यः पंथा विद्येतऽयनाय" (यजु० ३१, १८) अर्थात् उस परमपुरुष के ज्ञान से ही मनुष्य मृत्यु बंधन को तोड़ सकता है, उसकी प्राप्ति अर्थात् निर्वाण का अन्य कोई मार्ग नहीं है। अतएव वेदान्त में कहा जाता है कि (सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म, तैत्तिरीय उपनिषद् २, १)। कैयट ने कहा है कि वेद नामक ब्रह्म में जो लक्ष्मी विद्यमान है, जिसको वेदांत में परमार्थसंविल्लक्षणा सिद्धि कहा है, वह वाक्तत्त्व के विवेचकों में प्रतिष्ठित है।

नागेश ने परमार्थसंविल्लक्षणा का भाव स्पष्ट किया है कि परमार्थ अर्थात् ब्रह्ममात्र विषय का ज्ञान जिसका विषय है और जो कि अर्थतत्त्व के साथ अखण्डता, अभिन्नता, और अद्वैत रूप है। समस्त वेद उनके मतानुसार ब्रह्मतत्त्व का ही प्रतिपादक है, अतएव गीता में कहा है कि—

वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद् वेदविदेव चाहम्। गीता १५, १५

ब्रह्मतत्त्व ही समस्त वेदों से ज्ञेय है, वही अद्वैत-दर्शन का स्रष्टा है और वही अद्वैतत्त्व का ज्ञाता है (कैयट और नागेश, महा० आ० १, निरुक्त० ४,१०)

सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत।
अत्रा सखायः सख्यानि जानते भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताधिवाचि॥
ऋग्० १०, ७१, २

अर्थज्ञान और शब्दसंस्कार—वैयाकरणों ने शब्दसंस्कार अर्थात् साधु और असाधु शब्दों के विवेचन, संस्कृत और असंकृत शब्दों के विवेचन पर इसलिए बहुत अधिक बल दिया है कि असंस्कृत शब्द असंस्कृत अर्थात् दूषित कलुषित एवं अपवित्र संस्कारों को जन्म देते हैं, उनसे असंस्कृत भावनाओं की उत्पत्ति होती है, जिसका परिणाम यह होता है कि मनुष्य अपने लक्ष्य अर्थतत्त्व से वंचित रहकर अनर्थतत्त्व अर्थात् माया-प्रपंच में ही लिप्त रह जाता है। पतञ्जलि ने श्रुतिवचन उद्धृत करते हुए कहा है कि शब्द यदि एक स्वर या एक वर्ण से भी असंस्कृत या अशुद्ध है और उसका प्रयोग विधि विधान के अनुसार नहीं हुआ है, असत्य रूप में प्रयुक्त हुआ है तो वह अर्थतत्त्व को स्पष्ट करने में सर्वथा असमर्थ है। यहीं तक नहीं, अपितु वाक्तत्त्व सिद्धि का साधन न होकर अनर्थ का साधन, विनाशकारी वज्र हो जाता है और प्रयोक्ता का नाश करता है। जिस प्रकार 'इन्द्रशत्रु' शब्द केवल प्रयोग में स्वर की अशुद्धि के कारण प्रयोक्ता वृत्र के ही नाश का कारण हो गया। (देखो, तैत्तिरीयसंहिता कां० २ प्र० ५ और शतपथ ब्रा० कां० १ प्र० ५ तथा कैयट और नागेश महा० आ० १)।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्याप्रयुक्तो न तमर्थमाह।
स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः स्वरतोपराधात्॥
महा० आ० १

अतएव पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया है कि शब्दतत्त्व के ज्ञान में ही धर्म अर्थात् लक्ष्य की इतिश्री है अथवा उसके प्रयोग में? बहुत विचार के पश्चात् इस विषय पर जो निर्णय दिया है, वह यह है कि लक्ष्य की इतिश्री मुख्य रूप से आचार अर्थात् आचरण पर निर्भर है। संस्कृत और साधु शब्दों के तथा संस्कृत भावों के प्रयोग पर निर्भर है। साथ ही ज्ञान-पक्ष की उपयोगिता बताते हुए कहा है कि न केवल शब्दतत्त्व के ज्ञान में ही इष्ट सिद्धि है और न केवल प्रयोग में, अपितु

दोनों के यथार्थ समन्वय में ही है। जिसका अभिप्राय यह है कि शब्दतत्त्व के ज्ञान के साथ ही साथ उसका संस्कृत और साधु अर्थों में प्रयोग करने से ही अन्तिम लक्ष्य की सिद्धि होती है, अभ्युदय होता है, और धर्म की प्राप्ति होती है।

आचारे नियमः, शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयः। महा० आ० १

शब्द की प्रामाणिकता—पतञ्जलि ने वैयाकरणों के सिद्धान्त का उल्लेख किया है कि वे शब्दतत्त्व (आत्मतत्त्व, ब्रह्मतत्त्व, प्रतिभा) को ही अन्तिम प्रमाण मानते हैं, जो शब्द कहता है, उसीको वे प्रमाणभूत मानते हैं। शब्दतत्त्व का कथन है कि शब्दज्ञान में धर्म है, अतएव वे संस्कृत शब्दों के ज्ञान में धर्म एवं अभ्युदय मानते हैं। शब्द तत्त्व असंस्कृत एवं अपशब्दों के ज्ञान में अधर्म का उल्लेख नहीं करता है, हाँ, प्रयोग में अवश्य अधर्म का उल्लेख करता है, अतः असंस्कृत, असाधु, प्राकृत और अपभ्रंश शब्दों के ज्ञान में कोई अनर्थ नहीं है। (महा० आ० १)

शब्दप्रमाणका वयम्, यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम्।
शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम्॥ महा० आ० १

एक शब्दज्ञान और इष्टसिद्धि—पतञ्जलि ने श्रुतिवचन उद्धृत करते हुए कहा है कि एक शब्द का ही ठीक-ठीक ज्ञान करने और शास्त्रों के विधिविधान के अनुसार शुद्ध प्रयोग करने पर समस्त कामनाओं की सिद्धि होती है अर्थात् समस्त अर्थतत्त्व की प्राप्ति होती है। यहां पर एक शब्द से अभिप्राय स्फोटरूप शब्द है। उसी के ज्ञान और प्रयोग से अर्थज्ञान और अर्थसिद्धि होती है।

एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति। महा० ६,१,८४

ऋग्वेद का कथन है कि वाक्तत्त्व को प्रेरणा देने वाला मर्त्य अर्थात् क्षर-तत्त्व नहीं है, वह अमर्त्य, अविनाशी और अक्षर तत्त्व है, वह रयितत्त्व को वश में किए हुए है। (रयितत्त्व की विशेष व्याख्या प्रश्नोपनिषद् प्रश्न १ में की गई है।)

इयर्ति वाचं रयिषाडमर्त्यः॥ ऋग्० ६,६८,८

व्याकरण और भाषाशास्त्र का संस्करण—वाक्तत्त्व जो कि सहस्रों धाराओं में अर्थात् सहस्रों भाषाओं और उपभाषाओं के रूप में सर्वत्र व्यापक है, प्रचलित है। उसमें मौलिक रूप से पवित्रता है, पावनता है, संस्कृति है और संस्कार है, अतएव उसमें जो असंस्कृत अंश आ जाता है उसको प्रतिभा-सम्पन्न कवि अर्थात् क्रान्तदर्शी विद्वान्, वैयाकरण, कवि आदि दूर करके भाषाशास्त्र को संस्कृत और पवित्र बनाये रखते हैं।

सहस्रधारे वितते पवित्र आ वाचं पुनन्ति कवयो मनीषिणः।

ऋग्० ६,७३,७

ऋग्वेद में आगे शब्दतत्त्व को हरि अर्थात् विष्णु बताते हुए कहा गया है कि वह सहस्रों धाराओं वाला है और उन सहस्रों धाराओं से (सहस्रों भाषाओं से) वह सिक्त होता रहता है अर्थात् समृद्ध किया जाता है। वह वाक्तत्त्व को पवित्र करता रहता है।

सहस्रधारः परि षिच्यते हरिः पुनानो वाचम्०। ऋग्० ६, ८६,३३

वेद ने सोमतत्त्व की व्याख्या में कहा है कि वह वाक्तत्त्व को कवियों की बुद्धि से अर्थात् भाषाशास्त्रियों की प्रतिभा के माध्यम से प्रेरित करता है और समृद्ध करता है।

हिन्वानो वाचं मतिभिः कवीनाम्। ऋग्० ६, ६७,३२

वाक्तत्त्व से वाक्तत्त्व का उद्धार—आंगिरस कृष्ण ने इन्द्र देवता के मन्त्र में कहा है कि हे विद्वज्जनों! वाक्तत्त्व के आश्रय से वाक्तत्त्व को पार करो। इसका अभिप्राय यह है कि प्रतिभा ही ब्रह्मतत्त्व के उद्धार का साधन है और उसी से मनुष्य भवसिन्धु को पार करता है। इस भाव के समान ही गीता में कृष्ण ने कहा है कि आत्मशक्ति के आश्रय से ही अपनी आत्मा का उद्धार करना चाहिए, आत्मतत्त्व का कभी ह्रास न होने दे, क्योंकि आत्मा ही आत्मा (अपने आप) का बन्धु है और वही आत्मा का दुरुपयोग करने पर आत्मा (अपने आप) का शत्रु हो जाता है।

वाचा विप्रास्तरत वाचम्। ऋग्० १०, ४२, १
उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः॥ गीता ६, ५

वाक्तत्त्व और प्रतिभा – ऋग्वेद में प्राजापत्य पतंग ऋषि ने मायाभेद की व्याख्या में कहा है कि पतंग अर्थात् सूर्य (ब्रह्मतत्त्व, अक्षरतत्त्व) मनस्तत्त्व के द्वारा वाक्तत्त्व को सम्पुष्ट करता है। गन्धर्व उसको अन्तःकरण में प्रकट करता है, वाक्तत्त्व तेजोमय है, वह आनन्दमय है, वह मनीषा है अर्थात् प्रतिभातत्त्व है। क्रान्तदर्शी विद्वान् उसकी ऋत के स्थान में अर्थात् अक्षरतत्त्व में रक्षा करते हैं, सम्पुष्ट करते हैं।

पतंगो वाचं मनसा बिभर्ति तां गन्धर्वोऽवदद् गर्भे अन्तः।
तां द्योतमानां स्वर्यं मनीषामृतस्य पदे कवयो नि पान्ति॥

ऋग् १०, १७७,२

वाक्तत्त्व दोषों का संहारक—अक्षरतत्त्व की सिद्धि का फल बताते हुए ऋग्वेद में कहा गया है कि इन्द्र वाक्शक्ति से सहस्रों असंस्कृत वाणी बोलने वाले, अपशब्दों (अपभ्रंशों) का प्रयोग करने वाले अपवित्रात्माओं का संहार करता है। यही उसका पुरुषत्त्व, पुरुषार्थ है। अतएव उसकी उपासना की जाती है। इसका अभिप्राय यह है कि आत्मतत्त्व, वाक्तत्त्व के आश्रय से उसको शक्तिरूप में लेकर वाक्तत्त्व के ह्रास करने वाले तथा इसका दुरुपयोग करने वालों का संहार करता है। यही आत्मतत्त्व का पुरुषार्थ है।

यो वाचा विवाचो मृध्रवाचः पुरू सहस्राशिवा जघान।
तत्तदिदस्य पौंस्यं गृणीमसि पितेव यस्तविषीं वावृधे श्वः॥

ऋग्० १०, २३, ५,

यजुर्वेद में वाक्तत्त्व के गुणों का वर्णन—यजुर्वेद ने वाक्तत्त्व के विभिन्न गुणों पर प्रकाश डाला है। यजुर्वेद का कथन है कि वाक्तत्त्व समुद्र है अर्थात् समुद्रवत् अक्षय भंडार, अगाध और दुर्बोध है, वह सर्वव्यापक है। वह अनादि और अक्षर है, वह एकतत्त्व है। वह ऐन्द्र अर्थात् इन्द्रशक्ति-सम्पन्न है, वह सदस् है, आधारभूत है और उसके कारण मनुष्य में सदस्यता, सभ्यता, शिष्टता आदि की स्थिति है, वह ऋततत्त्व का अर्थात् ब्रह्मतत्त्व का (शतपथ ब्रा० ४, १, ४, १०) प्राण और अपानरूप से द्वार है। वह देवयानमार्ग अर्थात् राजयोग मार्ग एवं सन्मार्ग पर चलने वालों के मार्ग का रक्षक, विघ्ननिवारक है।

समुद्रोऽसि विश्वव्यचा अजोऽस्येकपादहिरसि बुध्न्यो वागस्यैन्द्रमसि सदोऽस्यृतस्य द्वारौ। यजु० ५, ३३

वाक्तत्त्व के प्रतिभा रूप का गुण-विश्लेषण करते हुए कहा गया है कि वह चेतनतत्त्व है, बुद्धितत्त्व है, यज्ञिय है, अविनाशी है और दोनों ओर सिरवाला है अर्थात् द्विविधगुण सम्पन्न है। स्फोट और ध्वनि दोनों गुणों से युक्त है।

चिदसि मनासि धीरसि दक्षिणासि क्षत्रियासि यज्ञियास्यदितिरस्युभयतः शीर्ष्णी। यजु० ४, १९

वाक्तत्त्व विश्वकर्माऋषि है—यजुर्वेद १३, ५८ में वाक्तत्त्व को विश्वकर्मा ऋषि कहा गया है। शतपथ ब्राह्मण ने इसकी व्याख्या में कहा है कि वाक्तत्त्व को विश्वकर्मा ऋषि इसलिए कहते हैं, क्योंकि वाक्तत्त्व के द्वारा ही यह सब कुछ किया गया है अर्थात् वाक्तत्त्व के द्वारा ही सारे संसार की सृष्टि हुई है।

वाग्वै विश्वकर्मऽर्षिः (यजु० १३,५८) वाचा हीदꣳसर्वं कृतम्। शतपथ ब्रा० ८, १, २, ६

अथर्ववेद और वाक्तत्त्व का विवेचन—अथर्ववेद का कथन है कि शब्द-ब्रह्म त्रिपाद् है अर्थात् वैखरी, मध्यमा और पश्यन्ती तीन पदों वाला है। वह ब्रह्म नाना रूपों को धारण करके प्रतिष्ठित है, उसी से दिशाओं और उपदिशाओं में व्याप्त समस्त जगत् जीवित है।

त्रिपाद् ब्रह्मपुरुरूपं वि तष्ठे तेन जीवन्ति प्रदिशश्चतस्रः।
अथर्व० ६, १०, १६

विद्युत वाक्तत्त्व है—अथर्ववेद में विद्युत को वाक्तत्त्व बताया है और कहा है कि वह द्युलोक और पृथ्वी में शक्ति का आधान करता है। उसी से समस्त पशुओं में जीवनशक्ति है, वही बल और अन्न को परिपुष्ट करती है।

स्तनयित्नुस्ते वाक् प्रजापते वृषा शुष्मं क्षिपसि भूम्यां दिवि।
तां पशव उप जीवन्ति सर्वे तेनो सेषमूर्जं पिपर्ति॥
अथर्व० ६, १, २०

वाक्तत्त्व से दैवी और आसुरी सृष्टि—वाक्तत्त्व को अथर्ववेद ने परमेष्ठी प्रजापति का स्वरूप माना है, उसको दैवी बताते हुए कहा है कि वह ब्रह्मतत्त्व के द्वारा सुतीक्ष्ण होती है, उसी के द्वारा शांत और घोर अर्थात् दैवी और आसुरी समस्त सृष्टि होती है।

इयं या परमेष्ठिनी वाग् देवी ब्रह्म-संशिता।
ययव ससृजे घोरं तयैव शान्तिरस्तु नः।
अथर्व० १६, ६, ३

वाक्तत्त्व का विराट रूप—अथर्ववेद ने काण्ड ६ के सातवें सूक्त में २६ मन्त्रों में वाक्तत्त्व के विराट् रूप का बहुत विस्तृत रूप में वर्णन किया है। वेद का कथन है कि प्रजापति और परमेष्ठी उसके दो सींग हैं। इन्द्र उसका सिर है, अग्नि ललाट है, यम उसकी गर्दन है, सोमतत्त्व उसका मस्तिष्क है, द्युलोक ऊपर का ओष्ठ है और पृथिवी अधरोष्ठ है, विद्युत जिह्वा है, मरुत् दाँत हैं, धर्म उसका वाहन है, विश्व उसकी प्राणवायु है, मित्र और वरुण उसके कन्धे हैं, महादेव उसकी भुजाएँ हैं आदि। वह प्रजापति रूप में सर्वत्र व्याप्त है, उसी के ही ये सारे रूप हैं, वही विश्वरूप है, वही सर्वरूप है और वही शब्दब्रह्मरूप है। (अथर्व०६, ७, १—२६)

एतद् वै विश्वरूपं सर्वरूपं गोरूपम्। अथर्व० ६, ७, २५

वाक्तत्त्व और ब्रह्मगवी—अथर्ववेद ने काण्ड १२, सूक्त ५ के ७३ मन्त्रों में ब्रह्मगवी का विभिन्न दृष्टिकोण से विवेचन किया है; जैसे ब्रह्मगवी की सृष्टि, उसकी प्रतिष्ठा, ब्रह्मगवी का गुण-गौरव, उसकी प्राप्ति के साधन। श्रद्धा और दीक्षा उसके बलात्कार द्वारा अपहरण का परिणाम सर्वनाश और विनाश, उसकी दुष्प्राप्यता और दुःसाध्यता, आदि।

ब्रह्मगवी (प्रतिभा, ब्रह्मविद्या, वाक्तत्त्व) के विषय में कहा है कि श्रम और तपस्या के द्वारा उसकी सृष्टि हुई है, ब्रह्म ने ही उसका ज्ञान पाया है, वह ऋत में स्थित है, सत्य के द्वारा आवृत है, श्री से ढकी हुई है, यश से घिरी हुई है, स्वधा से परिधानयुक्त है, श्रद्धा से ढोई गई है, दीक्षा के द्वारा गुप्त और सुरक्षित की गई है।

श्रमेण तपसा सृष्टा ब्रह्मणा वित्तर्ते श्रिता।
सत्येनावृता श्रिया प्रावृता यशसा परिवृता
स्वधया परिहिता श्रद्धया पर्यूढा दीक्षया गुता०
अथर्व० १२, ५, १ - ३

ब्राह्मण ग्रन्थ और अर्थ-विज्ञान—वेद में अर्थतत्त्व के विषय में जिन भावों का उल्लेख किया गया है ब्राह्मण ग्रन्थों में उन्हीं भावों का विशद विवेचन किया गया है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने अर्थतत्त्व के कतिपय गूढ एवं जटिल भावों को स्पष्ट करने के लिए आख्यानों और उपाख्यानों का आश्रय लिया है और आख्यानक के द्वारा मौलिक एवं रहस्यात्मक भावों को अभिव्यक्त किया है। व्यास ने अतएव महाभारत में कहा है कि:—

इतिहास पुराणाभ्यां वेदार्थमुपबृंहयेत्। (महा० आदिपर्व)

इतिहास अर्थात् आख्यानक एवं पुराणों से वेद के अर्थतत्त्व को विकसित करना चाहिए।

ब्राह्मण और स्फोटवाद—वेद ने वाक्तत्त्व को ब्रह्म कहकर उसकी व्याख्या की है, वैयाकरणों ने उसको और स्पष्ट करने के लिए स्फोट सिद्धान्त की सिद्धि करके ब्रह्मतत्त्व की स्थापना की है। ब्राह्मण ग्रन्थों ने स्फोटसिद्धान्त की व्याख्या वाक्तत्त्व को ब्रह्म कहकर की है। ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण, गोपथ, तैत्तिरीय, षड्विंश आदि ने वाक्तत्त्व को कहा है कि वाक् ही ब्रह्म है। जैमिनीय ब्राह्मण का कथन है कि जिसको हम वाक् कहते हैं, वह ब्रह्म ही है। तैत्तिरीय ब्राह्मण का कथन है कि ब्रह्म ही वाक्तत्त्व का परमतत्त्व है। ऐतरेय ने वाक्तत्त्व को दो भागों में रखकर कहा है कि वाक् ब्रह्म और सुब्रह्म दोनों है, इसीलिए उसको सुब्रह्मण्य नाम दिया है।

वाग्वै ब्रह्म। ऐ० ६,३, श० २,१,४,१०

वाग्ब्रह्म। गो० पू० २,१०
सा या सा वाग् ब्रह्मैव तत्। जै० उ० २,१३,२
ब्रह्मैव वाचः परमं व्योम। तै० ३,६,५,५
वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म चेति। ऐ० ६,३
वाग्वै सुब्रह्मण्या। ऐ० ६,३

ब्रह्मतत्त्व से अर्थतत्त्व का विकास--भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व से समस्त अर्थ-तत्त्व अर्थात् समस्त पदार्थात्मक जगत् की सृष्टि मानी है, उसके स्पष्टीकरण में हेलाराज ने श्रुति का वचन उद्धृत किया है कि यह समस्त ब्रह्मांड स्फोटरूप शब्दतत्त्व का ही परिणाम है, उसका ही विकास है। शब्दतत्त्व ही शब्दशक्ति के रूप में सृष्टि को निबद्ध और सम्बद्ध किए हुए है। वही सृष्टि में सम्बन्ध है। शब्द की मात्राओं से अर्थात् मूल प्रकृति के प्रतिभातत्त्व से सृष्टि प्रकाशावस्था में आती है, प्रत्यक्ष का विषय होती है। प्रलयावस्था में यह समस्त अर्थतत्त्व उसी शब्दतत्त्व में लीन हो जाता है।

ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते ॥ वाक्य० १,१

हेलाराज ने वाक्य० १,८ की व्याख्या में अन्य श्रुतिवचन उद्धृत किया है कि नित्य और अनित्य जितना भी अर्थतत्त्व है वह सब शब्द की मात्राओं अर्थात् सूक्ष्म शक्तियों से उत्पन्न हुआ है, उनमें रूपवान् और रूपरहित अर्थात् साकार और निराकार, दृश्य और अदृश्य, प्रत्यक्ष और परोक्ष, मूर्त और अमूर्त, भाव और अभाव, तथा सूक्ष्म और स्थूल समस्त विश्व संश्लिष्ट है, अभिन्न रूप से सम्बद्ध है।

नित्याश्चानित्याश्च मात्रायोनयः यासु रूपि चारूपि च सूक्ष्मं च स्थूलं चेदं भुवनं विषक्तमिति। वाक्य० १, ८

काठकसंहिता १२, ५, २७ तथा ताण्ड्यमहाब्राह्मण २०, १४,२ में वाक्तत्त्व से ही सृष्टि की उत्पत्ति का उल्लेख किया गया है।[1] ऐतरेय ब्राह्मण ने अतएव वाक्तत्त्व को अर्थतत्त्व का मूलकारण कहा है।

वाग्योनिः। ऐ० २, ३८

भर्तृहरि ने वेद और ब्राह्मणादि के मन्तव्य को उद्धृत करते हुए कहा है कि

---

१. प्रजापतिर्वा इदमेकं आसीत्तस्य वागेव स्वमासीद् वाग् द्वितीया स ऐक्षत०। काठकसंहिता १२, ५, २७।

प्रजापतिर्वा इदमासीत्तस्य वाग् द्वितीयासीत् तां मिथुनं समभवत्, सा गर्भमधत्त, सास्माद्‌पाक्रामत्सेमाः प्रजा असृजत। ताण्ड्य० २०. १४ २.

यह विश्व शब्दतत्त्व का ही परिणाम है। संसार सर्वप्रथम छन्दों से अर्थात् प्रतिभा-तत्त्व से, स्फोटतत्त्व से ही विकसित होता है।

> शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
> छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत ॥ वाक्य० १, १२१

हेलाराज ने इसकी व्याख्या में ऋग्वेद का मन्त्र उद्धृत करते हुए लिखा है कि वाक्तत्त्व से ही समस्त विश्व की उत्पत्ति होती है। अमृत और मर्त्य अर्थात् देव और मनुष्य, अक्षर और क्षर, नित्य और अनित्य, अपरिणामी और परिणामी, अविनाशी और विनाशी सब कुछ वाक्तत्त्व से ही समुद्भूत है। (देखो, ब्रह्मसूत्र शांकरभाष्य १, ३, २८)।

> वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे,
> वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्। वाक्य० १, १२१

आधुनिक विज्ञान और स्फोटवाद की सिद्धि—आधुनिक विज्ञान ने गहन अन्वेषण के पश्चात् स्फोट सिद्धान्त को सत्य सिद्ध किया है। डा० ओस्कर ब्रनलर के अन्वेषण का उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। आधुनिक वैज्ञानिकों ने जो नवीन अन्वेषण किया है वह यह है कि विश्व के व्यापक अन्तरिक्ष में प्रतिक्षण स्फोट प्रवाहित हो रहा है, जिसका परिणाम यह है कि प्रतिक्षण नये नये सौर-मंडल उत्पन्न हो रहे हैं। असंख्यों सूर्य, महासूर्य, ग्रह और उपग्रह प्रतिक्षण उत्पन्न हो रहे हैं और दृष्टिगोचर होते जा रहे हैं। उनका कथन है कि हमारे सौर मंडल के सदृश्य ही लाखों और सौर मंडल पहले से विद्यमान हैं। हमारी पृथ्वी जैसे ग्रह बहुत ही साधारण है। इनमें से यह प्रत्यक्ष किया गया है कि बहुसंख्यक युग्म (जोड़े) हैं। आकाशगंगा के १ खरब तारों में से लगभग एक चौथाई युग्म हैं। नेशनल एकेडमी ऑव साइन्स के वार्षिक अधिवेशन में शिकागो (अमेरिका) यूनिवर्सिटी की वेधशाला के अध्यक्ष डा० ओटो स्ट्रुवे, केलिफोर्निया की विश्वविख्यात वेधशालाओं माउन्ट विल्सन और पालोमार के डा० पाल और हार्वर्ड यूनिवर्सिटी (अमेरिका) के डा० बार्ट जे बोक, इन तीन ज्योतिर्विशारदों ने अपने अनुसंधानों का उपर्युक्त फल सुनाते हुए कहा है कि कितने ही नक्षत्रों का जन्म हुए केवल एक करोड़ वर्ष ही हुए हैं। डा० स्ट्रुवे ने कहा है कि ग्रहों की सृष्टि बहुत ही साधारण कार्य है। उन्होंने वैज्ञानिकों का ध्यान इस ओर आकृष्ट किया है कि नक्षत्रों में विकास प्रकाश के कारण ही होता है। (अमृत बाजार पत्रिका, १५ जून ४६, पृष्ठ ४ पर उद्धृत)

स्फोट ही सर्वोत्तम ज्योति और प्रकाश है—हेलाराज ने श्रुति का वचन उद्धृत किया है कि सृष्टि में तीन ज्योतियां हैं, तीन प्रकाश हैं, (१) जो यह जातवेदा अर्थात् अग्नि है। समस्त आग्नेय तत्त्व को जातवेदस् कहा जाता है, यास्क ने

निरुक्त ७, १६, २० में जातवेदस् की विस्तृत व्याख्या की है और कहा है कि सूर्य और विद्युभती जातवेदस् हैं, (२) जो पुरुषों में आभ्यंतर प्रकाश है अर्थात् अंतरात्मा, जीवात्मा, (३) जो इन दोनों प्रकाशों को प्रकाशित करने वाला है, जिसको शब्दब्रह्म नामक प्रकाश कहते हैं अर्थात् जो स्फोट रूप शब्द है और जिसे वैयाकरण वाक्यस्फोट कहते हैं, वह प्रकाश सबसे उत्तम प्रकाश है, सबसे उत्तम ज्योति है, उसी में स्थावर और जंगम जगत् निबद्ध और सम्बद्ध है।

त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशा योयं जातवेदा यश्चपुरुषेष्वान्तरः प्रकाशः यश्च प्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः, तत्रैनत् सर्वमुपनिबद्धं यावतस्थास्नु चरिष्णु च। वाक्य० १, १२

इसीलिए श्रुति का कथन है कि वह सारे शब्दों और अर्थतत्त्वों का कारण-रूप मूल-प्रकृति है।

स हि सर्वशब्दार्थप्रकृतिः (वाक्य० १, १०, में उद्धृत)

वाक् मूलकारण है भर्तृहरि ने वाक्य, १, १२७ – १२८ में अतएव कहा है कि जीवों में यही चेतना है, यह बाहर और अन्दर सर्वत्र व्याप्त है, कोई भी ऐसा प्राणी नहीं है जिसमें यह चेतना व्याप्त न हो। वाक्तत्त्व ही समस्त प्राणियों को अर्थतत्त्व में प्रवृत्त करता है, यदि वाक्तत्त्व न हो तो संसार में चेतनता ही नहीं रहेगी। हेलाराज ने इसकी व्याख्या में श्रुतिवचन उद्धृत किया है कि वाक्तत्त्व ही विभिन्न भेदों और विभिन्न सम्बन्धों के परिणामस्वरूप आकार, रूप और शरीर आदि को धारण करता है। अतएव समस्त शास्त्रों में, सारी विद्याओं में वाक्तत्त्व को ही परमप्रकृति अर्थात् मूल-प्रकृति, मूल-कारण कहा गया है।

भेदोद्ग्राहविवर्तेन लब्धाकारपरिग्रहा।
आम्नाता सर्वविद्यासु वागेव प्रकृतिः परा॥ वाक्य० १, १२८

प्रतिभा ही एक तत्त्व है, वही आत्मा है—भर्तृहरि ने वाक्य० १, ११६ में में कहा है कि शब्दों में ही एक शक्ति है कि वह इस विश्व को एक सूत्र में बांधे हुए हैं। इसमें जो भेद किया जाता है, वह शब्द और अर्थ का भेद है। वस्तुतः एक ही तत्त्व है, भेद प्रातिभासिक है, शब्द नेत्र है, और प्रतिभा आत्मा है, यही शब्द और अर्थ में भेद है। हेलाराज ने इसकी व्याख्या में श्रुति का वचन दिया है कि वाक्तत्त्व (प्रतिभा) ही अर्थतत्त्व का साक्षात्कार करती है, वही भाषण-शक्ति है, वही अन्तरात्मा में निहित अर्थतत्त्व को विस्तृत करती है। प्रतिभा के द्वारा ही नाना रूपों वाला संसार अनेकों प्रकार से सम्बद्ध है। उस एक प्रतिभातत्त्व का ही विभाजन, विवेचन, विश्लेषण करके उपभोग किया जाता है।

वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं सन्निहितं संतनोति ।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुङ्क्ते ॥
वाक्य०, १, ११६ में उद्धृत

शब्द और अर्थ में अभिन्नता—हेलाराज ने (वाक्य० १, १) तथा नागेश ने मंजूषा (पृ० ५०) में श्रुतिवचन उद्धृत किया है कि शब्दतत्त्व अत्यन्त सूक्ष्म है, अर्थतत्त्व से अभिन्न है, तात्त्विक दृष्टि से उसका अर्थ-तत्त्व से विभाग नहीं किया जा सकता है, वह एक है, अद्वैत है, वह सर्वदा सर्वत्र प्रवाहित हो रहा है, वह पवित्र है, नानारूपों वाला है, वह अन्तरात्मा में प्रविष्ट है, उसको कतिपय आचार्य पृथक् भी मानते हैं।

सूक्ष्मामार्थेनाप्रविभक्ततत्त्वामेकां वाचमभिष्यन्दमानाम् ।
उतान्ये विदुरन्यामिव च पूतां नानारूपामात्मनि संनिविष्टाम् ॥
वाक्य०, १, १

हेलाराज ने शब्दतत्त्व की सूक्ष्मता के कारण ही लिखा है कि वाक्तत्त्व सूक्ष्म और नित्य है, वह इन्द्रियों की शक्ति से परे है, उसका साक्षात्कार साक्षात्कृतधर्मा (आत्मसाक्षात्कार करने वाले) मन्त्र-द्रष्टा ऋषि ही कर पाते हैं।

यां सूक्ष्मां नित्यामतीन्द्रियां वाचमृषयः साक्षात्कृतधर्माणो मन्त्रदृशः
पश्यन्ति (हेलाराज वाक्य०, १, ५)

वाक् कामधेनु है—ताण्ड्य महाब्राह्मण ने वाक्तत्त्व को शबली कहा है। सायण ने उसको स्पष्ट करते हुये वाक्तत्त्व को कामधेनु कहा है, गोपथ ने भी उसको धेनु कहा है। (गो० पु० २, २१)। शतपथ० ने कामधेनु बताकर उसको उपासनीय बताया है और शतपथ० १४, ८, ९, १ में इसकी विशेष विस्तार से व्याख्या की है और कहा है कि इस धेनु का प्राण वृषभ है अर्थात् प्राण वाक्तत्त्व में बीजशक्ति को प्रदान करता है। मनस्तत्त्व उसका वत्स है अर्थात् वाक्तत्त्व से मनस्तत्त्व की उत्पत्ति होती है और मनस्तत्त्व मातृस्वरूप वाक्धेनु के गुण-दुग्ध का सदा आस्वादन करता है।

वाग्वै शबली (कामधेनुः इति सायणः) तां० २१, ३१।
वाचंधेनुमुपासीत० तस्याः प्राण ऋषभो मनो वत्सः।
श० १४, ८, ९, १

वाक् ही सरस्वती है—ऐतरेय० ३, १, कौषीतकि० ५, २, ताण्ड्य० ६, ७, ७, शतपथ० २, ५, ४, ६, तैत्तिरीय० १, ३, ४, ५, गोपथ उ० १ २० आदि। ब्राह्मणों ने वाक्तत्त्व को ही सरस्वती कहकर उसको वाग्देवी के रूप में उसके गुणानुरूप प्रतिष्ठित किया है।

वाक् तु सरस्वती। ऐ०,३,१
वाग्वै सरस्वती। कौ० ५, २

वाक् अक्षय समुद्र है—ऐतरेय ब्राह्मण ने ऋग्वेद ४, ५८, १ की व्याख्या में कहा है कि वाक्तत्त्व स्वयं समुद्र है। वाक्तत्त्व कभी भी क्षय नहीं होता है, न समुद्र कभी समाप्त होता है और नहीं वाक्तत्त्व। ताण्ड्य महाब्राह्मण ने कहा है कि वाक् समुद्र है और मन उस समुद्र की चक्षु है अर्थात् अगाध वाक्तत्त्व में मनस्तत्त्व ही वह नेत्र है जो कि प्रकाशस्तम्भ का कार्य देता है और जिसके आश्रय से उस समुद्र की यात्रा करना सम्भव है।

वाग्वै समुद्रो न वै वाक् क्षीयते न समुद्रः क्षीयते। ऐ० ५, १६
वाग्वै समुद्रो मनः समुद्रस्य चक्षुः। तां० ६, ४, ७

वाक् ब्रह्म की माया है—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व को ब्रह्म की माया बताते हुये सुपर्णी कहा है। यह वाक्तत्त्व की ही माया है जो सृष्टि को माया-जाल में फँसाये हुये है।

वागेव सुपर्णी (माया)। शत० ३, ६, २, २

शतपथ ब्राह्मण ने यजु० ११, ६१, तथा १३, ५८ की व्याख्या में कहा है कि वाक्तत्त्व ही बुद्धि-तत्त्व है, मति है।

यह वाक्तत्त्व ही है जिसके आश्रय से सारा संसार मनन करता है और जिसकी सत्ता से मननशक्ति की सत्ता है।

वाग्वै मतिः। वाचा हीदं सर्वं मनुते। श० ८, १, २, ७

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व को ही बृहस्पति कहा है, क्योंकि यह बृहत् अर्थात् महत्तत्त्व का पालक है, संरक्षक है। (देखो बृहदारण्यक उपनिषद् १, ३, २०)

यदस्यै वाचो बृहत्यै पतिस्तस्माद् बृहस्पति। जै० उ० २,२,५

वाक् का विराट् रूप—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व को ही ब्रह्म का विराट्-रूप बताया है। समस्त ब्रह्माण्ड वाक्तत्त्व का ही विराटरूप है, जिसको वैयाकरण वाक्य और स्फोट कहते हैं। (देखो छान्दोग्य उपनिषद् १, १३)

वाग्वै विराट्। श० ३,५,१,३४

वाक्तत्त्व ही वेद है—उस विराट्रूप का ही फल यह है कि संसार में ज्ञान है। यह वाक्तत्त्व ही है जिसको वेद के रूप में ऋषियों ने रक्खा है। सारे वेद एक वाक्तत्त्व के ही रूप हैं, अतएव शतपथ ने कहा है कि ऋग्वेद और सामवेद वाक्तत्त्व की ही व्याख्या हैं और यजुर्वेद मनस्तत्त्व की व्याख्या है। वाक्तत्त्व, प्राणतत्त्व और मनस्-तत्त्व इनकी व्याख्या ही वेद है।

वागेवऽर्थश्च सामानि च। मन एव यजूंषि०। श० ४,६,७,५

वाक् वैद्युततत्त्व है—ऐतरेय ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व के गुणों को ध्यान में रखते हुए यह कहा है कि वह सृष्टि में ऐन्द्र तत्त्व अर्थात् वैद्युततत्त्व है, विद्युत्-ज्योति वाक्तत्त्व का ही फल है। कौषीतकि ब्राह्मण ने भी इस कथन की सम्पुष्टि की है।

वाग्घ्यैन्द्री। ऐ० २,२६
वाग्वा इन्द्रः। कौ० २,७

वाक् आग्नेय तत्त्व है—जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण २, २, १, गोपथ उ० ४, ११ तथा शतपथ ब्राह्मण ने प्रतिपादित किया है कि वाक्तत्त्व ही सृष्टि में अग्नि-तत्त्व है। इसका परिणाम यह होता है कि प्रत्येक परमाणु में प्रत्येक अर्थ में प्रकाश है, ज्योति है तथा स्फोट है।

या वाक् सोऽग्निः। गो० उ० ४, ११
वागेवाग्निः। श० ३, २, २, १३

वाक् और मन का युग्म—ऐतरेय ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व को देवों का युग्म बताया है। ये दोनों अविनाभाव से रहने वाले युगल हैं। न वाक्तत्त्व के अभाव में मनस्तत्त्व रह सकता है और न मनस्तत्त्व के अभाव में वाक्तत्त्व। अतएव जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण ने कहा है कि वाक्तत्त्व मनस्तत्त्व की कुल्या (नहर) है। मनस्तत्त्व अर्थात् मनोगत भाव वाक्तत्त्व की सहायता से ही अभिव्यक्त किए जाते हैं।

वाक् च मनश्च देवानां मिथुनम्। ऐ० ५,२३
तस्य (मनसः) एषा कुल्या यद् वाक्। जै० उ० १,५८,३

वाक् और प्राण का युगल—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व और प्राणतत्त्व को युगल बताया है। वाक्तत्त्व के बिना प्राणतत्त्व नहीं रह सकता है और न ही प्राणतत्त्व के बिना वाक्तत्त्व। अतएव षड्विंश ब्राह्मण २, ६, में वाक्तत्त्व को प्राणतत्त्व की पत्नी कहा है। शतपथ ने प्राण को वसिष्ठ कहा है और वाक् को वसिष्ठा बताते हुए कहा है कि वाक् ने प्राण से कहा कि मैं वसिष्ठा हूँ और तू मेरा पति वसिष्ठ। जै० उ० १, १, ७ ने अतएव कहा है कि वाक्तत्त्व का सारा अंश प्राण है। (देखो बृहदा० उ० ६, १)

वाक् च वै प्राणश्च मिथुनम्। श० १,४, १, २

सा ह वागुवाच (हे प्राण) यद्वा अहं वसिष्ठास्मि त्वं तद् वसिष्ठोऽसीति। श० १४, ९, २, १४

वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व की अभिन्नता—शतपथ ब्राह्मण ने वाक्तत्त्व को मनस्तत्त्व से सूक्ष्म और ह्रस्व बताया है। वाक्शक्ति मन की शक्ति से भी तीव्र है; अतएव यजु० ४०, ४ में (अनेजदेकं मनसो जवीयो०) कहा गया है कि वाक्-तत्त्व (ब्रह्म) मन से भी तीव्र गति वाला है। जैमिनीय उ० ब्रा० ने वाक् और मन के द्वैत-भाव को हटाकर प्रतिभा की एकता के आधार पर वाक्तत्त्व को ही मनस्तत्त्व कहा है और दोनों में अभिन्नता की सिद्धि की है। (देखो, छान्दो० उप० ६, ५—६)

वाग्वै मनसो ह्रसीयसी। श० १, ४, ४, ७
वागिति मनः। जै० उ० ४, २२, ११

वाक् ही सर्वदोष विनाशक है—शतपथ ने वाक्तत्त्व के एक विशेष गुण की ओर मुख्यरूप से ध्यान आकृष्ट किया है और जो मनोवैज्ञानिक तथा वैज्ञानिक अन्वेषणों और परीक्षणों से सिद्ध किया जा चुका है, वह है, वाक्तत्त्व के द्वारा समस्त दोषों एवं रोगों का निवारण। शतपथ का कथन है कि वाक्तत्त्व ही सर्वोत्तम औषध है। वही संजीवनी बूटी है, वही सर्वरोग-विनाशक रामबाण है। योग-साधनाओं आदि से सर्वरोग-निवारण वाक्शक्ति के द्वारा अनुभव-सिद्ध है। आत्म-चिकित्सा, प्राण-चिकित्सा, मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा, मनोबल से चिकित्सा, विचारशक्ति से स्वचिकित्सा आदि चिकित्साओं के भेद वाक्शक्ति से चिकित्सा के विभिन्न रूप और विभिन्न प्रकार हैं। अज्ञान, अविद्या आदि, जिनके कारण अर्थतत्त्व का ज्ञान नहीं होने पाता, सभी दोष हैं। इनकी एकमात्र चिकित्सा वाक्तत्त्व है।

वागु सर्वं भेषजम्। श० ७, २, ४, २८

उपनिषद् और अर्थविज्ञान

वेद और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में जो वाक्तत्त्व की व्याख्या की गई है वह अत्यन्त गम्भीर, सूक्ष्म, दार्शनिक और आध्यात्मिक है। उपनिषदों का विवेच्य विषय मुख्यरूप से आध्यात्मिक है, ब्रह्मतत्त्व की व्याख्या से सम्बद्ध है, अतः उपनिषदों में वाक्तत्त्व की व्याख्या बहुत विस्तार और ऊहापोह के साथ की है। उपनिषदों ने वेद और ब्राह्मणों के मौलिक भावों को ही स्पष्ट और विस्तृत किया है। अतः अनावश्यक विस्तार के भय से यहाँ पर उपनिषदों में विवेचित वाक्तत्त्व का विस्तार से उल्लेख नहीं किया गया है। उपनिषदों में सबसे अधिक विस्तार से इस विषय पर विशेष ऊहापोह के साथ बृहदारण्यक, छान्दोग्य और तैत्तिरीय उपनिषद् में विवेचन किया गया है, अन्य उपनिषदों में भी वाक्तत्त्व का पर्याप्त विवेचन किया गया है।

वाक् परब्रह्म है—बृहदारण्यक उपनिषद् ने वेदों के मन्तव्य को स्पष्ट शब्दों

में स्वीकार किया है कि वाक्तत्त्व ही सृष्टि का सम्राट् है, वही परब्रह्म है।

वाग्वै सम्राट् परमं ब्रह्म। बृ०. उ० ४, १

दो अक्षर और वाक्तत्त्व—श्वेताश्वतर उपनिषद् ने उल्लेख किया है कि सृष्टि में दो अक्षर हैं, वे ब्रह्मपरक हैं, अनन्त हैं, जिनमें विद्या और अविद्या दोनों ही निहित हैं। क्षर अंश का नाम अविद्या है, और अक्षर अमृत अंश का नाम विद्या है। जो इन दोनों विद्या अविद्या को वश में किए हुए है, वह इनसे पृथक् है और अक्षय विद्या का भी वही अक्षर है। गीता में इसी भाव को व्यक्त करते हुए कहा गया है कि संसार में दो पुरुष हैं एक क्षर और दूसरा अक्षर। सांख्य-दर्शन के पुरुष की व्याख्या के रूप में दो पुरुषों का उल्लेख किया गया है। समस्तभूत अर्थात् पंचतत्त्व क्षर पुरुष हैं। कूटस्थ पुरुष, आत्मपुरुष ही अक्षर पुरुष है, किन्तु इससे आगे सर्वोत्तम पुरुष इनसे पृथक् है और वह ही परमात्मा कहा जाता है, वही तीनों लोकों में प्रविष्ट होकर संसार का रक्षक है, क्षर और अक्षर से उत्तम होने के कारण उसको पुरुषोत्तम पुरुष कहा जाता है। वैयाकरणों ने उसे प्रथम पुरुष और मध्यम पुरुष के अतिरिक्त उत्तम पुरुष कहा है।

द्वे अक्षरे ब्रह्मपरे त्वनन्ते विद्याविद्ये निहिते यत्र गूढ़े।
क्षरं त्वविद्या ह्यमृतं तु विद्या विद्याविद्ये ईशते यस्तु सोऽन्यः॥
श्वेता० ५, १

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते॥
उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः। गीता १५, १६—१७

बृहदारण्यक उपनिषद् ने विद्युत्-तत्त्व, वायुतत्त्व आदि को वाक्तत्त्व ही बताते हुए कहा है कि जो विद्युत्रूप में चमकता है और गरजता है, जो वायुरूप में प्रवाहित होता है, जो मेघरूप में बरसता है, उनमें वाक्शक्ति ही शक्ति है। यह सब वाक्शक्ति का ही परिणाम है।

यद् विद्योतते यद् विधूनुते तत्स्तनयति यन्मेहति तद्वर्षति वागेवास्य वाक्।
बृहदा० उप० १,१

नारद को सनत्कुमार का वाक्तत्त्व-विषयक उपदेश—छान्दोग्य उपनिषद् के सप्तम अध्याय में नारद को उपदेश देते हुए सनत्कुमार ने कहा है कि यदि सृष्टि में वाक्तत्त्व न होता तो न धर्म और न अधर्म की व्यवस्था होती, न सत्य और असत्य की, न साधु और असाधु की, न सहृदय और असहृदय की, न चित्तज्ञ और अचित्तज्ञ की व्यवस्था होती और न उनका विवेचन होता। यह वाक्तत्त्व ही है जिससे यह सब विवेचन होता है। अतएव वाक्ब्रह्म की उपासना नारद को बताते हुए सनत्कुमार ने कहा है कि जो वाणी की ब्रह्म रूप से उपासना करता है उसका वाणी पर पूर्ण अधिकार होता और वाक्-ब्रह्म में जो शक्ति है, वह शक्ति और सिद्धि उसको प्राप्त होती है।

यद्वै वाङ् नाभविष्यन्न धर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्न सत्यं नानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञो नाहृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपास्स्वेति। स यो वाचं ब्रह्मेत्युपास्ते यावद्वाचो गतं तत्रास्य यथाकामचारो भवति।

छान्दो० उप० ७, १-२

वाक्तत्व ही पुरुष का सार है छान्दोग्य उपनिषद् ने बहुत सुन्दर शब्दों में कहा है कि पुरुष में वाक्तत्त्व ही सारभाग है, वाक्तत्त्व का सार ऋग्वेद है और ऋग्वेद का सारभाग सामवेद है और सामवेद का सारभाग उद्गीथ है। ओंकार अथवा ओम्, जिसको योगदर्शन ने प्रणव कहा है, उद्गीथ है। वह अक्षरतत्त्व ही ओम् है, जो कि उपासनीय है, ग्राह्य है और प्रत्यक्ष करने योग्य है।

ओमित्येतदक्षरमुद्गीथमुपासीत।

पुरुषस्य वाग् रसो वाच ऋग् रस ऋचः साम रसः साम्न उद्गीथो रसः। छान्दो० उप० १, १—२

वाक्तत्त्व और मनस्तत्त्व के समन्वय का सुन्दर उपदेश ऐतरेय उपनिषद् के मंगलाचरण और उपसंहार से प्राप्त होता है कि वाक्तत्त्व की मनस्तत्त्व में प्रतिष्ठा होनी चाहिये और मनस्तत्त्व की वाक्तत्त्व में।

वाङ् मे मनसि प्रतिष्ठिता मनो मे वाचि प्रतिष्ठितम्। ऐतरेय उप० १

स्फोटवाद और पञ्चकोश तथा उपसंहार

तैत्तिरीय उपनिषद् में पञ्चकोशों की व्याख्या विस्तार से की गई है। ब्रह्मानन्दवल्ली और भृगुवल्ली में पञ्चकोशों के क्रम से साधना करने से जो आत्मतत्त्व की सिद्धि प्राप्त होती है. उसका उल्लेख किया गया है। पाँच कोश निम्न हैं:—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय, और आनन्दमय। प्रत्येक को ब्रह्म बताकर उसका स्पष्टीकरण किया है। इनमें से उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। अन्नमय कोश से प्राणमय कोश सूक्ष्म है। प्राणमय कोश से मनोमय, मनोमय से विज्ञानमय और विज्ञानमय कोश से आनन्दमय कोश श्रेष्ठ है। आनन्दमय कोश के ज्ञान से ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति होती है। वैयाकरणों ने इस पञ्चकोश के भाव को, जैसी कि भट्टोजिदीक्षित एवं कौण्ड भट्ट ने वैयाकरणभूषण में और श्रीकृष्णभट्ट ने स्फोटचन्द्रिका में विस्तृत व्याख्या की है, स्फोटवाद से स्पष्ट किया है। उसका रूप निम्न है: वर्णस्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदवाक्यस्फोट और जातिस्फोट। वैयाकरणों के मतानुसार ये उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। वर्णस्फोट-सिद्धान्त अर्थात् वर्ण सार्थक हैं, इस सिद्धान्त की अपेक्षा पदस्फोट अर्थात् पद सार्थक हैं, वर्ण नहीं, यह सिद्धान्त श्रेष्ठ है। इससे भी वाक्यस्फोट का सिद्धान्त श्रेष्ठ है। वाक्य ही सार्थक है, न प्रत्येक वर्ण और न प्रत्येक पद। वैयाकरण वर्णस्फोट की अन्नमयकोश से तुलना करते हैं। पदस्फोट की प्राणमय कोश से और वाक्यस्फोट की मनोमयकोश

से; यहीं पर विचारों की इतिश्री नहीं हो जाती। वे अखण्ड अर्थात् अवयव-रहित अनेकता-रहित एक वाक्यस्फोट या पदस्फोट को श्रेष्ठ समझते हैं, खण्ड वाक्यस्फोट को नहीं। इस प्रकार से वे मनोमयकोश से आगे विज्ञानमय कोश की सिद्धि करते हैं, इससे भी आगे अखण्ड वाक्यस्फोट के साथ ही जातिवाक्यस्फोट को सिद्ध करते हैं। नित्य, निरञ्जन, अजर, अमर, अक्षर, वाक्यात्मक ब्रह्म की सिद्धि करते हैं। अखण्ड जातिवाक्यस्फोट मानने पर ब्रह्माण्ड को ब्रह्म का एक मूर्त्त शरीर समझा जाता है और सृष्टि में ब्रह्म को ही एकमात्र तत्त्व। ब्रह्म के अतिरिक्त किसी भी सत्ता को वे सत्य और नित्य नहीं मानते हैं। उपनिषदों ने आनन्दमयकोश की सिद्धि करके उस भाव को व्यक्त किया है। इनमें से पूर्व पूर्व स्फोट उत्तरोत्तर सिद्धि के सोपान हैं। वर्णज्ञान से पदज्ञान, पदज्ञान से वाक्यज्ञान, वाक्यज्ञान से अखण्ड-ज्ञान, अखण्डज्ञान से ब्रह्मज्ञान।

भट्टोजी दीक्षित ने पांच वृत्तियों का जो उल्लेख किया है, वह भी उक्त भाव को स्पष्ट करता है। पञ्चवृत्तियों का परिगणन योगदर्शन के अनुसार पांच वृत्तियों के परिगणन को लक्ष्य में रखकर किया गया है, (देखो योगदर्शन,समाधिपाद)। सांख्य सिद्धान्त के सत्त्व, रजस, तमस् तीन गुणों के अनुसार सात्त्विक, राजस और तामस तीन वृत्तियां हैं। पाणिनि के अनुसार कृत्, तद्धित और समास इन तीनों वृत्तियों के ही ज्ञान से संक्षेप में पांचों (कृत्, तद्धित, समास, एकशेष,सनाद्यन्त धातुरूप) वृत्तियों का संकलन हो जाता है। शब्द-नित्यतावाद को स्वीकार करने पर स्फोटवाद को भी तीन रूप में रखकर वर्णस्फोट, पदस्फोट और वाक्यस्फोट इन तीन पक्षों के विवेचन से ही स्फोट सिद्धान्त के पांच भेद और आठ भेद जो किये गये हैं, उनका संग्रह हो जाता है और शब्द-नित्यता के आधार पर ही समस्त दर्शनों आदि को तीन भागों में विभक्त कर दिया गया है, वर्णस्फोटवादी, पदस्फोटवादी और वाक्यस्फोटवादी। इस प्रकार समस्त विवेचन सम्पूर्ण किया जाता है।

अध्याय २

शब्द और अर्थ का स्वरूप

शब्द-ब्रह्म की व्यापकता - शब्दतत्त्व और अर्थविज्ञान के सूक्ष्मतत्त्वों का वेद, ब्राह्मण, उपनिषद् एवं निरुक्त में जो वर्णन मिलता है, उसका उल्लेख करते हुए यह लिखा गया है कि वेद ब्राह्मण आदि शब्द को ब्रह्म मानते हैं। वाक्शक्ति के द्वारा इस संसार की उत्पत्ति का वर्णन करते हैं। वेदादि में जो शब्दशक्ति या वाक्शक्ति का निरूपण मिलता है वह एकत्र और दार्शनिक विवेचन के रूप में संगृहीत नहीं मिलता है। वैयाकरणों ने उन शब्द और अर्थ सम्बन्धी तथ्यों को एकत्र करके दार्शनिक विवेचन द्वारा स्पष्ट किया है। पतञ्जलि ने जिसको दार्शनिक रूप दिया, उसको भर्तृहरि ने और तदनन्तर हेलाराज नागेश आदि ने अपने सुविशद विवेचन द्वारा व्याकरण दर्शन के पद पर प्रतिष्ठापित किया है। भर्तृहरि की विवेचन पद्धति सर्वथा दार्शनिक है। वाक्यपदीय में जो शब्द और अर्थ का विवेचन प्राप्त होता है, वह व्याकरण तक ही सीमित नहीं है। भर्तृहरि ने समस्त ग्रन्थ में तुलनात्मक विवेचन किया है। मीमांसा, न्याय आदि वैदिक दर्शनों तथा बौद्ध, जैन आदि अवैदिक दर्शनों का स्थल-स्थल पर निर्देश किया है और उनके सिद्धान्तों का व्याकरण दर्शन की दृष्टि से विवेचन और परीक्षण किया है। भर्तृहरि तुलनात्मक विवेचन और अध्ययन के महत्त्व पर लिखते हैं कि विभिन्न आगमों के सिद्धान्तों के पर्यालोचन से प्रज्ञा विवेक को प्राप्त होती है। अन्य शास्त्रीय सिद्धान्तों का आलोचन किए बिना केवल स्वशास्त्रीय तर्क से उन्नति नहीं हो सकती।

प्रज्ञा विवेकं लभते भिन्नैरागमदर्शनैः।
कियद् वा शक्यमुन्नेतुं स्वतर्कमनुधावता॥ वाक्य० २,४६२

पुण्यराज ने इसकी व्याख्या करते हुए तुलनात्मक अध्ययन और विवेचन की महत्ता का प्रतिपादन किया है और लिखा है कि असंदिग्ध रूप से स्व सिद्धान्तों को परिष्कृत करने की शक्ति विभिन्न शास्त्रों के दर्शन से प्राप्त होती है।

निःसंदिग्धं स्वसिद्धान्तमेव संपरिष्कर्तुं भिन्नागमदर्शनैः शक्तिर्जायते।

शब्द-विवर्तवाद और शब्द-परिणामवाद—भर्तृहरि ने अपने ग्रन्थ का प्रारम्भ शब्दब्रह्म के स्वरूप के वर्णन से ही किया है। शब्दब्रह्म आदि और

अन्त से रहित है, अक्षर है, उसका ही अर्थ रूप में विवर्त होता है, जिससे इस संसार का कार्य चलता है।

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः। वाक्य० १, १

शब्दब्रह्म का ही पारिभाषिक नाम स्फोट है। (मंजूषा० पृ० ३६०) वैयाकरण स्फोटवाद के समर्थक हैं। स्फोट अनादि, अनन्त, अक्षर है। उसका ही विवर्त अर्थ है। परिणाम और विवर्त दोनों शब्दों में पारिभाषिक अन्तर है। "विवर्त" अतात्विक ज्ञान (भ्रम, माया) को कहते है। यथा, शुक्ति में रजतबुद्धि विवर्त है। 'परिणाम' तात्त्विक विकार को कहते हैं, यथा दुग्ध का दधि रूप होना। भर्तृहरि अर्थ को शब्द का विवर्त मानते हैं। पुण्यराज ने बल दिया है कि भर्तृहरि का मन्तव्य पारिभाषिक विवर्त ही है और अर्थ को शब्द का विवर्त बताते हुए लिखा है कि एक ही वस्तु का अपने स्वरूप से च्युत न होते हुए भिन्न रूप में असत्य ज्ञान-विवर्त है, यथा, स्वप्नगत वस्तु-दर्शन।

एकस्य तत्त्वादप्रच्युतस्य भेदानुकारेणासत्या विभक्तान्यरूपोपग्राहिता विवर्तः। पुण्यराज, वाक्य० १, १
अतत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विवर्त इत्युदीरितः।
स तत्त्वतोऽन्यथाप्रथा विकार इत्युदीर्यते॥ वेदान्तसार।

विवर्त शब्द का प्रयोग साधारणतया संस्कृत साहित्य में पारिभाषिक अतात्विक विकार के अर्थ में नियमित न होकर परिणाम या विकार के अर्थ में भी प्राप्त होता है। भर्तृहरि ने उपर्युक्त श्लोक में विवर्त शब्द का प्रयोग किया है, परन्तु इसी भाव को व्यक्त करते हुए अन्यत्र परिणाम शब्द का प्रयोग किया।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः॥ वाक्य० १, १२०

शान्तरक्षित ने तत्त्वसंग्रह में भर्तृहरि के 'अनादिनिधनम्०' श्लोक का अनुवाद करते हुए विवर्त शब्द के स्थान पर परिणाम शब्द का प्रयोग किया है।

नाशोत्पादसमालीढं ब्रह्म शब्दमयं च यत्।
यत् तस्य परिणामोऽयं भावग्रामः प्रतीयते॥

जयन्त ने न्यायमञ्जरी में शब्दविवर्तवाद और शब्दपरिणामवाद दोनों का खण्डन किया है, इससे ज्ञात होता है कि यह दोनों ही वाद वैयाकरणों के अभिमत हैं। शब्दविवर्तवाद के अनुसार यह अर्थ रूप संसार शब्द का विवर्त अतात्त्विक रूप है। और शब्दपरिणामवाद के अनुसार यह अर्थ रूप संसार शब्द का परिणाम या विकार है। प्रथम मतानुसार अर्थ की सत्ता अवास्तविक है और द्वितीय मतानुसार यह वास्तविक है।

शब्दब्रह्म और सृष्टि—भर्तृहरि का कथन है कि शास्त्रज्ञों का मत है कि यह संसार शब्द का ही परिणाम स्वरूप है। सृष्टि के आदि में यह विश्व छन्दोमयी वाक् से ही विवर्त को प्राप्त हुआ है।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥ वाक्य० १, १२०।

श्रुति का कथन है कि वाक्शक्ति ही संसार को उत्पन्न करती है। वाणी से ही अविनाशशील और विनाशशील समस्त संसार की सृष्टि होती है।

वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे, वाच इत्सर्वममृतं यच्च मर्त्यम्।

भर्तृहरि शब्द की तीन अवस्थाओं को मानते हैं। पश्यन्ती, मध्यमा और वैखरी। नागेश ने जिसको चतुर्थ अवस्था अर्थात् 'परा' नाम दिया है उसको भर्तृहरि तृतीय अवस्था अर्थात् पश्यन्ती अवस्था मानते हैं उसी से इस संसार की सृष्टि होती है।

वैखर्या मध्यमायाश्च पश्यन्त्याश्चैतदद्भुतम्।
अनेकतीर्थभेदायास्त्रय्या वाचः परं पदम्॥ वाक्य० १,१४३

शिवदृष्टि ग्रन्थ का उद्धरण मिलता है जिसमें यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित है कि पश्यन्ती ही शब्दब्रह्म है, और उसी को परावाक् भी कहते हैं। वही अनादि और अक्षय है।

इत्याहुस्ते परं ब्रह्म यदनादि तथाऽक्षयम्।
तदक्षरं शब्दरूपं सा पश्यन्ती परा हि वाक्॥ वाक्य० १,१४३,
सूर्यनारायण शुक्ल की टीका।

भर्तृहरि के मतानुसार सृष्टि की उत्पत्ति का स्वरूप निम्न है। सृष्टि के आदि में अनादिनिधन, सर्वग्राह्य ग्राहकाकार वर्जित पश्यन्ती वाणीरूप शब्दब्रह्म रहता है। वह अपरिमित शक्तिशाली मायायुक्त होता हुआ प्रथम नामरूपात्मक समस्त प्रपंच को बुद्धि में स्थापित कर यह संकल्प करता है कि यह करूंगा। तब वह अपनी कला नामक स्वतन्त्र शक्ति से युक्त होकर आकाश आदि पंचतन्मात्राओं को उत्पन्न करता है, उससे पञ्चभूतों की सृष्टि होती है, और तदनन्तर समस्त सृष्टि का विस्तार होता है। सृष्टि का विकास शब्दब्रह्म से होता है और उसी में वह सृष्टि लीन होती है।

तथेदममृतं ब्रह्म निर्विकारमविद्यया।
कलुषत्वमिवापन्नं भेदरूपं विवर्तते॥
ब्रह्मेदं शब्दनिर्माणं शब्दशक्तिनिबन्धनम्।
विवृतं शब्दमात्राभ्यस्तास्वेव प्रविलीयते॥

परब्रह्म और शब्दब्रह्म—नागेश परब्रह्म और शब्दब्रह्म को एक नहीं मानते। शब्दब्रह्म की अक्षयनित्यता को न मानते हुए नागेश तान्त्रिक मत से विशेष प्रभावित हैं। वे शब्दब्रह्म का तान्त्रिक मतानुसार निरूपण लघुमंजूषा में करते हैं। शब्द-ब्रह्म की उत्पत्ति का वर्णन निम्नरूप से किया है। पृ० १६८-१७४

महाप्रलय के समय भुक्तभोग्य समस्त प्राणियों का माया में लय हो जाता है और माया चेतन ईश्वर में लीन हो जाती है। लय का अर्थ सर्वथा नाश और अप्रतीति नहीं है, अन्यथा सृष्टि की उत्पत्ति नहीं हो सकती। प्राणियों के कर्म जब अपरिपक्व अवस्था से कालवशात् परिपक्वावस्था को प्राप्त हो जाते हैं, तब उनको फलप्रदान करने के लिए परमात्मा की इच्छा जगत् की सृष्टि करने की होती है। यह जगत् की सिसृक्षात्मिका वृत्ति माया है। उस माया वृत्ति से बिन्दु रूपी अव्यक्त त्रिगुणात्मक (सत्वरजस्तमोगुणात्मक) उत्पन्न होता है। इसी को शक्ति तत्त्व कहते हैं। इसके तीन विभाग हुए बीज, नाद और बिन्दु। अचित् अंश बीज हुआ। चिदचिन्मिश्रित अंश नाद और चित् अंश बिन्दु हुआ। अचित् शब्द से शब्द और अर्थ दोनों के संस्काररूप अविद्या का ग्रहण है। इस बिन्दु से शब्दब्रह्म नामक, वर्णादि विशेष रहित, ज्ञानप्रधान, सृष्टि के उपयोगी अवस्था विशेष युक्त चेतना-मिश्रित नाद उत्पन्न होता है। यह जगत् की उत्पत्ति का उपा-दान कारण है, इसी को रव और परा आदि नामों से सम्बोधित किया जाता है। यह रव या परा नामक नाद ही शब्दब्रह्म नाम से सम्बोधित किया जाता है।

बिन्दोस्तस्माद् भिद्यमानाद् रवोऽव्यक्तात्मकोऽभवत्।
स एव श्रुतिसम्पन्नैः शब्दब्रह्मेति गीयते।

यह सर्वव्यापक होते हुए भी प्राणियों के मूलाधार चक्र में स्थित रहता है। इसमें स्वयं किसी प्रकार की गति नहीं होती। परन्तु जब ज्ञात अर्थ के बोध की इच्छा से प्रयत्न होता है तब उसमें गति होती है और उससे शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

नागेश का उपर्युक्त वर्णन प्रपञ्चसार, काशी खण्ड आदि तान्त्रिक ग्रन्थों के अनु-सार है। भास्करराय के ललितसहस्र नाम की व्याख्या, शारदातिलक, सूतसंहिता आदि में इसका विस्तार से वर्णन है।

भर्तृहरि और नागेश में मतभेद—यहाँ पर यह बात विशेष ध्यान देने योग्य है कि नागेश ने भर्तृहरि के 'अनादिनिधनम्' श्लोक को उद्धृत किया है, परन्तु भर्तृहरि के अनादि और अनन्त शब्दब्रह्म को अनित्य माना है, उसकी उपर्युक्त रूप से उत्पत्ति बताई है। अनादि निधनम् का अर्थ यह किया है कि अर्थ-सृष्टि में शब्द के आदि या जन्म की उपलब्धि नहीं होती है, अतः वह अनादि और अनन्त है। परन्तु यह भर्तृहरि के सिद्धान्त एवं मत के विरुद्ध है। भर्तृहरि शब्द को सर्वथा अनादि और अनन्त मानते हैं।

उनके मतानुसार उसकी उत्पत्ति नहीं होती। शब्दब्रह्म का उत्पत्तिवाद जिसका नागेश ने वर्णन किया है, व्याकरणशास्त्र के सिद्धान्त के अनुकूल नहीं है। यह तान्त्रिक मतानुसार ही है और व्याकरण में इसका प्रवेश नागेश के तान्त्रिक मत की ओर झुकाव का परिणाम है। नागेश के मतानुसार शब्द-ब्रह्म और परब्रह्म दो भिन्न सत्ताएँ हैं। परन्तु भर्तृहरि के मतानुसार पर-ब्रह्म और शब्दब्रह्म एक ही सत्ता है, दोनों में कोई अन्तर नहीं है। अतएव शब्दब्रह्म की सिद्धि ही परब्रह्म की प्राप्ति है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्दसंस्कार अर्थात् शब्दों का अपभ्रंशों से विवेचन परमात्मा की प्राप्ति का उपाय है। शब्दों के वास्तविक प्रवृत्तितत्त्व को जानने वाला परब्रह्म को प्राप्त करता है।

तस्माद्यः शब्दसंस्कारः सा सिद्धिः परमात्मनः।
तस्य प्रवृत्तितत्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥ १, १३२

शब्द ही संसार को एक सूत्र में बाँधे हुए है—भर्तृहरि ने शब्दशक्ति की व्यापकता का बहुत ही सुन्दर वर्णन किया है। शब्दशक्ति का व्यावहारिक जीवन में क्या उपयोग है, इसका भी विशद विवेचन किया है। ऋग्वेद ने कहा है कि 'यावद् ब्रह्म विष्ठितं तावती वाक्' अर्थात् जितना ब्रह्म व्यापक है, उतनी ही वाग्देवी भी व्यापक है। ऐतरेय, शतपथ, जैमिनीय, गोपथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ उसी वाक्शक्ति को साक्षात् ब्रह्म मानते हुए कहते हैं वाग्ब्रह्म (गो० पू० २, १०) वाग्वै ब्रह्म (जै० उ० २, ६, ६) वाग्वै ब्रह्म च सुब्रह्म च (ऐ० ६, ३) अर्थात् वाक्शक्ति ही ब्रह्म है। भर्तृहरि वेदों और ब्राह्मणों में प्रतिपादित वाक्शक्ति या शब्दशक्ति के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए लिखते हैं कि शब्दों में ही यह शक्ति है कि वह संसार को एकसूत्र में बांधे हुए है। शब्द ही नेत्र है, अर्थात् समस्त वस्तुओं का ज्ञापक है। समस्त अर्थ प्रतिभारूप है शब्द ही वाच्य और वाचक रूप से भिन्न प्रतीत होता है।

शब्देष्वेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धनी।
यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥ वाक्य० १, ११६

शब्द की व्यवहारोपयोगिता पुण्यराज ने इसकी व्याख्या में एक श्रुति वचन उद्धृत किया है। श्रुति का कथन है कि वाक्शक्ति ही अर्थ को देखती है अर्थात् वाक्-तत्त्व ही जब बुद्धिरूप विवर्त को प्राप्त होता तब अर्थ का ज्ञान करता है। वाक्शक्ति ही बोलती है अर्थात् समस्त व्यवहार की साधनभूत है। वाक्-शक्ति ही शक्तिरूप से विद्यमान अर्थ को विस्तृत करती है। समस्त संसार नाना रूपों को धारण करता हुआ उसी में निबद्ध है। उसी एक वाक्शक्ति का विभाजन करके समस्त संसार का व्यवहार चलता है।

वागेवार्थं पश्यति वाग् ब्रवीति वागेवार्थं निहितं सन्तनोति।
वाचैव विश्वं बहुरूपं निबद्धं तदेतदेकं प्रविभज्योपभुंक्ते॥
वाक्य० १, ११६

शब्द की त्रिविध स्थिति भर्तृहरि का कथन है कि शब्दब्रह्म यद्यपि एक है वही संसार का बीजरूप है। उसी से संसार की उत्पत्ति होती है। वही त्रिविधरूप में विद्यमान है, अर्थात् भोक्ता, भोक्तव्य और भोग वही है। शब्दब्रह्म ही भोक्ता रूप पुरुष है भोक्तव्य विषय शब्द ही है और विषयोपभोगजन्यसुखदुःखादि का अनुभव रूप भोग भी वही है। संसार में भोक्ता, भोक्तव्य और भोग रूप में जो कुछ विद्यमान है, वह शब्दब्रह्म ही है। उसके अतिरिक्त कुछ नहीं है।

एकस्य सर्वबीजस्य यस्य चेयमनेकधा।
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः॥ वाक्य० १, ४

अर्थ का आधार शब्द—शब्द के द्वारा ही समस्त भावों की अभिव्यक्ति की जाती है। असमाख्येय और समाख्येय सब प्रकार के अर्थों के बोध का साधन शब्द ही है। शब्दों के द्वारा ही असमाख्येय षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पंचम, धैवत और निषाद स्वरों का यथार्थ रूप से विवेचन किया जाता है और समाख्येय गौ आदि अर्थों का भी शब्दों से ही निरूपण किया जाता है। अतएव समस्त अर्थों का आधार शब्द ही है।

षड्जादिभेद शब्देन व्याख्यातो रूप्यते यतः।
तस्मादर्थविधाः सर्वाः शब्दमात्रासु निश्रिताः॥ वाक्य० १, ११६

वाचस्पति ने तात्पर्य टीका में इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि षड्ज आदि स्वरों में शब्द के अपकर्ष से अर्थज्ञान में भी अपकर्ष (न्यूनता) होती है। शब्द के उत्कर्ष होने से अर्थज्ञान में भी उत्कर्ष होता है। ज्ञान का उत्कर्ष ज्ञेय के उत्कर्ष के अधीन है। शब्द के उत्कर्ष से अर्थ का उत्कर्ष होता है। अतः शब्द और अर्थ दोनों में तादात्म्य भाव सम्बन्ध है।

षड्जादिषु शब्दापकर्षे अर्थप्रत्ययापकर्षात् तदुत्कर्षे त्वर्थप्रत्ययोत्कर्षात् प्रत्ययस्य च प्रत्येतव्योत्कर्षत्वात् नामधेयोत्कर्षेणार्थोत्कर्षः अर्थस्य तादात्म्यं कथयति।

विश्व की शब्दरूपता का स्पष्टीकरण यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होगा कि भर्तृहरि शब्द के अतिरिक्त कुछ नहीं मानते। समस्त संसार को शब्द का ही विवर्त या परिणाम मानते हैं। घटादि को भी शब्द का परिणाम यदि माना जाएगा तो जिस प्रकार मृत्तिका के परिणाम घट में मृत्तिका के स्वरूप की प्रतीति होती है, उसी प्रकार शब्द का परिणाम मानने पर

घटादि में शब्द के स्वरूप की प्रतीति होनी चाहिये। भर्तृहरि इस शंका का समाधान करते हुए लिखते हैं कि वस्तुतः समस्त ज्ञान में शब्द के स्वरूप की प्रतीति होती है। संसार में जितना जो कुछ भी लोकव्यवहार है, वह शब्द के ही अधीन है। यदि यह कहा जाय कि नवजात बालक को शब्दज्ञान नहीं है, उसे किस प्रकार प्रतीति होगी। इसके विषय में भर्तृहरि कहते हैं कि बालक भी पूर्वजन्म के संस्कार के कारण शब्दों के द्वारा ही इतिकर्त्तव्यता को जानता है।

इतिकर्तव्यता लोके सर्वा शब्दव्यपाश्रया।
यां पूर्वाहितसंस्कारो बालोऽपि प्रतिपद्यते॥ वाक्य० १, १२१।

अर्थ के स्वरूप के वर्णन में आगे यह स्पष्ट किया जायगा कि वैयाकरण प्रतिभा को ही वाक्यार्थ मानते हैं। जो कुछ देखा सुना जाता है उसका ज्ञान प्रतिभा से ही होता है अतः वस्तुतत्त्व को प्रतिभा का ही नाम देते हुए 'प्रतिभात्माऽयम्' कहा है। प्रतिभा का उदय साधारणतया व्यवहार करते समय शब्द के द्वारा होता है। पूर्वजन्म के संस्कार से भी इसका उदय होता है। पशु पक्षियों आदि में जो ज्ञानशक्ति है, वह भावनामूलक ही है, पूर्वजन्म के संस्कार से ही वह प्रत्येक अर्थ का ज्ञान करते हैं। अतः किसी प्रकार के भी ज्ञान को प्रतिभा से पृथक् नहीं कर सकते।

साक्षात् शब्देन जनितां भावनाऽनुगमेन वा।
इतिकर्तव्यतायां तां न कश्चिद् तिवर्तते॥ वाक्य० २, १४८।

ज्ञान की शब्दरूपता - भर्तृहरि कहते हैं कि संसार में ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो शब्दज्ञान के बिना हो। समस्त ज्ञान शब्द के साथ संसृष्ट सा प्रतीत होता है।

न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥ वाक्य० १, १२३।

शब्द और अर्थ की एकरूपता—भर्तृहरि के उपर्युक्त कथन के मूल में उनका एक निश्चित मत जो कि वैयाकरणों का सिद्धान्त है, विशेष रूप से स्मरणीय है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा (स्फोट) के दो स्वरूप हैं। दोनों की पृथक-पृथक् स्थिति नहीं है। अर्थात् शब्द और अर्थ अभिन्न रूप से सम्बद्ध हैं। इनमें कोई वास्तविक भेद नहीं है। जो बाह्य जगत् में भेद ज्ञात होता है, वह तात्त्विक नहीं है।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ॥ वाक्य० २, ३१।

शब्दार्थावभिन्नावेकस्यान्तरस्य तत्वस्यसम्बन्धिनौ वस्तुतः बहिःस्थितौ भेदाविव प्रतिभासेते। (पुण्यराज)।

कविकुलगुरु कालिदास ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए प्रसिद्ध श्लोक लिखा है कि शिव और पार्वती इसी प्रकार अभिन्न हैं जैसे शब्द और अर्थ।

वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थप्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ॥ रघुवंश, १, १,

शब्द और अर्थ का प्रकाश्य-प्रकाशक सम्बन्ध—इस विषय में एक जिज्ञासा यह उत्पन्न होती है कि लोक में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वाच्य और वाचक रूप प्रसिद्ध है। वाच्य और वाचक की सत्ता भिन्न होती है अतः भर्तृहरि ने दोनों को अभिन्न किस प्रकार बताया है। इसका स्पष्टीकरण करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नहीं है, अपितु प्रकाश्यप्रकाशकभाव या कार्यकारणभाव सम्बन्ध है। शब्द प्रकाशक है, अर्थ प्रकाश्य है। शब्द कारण है, अर्थ कार्य है। स्फोट के ही शक्तिभेद से दोनों में भेद प्रतीति होती है अतएव 'एकस्य सर्वबीजस्य०' स्फोट के विषय में कहा गया है।

प्रकाशकप्रकाश्यत्वं कार्यकारणरूपता।
अन्तर्मात्रात्मनस्तस्य शब्दतत्त्वस्य सर्वदा॥ वाक्य० २, ३२

शब्द की प्रकाश-रूपता ज्ञान में प्रकाशशीलता अर्थात् बोधन शक्ति तभी तक है, जब तक कि उसमें वाक्शक्ति (शब्दशक्ति, प्रतिभा) विद्यमान है। यदि ज्ञान में नित्य रूप से रहने वाली वाक्शक्ति निकल जाय तो ज्ञान किसी भी वस्तु का बोध नहीं करा सकता। उस अवस्था में ज्ञान की स्थिति ऐसी ही होगी, जैसे चैतन्यहीन आत्मा या तेजोहीन अग्नि की। क्योंकि वाकशक्ति ही प्रकाशों की भी प्रकाशिका है।

वाग्रूपता चेन्निष्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी॥ वाक्य० १, १२४

शैव मतावलम्बी विमर्श और प्रकाश को दो तत्त्व मानते हैं। वे विमर्श को प्रकाश का भी प्रकाश मानते है। उस स्थिति में शब्द को विमर्श रूप ही मानना चाहिए। आचार्य दण्डी ने शब्द की इस प्रकाशशीलता को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि यदि शब्द रूपी ज्योति इस समस्त संसार में न प्रदीप्त रहे तो तीनों लोकों में अन्धकार ही अन्धकार रहे।

इदमन्धन्तमः कृत्स्नं जायेत भुवनत्रयम्।
यदि शब्दाह्वयं ज्योतिरासंसारं न दीप्यते॥

काव्यादर्श १, ४

प्रकाशशीलता के कारण ही शब्द की संसार की तीन ज्योतियों और प्रकाशों में गणना की गई है। श्रुति का कथन है कि इस संसार में तीन ज्योतियाँ और तीन प्रकाश हैं जो अपने रूप और पररूप के प्रकाशक हैं। उनमें एक यह जातवेदस् (अग्नि) है, दूसरा पुरुषों में विद्यमान आंतरप्रकाश (आत्मा), और तीसरा प्रकाश शब्द है, जो कि अप्रकाश और प्रकाश दोनों को प्रकाशित करता है। उसी में यह समस्त चर और अचर जगत् निबद्ध है।

त्रीणि ज्योतींषि त्रयः प्रकाशाः स्वरूपपररूपयोरवद्योतकाः, तद्यथा योऽयं जातवेदाः यश्च पुरुषेष्वान्तरः प्रकाशः, यश्च प्रकाशाप्रकाशयोः प्रकाशयिता शब्दाख्यः प्रकाशः, तत्रैतत् सर्वमुपनिबद्धं यावत् स्थास्नु चरिष्णु च। वाक्य० १, १२

शब्दमूलक समस्त ज्ञान—भर्तृहरि का मत है कि संसार का समस्त ज्ञान शब्दमूलक है। अतएव वे कहते हैं कि समस्त विद्याएँ और समस्त शिल्पशास्त्र और समस्त कलाएँ (६४ कलाएँ गीत, वाद्य, नृत्य, आलेख्य आदि) शब्दशक्ति से सम्बद्ध हैं। शब्द ही वह शक्ति है, जिसके द्वारा उत्पन्न हुई समस्त वस्तुओं का विवेचन और विभाजन किया जाता है।

सा सर्वविद्याशिल्पानां कलानां चोपबन्धनी।
तद्वशादभिनिष्पन्नं सर्वं वस्तु विभज्यते। वाक्य० १, १२५

शब्द की चैतन्यरूपता - शब्दशक्ति ही समस्त प्राणियों में चैतन्यरूप से विद्यमान है। इसकी सत्ता बाहर और अन्दर दोनों स्थानों में है। बाह्यजगत् लोकव्यवहार का साधन है और अन्दर सुख दुख आदि के ज्ञान रूप हैं। समस्त प्राणिमात्र में ऐसा कोई नहीं है, जिसमें यह शब्दशक्ति रूपी चैतन्य न हो। कोई यह मानते हैं कि चिति-क्रिया वाक्शक्ति के बिना नहीं रहती। अन्य आचार्यों का मत है कि वाक्शक्ति ही चेतना है।

सैषा संसारिणां संज्ञा बहिरन्तश्च वर्तते।
तन्मात्रामनतिक्रान्तं चैतन्यं सर्वजन्तुषु॥ वाक्य० १, १२६

जो कुछ भी लौकिक व्यवहार है वह वाक्शक्ति के द्वारा ही चल रहा है। वाक्शक्ति ही प्राणियों को प्रत्येक कार्य में प्रेरित करती है। यदि वाक्शक्ति न रहे तो यह समस्त संसार काष्ठ और भित्ति के तुल्य निश्चेतन ही दिखाई पड़ेगा।

अर्थक्रियासु वाक् सर्वान् समीहयति देहिनः।
तदुत्क्रान्तौ विसंज्ञोऽयं दृश्यते काष्ठकुड्यवत्। वाक्य० १, १२७

भर्तृहरि वाकशक्ति की जाग्रत् अवस्था में ही प्रवृत्ति नहीं, अपितु स्वप्नावस्था में भी उसकी स्थिति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि प्रविभाग (जाग्रत् अवस्था)

में मनुष्य वाक्शक्ति के द्वारा कार्य में प्रवृत्त होता है। किन्तु स्वप्नावस्था में वही वाक्शक्ति कार्य रूप में विद्यमान रहती है. (वाक्य० १. १२८) स्वप्नावस्था में जो कुछ दृश्य है तथा जो कुछ विचार आदि होता है, सब वाक्शक्ति का ही रूप है।

शब्दशक्ति से असदर्थ का बोध शब्दशक्ति न केवल सत्यार्थ का ही प्रत्यायन कराती है, अपितु असत्य अर्थ का भी बोध शब्दों द्वारा कराया जाता है। यह शब्द-शक्ति की ही महिमा है कि वह अत्यन्त असत्य अर्थ का भी बोध कराती है। भर्तृहरि शब्द की इस उभयविध शक्ति का वर्णन करते हुए लिखते हैं कि स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप का वाक्शक्ति के द्वारा जिस प्रकार भेद या अभेद रूप में बोध कराया जाता है, वैसे ही वह अर्थ रूढ हो जाता है। वाक्शक्ति उस अर्थ को उपस्थित करती है। वाक्य० १, १२६।

शब्द के द्वारा ही अभिन्न में भी भिन्नता का बोध कराया जाता है। राहु और उसका शिर भिन्न रूप नहीं है, फिर भी 'राहोः शिरः' (राहु का शिर) प्रयोग किया जाता है। शशविषाण, खपुष्प आदि असत् अर्थ का भी बोध शब्दशक्ति का माहात्म्य है। श्री हर्ष खण्डनखण्डखाद्य में अतएव कहते हैं कि अत्यन्त असत् अर्थ का भी बोध शब्द कराता है।

अत्यन्तासत्यपि ह्यर्थे ज्ञानं शब्दः करोति च।

पतञ्जलि योगसूत्र में विकल्पात्मक ज्ञान का लक्षण करते हुए लिखते हैं कि विकल्पात्मक ज्ञान वह है, जो बाह्यार्थ से शून्य हो, जिसकी प्रतीति केवल शब्द ज्ञानमात्र से होती है। 'शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः' (योग० १, ६)। भर्तृहरि कहते हैं कि अलातचक्र आदि में जो चक्र आदि का वास्तविक निरूपण किया जाता है, वह केवल शब्दशक्ति के द्वारा ही होता है। वाक्य० १, १३०।

शब्द का स्वरूप और अर्थ का विकास—इस शब्द का निवास कहाँ है, इस पर भर्तृहरि का कथन है कि शब्दब्रह्म का निवास वक्ता के हृदय में है। वह महान् ऋषभ अर्थात् महान् देव है। उसका सायुज्य (ऐक्य) प्राप्त करना ही मनुष्य का इष्ट है। शब्द ही जब तक अविद्या के वश में है वह जीव रूप होता है। वही अविद्या से रहित शुद्ध ब्रह्म है। वाक्य० १, १३१।

पतञ्जलि ने 'चत्वारि शृङ्गा०' मन्त्र की व्याख्या करते हुए शब्द-ब्रह्म रूपी महादेव का निवास मनुष्यों के अन्दर बताया है। महा० आ० १।

भागवतपुराण में शब्द के स्वरूप का स्पष्ट वर्णन किया है। शब्द ही जीव है, वह विवरों अर्थात् हृदय आदि आकाशों में अभिव्यक्त होता है, वही प्राणवायु के परिणाम स्वरूप घोष (ध्वनि) से हृदय, शिर, कण्ठ रूपी गुहा में प्रविष्ट होकर

अपने सूक्ष्मरूप को छोड़कर मनोमयरूप अर्थात् अन्तःकरण परिणामरूप विकार को प्राप्त होता है और मात्रा स्वर वर्ण नामों से प्रसिद्धि को प्राप्त होता है।

> स एव जीवो विवरप्रसूतिः प्राणेन घोषेण गुहां प्रविष्टः।
> मनोमयं सूक्ष्ममपेत्य रूपं मात्रा स्वरो वर्ण इति प्रसिद्धः॥

शब्दज्ञान व्याकरण द्वारा—भर्तृहरि शब्द का व्याकरण से क्या सम्बन्ध है इस पर प्रकाश डालते हुए लिखते हैं कि समस्त व्यावहारिक क्रियाकलाप के आधार शब्द हैं। व्यवहार शब्दमूलक है। किन्तु शब्दों का यथार्थ ज्ञान बिना व्याकरण के नहीं होता। अतएव शब्दों के तात्त्विक ज्ञान के लिए व्याकरणज्ञान आवश्यक है। वाक्य० १, १३।

शब्द के दो रूप हैं, एक शब्दत्त्व और दूसरा साधुत्त्व। शब्द के शब्दत्त्व का ज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय से हो जाता है, परन्तु उसके साधुत्त्व का ज्ञान व्याकरण से ही होता है। अतः कुमारिल का यह कथन कि शब्दों का तात्विकज्ञान श्रोत्रेन्द्रिय के बिना नहीं होता, "तत्त्वावबोधः शब्दानां नास्ति श्रोत्रेन्द्रियादृते।" यह युक्ति-संगत नहीं है।

पतञ्जलि ने व्याकरण को शब्दानुशासन नाम से बोधित करते हुए महाभाष्य का प्रारम्भ किया है। कैयट और नागेश ने शब्दानुशासन शब्द की व्याख्या करते हुये लिखा है कि यह व्याकरण का अन्वर्थ नाम है, क्योंकि व्याकरण के द्वारा शब्दों का अनुशासन अर्थात् विवेचन किया जाता है। पतञ्जलि ने व्याकरण का विषय लौकिक और वैदिक दोनों प्रकार के शब्दों को बताया है। "लौकिकानां वैदिकानां च" महा० आ० १।

शब्द क्या है? पतञ्जलि का मत

स्फोट और ध्वनि शब्द हैं—पतञ्जलि ने शब्द का अनुशासन व्याकरण का विषय बताया है। अतः यह स्वाभाविक है कि शब्द क्या है, उसका क्या स्वरूप है। वह नित्य है या अनित्य, इन सब विषयों का भी विवेचन पतञ्जलि करते। पतञ्जलि ने इसी लिए अपना मन्तव्य स्पष्ट करने के लिए प्रश्न उठाया है कि "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" अर्थात् गौ यह जो ज्ञान होता है इसमें प्रतीत होने वाली वस्तुओं में क्या शब्द है। पतञ्जलि ने शब्द क्या है, इसको स्पष्ट करने के लिए गो शब्द को उदाहरण रूप में लिया है। लोक में शब्द और अर्थ में अभेद रूप से व्यवहार देखा जाता है, यथा, "अयं गोः" "अयं शुक्लः" यह गौ है, यह शुक्ल है, इन प्रयोगों में गो शब्द और गो वस्तु को पृथक् रूप से नहीं समझते। अतः यह ज्ञान आवश्यक है कि शब्द और द्रव्य आदि में कुछ भेद है या शब्द ही द्रव्य है। शब्द द्रव्य आदि से भिन्न है। इसी को प्रश्नो-

शब्द की अभिव्यक्ति होती है, अतएव स्फोट व्यंग्य है और ध्वनि व्यंजक। व्यंजक ध्वनि के बिना स्फोट की अभिव्यक्ति नहीं होती। शब्द नष्ट होता है, ऊँचा शब्द नीचा शब्द आदि जो व्यवहार होता है, वह ध्वनि का शब्द समझते हुए होता है। पतञ्जलि ने इसको उदाहरण देते हुए समझाया है कि जैसे भेरी बजाने पर भेरी का शब्द कोई २० गज जाता है, कोई ३० और कोई ४०। स्फोट (शब्द) उतना ही होता है। लघुता, वृद्धि, अल्पता, महत्ता यह ध्वनि के कारण होती है।

एवं तर्हि स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम् भेर्याघातवत्।
स्फोट स्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः॥ महा० १, १, ७०।

अतः पतञ्जलि यह निष्कर्ष निकालते हैं कि शब्द के दो स्वरूप हैं, एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। इनमें से ध्वनि को ही अल्प या महान् रूप में देख पाते हैं। मनुष्यों में स्फोट और ध्वनि दोनों का ग्रहण होता है, अर्थात् मनुष्य जो शब्द बोलते हैं वह वर्णात्मक होने के कारण ध्वनि के साथ ही स्फोट का भी बोध कराते हैं अतएव अर्थज्ञान होता है। पशु पक्षी आदि में केवल ध्वनि का ही ग्रहण होता है।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।
अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत्स्वभावतः॥
महा० १, १, ७०।

शब्द विषयक मतभेद—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में स्फोट का विस्तृत रूप से वर्णन किया है। पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि का जो भेद किया है, उसका विशदीकरण विशेष रूप से किया है। इसका वर्णन कुछ विस्तार से अध्याय ६ में किया जायगा। भर्तृहरि ने शब्द के विषय में विद्यमान कतिपय मतभेदों का वर्णन किया है।

शिक्षाकारों का मत—शिक्षाकार और प्रातिशाख्यकार वायु को शब्द मानते हैं अर्थात् वायु ही शब्दरूप को प्राप्त होता है। वक्ता जब शब्द के प्रयोग की इच्छा करता है, तब इच्छानुकूल प्रयत्न से प्राण वायु में क्रिया उत्पन्न होती है। वह कंठ, तालु आदि स्थानों में जब शब्द जनक संयोग का आश्रय होता है, अर्थात् जब प्राण वायु, कंठ, तालु आदि स्थानों में घर्षण को प्राप्त होता है तो क ख आदि शब्द बन जाता है। (वाक्य० १, १०८,)। शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य ने 'वायुः खात्, शब्दस्तत्' (१, ६—७) द्वारा शब्द को वायु का परिणाम बताया है। वायु सर्वव्यापक होने पर भी जब साधनविशेषों को प्राप्त होता है तभी शब्द रूप में लक्ष्य होता है। संकरोपहितः, शुक्ल यजु०।

भर्तृहरि शिक्षाकारों के मत के अतिरिक्त जैन और वैयाकरणों के मतानुसार

क्रमशः वायु और ज्ञान को शब्द बताते हैं और कहते हैं कि इस विषय में अनेक भिन्न मत हैं।

> वायोरणूनां ज्ञानस्य शब्दत्वापत्तिरिष्यते।
> कैश्चिद् दर्शनभेदोऽत्र प्रवादेष्वनवस्थितः॥
>
> वाक्य० १, १०७।

जैनों का मत—जैनों के मतानुसार परमाणु (पुद्गल) सर्वशक्तिमान् हैं, उनमें भेद और संसर्ग होता रहता है। वही छाया आतप अन्धकार और शब्दरूप में परिणत होते हैं। (वाक्य० १, ११०)। परमाणु सर्वदा विद्यमान होने पर भी शब्द रूप को तभी प्राप्त होते हैं जब अर्थबोध की इच्छा से उत्पन्न प्रयत्न से प्रेरित शब्दतन्मात्रारूप परमाणु अपनी शक्ति (घटशब्दादिरूप) के व्यक्त होने पर वर्षा-काल में जैसे मेघ के परमाणु तद्वत् एकत्र होते हैं। (वाक्य० १, १११)। प्रमेयकमलमार्तण्ड में शब्द के आकाश गुणत्व के खण्डन प्रकरण में (पृ० १६८) शब्द को पौद्गलिक (परमाणु-जन्य) निरूपित किया गया है।

पतञ्जलि का मत—वैयाकरण शब्द को ज्ञान का परिणाम मानते हैं। पतञ्जलि ने इसका उल्लेख 'आख्यातोपयोगे' (अष्टा० १, ४, २६) सूत्र में किया है। पतञ्जलि का कथन है कि 'ज्योतिर्वज्ज्ञानानि भवन्ति' ज्ञान ज्योति के तुल्य होते हैं। कैयट इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि यथा ज्वाला रूप ज्योति निरन्तर प्रसृत होती रहती है, सादृश्य के कारण उसे तद्रूप समझते हैं, वह अविच्छिन्न है, इसी प्रकार ज्ञान भी भिन्न हैं, परन्तु शब्दरूपता को प्राप्त होकर वह सन्तत (अविच्छिन्न) कहे जाते हैं। ऐसा ज्ञात होता है कि पतञ्जलि का मत है कि ज्ञान ही शब्दरूप को प्राप्त होता है। प्रदीप०, महा० १, ४, २६।

भर्तृहरि इसको स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि आन्तर ज्ञाता (वृत्तिविशिष्ट अन्तःकरण) सूक्ष्म वाक् के रूप में स्थित रहता है। वही अपने स्वरूप की अभि-व्यक्ति के लिए शब्द रूप में परिणत होता है।

> अथायमान्तरो ज्ञाता सूक्ष्मवागात्मना स्थितः।
> व्यक्तये स्वस्य रूपस्य शब्दत्वेन विवर्तते॥
>
> वाक्य १, ११२।

ज्ञान स्थूल शब्दरूप को किस प्रकार प्राप्त होता है इसके विषय में भर्तृहरि लिखते हैं कि वह ज्ञाता (अन्तःकरण) अर्थबोधन की इच्छा युक्त मनोरूप होकर जाठराग्नि से पाक (दाह, ज्ञाता के विषयग्रहण सामर्थ्य की बोधकता) को प्राप्त होकर प्राणवायु को प्रेरित करता है। तब प्राणवायु ऊपर को उठती है। प्राणवायु मन का आश्रय होकर, मन के धर्म से युक्त हो तेज (जठराग्नि) के द्वारा बाहर शब्दरूप हो जाती है। दाह के कारण ही प्राण अपने ग्रन्थियों (क आदि वर्णों)

को पृथक् स्थापित करके श्रूयमाण ध्वनियों से वर्णों को अभिव्यक्त करके वर्णों में ही लीन हो जाता है। वाक्य० १, ११३ ११५।

पाणिनिशिक्षाकार इसी क्रम का वर्णन करते हुए कहते हैं कि आत्मा बुद्धि से संयुक्त होकर अर्थ के बोधन की इच्छा से मन को युक्त करता है। मन शरीराग्नि को प्रेरणा करता है, वह प्राणवायु को प्रेरित करता है। प्राणवायु ऊपर उठकर शिर में टकराती है, वहां से मुख के मार्ग में आकर वर्णों को उत्पन्न करती है।

आत्मा बुद्ध्या समेत्यार्थान् मनो युङ्क्ते विवक्षया।
मनः कायाग्निमाहन्ति स प्रेरयित मारुतम् ॥
सोदीर्णो मूर्ध्न्यभिहतो वक्त्रमापाद्य मारुतः ॥
वर्णान् जनयते। पाणिनीय शिक्षा०।

एक अन्य मत का उल्लेख करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि सूक्ष्म वायु के तुल्य ध्वनि रूपी शब्द सर्वव्यापक होने पर भी सूक्ष्म होने के कारण उपलब्ध नहीं होता जिस प्रकार सूक्ष्म वायु व्यञ्जन से अभिव्यक्त होती है, उसी प्रकार सूक्ष्म ध्वनि रूपी शब्द भी वक्ता के प्रयत्न से श्रोत्र प्रदेश को प्राप्त होकर उपलब्ध होता है। वाक्य० १, ११६।

भर्तृहरि का मत—सिद्धान्त पक्ष का निर्देश करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द दो प्रकार का है, एक प्राण में अधिष्ठित और दूसरा बुद्धि में अधिष्ठित। उसकी प्राण और बुद्धि में जो शक्ति (बाह्य शब्द रूप होने की) विद्यमान है, वही शक्ति कंठ, तालु आदि स्थानों में विवर्त को, प्राप्त होकर क आदि भेद को प्राप्त होती है।

तस्य प्राणे च या शक्तिर्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते ॥
वाक्य० १, ११७।

शब्द अर्थ का बोध किस प्रकार कब कराता है, इसका स्पष्टीकरण पुण्यराज ने उक्त श्लोक की व्याख्या करते हुए किया है कि शब्द प्राणाधिष्ठान और बुद्ध्यधिष्ठान दो प्रकार का है। प्राण और बुद्धि दोनों से अभिव्यक्त शब्द अर्थ का बोध कराता है। पुण्यराज।

अर्थ का बुद्धि और प्राण से घनिष्ट सम्बन्ध है। शब्द बुद्धिगत भाव को प्रस्तुत करता है, वही अर्थ है।

अन्य विभिन्न मत—कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक के शब्दनित्यताधिकरण में शब्द विषयक अन्य विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। कुमारिल का कथन है कि:—

त्रिगुणः पौद्गलो वाऽयमाकाशस्याथवा गुणः।
वर्णादन्योऽथ नादात्मा वायुरूपोऽर्थवाचकः ॥
पदवाक्याऽऽत्मकः स्फोटः सारूप्यान्यनिवर्तने।

श्लोक० ३१९ से ३२०।

सांख्य का मत है कि शब्द सत्त्व रजस् तमस् स्वभाव युक्त है, अतः त्रिगुणात्मक है। जैन पौद्गल (परमाणुरूप) शब्द को मानते हैं। नैयायिक और वैशेषिकों का मत है कि शब्द अनित्य है, तृतीयक्षण में उसका ध्वंस हो जाता है, आकाश का गुण विशेष है। लौकिक व्यवहार में वर्ण से भिन्न नाद (ध्वनि) को ही शब्द माना जाता है। शिक्षाकार उसे वायु रूप मानते हैं। वही अर्थबोध कराता है। वैयाकरण पदस्फोट या वाक्यस्फोट को शब्द मानते हैं। आचार्य विन्ध्यवासी सारूप्य (सादृश्य) को शब्द मानते हैं। बौद्ध अपोह अर्थात् अन्य की निवृत्ति को शब्द मानते हैं, वे शब्द को क्षणिक मानते हैं। बौद्धों के मतानुसार शब्द ज्ञानस्वरूप है या असत् स्वरूप है। मीमांसकों में प्रभाकर (गुरु) का मत है कि शब्द दो प्रकार का है। ध्वनि रूप और वर्णरूप। दोनों आकाश के गुण हैं। इनमें से ध्वन्यात्मक शब्द अनित्य है और वर्णात्मक शब्द नित्य है। उपवर्ष, आदि मीमांसकों का मत है कि वर्ण ही शब्द है, पद में जितने वर्ण होते हैं, वे सब शब्द कहे जाते हैं। कुमारिल (भट्ट) शब्द को नित्य मानते है। शब्द वर्णरूप है। ध्वनि के द्वारा शब्द की अभिव्यक्ति होती है।

अर्थ का लक्षण – कात्यायन और पतञ्जलि अर्थ का लक्षण करते हुए कहते हैं कि—

सर्वे भावाः स्वेन भावेन भवन्ति स तेषां भावः। किमेभिस्त्रिभिर्भावग्रहणैः क्रियते ? एकेन शब्दः प्रतिनिर्दिश्यते द्वाभ्यामर्थः। यद्वा सर्वे शब्दाः स्वेनार्थेन भवन्ति स तेषामर्थः। महा० ५, १, ११९।

कात्यायन ने अर्थ के लक्षण में 'भाव' शब्द का तीन बार प्रयोग किया है। उसका स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि प्रथम भाव शब्द का अर्थ है शब्द, और अन्य दोनों का अर्थ है अर्थ। अतः अर्थ का लक्षण यह होता है कि समस्त शब्द स्वस्व अर्थ बोधन के लिये होते हैं, जिस जिस अर्थ के बोध के लिए शब्द का प्रयोग होता है वही उसका अर्थ है।

कैयट और नागेश उपर्युक्त भाष्य की व्याख्या करते हुए अर्थ का लक्षण करते हैं कि समस्त शब्द जिस प्रवृत्ति निमित्त से अर्थात् जिस वाच्य अर्थ के बोधन के लिए प्रयोग को प्राप्त होते हैं, वही प्रवृत्ति निमित्त रूप अर्थ (वाच्य अर्थ) उन शब्दों का अर्थ है। प्रदीप और उद्योत, महा० ५, १, ११९।

भर्तृहरि अर्थ का लक्षण करते हैं कि जिस शब्द के उच्चारण से जिस अर्थ की प्रतीति होती है, वह उसका अर्थ है।

यस्मिंस्तूच्चरिते शब्दे यदा योऽर्थः प्रतीयते।
तमाहुरर्थं तस्यैव नान्यदर्थस्य लक्षणम् ॥
वाक्य० २, ३३०।

जयन्त न्यायमंजरी में अर्थ का लक्षण करते हैं कि कोई मानते हैं कि यह इस पद का अर्थ है, अर्थात् सांकेतिक है, जिस शब्द से जिस अर्थ का संकेत किया जाता है, वह उसका अर्थ है। दूसरा लक्षण यह है कि जिस शब्द से जिस अर्थ की प्रतीति होती है वही उसका अर्थ है।

अयमस्य पदस्यार्थ इति केचित् स तेन वा।
योऽर्थः प्रतीयते यस्मात् स तस्यार्थ इति स्मृतिः ॥
न्याय० पृ० २६६।

कुमारिलभट्ट श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में अर्थ का लक्षण करते हैं कि जो अर्थ जिस शब्द के साथ सम्बद्ध रहता है, वह उसका अर्थ है अर्थात् शब्द का वह अर्थ होता है जो उसके साथ सदा विद्यमान रहता है, उस अर्थ को छोड़ता नहीं है।

तत्र योऽन्वेति यं शब्दमर्थस्तस्य भवेदसौ। श्लोक० १६०

अर्थ का स्वरूप

पतञ्जलि का मत पतञ्जलि के अर्थ विषयक विभिन्न सिद्धान्तों का यथा स्थान विस्तार से वर्णन किया जायगा। यहाँ पर अति संक्षिप्त रूप से उनका निर्देश किया जाता है, क्योंकि भर्तृहरि ने उनको विशेष रूप से स्पष्ट किया है और उसकी व्याख्या में पतञ्जलि की भी व्याख्या संगृहीत हो जाती है।

अर्थ शब्द से अभिन्न—पतञ्जलि का मत है कि अर्थ शब्द से पृथक् नहीं हैं। शब्द और अर्थ अभिन्न हैं। अर्थ शब्द की ही अन्तरंग शक्ति है। अतएव कहते हैं कि शब्द शब्द से बहिर्भूत है, किन्तु अर्थ अबहिर्भूत अर्थात् अपृथक् है।

शब्दश्च शब्दाद् बहिर्भूतः। अर्थोऽबहिर्भूतः।
महा० १, १, ६६।

दो प्रकार का अर्थ, स्वरूप और बाह्य—स्वं रूपम्० (अष्टा० १, १, ६७) सूत्र की व्याख्या में पतञ्जलि कहते हैं कि अर्थ दो प्रकार का होता है, एक शब्द का स्वरूप और दूसरा अर्थ। (बाह्य वस्तु या बोध्य पदार्थ)। व्याकरण में शब्द अपने स्वरूप का ही बोध कराते हैं। यथा, जब यह कहा जाता है

कि अग्नेर्ढक् (अग्नि से ढक् प्रत्यय होता है), तो यहाँ पर अग्नि शब्द भौतिक अग्नि का बोध नहीं कराता है अपितु अग्नि शब्द को बोधित करता है। परन्तु लोक व्यवहार में अग्नि शब्द के प्रयोग से बाह्य वस्तु अर्थात् अग्नि नामक पदार्थ का बोध होता है। गाय लाओ, दही खाओ, में उच्चरित शब्द से पदार्थ लाया जाता है, और पदार्थ खाया जाता है।

अस्त्यन्यद् रूपात् स्वं शब्दस्येति। किं पुनस्तत् ? अर्थः। शब्देनो-च्चारितेनार्थो गम्यते। गामानय दध्यशानेति अर्थ आनीयते अर्थश्च भुज्यते। महा० १, १, ६७।

अर्थ-ज्ञान शब्द के द्वारा—पतञ्जलि का कथन है कि अर्थज्ञान शब्द के द्वारा होता है। जब कोई शब्द सुना जाता है तब वह प्रथम अपने स्वरूप का बोध कराता है और तदनन्तर अर्थ का। जब तक शब्द ठीक न सुना गया हो वह अर्थ का बोध नहीं कराता।

शब्दपूर्वको ह्यर्थे सम्प्रत्ययः। महा० १, १, ६७।

कैयट ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट लिखा है कि शब्द केवल सत्तामात्र से अर्थ का बोध नहीं कराता। अपितु जब उसकी उपलब्धि होती है अर्थात् श्रवण होने पर ही अर्थ का बोध कराता है।

नागेश का कथन है कि शब्द अर्थज्ञान का कारण है। शब्द के द्वारा स्वरूप और अर्थ दोनों की उपस्थिति होती है। यदि अर्थ का बोध कराना सम्भव नहीं होता है, तो शब्द अपने स्वरूप का ही बोध कराता है। यदि अर्थ में कार्य सम्भव होता तो शब्द अर्थ का ही बोध करायेगा। अतएव उपस्थित अर्थ का शब्द बोध में परित्याग नहीं हो सकता। उद्योत, महा० १, १, ६७।

चार प्रकार के अर्थ—शब्दों की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्ति निमित्तभेद से चार प्रकार की है अतः अर्थ चार प्रकार का होता है। वे चार प्रकार के अर्थ हैं, जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य। गो आदि जातिवाची शब्दों से गो आदि जाति का बोध होता है। गुणवाची शब्दों से शुक्ल आदि गुण का। क्रियावाची शब्दों से क्रिया का, यथा, चलना आदि। यदृच्छा शब्द, जो कि व्यक्ति विशिष्ट द्वारा किसी के नाम रक्खे गये हैं, उनसे व्यक्ति या द्रव्य का, यथा डित्थ, कपित्थ आदि नाम।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दाः गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः। महा आह्निक २।

अर्थ-नित्यता पर विचार—अर्थ की नित्यता या अनित्यता के विषय में कात्यायन और पतञ्जलि का मत है कि अर्थ नित्य है। अतएव कहते हैं कि शब्द

अर्थ और उनका सम्बन्ध नित्य है। 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे,' अन्यत्र पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध नित्य है।

नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः। महा० आ० १।

यहाँ पर अर्थ की नित्यता से क्या अभिप्राय है, यह स्पष्ट जान लेना आवश्यक है। अर्थ-विषयक इस नित्यता पर यह आक्षेप किया जाता है कि पतञ्जलि भाषाविकास के सिद्धान्त को सर्वथा नहीं मानते। शब्द का एक ही अर्थ सदा नहीं रहता, उसमें भाषाविकास के अनुसार परिवर्तन होता रहता है। किसी शब्द के अर्थ का विस्तार किसी अर्थ का संकोच तथा किसी अर्थ की अन्यार्थ में प्रवृत्ति होती है। महाभाष्य के वर्णन, कैयट, नागेश और भर्तृहरि की व्याख्या से ज्ञात होता है कि पतञ्जलि अर्थनित्यता का यह भाव नहीं मानते थे कि अर्थ में कभी परिवर्तन नहीं होता। इस विषय पर निम्न बातें ध्यान देने योग्य हैं। पतञ्जलि स्वयं नित्य की व्याख्या करते हुए कहते हैं कि—

तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते। किं पुनस्तत्त्वम्? तस्यभावस्तत्त्वम्॥
महा० आ० १।

अर्थात् नित्य उसको भी कहते हैं, जिसमें उसके मूलतत्त्व का नाश नहीं होता। पतञ्जलि उसका उदाहरण देते हुए समझाते हैं कि जैसे सुवर्ण के विभिन्न आभूषण बनाये जाते हैं। उनको गलाकर पुनः अन्य आभूषण बनाये जाते हैं। आकृतियां भिन्न-भिन्न होती रहती हैं परन्तु सुवर्ण तत्त्व सदा विद्यमान रहने के कारण उसे नित्य ही कहेंगे।

नागेश इसकी व्याख्या में कहते हैं कि नित्य का अर्थ है, जिसके नष्ट होने पर भी तद्गत धर्म नष्ट नहीं होता। यदि अर्थ अनित्य है तो उसे नित्य कैसे कहते हैं, इसको स्पष्ट करते हुए नागेश कहते हैं कि इसको प्रवाहनित्यता समझना चाहिए। कैयट और नागेश दोनों ने अर्थ को प्रवाह-नित्य बार बार कहा है। शब्द का अर्थ अनादि काल से चला आ रहा है उसमें प्रवाह के कारण अर्थ परिवर्तन होने पर भी वह अपने स्वरूप को नहीं छोड़ता, अतः नित्य ही कहा जाता है। उद्योत, महा० आ० १।

कैयट 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' की व्याख्या में अर्थ-नित्यता को स्पष्ट करते हैं कि यदि अर्थ को जातिरूप मानें तो जाति की नित्यता के आधार पर अर्थ को नित्य कहेंगे। यदि अर्थ को द्रव्य (व्यक्ति) रूप मानते हैं तो अर्थ को दो प्रकार से नित्य कह सकते हैं, एक तो यह कि शब्दों का मुख्य रूप से ब्रह्मतत्त्व ही अर्थ है, गौण रूप से यह दृश्य जगत् अर्थ है। ब्रह्म नित्य है, अतः अर्थ को नित्य कहेंगे। दूसरा प्रकार यह है कि अर्थ प्रवाह से नित्य है। शब्द अर्थ के सम्बन्ध को जो नित्य कहा गया है। वह भी इसी लए कि वह व्यवहार की परम्परा से अनादि है। प्रदीप, महा० आ० १।

कैयट और नागेश ने स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि अर्थ अनित्य है। कैयट का कथन है कि शब्द का एक ही अर्थ नियम से नहीं होता। यदि एक ही अर्थ निश्चित होता तो अर्थ विषयक सन्देह ही नहीं होता।

यद्येकः शब्द एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्, तत एतद् युज्यते वक्तुम्। यतस्त्वनियमः, ततः प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः। प्रदीप, महा० १, २, ४५।

नागेश कहते हैं कि इसके द्वारा प्रकृति और प्रत्यय की अर्थवत्ता की अनियतता का वर्णन किया गया है।

प्रकृतिप्रत्यययोरर्थवत्ताया अनैयत्यं दर्शयति। उद्योत, महा० १, २, ४५।

नागेश ने प्रश्न उठाया है कि यदि अर्थ अनित्य है तो उसका शब्द से सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है, तथा पतञ्जलि के 'नित्यो ह्यथवतामर्थैरभिसम्बन्धः' की व्याख्या कैसे होगी। इसका उत्तर देते हैं कि सम्बन्ध योग्यतालक्षण है अर्थात् शब्द में यह अनादि और नित्य योग्यता है कि वह अर्थ का बोध करावे। शब्द नित्य है, अतः सम्बन्ध को भी नित्य कहा गया है। उद्योत, महा० आ० १।

भर्तृहरि और हेलाराज ने वाक्यपदीय में इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अनित्य अर्थ को भी नित्य इसलिए कहा गया है कि शब्द का कोई न कोई अर्थ अवश्य रहता है, इस प्रकार अर्थ रूप से शब्दार्थ नित्य मानकर 'नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः' ऐसा पतञ्जलि ने कहा है। यहाँ पर नित्यता का अर्थ प्रवाह-नित्यता है। हेलाराज, वाक्य० ३ पृ० ११३।

अनित्येष्वपि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्।
वाक्य० ३ पृ० ११३

कैयट का कथन है कि जब-जब शब्द का उच्चारण किया जाता है तब तब अर्थ-रूप बुद्धि उत्पन्न होती है। यह शब्द से अर्थ का बोध प्रवाहनित्य है, अतः अर्थ को नित्य कहते हैं। कैयट, महा० आ० १।

वह शब्द से अर्थबोधन का व्यवहार अनादि काल से वृद्धव्यवहार परंपरा से चल रहा है, अतः शब्द अर्थ और सम्बन्ध को नित्य कहते हैं। कैयट, महा०आ० १।

यहाँ पर यह भी ध्यान रखने योग्य है कि पतञ्जलि ने यह प्रश्न उठाया था कि पाणिनि ने शब्द अर्थ सम्बन्ध को नित्य मानकर व्याकरण शास्त्र बनाया हैं या अनित्य। कैयट और नागेश ने इस प्रश्न को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि इसका भाव यह है कि पाणिनि ने पहले से विद्यमान शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में व्याकरण बनाया है या सब को अनित्य मानकर नये शब्द और नये अर्थों की सृष्टि की है। इस प्रश्न से एक सुन्दर बात यह भी स्पष्ट होती

है कि क्या पहले भाषा थी तब व्याकरण बना, या पहले व्याकरण बना और फिर भाषा हुई। इसी के उत्तर में पतञ्जलि कहते हैं कि शब्दार्थ सम्बन्ध पहले से विद्यमान थे, उनके विषय में व्याकरण की रचना है। व्याकरण बाद में बनता है, भाषा पहले से रहती है। यदि शब्द और अर्थ सर्वथा अनित्य हों अर्थात् पूर्ण रूप से अनिश्चित और अव्यवस्थित हों तो व्याकरण जैसा शास्त्र तो कभी बन ही नहीं सकता, या सर्वथा निष्प्रयोजन होगा। इन बातों को ही लक्ष्य में रखते हुए पतञ्जलि ने इसकी नित्यता के विषय में वेद आदि का प्रमाण न देकर लोकव्यवहार को ही प्रमाण बताया है।

लोकतः। लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्द प्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः।
महा० आ० १।

लोक व्यवहार में शब्द का जो अर्थ में प्रयोग विद्यमान है, उसके विषय में व्याकरण शुद्ध और अशुद्ध का विवेचन करके धर्म की प्रतिष्ठा करता है।

पाणिनि स्वयं अर्थ के विषय में लोकव्यवहार को सर्वश्रेष्ठ प्रमाण मानते हैं।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्याऽन्यप्रमाणत्वात्। अष्टा० १. २. ५६।
अन्योलोकः। शब्दैरर्थाभिधानं स्वाभाविकम्। लोकत एवार्थगतेः।
काशिका।

अर्थ की परिवर्तनशीलता और अनिश्चितता—लोक व्यवहार में अर्थ में परिवर्तन परिवर्धन आदि होते रहते हैं। शब्द उन परिवर्तित अर्थों में जब प्रवाह-नित्यता के नियमानुसार प्रचलित हो जाते हैं, तब वे शब्द उन अर्थों का बोध कराने लगते हैं। अर्थ के विषय में प्रवाहनित्यता शब्द विशेष ध्यान रखने योग्य है। जो शब्द जब तक उस अर्थ में प्रचलित नहीं होगा, उस अर्थ का बोधक नहीं होगा।

अर्थ की परिवर्तनशीलता पर पतञ्जलि कहते हैं कि अन्यार्थक भी शब्द अन्यार्थक हो जाता है। इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे, कुल्या (नहर) क्षेत्रों की सिंचाई के लिए बनाई जाती है परंतु उनसे अन्य उपयोग जल पीना आदि भी किया जाता है। इसी प्रकार अन्य प्रयोजन से प्रयुक्त शब्द भी अन्य अर्थ का बोध कराता है। कैयट और नागेश कहते हैं कि अर्थ की शक्ति विचित्र है, अर्थ में नाना शक्ति है जिनसे कि वह विभिन्न अर्थों का बोध कराता है।

अन्यार्थमपि प्रकृतमन्यार्थं भवति। महा० १, १, २२। पदार्थानां शक्ति-वैचित्र्यात्। प्रदीप।

पतञ्जलि आगे कहते हैं कि यह जो युक्ति प्रस्तुत की गई है कि जैसे गोधा (गोह) सर्पण क्रिया के कारण सर्प नहीं कहाती, इसी प्रकार अर्थ भी अनुवर्तन से अन्यार्थक नहीं हो सकता। इसके विषय में यह कथन है कि द्रव्यों में ऐसा भले ही हो कि गोह सर्प न हो जाय, परन्तु शब्द में तो ऐसा परिवर्तन होता है। शब्द जिस जिस विशेष से सम्बद्ध होता है, उस उस का विशेषक हो जाता है। जैसे 'गौ शुक्ल:' में शुक्ल शब्द गौ की शुक्लता बताता है और 'अश्व: शुक्ल:' में अश्व का विशेषण होकर अश्व की शुक्लता बताता है।

> शब्दस्तु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते, तस्य तस्य विशेषको भवति। महा० १, १, २२।

अर्थ की अनिश्चितता का उदाहरण पतञ्जलि ने दिया है कि ये उच्च और नीच शब्द अनिश्चितार्थक हैं। वही किसी के लिए उच्च है, किसी के लिए नीच। एक व्यक्ति पढ़ते हुए को कहता है कि 'क्यों उच्च स्वर से चिल्ला रहा है, धीरे पढ़ो' उसी को दूसरा कहता है कि 'क्या गुनगुनाकर पढ़ रहा है, उच्च स्वर से पढ़'। अल्पप्राण (निर्बल) पूरे बल से जितना ऊँचा बोलेगा वह उसके लिये सबसे उच्च ध्वनि है, परन्तु महाप्राण (बलवान्) के लिये वह ध्वनि सबसे नीची ध्वनि है। अत: अर्थ का निश्चित रूप नहीं बता सकते। उच्च और नीच किसे कहें, यह निश्चित नहीं बताया जा सकता। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द का अर्थ पूर्ण और निश्चित इयत्ता रूप में नहीं बताया जा सकता है। महा० १, २, ३०।

अर्थ बौद्ध है—शब्द का अर्थ बौद्ध है या बाह्य। इस विषय पर पतञ्जलि का कथन है कि बाह्य अर्थ का बोध शब्द कराता है। गाय लाओ, दही खाओ कहने पर गाय लाई जाती है और दही खाई जाती है। इस प्रकार शब्द बाह्य अर्थ का बोध कराता है परन्तु अर्थ मुख्य रूप से बौद्ध ही है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धिगत ही है।

> बुद्धौ कृत्वा सर्वाश्चेष्टा: कर्ता धीरस्तन्वन्नीति:।
> शब्देनार्थान् वाच्यान् दृष्ट्वा बुद्धौ कुर्यात् पौर्वापर्यम्। महा० १, ४, १०६।

अर्थात् विद्वान् धीर बुद्धि में ही कंठ, तालु आदि के आघात से जन्य शब्दों को करके शब्द के द्वारा वाच्य अर्थों को बुद्धि में ही देखकर, वहीं शब्दों का पौर्वापर्य करे।

भर्तृहरि का विवेचन : अर्थ के विषय में १२ मत

भर्तृहरि ने अर्थ के विषय में प्राचीन समय में वर्तमान १२मतों का द्वितीय काण्ड में विवेचन किया है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से यह मत अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थ के विभिन्न अंगों पर विभिन्न दृष्टिकोणों से विचार किया गया है। इन मतों के वर्णन में ही भर्तृहरि इनका साथ ही विवेचन करते गए हैं और अपनी सम्मति

प्रकट करते गए हैं। पुण्यराज ने जो भर्तृहरि के भावों की व्याख्या की है, उसको संग्रह करते हुए उन मतों का विवरण नीचे दिया जाता है।

अर्थ निराकार है—समस्त शब्द आकारविशेष से रहित केवल अर्थ-मात्र का बोध कराते हैं। अर्थ निराकार है। जिस प्रकार धर्म अधर्म देवता स्वर्ग आदि शब्दों से आकारहीन अर्थतत्त्व की प्रतीति होती है उसी प्रकार प्रत्येक शब्द आकारहीन अर्थतत्त्व का बोध कराता है। जो कि गो आदि शब्दों के उच्चारण से आकार विशेष युक्त पदार्थ की प्रतीति होती है, वह अविनाभाव (समवाय) सम्बन्ध के कारण होती है। स्थूल पदार्थ को अर्थ से पृथक् नहीं कर सकते, अतएव गौ आदि शब्द का निराकार अर्थ होते हुए भी तत्तद्व्यक्तिविशेष से सम्बन्ध के कारण तत्तदाकार अर्थ की आकार आदि से युक्त प्रतीति होने लगती है। अन्यथा यदि अर्थ साकार हो तो धर्म, अधर्म, स्वर्ग, नरक, बुद्धि आदि शब्दों से भी साकार अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए।

अस्त्यर्थः सर्वशब्दानामिति प्रत्याय्यलक्षणम् ।
अपूर्वदेवतास्वर्गैः सममाहुर्गवादिषु ॥ वाक्य० २, १२१।

गो अश्व आदि शब्दों से आकारविशेष आदि की भी प्रकृति देखी गई है अतः अर्थ को निराकार न मानकर साकार क्यों नहीं मानते ? इस प्रश्न का उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि गो आदि शब्दों से जो सास्ना लांगूल आदि वाले आकृतिविशिष्ट का ज्ञान होता है, वह शब्द का विषय नहीं है। गो शब्द का प्रयोग सास्नादिमान् पशु के लिए देखते हैं और इसी प्रकार के प्रयोग के देखने का अभ्यास पड़ जाने के कारण आकृति विशिष्ट गौ का अर्थ समझते हैं। आकार आदि का बोधन शब्द का विषय नहीं है, इसका कारण ऐसे प्रयोग का देखना और देखने का अभ्यास ही है। अतः शब्दों का अर्थ निराकार ही है। वाक्य० २, १२२।

अर्थ साकार है—कतिपय अचार्यों का मत है कि अर्थ साकार है। कुछ आकारों का बोध शब्द कराता है और कुछ आकार अविनाभाव सम्बन्ध से रहते हैं। कुछ भेद जैसे जाति आदि, यह शब्द के वाच्य हैं। व्यक्तिगत भेद समवाय सम्बन्ध से जाति में रहते हैं, अतः शब्द उनका भी बोध कराता है। वाक्य० २, १२३।

भर्तृहरि इस पक्ष का खण्डन करते हुए कहते हैं कि जातिवाची शब्द जाति-मात्र का ही बोध कराते हैं। व्यक्ति का आनुषंगिक रूप से बोध होता है, क्योंकि जाति बिना व्यक्तियों के नहीं रह सकती। जातिवाची शब्द व्यक्तिगत भेदों का बोध नहीं कराता।

जातिप्रत्यायके शब्दे या व्यक्तिरनुषङ्गिणी ।
न तान् व्यक्तिगतान् भेदान् जातिशब्दोऽवलम्बते ॥
वाक्य० २, १२४।

अर्थ की अपूर्णता—इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं कि जैसे घटादि शब्द घट जातिमात्र का बोध कराते हैं। घट आदि के विभिन्न आकारों का बोध नहीं कराते। प्रत्येक आकार वाले घट को घट कहते हैं, यदि आकार विशेष का बोध कराता तो अन्य आकारवाले घट को घट नहीं कह सकते। पुण्यराज कहते हैं कि शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह समस्त विशेषताओं से युक्त अर्थ का बोध करावे। अतएव अर्थ को अपूर्ण और अनिश्चित कहा जाता है।

नहि सकलविशेषसहितमर्थं शब्दः प्रत्याययितुमलम् ॥
वाक्य० २, १२५।

व्यक्तिगत भेद आनुषंगिक रूप से जाति में रहने पर भी शब्दार्थ किस प्रकार नहीं होते, इसको भर्तृहरि स्पष्ट करते हैं कि क्रिया बिना साधन के नहीं रहती। जैसे यज्ञ करो, इस शब्द से बोध्य यजन रूपी क्रिया कर्त्ता, कर्म, साधन आदि सामग्री के बिना नहीं हो सकती। परन्तु "यजेत" का अर्थ कर्त्ता कर्म आदि नहीं होता। इसी प्रकार जाति शब्दों से व्यक्तियों का समवाय सम्बन्ध होने पर भी व्यक्तिगतभेद शब्द के अर्थ नहीं हैं। वाक्य० २, १२६।

अर्थ आकार का भी बोधक—समस्त आकार मुख्य या गौण रूप से शब्द के ही अर्थ हैं। जातिहीन व्यक्ति नहीं है और व्यक्तिहीन जाति नहीं है। एक दूसरे के बिना अन्य की स्थिति नहीं है। अतएव साध्यसाधनविशिष्ट सब कुछ (व्यक्तिविशिष्ट जाति) शब्द का अर्थ है। गौण या मुख्य रूप से समस्त आकार जाति में रहते हैं, अतः आकारविशिष्ट जाति का भी बोधक शब्द है। द्वितीय मत से इस मत में अन्तर यह है कि द्वितीय मतावलम्बी कुछ आकारों को शब्द का साक्षात् अर्थ मानते हैं, अन्य आकारों को अविनाभाव से ज्ञेय मानते हैं। इस मतावलम्बियों का मत है कि शब्द किसी विशिष्ट आकार का नहीं, अपितु समस्त आकार जाति के अन्तर्गत होने के कारण सर्वाकारविशिष्ट जाति शब्द का अर्थ है।

सर्व एवाकारा गुणप्रधानभावेन पदस्यार्थः। पुण्यराज,
वाक्य० २. १२७।

समुदाय (अवयवी) अर्थ है—शब्द का अर्थ समुदाय है, जिसमें विकल्प और समुच्चय न हों। यदि प्रत्येक शब्द अवयव का बोध कराएगा अर्थात् आकार समुच्चय रूप शब्द को माना जाएगा तो प्रत्येक शब्द बहुवचन होगा, क्योंकि उसमें कितने ही आकारों का समावेश है। यदि वैकल्पिक माने अर्थात् अवयवसमुच्चय भी है, और अवयवी भी है तो कभी बहुवचन होगा और कभी एकवचन। अतः अवयवातिरिक्त अवयवी शब्द का अर्थ है।

समुदायोऽभिधेयः स्यादविकल्पसमुच्चयः ।
वाक्य० २, १२८ ।

अर्थ असत्य (अनित्य) है, अर्थ संसर्ग रूप है—अर्थ जाति, गुण या क्रिया रूप है। घट आदि शब्दों से घट आदि वस्तुओं का जाति गुण या क्रिया रूप से संसर्ग (सम्बन्ध) कहा जाता है। संसर्ग सम्बन्ध वस्तुओं के बिना रहना सम्भव नहीं है, अतः सम्बन्ध असत्य रूप कहा जाता है। यही असत्य सम्बन्ध शब्दों का अर्थ है। पदार्थ जाति से संसृष्ट होने पर ही सत्य रूप से है, अन्यथा नहीं।

असत्यो वाऽपि संसर्गः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते । वाक्य० २, १२८ ।

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही अर्थ है। घट आदि शब्द का घट आदि वस्तु अर्थ है। जाति गुण आदि सब अर्थ अनित्य हैं, अतः अर्थ भी अनित्य है।

पतञ्जलि ने 'आकृतिरनित्या' (महा० आ० १) आकृति (जाति) अनित्य है, कहा है, उसकी व्याख्या में नागेश ने इस भाव को स्पष्ट किया है कि ब्रह्म-दर्शन होने पर गोत्व आदि जाति भी असत्य ज्ञात होती है, अतः जाति भी अनित्य है, केवल ब्रह्म ही सत्य है, ब्रह्म के अतिरिक्त सब असत्य है। इसलिए जाति आदि से सम्बद्ध अर्थ भी असत्य और अनित्य है। नागेश महा० आ० १ ।

संसार की समस्त वस्तुओं जाति, द्रव्य, गुण, क्रिया, रूप अर्थ असत्य है, अनित्य है, अतः असत्य और अनित्य के साथ सम्बद्ध होने के कारण अर्थ भी अनित्य है। जाति द्रव्य आदि रूप अर्थ से सम्बन्ध ही शब्द का अर्थ है।

अर्थ असत्याभास सत्य है—अर्थ सत्य है, किन्तु असत्य वस्तु से सम्बद्ध होने के कारण असत्य प्रतीत होता है।

असत्योपाधि यत्सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम् ।
सत्यमेवासत्योपाधिविचित्रितं शब्दवाच्यम् । वाक्य० २, १२६ ।

पतञ्जलि द्रव्य को भी पदार्थ मानकर अर्थ को नित्य बताते हैं कि 'द्रव्यं हि नित्यम्' (महा० आ० १) द्रव्य नित्य है। इसकी व्याख्या करते हुए नागेश ने उपर्युक्त मत को स्पष्ट किया है। कैयट और नागेश का कथन है कि सारे शब्दों का एक ब्रह्मतत्त्व ही अर्थ है। ब्रह्म ही असत्य रूप में द्रव्यरूप है। अर्थात् नाम-रूपात्मक जगत् असत्य है, केवल ब्रह्म सत्य है। शब्द ब्रह्मरूप अर्थ का बोध कराते हैं, अतः अर्थ सत्य और नित्य है। लौकिक असत्य वस्तुओं से सम्बन्ध होने के कारण असत्य और अनित्य प्रतीत होता है। कैयट और नागेश।

अर्थ अध्यासरूप है, शब्द और अर्थ में अभिन्नता—शब्द का स्वरूप ही अर्थ है। शब्द ही अभिजन्यत्व (अध्यासरूप) को प्राप्त होकर स्वरूप का ही बोध कराता है।

शब्दस्य स्वरूपमेवाभिधेयम् ।
शब्दो वाऽभिजन्यत्वमागतो याति वाच्यताम् ॥ वाक्य० २, १२६ ।

अभिजन्यत्व या अध्यास पारिभाषिक शब्द हैं । इनका स्पष्टीकरण करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि 'सोऽयम्' वही है। इस, प्रकार के सम्बन्ध अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध को अध्यास या अभिजन्य कहते हैं। जब अध्यास के द्वारा पदार्थ का स्वरूप आच्छादित करके एकाकार सा प्रतीत कराया जाता है, तब उस शब्द को 'अभिजन्य' (वाच्य) नाम से बोधित किया जाता है। अध्यास के कारण शब्द और अर्थ में एकात्मता है। शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध है। इसी सम्बन्ध के द्वारा जब शब्द की अर्थ के साथ एकरूपता का बोध कराया जाता है तब अर्थ को शब्द से भिन्न न कहकर शब्द ही कहते हैं। शब्द अभिन्न रूप से अर्थ का बोध कराता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १३० ।

नागेश ने मंजूषा में इसी भाव को स्पष्ट करते हुए पातञ्जल भाष्य का उद्धरण दिया है कि संकेत पद और पदार्थ में इतरेतराध्यास (पारस्परिक तादात्म्य) का निरूपण करता है, स्मृति रूप है कि 'जो यह शब्द है वही अर्थ है और जो यह अर्थ है वही शब्द है'। मंजूषा पृ० २७।

अर्थ की प्रधानता—यदि अर्थ शब्द का अभिन्न रूप है तो शब्दांश की प्रधानता है या अर्थ अंश की। इस पर पुण्यराज कहते हैं कि शब्द और अर्थ की एकात्मता होने पर भी अर्थ अंश की ही प्रधानता होती है, क्योंकि उसका ही उपयोग होता है।

शब्दार्थयोरेकात्मत्वेऽप्यर्थांशस्यैव प्राधान्यमुपयोगवशात् ।
वाक्य० २, १३० ।

भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ की अभिन्नार्थकता होने पर भी विषय-भेद से दोनों की भी प्रधानता देखी जाती है। कहीं पर शब्द का अंश प्रधान होता है और कहीं अर्थ का अंश। वाक्य २, १३१।

भर्तृहरि का मत है कि लौकिक प्रयोग में अर्थांश की ही प्रधानता रहती है। लोक में अर्थ के साथ एकता को प्राप्त हुआ सा ही शब्द प्रयोग में आता है। यथा, 'अयं गौः' यह गौ है, ऐसे प्रयोगों में अर्थ बाह्य जगत् में विद्यमान होने के कारण मुख्य रूप से प्रतीत होता है। वाक्य० २, १३२ ।

जहां तक शास्त्र का सम्बन्ध है, शास्त्र में विवक्षा के अनुसार दोनों रूप ही देखे जाते हैं। कहीं पर शब्द अपने स्वरूप का ही बोध कराता है तब शब्दांश की प्रधानता रहती है कहीं पर अर्थ का मुख्य रूप से निरूपण होता है, तब अर्थांश की प्रधानता होती है, वक्ता की इच्छा के द्वारा प्रधानता का निर्णय होता है। वाक्य० २, १३२।

अर्थ असर्वशक्तिमान है—अर्थ में पृथक् शक्ति नहीं है, अपितु वह शब्दों के अधीन है। शब्दों के द्वारा जिस प्रकार अर्थ का बोध कराया जाता है, उसी प्रकार उनसे बोध होता है। अतएव अर्थ शब्द के स्वकीय माहात्म्य से उत्थापित किया हुआ ही है अतएव अर्थ असर्वशक्ति इस प्रकार से निरूपित है। वाच्य अर्थ कभी क्रिया रूप से कहा जाता है और कभी द्रव्य रूप से। इस प्रकार नियम से शब्दार्थ के रूप में क्रिया या द्रव्य का प्रतिपादन किया जाता है।

अशक्तेः सर्वशक्तेर्वा शब्दैरेव प्रकल्पिता।
एकस्यार्थस्य नियता क्रियादिपरिकल्पना॥ वाक्य २, १३३।

अर्थ परिवर्तनशील है—अर्थ को असर्वशक्ति इसलिए कहा गया है कि उसमें जो शक्ति है वह शब्द के द्वारा प्राप्त होती है। अर्थ की सत्ता शब्द के अधीन है। शब्द के बिना अर्थ की अभिव्यक्ति नहीं होती। पुण्यराज कहते हैं कि अर्थ निरात्मक (आत्महीन) और असत्यभूत है क्योंकि विवक्षा के अनुसार अर्थ जिस जिस प्रकार निरूपण किया जाता है, वह उसी प्रकार की अवस्था को प्राप्त होता है। विवक्षा के अनुरूप ही अर्थ का निरूपण होता है। यहां पर अर्थ के लिए निरात्मक शब्द का प्रयोग इस बात को स्पष्ट करता है कि अर्थ में निश्चितता या स्थायिता नहीं है, अतएव अर्थ में परिवर्तन होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४४१।

अर्थ सर्वशक्तिमान् है—अर्थ सर्वशक्तिमान् है। शब्द के द्वारा प्रत्येक नियत शक्ति का बोध कराया जाता है, अतः अर्थ को सर्वशक्तिमान् कहते हैं। (वाक्य० २, १३३)। भर्तृहरि कहते हैं कि सब कुछ अर्थ ही है। ऐसी कोई वस्तु नहीं जो अर्थ न हो। संसार की सब कुछ वस्तुएँ बोध्य हैं। अतएव अर्थ भी सर्वात्मा होता है। जिस प्रकार शब्द सर्वबोधकता-शक्ति के कारण सर्वशक्तिमान् है, इसी प्रकार सब कुछ बोध्य होने के कारण अर्थ भी सर्वशक्तिमान् है। शब्द के द्वारा तत्तद् रूप से निरूपित अर्थ बोध का विषय हो जाता है। पुण्यराज।

सर्वात्मकत्वादर्थस्य नैरात्म्याद् वा व्यवस्थितम्।
अत्यन्तयतशक्तित्वाच्छब्द एव निबन्धनम्॥ वाक्य० २, ४४१

कैयट ने कहा है कि शब्द में समस्त अर्थों को बोधन करने की शक्ति है। और अर्थ में यह शक्ति है कि वह समस्त शब्दों द्वारा बोध्य है।

सर्वार्थप्रत्यायनशक्तियुक्तो हि शब्दः, सर्वशब्दप्रत्याय्यशक्तियुक्तश्चार्थः इति व्यवहाराय नियमः क्रियते। प्रदीप, महा० १, १, ६७।

नागेश ने वैयाकरणों का सिद्धान्त लिखा है कि 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' समस्त शब्दों में यह शक्ति है कि वह समस्त अर्थों का बोध करा सकें। व्यवहार के

द्वारा शब्द की शक्ति को नियमित किया जाता है। जिस प्रकार शब्द के विषय में कहा गया है, उसी प्रकार कैयट के भाव हैं कि प्रत्येक अर्थ प्रत्येक शब्द द्वारा-वाच्य है। व्यवहार के लिए यह नियम किया जाता है कि यही अर्थ इस शब्द का वाच्य है। महान् से महान्, सूक्ष्म से सूक्ष्म, असमाख्येय तत्त्व तक अर्थ के रूप में बोध्य है, अतः अर्थ को सर्वशक्तिमान् कहा गया है।

अर्थ बौद्ध है बुद्धिगत अर्थ ही शब्द का अर्थ है, बाह्य नहीं। शब्द बुद्धिगत रहता हुआ बुद्धिगत अर्थ का बोध कराता है अर्थात् शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बौद्ध है, बाह्य नहीं। बाह्य वस्तुएँ भ्रम उत्पादन द्वारा बौद्ध अर्थ से सम्बद्ध हैं। यह विकल्पात्मक अर्थ भ्रम के कारण दृश्य वस्तु के साथ एकाकार रह कर यद्यपि बौद्ध है तथापि बाह्य वस्तु के साथ अध्यास को प्राप्त होकर बाह्य अर्थ का बोध कराता है। पुण्यराज।

> यो वार्थो बुद्धिविषयो बाह्यवस्तुनिबन्धनः।
> स बाह्यवास्त्विति ज्ञातः शब्दार्थः कैश्चिदिष्यते। वाक्य० २, १३४।
> बुद्ध्युपारूढ एव शब्दास्यार्थो, न बाह्यः। पुण्यराज।

अर्थ बौद्ध ही है या बाह्य भी है। इस विषय पर शब्दार्थ-सम्बन्ध के अध्याय में विशेष विचार किया गया है। नागेश इस मत को मानते हुए अर्थ को बौद्ध मानते हैं और शब्दार्थ-सम्बन्ध को भी बौद्ध मानते हैं। वे बाह्य अर्थ को भ्रमात्मक ज्ञान मानते हैं। पतञ्जलि, भर्तृहरि एवं पुण्यराज आदि बौद्ध अर्थ को मुख्य मानते हुए भी बाह्य अर्थ को भी शब्दार्थ मानते हैं।

अर्थ बौद्ध और बाह्य दोनों है—शब्दों का आकार विशेष से युक्त बाह्य अर्थ होता है। अपूर्व देवता स्वर्ग आदि शब्दों का आकारविशेष रहित बौद्ध अर्थ होता है। कतिपय शब्दों से बोध्य अर्थ आकारविशेष से युक्त है और बाह्य वस्तु की स्मृति के कारण है। कतिपय शब्दों के द्वारा निराकार बौद्ध अर्थों की प्रतीति होती है, तदनुसार ही अर्थ की व्यवस्था की जाती है। पुण्यराज।

> आकारवन्तः संवेद्याः व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः।
> ये ते प्रत्यवभासन्त संविन्मात्र त्वतोऽन्यथा॥
> वाक्य० २, १३५।

अर्थ अनिश्चित है—प्रत्येक व्यक्ति की अपनी-अपनी नियत वासना (संस्कार) के अनुसार ही अर्थ का स्वरूप होता है। वस्तुतः कोई भी निश्चित अर्थ शब्द का नहीं होता।

> प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोऽर्थः, तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते। पुण्यराज, वाक्य० २, १३६।

भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार एक ही बाह्यवस्तु को वासना या दृष्टिदोष के कारण इन्द्रिय नाना रूपों से युक्त प्रदर्शित करती है, उसी प्रकार प्रत्येक व्यक्ति अपनी-अपनी वासना के अनुसार शब्द का अर्थ विभिन्न रूप में ग्रहण करता है। अतएव शब्द का कोई एक निश्चित अर्थ नहीं है। वाक्य० २, १३६।

नास्ति कश्चिन्नियत एकः शब्दस्यार्थः। पुण्यराज ॥
वाक्य० २, १३६।

अर्थ श्रोता की बुद्धि के अनुरूप—भर्तृहरि अपने भाव को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वक्ता अपनी बुद्धि के अनुरूप अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है, किन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार उस शब्द का विभिन्न अर्थ समझते हैं।

वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते ॥
वाक्य० २, १३७।

पुण्यराज ने इस श्लोक का भाव स्पष्ट करते हुए बहुत ही सुन्दर उदाहरण दिया है कि सांख्य, जैन, बौद्ध आदि सभी अपने-अपने ज्ञान के अनुसार विभिन्न रूप से अर्थ को ग्रहण करते हैं। यथा, वैशेषिक दर्शन के विद्वान् ने अपने ज्ञान के अनुसार घट शब्द का प्रयोग किया। वह यह भाव प्रकट करना चाहता था कि घट अवयवी है, यह कपालद्वय के संयोग से निर्मित है, परन्तु सांख्य-वादी घट शब्द से समझता है कि यह सत्व, रजस्, तमस्—इन तीन गुणों का समा-हारमात्र है। जैन और बौद्ध यह समझते हैं कि यह परमाणु-संचयमात्र है। प्रत्येक को वैसा ही ज्ञान होता है। एक घट शब्द को वक्ता ने अपने ज्ञानानुसार एक अर्थ में प्रयुक्त किया, परन्तु विभिन्न श्रोताओं ने उसका अर्थ अपने ज्ञानानुसार विभिन्न समझा। ऐसी स्थिति में यह निश्चित नहीं कहा जा सकता कि वस्तुतः घट का क्या अर्थ है? वह अवयवी है, गुण-समाहार है या परमाणु-संचयमात्र है।

ज्ञान के अनुसार ही अर्थ भी परिवर्तनशील है—भर्तृहरि कहते हैं कि यही नहीं है कि एक ही दृश्य वस्तु को विभिन्न व्यक्ति अपने ज्ञान और वासना-भेद से विभिन्न समझते हैं, अपितु काल या अवस्था भेद से एक ही व्यक्ति एक वस्तु को विभिन्न रूप में देखने लगता है।

एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः ॥
वाक्य० २, १३८।

पुण्यराज, काल या अवस्थाभेद से एक ही व्यक्ति के विचारों में किस प्रकार परिवर्तन हो जाता है और वह कालान्तर में एक ही शब्द का अर्थ विभिन्न

समझने लगता है, इसका उदाहरण देते हैं कि एक मनुष्य जब कि उसने बौद्ध-दर्शन का अध्ययन किया था, एक शब्द के अर्थ को एक समझता था, परन्तु कालान्तर में वैशेषिक दर्शन के अध्ययन से उसी शब्द के अर्थ को कुछ अन्य समझने लगता है।

भर्तृहरि अतएव कहते हैं कि निमित्त अव्यवस्थित हैं अर्थात् प्रत्येक व्यक्ति का ज्ञान और उसकी वासना सदा एक सी नहीं रहती। ज्ञान के साधन प्रत्येक शास्त्र या दर्शन एक ही व्यवस्थित अर्थ नहीं बताते। अतः एक ही शब्द का अर्थ एक व्यक्ति शास्त्र और वासना की अनियतता के कारण क्रमशः विभिन्न रूप में समझता है। विभिन्न व्यक्ति एक ही शब्द का स्वज्ञानानुसार विभिन्न अर्थ समझते हैं। वाक्य० २, १३९।

पुण्यराज कहते हैं कि प्रत्येक व्यक्ति के ज्ञान के अनुसार ही अर्थ विभिन्न और परिवर्तित होता रहता है, यह स्वाभाविक है, इसमें किसी का क्या वश है। पुण्यराज ।

अर्थ और ज्ञान के परिवर्तन का कारण मानवीय अपूर्णता—भर्तृहरि उपर्युक्त विवेचन से इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि मनुष्य पूर्ण तत्त्वज्ञ नहीं है। उसका ज्ञान अपूर्ण और अव्यवस्थित है। अतत्त्वदर्शिता के कारण उसका ज्ञान त्रुटिपूर्ण और अनेक स्खलनों से युक्त है। अतएव उसका शब्दप्रयोग भी सर्वथा अव्यवस्थित, अतात्विक, त्रुटिपूर्ण और स्खलनों से युक्त है।

तस्माद्दृष्टतत्त्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं वापि नित्यमेवानव स्थितम्॥

वाक्य० २, १४०।

अर्थ वक्ता की इच्छा के अनुरूप—भर्तृहरि ने अर्थ के विषय में कुछ अन्य आवश्यक वक्तव्य उपर्युक्त १२ विभिन्न मतों के अतिरिक्त दिये हैं। भर्तृहरि और पुण्यराज कहते हैं कि अर्थ का कोई रूप नहीं है। वक्ता जिस प्रकार शब्द के अर्थ का निरूपण करता है वही उसका अर्थ हो जाता है। एक ही शब्द को एक वक्ता एक रूप से प्रयोग करके एक भाव को व्यक्त करता है और दूसरा वक्ता उसी शब्द को दूसरे रूप में प्रयोग करके दूसरा अर्थ बोधित करता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४४४।

लक्षणाद् व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः।
उपकारात् स एवार्थः कथंचिदनुगम्यत॥

वाक्य० २, ४४४।

शब्द अर्थ का केवल संकेत करता है—भर्तृहरि और पुण्यराज का कथन है कि शब्द अर्थ के स्वरूप को स्पर्श नहीं करते, अपितु दूर रहते हुए ही अर्थ का

संकेत मात्र करते हैं तथा इस प्रकार व्यवहार के लिए उपयोगी होते हैं। शब्द में यह शक्ति नहीं है कि वह अर्थ के स्वरूप को स्पर्श कर सके। पुण्यराज, वाक्य० २, ४४२।

> वस्तूपलक्षणंशब्दो नोपकारस्य कारकः।
> न स्वशक्तिः पदार्थानां संस्प्रष्टुं तेन शक्यते ॥
> वाक्य० २, ४४२।

अर्थ अनुमेय है, संकेत से भी अर्थ ज्ञान—शब्द का अर्थ जो वक्ता के हृदय में है, वह है, या जो श्रोता के हृदय में है, वह है। क्या वक्ता जो भाव प्रकट करना चाहता है वह भाव उसी रूप में श्रोता के हृदय में उत्पन्न होता या विभिन्न रूप से। इस विषय पर भर्तृहरि और हेलाराज का कथन है कि अर्थ की जो व्यवस्था की जाती है, वह वक्ता के अभिप्राय पर ही निर्भर रहती है या शब्द शक्ति भी उसमें कुछ कार्य करती है। इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि, जहाँ तक अर्थज्ञान का सम्बन्ध है वह शब्द-अर्थ है। शब्द ही विभिन्न अर्थों का विभाजन करता है। अक्षिनिकोच (आँख बन्द करना) आदि संकेतों से भी जो अर्थबोधन कराया जाता है वह शब्द के आश्रित ही है। शब्दों के द्वारा ही अर्थों का सूक्ष्म विवेचन करके उनका विस्तार किया जाता है। अर्थज्ञान प्रत्यक्ष है या अनुमेय, इस विषय में उत्तर है कि श्रोता वक्ता की विवक्षा का अपने अनुमान द्वारा अर्थ समझता है। श्रोता वक्ता के द्वारा उच्चरित शब्द को सुनकर यह अनुमान करता है कि वक्ता अमुक अर्थ का बोध कराना चाहता है। श्रोता अनुमान द्वारा स्वज्ञान के अनुरूप वक्ता का अर्थ ग्रहण करता है। हेला-राज, वाक्य० ३, पृ० ५५०।

> वक्तुरभिप्रायादर्थानां व्यवस्था न शब्दधर्मतः।
> शब्दादर्थाः प्रतीयन्ते स भेदानां विधायकः ॥
> अनुमानं विवक्षायाः शब्दादन्यन्न विद्यते ॥
> वाक्य० ३, पृ० ५५०।

अर्थ काल्पनिक है, शब्दसृष्टि में व्यक्ति का महत्त्व भर्तृहरि और पुण्य-राज ने इस बात पर भी विचार किया है कि किसी शब्द का अर्थ और उनका वाच्य-वाचक भाव व्यक्ति की कल्पना का फल है या अनादि। इस पर उनका कथन है कि यह समस्त साध्य-साधन (वाच्य-वाचक) व्यवहार काल्पनिक है। इन दोनों साध्य और साधनों का परस्पर सम्बन्ध आपेक्षिक है। अर्थात् व्यक्ति की कल्पना का फल है, वास्तविक नहीं है। अतएव पदार्थ असत्य है। पुण्यराज २, ४३५।

यह साध्य (वाच्य) है, और यह साधन (वाचक) है, इन दोनों का यह संबंध है,

यह सब काल्पनिक है। अतः तात्त्विक रूप से शून्य ही है। प्रयोक्ता के कल्पना मात्र से साध्य-साधन और दोनों के सम्बन्ध की स्थिति है। प्रयोक्ता ही किसी को साध्य (अर्थ) और किसी को साधन (शब्द) मानकर उनका तदर्थ में सम्बन्ध करता है और प्रयोग करता है। हेलाराज, वाक्य० २, ४३५।

प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्यसाधनरूपताम्।
अर्थस्य वाऽभिसम्बन्धकल्पनां प्रसमीहते।

वाक्य० २, ४३५।

पुण्यराज बहुत स्पष्ट शब्दों में कहते हैं कि यदि साध्य-साधन और इनका सम्बन्ध वास्तविक होता है तो वस्तु स्वभाव को ब्रह्मा भी अर्थात् संसार की कोई भी बड़ी से बड़ी शक्ति उसको बदल नहीं सकती, और यह शब्द अर्थ तथा इनका सम्बन्ध निश्चित ही होता, परन्तु ऐसा देखने में नहीं आता, अतः यह ज्ञात होता है कि यह काल्पनिक और वैयक्तिक सृष्टि है। इसी भाव का भर्तृहरि ने प्रतिपादन किया है। साधन-समुद्देश में भर्तृहरि ने यह विस्तार से प्रतिपादन किया है कि यह सब कुछ वैवक्षिक (काल्पनिक) है। शब्द और अर्थ का सम्बन्ध भी काल्पनिक है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४३६।

यदि हि वास्तवमेतत् स्यात् तदा वस्तुस्वभावस्य ब्रह्मणाऽप्यन्यथा-कर्तुमशक्यत्वाद् व्यवस्थितमेवैतद् भवेत्, न च तथा परिदृश्यते। पुण्यराज, वाक्य० २, ४३६।

अर्थ परिवर्तनशील है—भर्तृहरि का कथन है कि इस विषय पर एक मत यह भी है कि अर्थ यद्यपि सर्वशक्ति युक्त है तथापि प्रयोक्ताओं के द्वारा जिस उद्देश्य से जिस रूप में विवक्षित होता है, वही उसका रूप हो जाता है।

योऽसौ येनोपकारेण प्रयोक्तॄणां विवक्षितः।
अर्थस्य सर्वशक्तित्वात् स तथैव व्यवस्थितः।

वाक्य० २, ४३७।

अर्थ तीन प्रकार का है—सीरदेव ने परिभाषावृत्ति में बताया है कि अर्थवत्ता ३ प्रकार की है, १, लौकिक, २, अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्य ३, प्रतिज्ञाज्ञापित। सीरदेव के मतानुसार अर्थ को तीन भागों में विभाजित किया जा सकता है। परिभाषा, १२८।

१—लौकिक अर्थ को स्पष्ट करते हुए सीरदेव कहते हैं कि लौकिक अर्थ पद में नहीं रहता। लोक में प्रवृत्ति और निवृत्ति से शब्द अर्थवान् होता है। अर्थात लोक में सार्थक शब्द उसी को कहते हैं, जिसके श्रवण से प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। लोक में प्रवृत्ति या निवृत्ति वाक्य में ही होती है, अतः वाक्य ही सार्थक है। वाक्य का अर्थ ही लौकिक अर्थ है।

लौकिकी तावत् पद एव नास्ति। प्रवृत्त्यैव निवृत्त्यैव शब्दो लोकेऽर्थवान् भवति। वाक्य एव प्रवृत्तिनिवृत्ती दृष्टे इति तस्यैव लौकिकी।

भर्तृहरि इस विषय पर अपनी सम्मति बहुत स्पष्ट शब्दों में दे चुके हैं कि पदों में तब तक सार्थकता नहीं आती, जब तक कि वे वाक्य रूप को प्राप्त नहीं होते। वाक्य के अतिरिक्त पद की कोई सार्थकता नहीं है। वाक्य ही सार्थक होता है।

तथा पदानां सर्वेषां पृथगर्थनिवेशिनाम्।
वाक्येभ्यः प्रविभक्तानामर्थवत्ता न विद्यते ॥ वाक्य० २, ४२७।

२ – अन्वयव्यतिरेकसमधिगम्य, अर्थ की व्याख्या सीरदेव करते हैं कि शब्द में प्रकृति और प्रत्यय का पृथक्-पृथक् अर्थ क्या है, इसका निर्णय अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा होता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में सबसे प्रथम अन्वयव्यतिरेक के महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है और अर्थ-निर्णय या अर्थज्ञान के लिए अन्वय और व्यतिरेक को मुख्य साधन बताया है। अन्वय और व्यतिरेक के द्वारा यह निर्णय स्पष्ट रूप से किया जाता है कि शब्द में इतना या यह अर्थ प्रकृति का है और इतना या यह अर्थ प्रत्यय का।

सिद्धं त्वन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। महा० १, २, ४५।

३ – प्रतिज्ञाज्ञापित, अर्थ वह है, जो कि लौकिक और अन्वयव्यतिरेकगम्य नहीं है, अपितु पाणिनि आदि आचार्यों ने उन शब्दों को उन अर्थों में पढ़ा है, अतः उन शब्दों का वही अर्थ लिया जाता है। पतञ्जलि ने इस प्रकार के अर्थ को "आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः" (महा० १, १, १) अर्थात् आचार्यों के व्यवहार से अर्थ-निर्णय को बताते हुए आचार्य व्यवहारमूलक अर्थ बताया है। पाणिनि ने जो वृद्धि, गुण, उपधा निष्ठा, घि, नदी आदि पारिभाषिक शब्द दिए हैं, उनके अर्थ प्रतिज्ञाज्ञापित ही हैं।

अर्थ १८ प्रकार का है, पुण्यराज का विवेचन

पुण्यराज ने भर्तृहरि के उपर्युक्त विभिन्न विचारों को स्पष्ट करने के अतिरिक्त लिखा है कि अर्थ १८ प्रकार का है। अर्थविज्ञान की दृष्टि से पुण्यराज का यह विवेचन विशेष उपयोगी है। पुण्यराज ने जो १८ अर्थों का विवरण दिया है, वह निम्न है।

अर्थोऽष्टादशधा, तत्र वस्तुमात्रमभिधेयश्च०। पुण्यराज,
वाक्य० २,८१, पृ० ११०।

१—वस्तुमात्र, समस्त वाह्य अर्थ जो कि प्रतिपादन का विषय नहीं है, वाह्य अर्थ जो कि स्वसत्ता रूप से विद्यमान है, परन्तु जिसका बोधन नहीं कराया जा रहा है। ऐसी स्थिति में अर्थ वस्तुमात्र होगा।

२ – अभिधेय, वाह्य अर्थ ही जब प्रतिपाद्य विषय होगा, तब उसे अभिधेय (बोध्य या वाच्य) कहेंगे।

३—शास्त्रीय, अभिधेय दो प्रकार का है, एक शास्त्रीय और दूसरा लौकिक। वेद और शास्त्रादि द्वारा प्रतिपाद्य अर्थ शास्त्रीय कहा जाता है। इसमें आवाप और उद्धार होता है। अर्थात् एक अर्थ को निकालना और अर्थान्तर का आक्षेप किया जाता है, अतः शास्त्रीयअर्थ को 'आवापोद्धारिक' कहते हैं।

४ - लौकिक, लोकप्रसिद्ध अर्थ, ऊपर लिखा जा चुका है कि लौकिक अर्थ वाक्यार्थ रूप अर्थ होता है। लौकिक अर्थ में आवापोद्धार नहीं होता, अतएव लौकिक अर्थ को अखण्ड मानते हैं। (लौकिकस्त्वखण्डः)।

५—विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु, पतञ्जलि ने महाभाष्य में 'कंसं घातयति' (कंस को मारता है), 'बलिं बंधयति' (बलि को बाँधता है), उदाहरणों द्वारा इसका अर्थ स्पष्ट किया है। कंस और बलि अतीत के पुरुष हैं, उनका मारना या बाँधना वर्तमान काल में कैसे सम्भव हो सकता है। यहाँ पर अर्थ वस्तुतः तद्रूप नहीं है, किन्तु विशि ट आकारयुक्त ज्ञान से उसका प्रत्यक्ष किया जाता है असत्य अर्थ को भी सत्य अर्थ के तुल्य प्रयोग में लाया जाता है। ऐसे अर्थ को विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु इसलिए कहा जाता है, क्योंकि अर्थ इस प्रकार विशिष्ट आकार से युक्त होकर प्रस्तुत हुआ है कि वह वस्तुतः अविद्य-मान वस्तु में भी विद्यमानता का ज्ञान कराता है। इसको काल्पनिक अर्थ कह सकते हैं।

६ – विशिष्टावग्रहसम्प्रत्ययहेतु के विपरीत अर्थात् असत्य या काल्पनिक न होकर वास्तविक अर्थ, जैसे, शुक्ल गाय आदि अर्थ वास्तविक रूप में बाह्य जगत् में विद्यमान है।

७—मुख्य, शब्द का अभिधा शक्ति से जो अर्थ बोधित किया जाता है वह मुख्य अर्थ है। यथा सास्ना आदि से युक्त गाय, इसमें गो शब्द अपने मुख्य अर्थ गौ का बोध कराता है।

८—परिकल्पितरूपविपर्यास, लक्षणा शक्ति या व्यंजना शक्ति के द्वारा जो अर्थ लक्षित या व्यक्त किया जाता है, उसे परिकल्पितरूपविपर्यास अर्थ कहते हैं, क्योंकि इसमें रूप अर्थात् वास्तविक अर्थ किसी निमित्त विशेष के कारण विपर्यास परिवर्तन आदि किया जाता है, अतएव इसे गौण अर्थ कहते हैं यथा, "गौर्वाहीकः" में गो शब्द वाहीक पंचनदप्रान्तीय की निमित्त-विशेष मूर्खता के बोधन के लिए प्रयुक्त हुआ है। अपने मुख्यार्थ गो-पशु को छोड़कर गौण अर्थ 'मूर्ख' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

९—व्यपदेश्य, जिसका वर्णन किया जा सके, ऐसे अर्थ को व्यपदेश्य अर्थ कहते हैं। जैसे जाति या द्रव्य आदि। भर्तृहरि ने ऐसे अर्थ को "समा-ख्येय" नाम दिया है।

१०—अव्यपदेश्य, जिसका वर्णन तात्त्विक रूप से न किया जा सके,

ऐसे अर्थ को अव्यपदेश्य अर्थ कहते हैं। भर्तृहरि ने ऐसे अर्थ को "असमाख्येय" नाम दिया है। इन्द्रिय से अदृश्य सूक्ष्म अर्थ जिसका ठीक-ठीक वर्णन नहीं किया जा सकता।

११—सत्त्वभावापन्न, जो अर्थ किसी बाह्य वस्तु का बोध कराता है, जो दृश्य कारण है, उसको सत्त्वभावापन्न अर्थ कहते हैं, क्योंकि वह सत् वस्तु का बोध कराने के सद्रूप होता हैं।

१२—असत्वभूत, जब अर्थ असत् वस्तु का बोध कराता है, तब वह असत्व-भूत अर्थ होता है। क्योंकि उस स्थिति में बाह्य कोई सत्वस्तु नहीं है।

१३—स्थिरलक्षण, जो अर्थ स्थिर रूप से विद्यमान रहे, उसे स्थिर लक्षण कहते हैं। यथा, 'राजपुरुष" में पुरुष शब्द राज सम्बन्धी पुरुष का ही बोध कराता है। स्थिर रूप से अर्थ बोध कराने के कारण इसे स्थिर लक्षण अर्थ कहते हैं।

१४—विवक्षाप्रापितसन्निधान, स्थिर लक्षण के विपरीत जहाँ पर अर्थ विवक्षा के अधीन रहता है उसे विवक्षाप्रापितसन्निधान अर्थ कहते हैं। यथा, "राज्ञः पुरुषस्य" में निश्चित अर्थ नहीं है क्योंकि दोनों शब्द षष्ठ्यन्त हैं। जिसको चाहें विशेषण मानें और दूसरे को विशेष्य। यहाँ पर अर्थ विवक्षा पर निर्भर है। अतः अनिश्चित है।

१५—अभिधीयमान, जो अर्थ प्रस्तुत रूप से वर्णन किया जाता है, उसे अभि धीयमान अर्थ कहते हैं। यथा, 'राजसखः' में 'राजा का मित्र' ऐसा अर्थ प्रस्तुत रूप से वर्णित होने के कारण अभिधीयमान है।

१६—प्रतीयमान, प्रस्तुत अर्थ के अतिरिक्त जो अर्थ व्यंजना या ध्वनि से ज्ञात होता है, उसे प्रतीयमान अर्थ कहते हैं। यथा 'राजसखा' में ही राजा का मित्र यह अर्थ छोड़कर 'राजा है मित्र जिसका' इस प्रकार का बहुव्रीहि समास का अर्थ प्रतीत होने से यह अर्थ प्रतीयमान है।

१७—अभिसंहित, वाच्य अर्थ। यथा, गो शब्द से जाति या व्यक्तिरूप जो अर्थ ज्ञात होता है, वह अभिसंहित है।

१८—नान्तरीयक, अविनाभाव से रहने वाला अर्थ। यथा, गो शब्द से जो विभिन्न शुक्ल, नील, पीत आदि वर्ण विशेष का भी ज्ञान होता है, वह अर्थ गो शब्द में अविनाभाव से रहता है, अतः उसे नान्तरीयक अर्थ कहते हैं।

ओग्डेन और रिचार्ड्स का विवेचन

ओग्डेन और रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिङ्ग आव् मीनिङ्ग' अध्याय (९ पृष्ठ १८५ से २०८) में आधुनिक विद्वानों के बताये हुए १६ अर्थ के लक्षणों का उल्लेख किया है तथा उनका विवेचन भी किया है। उपर्युक्त विवेचन से

उसकी बहुत कुछ अंशों में समानता है। दोनों की तुलना विशेष उपयोगी प्रतीत होती है।

ओग्डेन और रिचार्ड्स का विवेचन

आधुनिक भाषाविशेषज्ञों द्वारा अर्थ के १६ लक्षण

ओग्डेन और रिचार्ड्स ने अपनी पुस्तक 'मीनिङ्ग आव् मीनिङ्ग' (अध्याय ६ पृष्ठ १८५ से २०८) में आधुनिक भाषाविशेषज्ञों द्वारा बताए गए अर्थ के १६ लक्षणों का विशेष ऊहापोह-पूर्वक विवेचन किया है। वे अर्थ के १६ लक्षण निम्न हैं:—

(क)

१—तात्त्विक भाग अर्थ है।

२—अन्य वस्तुओं के साथ एक अनुपम अनिर्वचनीय सम्बन्ध अर्थ है।

(ख)

३—शब्दकोश में एक शब्द के साथ जोड़े गये अन्य शब्द अर्थ हैं।

४—शब्द का लक्ष्य अर्थ है।

५—सारांश अर्थ है।

६—वस्तुरूप में निरूपित क्रियात्मकता अर्थ है।

७—(क) अभिमत तथ्य अर्थ है।

(ख) संकल्प अर्थ है।

८—शास्त्रीय प्रक्रिया में निर्दिष्ट भाव अर्थ है।

९—हमारे भावी अनुभवों से सिद्ध किसी वस्तु के क्रियात्मक परिणाम अर्थ हैं।

१०—किसी वक्तव्य में वाच्य या लक्ष्य रूप में निहित विचारात्मक परिणाम अर्थ है।

११—किसी वस्तु के द्वारा उद्बोधित मनोभाव अर्थ है।

(ग)

१२—किसी निर्धारित संबन्ध के द्वारा किसी संकेत से वस्तुतः संबद्ध पदार्थ अर्थ हैं।

१३—(क) किसी प्रेरणा के स्मरणोद्बोधक परिणाम अर्थ हैं। सम्प्राप्त संबन्ध अर्थ हैं।

(ख) कोई अन्य घटना जिससे किसी अन्य घटना के स्मरणोद्बोधक परिणाम संबद्ध हैं, अर्थ हैं।

(ग) किसी संकेत का अभिमत पदार्थ अर्थ है।

(घ) जिस अर्थ को कोई बात अभिव्यक्त करती है, वह अर्थ है।

(संकेतों के विषय में -)

वह वस्तु, जिसको संकेत का प्रयोक्ता वस्तुतः संकेतित करता है, अर्थ है।

१४—संकेतों के प्रयोक्ता को जिसका निर्देश करना चाहिये, वह अर्थ है।

१५—संकेतों के प्रयोक्ता को जो स्वयं अभिमत भाव है, वह अर्थ है।

१६—(क) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ को समझता है, वह अर्थ है।

(ख) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस अर्थ की अपने हृदय में भावना करता है, वह अर्थ है।

(ग) व्यक्ति संकेत के द्वारा जिस भाव को वक्ता का अभिप्रेत भाव समझता है, वह अर्थ है।

अर्थ के इन १६ लक्षणों की उपर्युक्त अर्थ के लक्षणों से तुलना विशेष उपयोगी प्रतीत होती है।

अध्याय—३

अर्थविकास

अर्थविकास के कारण—पूर्व अध्याय में इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया गया है कि शब्द का एक ही अर्थ नियमित रूप से नहीं रहता है। वक्ता और बोद्धा के विवक्षानुकूल एक ही शब्द का अन्य अर्थ में भी विशेष भावाभिव्यक्ति के लिए प्रयोग किया जाता है। इस अध्याय में अर्थ-विकास के कारणों पर प्रकाश डाला जायगा कि किन कारणों से एक शब्द के अर्थ का कभी विस्तार, कभी संकोच और कभी अन्यार्थ बोधकता होती है। कभी एक शब्द नानार्थक हो जाता है और कभी अनेक शब्द एकार्थक हो जाते हैं।

अर्थ की परिवर्तनशीलता

कैयट ने अर्थ के विषय में लिखा है कि यदि एक शब्द का एक ही अर्थ नियमित रूप से प्रयोग होता तो अर्थ विषयक संदेह ही उत्पन्न न होता, परन्तु ऐसा नियम नहीं है, अतः संदेह होता है।

यद्येकः शब्द एकस्मिन्नर्थे नियतः स्यात्, तत एतद् युज्यते वक्तुम्, यतस्त्वनियमः ततः प्रकृतेरेव सर्वे अर्थाः स्युः। प्रदीप; महा० १, २, ४५।

नागेश ने कैयट का स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि प्रकृति और प्रत्ययों का अर्थ अनियत है।

प्रकृतिप्रत्यययोरर्थवत्ताया अनैयत्यं दर्शयति।

उद्योत, महा० १, २, ४५

इसी अनियतता के आधार पर पतञ्जलि ने कहा है कि "एकश्च शब्दो बह्वर्थः" एक शब्द के नाना अर्थ होते हैं। महा० १, २, ४५। अक्ष, माष और पाद इन तीन शब्दों को उदाहरण के रूप में रखते हुए उन्होंने बताया है कि ये तीनों शब्द नाना अर्थों के बोधक हैं। एक शब्द के नाना अर्थों का होना अर्थ-विकास का परिचायक है। वेद ने कहा है कि इस संसार की समस्त वस्तुएँ जगत् हैं, चल हैं। "यत् किं च जगत्यां जगत्०" यजु० ४०, १। भाषा और अर्थ का साक्षात् संबन्ध मनुष्य से है, मनुष्य मर्त्य है, उससे संबद्ध वस्तुओं की भी वही गति होती है। उसमें परिवर्तन और चलत्व आ जाता है।

अर्थविकास के तीन स्वरूप

यास्क ने इस विषय पर निरुक्त में विचार करते हुए अर्थविकास पर प्रकाश डाला है। गमनशीलता के कारण सर्वप्रथम पृथ्वी को गो नाम दिया गया। यह अर्थ वहाँ से विस्तार की दिशा में प्रगतिशील हुआ और गमनशीलता के साधर्म्य से गाय को भी गौ कहा जाने लगा। इससे भी आगे चलकर वाणी को भी प्रगतिशील देखकर गो कहा गया। इषु, आदित्य, रश्मि आदि में इस अर्थ का साधर्म्यनिरूपित विस्तार हुआ। इसके अतिरिक्त मुख्यार्थ गाय को छोड़कर गौण अर्थ दुग्ध, चर्मासन, चर्म, स्नाव आदि के लिए भी इसका प्रयोग होने लगा। यह एक स्वरूप है अर्थात् अर्थविस्तार की ओर प्रवृत्ति, जिससे एक शब्द अपने मौलिक अर्थ से परिवर्तित होता हुआ नाना अर्थों में प्रयुक्त होने लगा। यास्क ने वेद के उदाहरणों द्वारा अपने कथन की पुष्टि की है कि किस प्रकार वैदिक काल में ही एक शब्द का व्यापक रूप में प्रयोग होता था।
निरुक्त २, ५—६।

इसी प्रश्न का दूसरा स्वरूप भी है। एक शब्द ही जो कि अपने निर्वचनात्मक अर्थ के आधार पर नानार्थक होना चाहिए था, वह अर्थसंकोच के द्वारा संकुचित अर्थ में ही प्रयुक्त होने लगता है। इसका विवेचन शब्दशक्ति के रूढि और योगरूढि के विवरण में किया गया है। यास्क ने इसी प्रश्न को निम्न रूप में रक्खा है कि यदि तक्षणक्रिया के आधार पर ही तक्षा (बढ़ई) कहाता है, तो प्रत्येक तक्षणक्रिया करने वाले को तक्षा क्यों नहीं कहा जाता। प्रत्येक मार्ग पर चलने वाले को अश्व (घोड़ा) क्यों नहीं, और प्रत्येक छेद करने वाली वस्तु को तृण क्यों नहीं, (निरुक्त १, १२)। इसका उत्तर देते हुए यास्क ने अर्थसंकोच की ओर ध्यान दिलाया है और कहा है कि लोक में ऐसा ही देखा जाता है कि निर्वचनात्मक अर्थ के आधार पर वह नाम सब को नहीं दे दिया जाता (निरुक्त १, १४)। पतञ्जलि ने भी इसका विवेचन करते हुए लिखा है कि "क्या यह उचित है कि शब्दों का किसी रूढ अर्थ में प्रयोग हो। उत्तर दिया है, "हाँ यह युक्त है। लौकिक व्यवहार में भी ऐसा ही देखा जाता है।"

युक्तं पुनर्यत् नियतविषया नाम शब्दाः स्युः। बाढं युक्तम्। अन्यत्रापि तद्विषयदर्शनात्। महा० २, २, २६।

इस प्रश्न का एक तीसरा स्वरूप भी है, वह है अर्थादेश। कभी-कभी शब्द अपने मुख्य एवं स्वाभाविक अर्थ को छोड़कर अन्यार्थ में भी प्रयुक्त होने लगता है, ऐसी स्थिति में उसको अर्थादेश कहते हैं। इससे एक ओर अर्थसंकोच है, दूसरी ओर अर्थविस्तार। पाणिनि के 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' (अष्टाध्यायी ५, २, २०) सूत्र की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि ने

कोपीन शब्द का अर्थ अकार्य अर्थात् दुष्कर्म किया है और इसका संबन्ध कूपपतन के योग्य कार्य से किया है। परन्तु यह शब्द कूपार्थ के साथ संबन्ध और अकार्य दोनों को छोड़कर कोपीन नामक वस्त्र के लिए प्रयुक्त होने लगा। उक्त सूत्र की व्याख्या में कैयट ने इस अर्थादेश का विवरण भी दिया है। भ्रातृव्य शब्द का मुख्य अर्थ भ्राता का पुत्र था, परन्तु पतञ्जलि ने 'व्यन् सपत्ने' (अष्टा० ४, १, १४५) सूत्र का भाष्य करते हुए बताया है कि भ्रातृव्य शब्द अपने अपत्यार्थ को छोड़कर शत्रु के अर्थ में चल पड़ा है। कैयट ने कहा है कि भ्रातृव्य शब्द शत्रुमात्र के लिए प्रयुक्त होता है, ऐसा नहीं है कि समस्त शत्रु भाई के ही पुत्र हों। इस प्रकार भ्रातृव्य शब्द मुख्यार्थ को छोड़कर शत्रु का पर्यायवाची हो गया। सपत्न शब्द का पाणिनि ने शत्रु अर्थ में प्रयोग किया है। काशिकाकार ने इसका संबन्ध सपत्नी शब्द से बताया है, परन्तु सपत्न शब्द सपत्नी के अर्थ को छोड़कर प्रत्येक शत्रु के लिए प्रयुक्त होता है, चाहे उसका सपत्नी (सौतेली माँ) से संबन्ध हो या नहीं। (काशिका, अष्टा० ४, १, १४५)।

तीनों स्वरूपों का विवेचन

अर्थसंकोच

अर्थविकास की तीन धाराएँ हैं, अर्थसंकोच, अर्थविस्तार और अर्थादेश। षष्ठ अध्याय में रूढि, योगरूढि, और यौगिकरूढि शक्तियों के विवेचन में बताया गया है कि शब्द के मुख्यार्थ या निर्वचन के आधार पर नानार्थक और व्यापक होना चाहिए था, परन्तु उनके अर्थों में संकोच हो जाने से उनका व्यापक रूप से प्रयोग नहीं हो सकता है। सर्वप्रथम यास्क ने इस पर ध्यान आकृष्ट किया है और नामकरण के मूल पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि निर्वचन के आधार पर शब्द का सामान्य रूप से प्रयोग नहीं हो सकता है। गो, अश्व, तृण, भूमि, परिव्राजक, जीवन के अर्थों में संकोच होने के कारण इनका निर्वचनात्मक अर्थ-सामान्य में प्रयोग नहीं हो सकता है।

पतञ्जलि, भर्तृहरि, कैयट, नागेश और हेलाराज आदि ने अर्थसंकोच के विभिन्न अंशों पर विशेष महत्त्वपूर्ण विचार किया है।

कैयट ने कहा है कि यद्यपि शब्द की शक्ति अनन्त है, वह सर्वार्थबोधक है, तथापि जब एक शब्द विशिष्ट अर्थ में व्यवहार के लिये नियन्त्रित कर दिया जाता है, तब वह उसी अर्थ का बोध कराता है, अन्य का नहीं।

सर्वार्थाभिधानशक्तियुक्तः शब्दो यदा विशिष्टेऽर्थे संव्यवहाराय नियम्यते, तदा तत्रैव प्रतीतिं जनयति नान्यत्र। कैयट, महा० १. २. २२।

नागेश ने लिखा है कि रूढि शब्दों में क्रिया का निर्देश केवल उसकी व्युत्पत्ति

के ज्ञान के लिए होती है। जैसे 'गच्छतीति गौः' वस्तुतः उसका अर्थ रूढिसंज्ञा हो जाने के कारण समाप्त-प्राय हो जाता हैं, अतएव गमनक्रिया के अभाव में भी उसे गौ कहते हैं और अन्य वस्तुएं जो गमनक्रिया करती हैं, उन्हें गौ नहीं कहते।

रूढिशब्देषु क्रिया केवलं व्युत्पत्त्यर्थमाश्रीयते, गच्छतीति गौरिति। तेन गमनक्रियारहितोऽपि गौर्भवति, गोपिण्डाच्चान्योऽर्थो गमनविशिष्टोऽपि गौर्न भवति। नागेश, महा० ३. २. ५६।

हेलाराज ने अतएव कहा है कि गमनक्रिया के कारण मनुष्य को गौ नहीं कहते, और प्रक्षरणक्रिया के कारण न्यग्रोध को प्लक्ष नहीं कहने लगते। रूढ होने से शब्द अपने निर्वचनात्मक अर्थ को छोड़ देता है।

रूढत्वाच्च लौकिकस्यार्थस्य प्रक्षरणमात्राद् न्यग्रोधः प्लक्षो नोच्यते, न हि गमनाद् गौरिति पुरुषोऽपि गौरित्यभिधीयते। वाक्य० का० ३ पृ० ४६५।

अतएव विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में कहा है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का आधार कुछ होता है और प्रवृत्ति का कुछ अन्य।

अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।
सा० दर्पण। २, ५।

नागेश ने लघुमंजूषा में लिखा है कि प्रवृत्ति प्रचलित अर्थ को लेकर चलती है। इसके उदाहरण लिखे हैं कि व्याघ्र, मणि, नूपुर, मण्डप आदि शब्द रूढ हैं, इनमें व्युत्पत्त्यर्थ का बोध नहीं होता। देव शब्द भी रूढ हो गया है। (मंजूषा पृ० १०७, महा० ३, २, ५६)।

नागेश ने परिभाषेन्दु में लिखा है कि मातृ शब्द के दोनों अर्थ हैं, माता और तोलने वाला। परन्तु प्रसिद्धि के आधार पर अर्थसंकोच हो जाने से माता का अर्थ माता जननी ही लिया जाता है, तोलने वाला नहीं।

अवयवप्रसिद्धेः समुदायप्रसिद्धिर्बलीयसी। परिभाषेन्दु, परि० १०७।

कितने ही शब्द पहले नाना अर्थों के बोधक रहते हैं, परन्तु प्रसिद्धि के कारण उनके अर्थों में संकोच होने से कोई अर्थ शेष रह जाता है, अन्य अर्थ अप्रयुक्त हो जाते हैं। पुण्यराज ने लिखा है कि धेनु शब्द प्रत्येक दूध देने वाले पशु का वाचक था, परन्तु उसका अर्थ संकोच होने के कारण गाय ही अर्थ शेष रह गया है। वाक्य० २. ३१७। यास्क ने लिखा है कि वेद में न शब्द निषेध और उपमा दो अर्थों का बोधक था, परन्तु वह संकोच से निषेधार्थक ही रह गया है।

नेति प्रतिषेधार्थीयो भाषायाम्, उभयमन्वध्यायम्। निरुक्त १, ४

वेद में पशु शब्द का अर्थ बहुत व्यापक है। शतपथ ब्राह्मण ने पांच पशुओं में मनुष्य का भी उल्लेख किया है। शत० ६, २, १, २। यजुर्वेद २३, १७ में अग्नि, वायु और सूर्य के लिए भी पशु शब्द का प्रयोग हुआ है। कौषीतकि, शतपथ, तैत्तिरीय आदि ब्राह्मणों में आत्मा, यजमान, अन्न, श्री, सोम आदि के लिए भी पशु शब्द का प्रयोग होना बताया है। परन्तु इसका अर्थ केवल गाय आदि पशु ही रह गया है।

इसी प्रकार ब्राह्मण ग्रन्थों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि अग्नि, इन्द्र, सोम, ऋषि, पितृ, पुरुष, यज्ञ, ब्रह्मन्, विष्णु, वृत्र, हरि, हिरण्य, समुद्र, मातरिश्वन् आदि शब्द बहुत ही व्यापक अर्थों में प्रयुक्त होते थे। परन्तु संस्कृत साहित्य में इनके अर्थों में बहुत संकोच दिखाई देता है।

यास्क ने निरुक्त के अध्याय तीन, चार और पांच में वेद के नानार्थक शब्दों की वेदमन्त्रों के उद्धरणपूर्वक बहुत विस्तार से व्याख्या की है। संस्कृत साहित्य में उन शब्दों के अर्थों में बहुत संकोच हो गया है। उदाहरणार्थ कतिपय शब्द तथा उनके वैदिक अर्थ निम्न हैं:—गौ (पृथ्वी, सूर्य, गाय, किरण, वाण आदि।) काष्ठा (दिशा, उपदिशा, सूर्य, जल।) शिरस् (आदित्य, सिर।) रजस् (ज्योति, जल, लोक।) अन्ध (अन्न, अन्धकार, अन्धा पुरुष।) अर्क (देव, भक्त, अन्न, आक का वृक्ष।) पवित्र (मन्त्र, किरण, जल, अग्नि, वायु, सोम, सूर्य, इन्द्र।) अरि (शत्रु, ईश्वर।) वृक (चन्द्र, सूर्य, श्वा, शृगाल, हल।) अश्विनी (द्यावापृथिवी, होरात्र आदि।)

अर्थसंकोच कई प्रकार से होता है। पतञ्जलि और भर्तृहरि ने लिखा है कि समास से अर्थसंकोच या अर्थ का विशेषावस्थान हो जाता है। यथा अब्भक्षः, वायुभक्षः (जल या वायु पर ही जीवित रहने वाले), कर्णेजप (पिशुन), पश्यतोहर (स्वर्णकार), त्र्यम्बक, त्र्यक्ष, कण्ठेकाल (शिव)। महा० आ० १, वाक्य० का० ३, पृ० ५५६।

उपसर्ग के संयोग से अर्थसंकोच या विशेषावस्थान हो जाता है। यथा, हृ धातु के आहार, विहार, प्रहार, संहार, नी धातु के प्रणय, अनुनय, विनय, निर्णय, भू धातु के प्रभाव, अनुभाव, अनुभव, सम्भव, प्रभाव आदि।

विशेषणों के संयोग से अर्थ का संकोच हो जाता है और वह शब्द विशेष अर्थ का वाचक हो जाता है। जैसे "शुक्लः पटः" "शुक्लो गौः" आदि।

सर्वेश्च शब्दोऽन्येन शब्देनाभिसंबध्यमानो विशेषवचनः संपद्यते।

महा० २, १, ५५।

पतञ्जलि ने बताया है कि शब्दों का अर्थ लोकप्रसिद्धि के आधार पर संकु-

चित हो जाता है और उस शब्द का विशेष स्थान पर ही प्रयोग हो सकता है सर्वत्र नहीं ।

युक्तं पुनर्यन्नियतविषया नाम शब्दाः स्युः। बाढं युक्तम्। अन्यत्रापि नियतविषयाः शब्दा दृश्यन्ते। महा० २, २, २९ ।

रक्त, लोहित और शोण शब्द पर्यायवाची हैं । परन्तु लाल अश्व को "अश्वः शोणः" ही कहेंगे । शोण शब्द का अश्व के साथ ही प्रयोग होता है । इसी प्रकार कृष्ण अर्थ में अश्व के लिए हेम, अश्वो हेमः । शुक्ल अर्थ में अश्व के लिए कर्क शब्द है, अश्वः कर्कः । शोण हेम कर्क ये रक्त कृष्ण और श्वेत के पर्याय हैं पर इनका प्रयोग अश्व के साथ होने से अर्थ संकुचित हो गया है ।

जिस प्रकार व्याकरण में पारिभाषिक संज्ञाएँ या नाम हैं, उसी प्रकार वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति, दर्शन, गृह्य और श्रौत सूत्र तथा साहित्य के प्रत्येक अंग में अपने-अपने पारिभाषिक शब्द हैं, जो शब्द एक अर्थ में एक शास्त्र में उपयोग में लाये गये हैं, वही शब्द अन्य शास्त्र में दूसरे अर्थ में। प्रत्येक शास्त्र के अध्ययन के समय उन शब्दों का वही पारिभाषिक अर्थ लिया जाता है, प्रचलित और व्यावहारिक अर्थ नहीं। इस प्रकार एक शब्द का व्यापक अर्थ होते हुये भी संकुचित अर्थ में ही शास्त्र में प्रयोग होता है। जैसे व्याकरण में आगम का अर्थ है किसी वर्ण की वृद्धि, परन्तु अन्यत्र इसका अर्थ है शास्त्र आय या आगमन। प्रत्येक पारिभाषिक शब्द की अन्य शास्त्रीय प्रयोगों से तुलना से इस प्रकार का अर्थसंकोच बहुत व्यापक रूप से दृष्टि-गोचर होता है ।

सब प्रकार के नामकरण अर्थसंकोच के उदाहरण हैं। प्रत्येक संज्ञा अपने यौगिक अर्थ के अनुसार बहुत व्यापक अर्थ का बोध कराती है, यदि व्यापक अर्थ का ग्रहण किया जाए तो कोई ऐसी वस्तु नहीं जिसको कि ऐसा नाम दिया जा सके जो अव्याप्ति और अतिव्याप्ति से रहित हो सके। इस प्रकार व्यवहार भी असंभव हो जाएगा। अतएव नामकरण के मूल में ही अर्थसंकोच है। जो नाम जिस भाव को दे दिया जाता है, वह उस अर्थ में रूढ हो जाता है और यौगिक अर्थ का बोध नहीं कराता। जिस प्रकार प्राणियों तथा व्यक्तियों के नाम रूढ हैं, उसी प्रकार शास्त्रों, संस्कारों एवं अन्य सभी भावों की संज्ञाएँ रूढ हैं। व्याकरण का यौगिक अर्थ है विभाजन या अपो-द्धार, यह प्रकृति प्रत्यय आदि के विभाजन के आधार पर व्याकरण शास्त्र के लिए रूढ हो गया है। साहित्य (सहितस्य भावः), दर्शन (तत्त्वदर्शन), वेद (ज्ञान), निरुक्त (निर्वचनशास्त्र) उपनिषद् (आत्मा का सामीप्य प्राप्त करना) आदि नाम यौगिक अर्थ के आधार पर पड़े हैं, परन्तु वे विशेष अर्थों

में रूढ हो गए हैं। संस्कार का अर्थ है शुद्धि, परन्तु वह संस्कारविशेषों के लिए रूढ हो गया है। संस्कारविशेषों के नाम भी इसी प्रकार रूढ हो गए हैं। निष्क्रमण (निकलना), उपनयन (समीप लाना), समावर्तन (लौटकर आना), गृहस्थ (गृह में रहना), वान प्रस्थ (वन में जाना), संन्यास (त्याग) आदि शब्दों का यौगिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

पाणिनि और पतञ्जलि ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण में कतिपय उदाहरण देकर बताया है कि तद्धित और कृदन्त प्रत्ययों के योग से शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं। कितने ही स्थानों पर उनका धात्वर्थ या प्रातिपदिकार्थ अर्थज्ञान में विशेष सहायक नहीं हो पाता। पतञ्जलि ने कहा है कि: —

अन्यत्राप्यविशेषविहिताः शब्दा नियतविषया दृश्यन्ते।
महा० ७. १. ९६।

धातुओं के अर्थ सामान्य रूप से लिखे गये हैं, परन्तु कतिपय प्रत्ययों के योग से उनका अर्थ नियत हो जाता है। उन प्रत्ययों के योग से शब्द किसी नियत अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। पतञ्जलि ने इसका उदाहरण देते हुए लिखा है कि घृ धातु का सामान्य रूप से सेचन और दीप्ति अर्थ उल्लेख किया गया है, परन्तु घृत (घी), घृणा (कृपा, दया), घर्म (उष्ण, ग्रीष्म ऋतु) शब्द विशेष अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। राशि, रश्मि, और रशना शब्द रश् धातु से ही बने हैं, पर सब विभिन्न विशेष अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। मन् (मनन करना) धातु से ही मति, मान, मनन, मनस् , मत आदि शब्द बने हैं, परन्तु सब विशिष्ट अर्थों में नियमित हैं।

अमा (साथ) शब्द से अमात्य शब्द सचिव के अर्थ में रूढ हो गया है, परन्तु अमावास्या का अर्थ विशिष्ट ही है। महा० ४, २, १०४। सप्तपद (सात पैर) शब्द से सप्तपदी (विवाह संस्कार की एक विधि) के लिये रूढ हो गया है और साप्तपदीन का अर्थ मित्रता हो गया है। अष्टा० ५, २, २२। छत्र शब्द से पतञ्जलि ने छात्र शब्द की व्युत्पत्ति बताई है, यह विद्यार्थी के अर्थ में रूढ हो गया है। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या करते हुये बताया है कि गुरु छत्र है, क्योंकि वह शिष्य को आच्छादित करता है अर्थात् शिष्य के अज्ञान को दूर करता है। जिस प्रकार छत्र उष्णादि को दूर करता है, उसी प्रकार वह अज्ञान को दूर करता है। छात्र छत्रवत् गुरु की सेवा शुश्रूषा करता है, अतः विद्यार्थी छात्र है।

गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः।
महा० ४. ४. ६२।

पाणिनि और पतञ्जलि ने अध्याय चार और पाँच में अर्थसंकोच वाले कितने ही शब्दों का उल्लेख किया है, जो विशेष अर्थों में ही रूढ हो गए हैं। जैसे, आस्तिक, नास्तिक, श्रोत्रिय, क्षेत्रिय, साक्षी, इन्द्रिय आदि।

पतञ्जलि ने उल्लेख किया है कि कुछ शब्द अपने भाव के आधार पर विशेष का बोध कराते हैं, उनके साथ वाक्य में स्व शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। जैसे संबन्धी शब्दों का प्रयोग।

संबन्धिशब्दैर्वा तुल्यम्। मातरि वर्तितव्यम्, पितरि वर्तितव्यम्, न चोच्यते स्वस्यां मातरि, स्वस्मिन् पितरि। संबन्धाच्चैतद् गम्यते, या यस्य माता यो यस्य पितेति। महा० १.१.७०।

माता के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये, पिता के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये आदि स्थलों पर बिना कहे ही अपनी माता और अपने पिता का बोध होता है। व्यवहार में प्रसंग और सामर्थ्य के आधार पर विशिष्ट अर्थ का ही बोध होता है।

अर्थ विस्तार

भर्तृहरि ने अर्थविस्तार और अर्थादेश के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान आकृष्ट किया है। भर्तृहरि का कथन है कि कहीं पर अर्थ का गुण-प्रधानभाव विवक्षित नहीं रहता है, कहीं पर अर्थ का सान्निध्य ज्ञान में कारण नहीं होता, कहीं पर जो शब्द के द्वारा संगृहीत नहीं है उसका ज्ञान होता है और कहीं पर प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का भी बोध कराता है।

क्वचिद् गुणप्रधानत्वमर्थानामविवक्षितम्।
क्वचित् सान्निध्यमप्येषां प्रतिपत्तावकारणम्॥
यच्चानुपात्तं शब्देन तत् कस्मिंश्चित् प्रतीयते।
क्वचित् प्रधानमेवार्थो भवत्यन्यस्य लक्षणम्॥
वाक्य० २, ३०६—३२७।

इसको स्पष्ट करते हुए पुण्यराज ने कहा है कि भर्तृहरि ने अर्थ के विषय में चार बातों का निर्देश किया है। १—गुणप्रधान का विपर्यय, २—पदार्थ के एक-देश की अविवक्षा, ३—समस्त पदार्थ की अविवक्षा, ४—उपात्त अर्थ का परित्याग किए बिना ही अन्य अर्थ का संग्रह।

अत्र च गुणप्रधानताविपर्ययः पदार्थैकदेशाविवक्षा, सकलपदार्थाविवक्षा, उपात्तपदार्था परित्यागेनैवान्यार्थोपलक्षणम् इति प्रकारचतुष्टयस्योद्देशः कृतः। पुण्यराज।

इनमें से प्रथम और तृतीय अर्थादेश का निर्देश करते हैं, अर्थात् १- शब्द का जो मुख्य अर्थ था, वह मुख्य अर्थ न रहकर गौण हो जाता है और जो गौण अर्थ था, वह मुख्यार्थ का स्थान ले लेता है। २—शब्द का जो वास्तविक अर्थ था, वह अविवक्षित हो जाता है और जो अर्थ नहीं था, उसका उदय हो जाता है।

में रूढ हो गए हैं। संस्कार का अर्थ है शुद्धि, परन्तु वह संस्कारविशेषों के लिए रूढ हो गया है। संस्कारविशेषों के नाम भी इसी प्रकार रूढ हो गए हैं। निष्क्रमण (निकलना), उपनयन (समीप लाना), समावर्तन (लौटकर आना), गृहस्थ (गृह में रहना), वान प्रस्थ (वन में जाना), संन्यास (त्याग) आदि शब्दों का यौगिक अर्थ में प्रयोग नहीं किया जा सकता है।

पाणिनि और पतञ्जलि ने तद्धित और कृदन्त प्रकरण में कतिपय उदाहरण देकर बताया है कि तद्धित और कृदन्त प्रत्ययों के योग से शब्द किसी विशेष अर्थ में रूढ हो जाते हैं। कितने ही स्थानों पर उनका धात्वर्थ या प्रातिपदिकार्थ अर्थज्ञान में विशेष सहायक नहीं हो पाता। पतञ्जलि ने कहा है कि:—

अन्यत्राप्यविशेषविहिताः शब्दा नियतविषया दृश्यन्ते।
महा० ७. १. ९६।

धातुओं के अर्थ सामान्य रूप से लिखे गये हैं, परन्तु कतिपय प्रत्ययों के योग से उनका अर्थ नियत हो जाता है। उन प्रत्ययों के योग से शब्द किसी नियत अर्थ में ही प्रयुक्त होते हैं। पतञ्जलि ने इसका उदाहरण देते हुए लिखा है कि घृ धातु का सामान्य रूप से सेचन और दीप्ति अर्थ उल्लेख किया गया है, परन्तु घृत (घी), घृणा (कृपा, दया), घर्म (उष्ण, ग्रीष्म ऋतु) शब्द विशेष अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। राशि, रश्मि, और रशना शब्द रश् धातु से ही बने हैं, पर सब विभिन्न विशेष अर्थों में ही प्रयुक्त होते हैं। मन् (मनन करना) धातु से ही मति, मान, मनन, मनस् , मत आदि शब्द बने हैं, परन्तु सब विशिष्ट अर्थों में नियमित हैं।

अमा (साथ) शब्द से अमात्य शब्द सचिव के अर्थ में रूढ हो गया है, परन्तु अमावास्या का अर्थ विशिष्ट ही है। महा० ४, २, १०४। सप्तपद (सात पैर) शब्द से सप्तपदी (विवाह संस्कार की एक विधि) के लिये रूढ हो गया है और साप्तपदीन का अर्थ मित्रता हो गया है। अष्टा० ५, २, २२। छत्र शब्द से पतञ्जलि ने छात्र शब्द की व्युत्पत्ति बताई है, यह विद्यार्थी के अर्थ में रूढ हो गया है। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या करते हुये बताया है कि गुरु छत्र है, क्योंकि वह शिष्य को आच्छादित करता है अर्थात् शिष्य के अज्ञान को दूर करता है। जिस प्रकार छत्र उष्णादि को दूर करता है, उसी प्रकार वह अज्ञान को दूर करता है। छात्र छत्रवत् गुरु की सेवा शुश्रूषा करता है, अतः विद्यार्थी छात्र है।

गुरुणा शिष्यश्छत्रवत् छाद्यः। शिष्येण च गुरुश्छत्रवत् परिपाल्यः।
महा० ४. ४. ६२।

पाणिनि और पतञ्जलि ने अध्याय चार और पाँच में अर्थसंकोच वाले कितने ही शब्दों का उल्लेख किया है, जो विशेष अर्थों में ही रूढ हो गए हैं। जैसे, आस्तिक, नास्तिक, श्रोत्रिय, क्षेत्रिय, साक्षी, इन्द्रिय आदि।

पतञ्जलि ने उल्लेख किया है कि कुछ शब्द अपने भाव के आधार पर विशेष का बोध कराते हैं, उनके साथ वाक्य में स्व शब्द के प्रयोग की आवश्यकता नहीं होती। जैसे संबन्धी शब्दों का प्रयोग।

संबन्धिशब्दैर्वा तुल्यम्। मातरि वर्तितव्यम्, पितरि वर्तितव्यम्, न चोच्यते स्वस्यां मातरि, स्वस्मिन् पितरि। संबन्धाच्चैतद् गम्यते, या यस्य माता यो यस्य पितेति। महा० १.१.७०।

माता के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये, पिता के साथ ऐसा व्यवहार करना चाहिये आदि स्थलों पर बिना कहे ही अपनी माता और अपने पिता का बोध होता है। व्यवहार में प्रसंग और सामर्थ्य के आधार पर विशिष्ट अर्थ का ही बोध होता है।

अर्थ विस्तार

भर्तृहरि ने अर्थविस्तार और अर्थादेश के विषय में अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान आकृष्ट किया है। भर्तृहरि का कथन है कि कहीं पर अर्थ का गुण-प्रधानभाव विवक्षित नहीं रहता है, कहीं पर अर्थ का सान्निध्य ज्ञान में कारण नहीं होता, कहीं पर जो शब्द के द्वारा संगृहीत नहीं है उसका ज्ञान होता है और कहीं पर प्रधान अर्थ ही अन्य अर्थ का भी बोध कराता है।

क्वचिद् गुणप्रधानत्वमर्थानामविवक्षितम्।
क्वचित् सान्निध्यमप्येषां प्रतिपत्तावकारणम्॥
यच्चानुपात्तं शब्देन तत् कस्मिंश्चित् प्रतीयते।
क्वचित् प्रधानमेवार्थो भवत्यन्यस्य लक्षणम्॥
वाक्य० २, ३०६—३२७।

इसको स्पष्ट करते हुए पुण्यराज ने कहा है कि भर्तृहरि ने अर्थ के विषय में चार बातों का निर्देश किया है। १—गुणप्रधान का विपर्यय, २—पदार्थ के एक-देश की अविवक्षा, ३—समस्त पदार्थ की अविवक्षा, ४—उपात्त अर्थ का परित्याग किए बिना ही अन्य अर्थ का संग्रह।

अत्र च गुणप्रधानताविपर्ययः पदार्थैकदेशाविवक्षा, सकलपदार्थाविवक्षा, उपात्तपदार्थापरित्यागेनैवान्यार्थोपलक्षणम् इति प्रकारचतुष्टयस्योद्देशः कृतः। पुण्यराज।

इनमें से प्रथम और तृतीय अर्थादेश का निर्देश करते हैं, अर्थात् १—शब्द का जो मुख्य अर्थ था, वह मुख्य अर्थ न रहकर गौण हो जाता है और जो गौण अर्थ था, वह मुख्यार्थ का स्थान ले लेता है। २—शब्द का जो वास्तविक अर्थ था, वह अविवक्षित हो जाता है और जो अर्थ नहीं था, उसका उदय हो जाता है।

अर्थ की इन दो अवस्थाओं को अर्थादेश नाम से सूचित किया जाता है। द्वितीय और चतुर्थ अर्थविस्तार का निर्देश करते हैं। १—शब्द के अर्थ के एक अंश की अविवक्षा द्वारा शब्द के अर्थ का विस्तार करना। २—अपने अर्थ का बोध कराते हुए अन्य संबद्ध के अर्थ का भी बोध कराना। इन दोनों प्रकारों से शब्द का अर्थ विस्तृत हो जाता है और उसका एक से अधिक प्रसंगों में प्रयोग होने लगता है।

अर्थविस्तार के विषय का भर्तृहरि ने विशद विवेचन किया है। भर्तृहरि कहते हैं कि जिस प्रकार दीपक घटादि के दर्शन के लिए प्रयुक्त किया जाता है, परन्तु वह घट के साथ ही साहचर्य और सामीप्य के कारण अन्य वस्तुओं को भी प्रकाशित करता है। इसी प्रकार शब्द भी जिन अर्थों में प्रयुक्त होता है, उनके साहचर्य से अन्य अर्थों का भी प्रकाशन करता है। शब्द अपने मुख्यार्थ का भी बोध कराता है, परन्तु जो अर्थ विवक्षित नहीं है, उसका भी सान्निध्य के आधार पर बोध कराता है।

संसर्गिषु तथाऽर्थेषु शब्दो येन प्रयुज्यते।
तस्मात् प्रयोजकादन्यानपि प्रत्याययत्यसौ॥
तथा शब्दाऽपि कस्मिंश्चित् प्रत्याय्यार्थो विवक्षिते।
अविवक्षितमप्यर्थं प्रकाशयति सन्निधेः॥

वाक्य० २, ३००—३०३।

अर्थविस्तार किस प्रकार होता है, इस विषय में भर्तृहरि ने लिखा है कि किसी समानता के आधार पर अर्थ का तदनुरूप प्रतिपादन होता है।

किंचित् सामान्यमाश्रित्य स्थिते तु प्रतिपादनम्। वाक्य० कांड ३, पृ० ३६४।

पतञ्जलि का कथन है कि अर्थविस्तार विशेष की अविवक्षा और सामान्य की विवक्षा से होता है।

विशेषस्याविवक्षितत्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्वात् सिद्धम्।

महा० १, २, ६८।

कैयट ने अर्थविस्तार का उदाहरण लिखा है कि प्रवीण शब्द का अर्थ है "प्रकृष्टो वीणायाम्" (वीणावादन में सुयोग्य), परन्तु यह शब्द अपने संकुचित अर्थ वीणावादन की विशेषता को छोड़कर किसी भी कृत्य में कौशल के लिए प्रवीण शब्द का प्रयोग होने लगा। अपने मुख्यार्थ के विस्तार हो जाने से वीणा में ही चतुर के लिए "वीणायां प्रवीणः" (वीणा में प्रवीण) प्रयोग होता है, क्योंकि प्रवीण शब्द वीणा में प्रवीणता का नियमित रूप से बोध नहीं कराता।

कौशलं त्वस्य प्रवृत्तिनिमित्तम्। तेन वीणायां प्रवीण इत्यपि भवति।

महा० ५, २, २६।

कुशल शब्द का मुख्यार्थ था कुशों के छेदन की योग्यता, परन्तु अर्थविस्तार से योग्यता और कौशल का बोधक रह गया। विशेष अर्थ कुशछेदन छोड़कर सामान्यार्थ योग्यता के आधार पर इसके अर्थ का विस्तार हो गया है।

पतञ्जलि ने अर्थविस्तार के कतिपय अत्युत्तम उदाहरण "संप्रोदश्च कटच्" (अष्टा० ५, २, २६) सूत्र के भाष्य में दिये हैं। कैयट ने अपनी टीका में इस विषय का बहुत उत्तम रूप से स्पष्टीकरण किया है। पतञ्जलि ने गोष्ठ, तैल, गोयुग, कट और पट इन पांच शब्दों के अर्थविस्तार के उदाहरण दिए हैं। ये पांचों शब्द मुख्यार्थ के आधार पर विशेष के बोधक थे, परन्तु ये अपने मुख्यार्थ को छोड़कर साम्य के कारण अन्य अर्थों का समान रूप से बोध कराते हैं। मुख्यार्थ में रूढ न रहने के कारण जिस प्रकार "वीणाप्रवीणः" प्रयोग होने लगा, उसी प्रकार इन शब्दों का भी मुख्यार्थ के बोध के लिए पुनः प्रयोग होता है।

गोष्ठ शब्द का मुख्यार्थ था गायों के रहने का स्थान, परन्तु साम्यमूलक अर्थ-विस्तार से गोष्ठ शब्द का अर्थ रह गया "रहने का स्थान", इसमें विशेष गो शब्द का अर्थ अविवक्षित हो गया। अतएव कात्यायन ने गोष्ठ शब्द को स्थान का पर्यायवाची प्रत्यय बना दिया है। "गोष्ठादयः स्थानादिषु पशुनामादिभ्यः" यथा, अविगोष्ठम् (भेड़ों के रहने का स्थान) स्पष्टार्थद्योतकता के लिए गाय के निवासस्थान के लिए "गोगोष्ठम्" प्रयोग हुआ। पतञ्जलि ने "उपमानाद् वा सिद्धम्" साम्य के आधार पर यह प्रयोग होने लगे हैं ऐसा उल्लेख किया है। वर्तमान गोशाला शब्द का प्रयोग भी इसी प्रकार है।

गोयुग का अर्थ था गायों का युग्म, परन्तु सामान्यवचनता के कारण केवल युग्म अर्थात् जोड़े का वाचक रह गया। अतः कात्यायन ने कहा है "द्वित्वे गोयुगच्", यथा उष्ट्रगोयुगम्, (ऊँटों का युग्म), खरगोयुगम् गर्दभयुग्म आदि।

कट शब्द का मुख्यार्थ था रज्जु, वीरण एक घास आदि का समूह, परन्तु यह केवल समूह का वाचक रह गया। अतएव कात्यायन ने "संघाते कटच्" लिखा है। यथा, अविकटः (भेड़ों का समूह), उष्ट्रकटः (उष्ट्रसमूह)।

पट का मुख्यार्थ था वस्त्र, उसके सादृश्य से सामान्यवाचक होकर केवल विस्तार का वाचक रह गया। अतः कात्यायन ने "विस्तारे पटच्" लिखा है। जैसे, अविपटः (भेड़ों का विस्तार), उष्ट्रपटः (ऊंटों का विस्तार)। कैयट ने लिखा है कि अप्रसृत समूह के लिए कट शब्द और प्रसृत समूह के लिए पट शब्द का प्रयोग होता है।

तैल शब्द का मुख्यार्थ था तिल का सारभाग, परन्तु मुख्यार्थ तिल शब्द का

अर्थ छोड़कर सामान्यवचनता से केवल स्नेह (द्रव) का वाचक रह गया। अतएव कात्यायन ने 'स्नेहने तैलच्'', द्वारा तैल शब्द को स्नेह का पर्याय बताया है। जैसे, सर्षपतैलम् (सरसों का तेल), इंगुदी तैलम् (इंगुदी का तेल)। तिल के स्नेह के लिए स्पष्टार्थकता के लिए तिलतैलम् (तिल का तेल) प्रयोग होने लगा।

पुंगव, वृषभ और ऋषभ शब्द बैल के मुख्यार्थ रूप से बोधक थे। परन्तु श्रेष्ठता और उत्कृष्टता गुण के कारण सामान्यवाचक होकर ये शब्द केवल श्रेष्ठ अर्थ के बोधक रह गए हैं। अतएव भरतर्षभ (भरतों में श्रेष्ठ), नरपुंगव (नरों में श्रेष्ठ) प्रयोग होने लगे।

लक्षणों का विवेचन षष्ठ अध्याय में हुआ है। लाक्षणिक प्रयोगों के द्वारा अर्थ का विस्तार होता है। इसके उदाहरण भी विशेष रूप से वहां दिए गए हैं। भर्तृहरि ने जो प्रकार अर्थविस्तार के बताए हैं, उनमें एक प्रकार अर्थात् शब्दार्थ के एक अंशविशेष की अविवक्षा कर देना के उदाहरण गोष्ठ, तैल आदि शब्द हैं। द्वितीय प्रकार अर्थात् अपने अर्थ का बोध कराते हुए साहचर्य से अन्य अर्थ का बोध कराना है। भर्तृहरि ने उसका उदाहरण दिया है "काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिः" "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" (कौओं से घी दही की रक्षा करना), में ऐसा नहीं होता कि कौओं से घी दही को बचाया जाय और कुत्ते बिल्ली को खिला दिया जाय। यहां पर काक शब्द उपलक्षणमात्र है, अतः काक तथा काकेतर सभी से घी और दही की रक्षा इष्ट होने से काक शब्द काक से इतरों का भी बोध कराता है।

> काकेभ्यो रक्ष्यतां सर्पिरिति बालोऽपि चोदितः।
> उपघातपरे वाक्ये न श्वादिभ्यो न रक्षति॥
>
> वाक्य० २, ३१४।

इसी प्रकार "भोजनमस्योपपाद्यताम्" (इसके लिए भोजन बना दो) में भोजन बनाना भुज् धातु का अर्थ केवल भोजन बनाना ही नहीं है अपितु पात्रों का मार्जन, प्रक्षालन आदि उसके अंग भी उसी कथन से अनुक्त होने पर भी गृहीत होते हैं।

पतञ्जलि ने पच् धातु का उल्लेख उदाहरण रूप में करते हुए बताया है कि पच् धातु का अर्थ पकाना है, परन्तु पच् धातु से पात्र चढ़ाना, पानी डालना, अग्नि जलाना आदि सभी क्रियाएँ तदन्तर्गत होने के कारण उसी शब्द से गृहीत होती हैं। महा० १, ४, २३।

सादृश्य, सामीप्य, साहचर्य आदि के कारण शब्द के अर्थ का विस्तार हो जाता है।

अर्थादेश

अर्थादेश के जिन दो प्रकारों का उल्लेख भर्तृहरि ने किया है, उनके अन्य कतिपय उदाहरण आगे दिये गये हैं। वेद में सह् धातु का अर्थ था जीतना, अधिकार करना, परन्तु संस्कृत साहित्य में इसका अर्थ सहन करना रह गया है। वेद में कवि शब्द का अर्थ था क्रान्तदर्शी, जैसे, 'कविर्मनीषी परिभूः स्वयम्भूः' (यजु० ४०, ८) पतञ्जलि ने भी क्रान्तदर्शी, मेधावी के अर्थ में कवि शब्द का प्रयोग किया है, 'ता जातिं कवयो विदुः' (महा० ४, १, ६३) परन्तु इसका अर्थ संस्कृत में छन्दों या पद्यों का रचयिता रह गया है। मृग शब्द वेद में पशुमात्र का बोधक था, 'मृगो न भीमः कुचरो गिरिष्ठाः' (यजु० ५, २०) वाल्मीकि रामायण में मृग शब्द सिंह के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, परन्तु यह शब्द हिरण के ही अर्थ में, प्रचलित हो गया है। वेद में (यजु० १८, ३८—४३,) गन्धर्व शब्द अग्नि सूर्य, चन्द्रमा, वायु, यज्ञ आदि के लिए आया है और अप्सरस् शब्द ओषधि, सूर्य की किरणें और नक्षत्र आदि के अर्थ में आया है, परन्तु संस्कृत में ये शब्द जातिविशेष और दिव्य स्त्रियों के लिए रह गए हैं।

सूर्यो गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः।
चन्द्रमा गन्धर्वस्तस्य मरीचयोऽप्सरसः। यजु० १८, ३९—४०।

अर्थ की अनुभवजन्यता

भर्तृहरि ने अर्थ की अनुभवजन्यता पर विशेष विस्तार से विचार किया है और लिखा है कि अर्थ का ग्रहण अनुभव और ज्ञान के अधीन है।

प्रत्ययाधीनमर्थतत्त्वावधारणम्। वाक्य० २, २८८।

भर्तृहरि और उनके व्याख्याकार पुण्यराज ने इस विषय को समझाया है कि किस प्रकार अनुभवजन्यता के कारण अर्थ में भेद हो जाता है। एक ही अर्थ का नाना व्यक्ति अपने अनुभव के अनुरूप उसका अर्थ लेते हैं। एक ही व्यक्ति के विचारों में कालभेद से अर्थ के विषय में अन्तर हो जाता है। अर्थविकास के प्रश्न पर प्रकाश डालने के लिए भर्तृहरि का निम्न कथन बहुत ही महत्त्वपूर्ण और अवधेय है।

शब्द वस्तुतः किसी नियत अर्थ का बोध नहीं कराता। प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासना और अनुभव के अनुरूप ही उसका स्वरूप निर्धारित कर लेता है, जैसे एक ही वस्तु को वासना के अनुरूप चक्षु नाना रूप से ग्रहण करती है।

प्रतिनियतवासनावशेनैव प्रतिनियताकारोऽर्थः, तत्त्वतस्तु कश्चिदपि नियतो नाभिधीयते।

यथेन्द्रियं संनिपतद् वैचित्र्येणोपदर्शकम्।
तथैव शब्दादर्थस्य प्रतिपत्तिरनेकधा। वाक्य० २, १३६।

'नास्ति कश्चिन्नियत एकः शब्दस्यार्थः' अर्थात् शब्द का निश्चित कोई एक अर्थ नहीं है। इसी को स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वक्ता अपनी भावना के अनुसार एक शब्द का एक अर्थ में प्रयोग करता है, परन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता अपने-अपने ज्ञान के अनुसार उसका पृथक्-पृथक् अर्थ समझते हैं।

वक्त्रान्यथैव प्रक्रान्तो भिन्नेषु प्रतिपत्तृषु।
स्वप्रत्ययानुकारेण शब्दार्थः प्रविभज्यते॥
वाक्य० २, १३७।

व्यक्तियों का अनुभव समयानुसार परिवर्तित होता रहता है और उसके फलस्वरूप वही व्यक्ति जो एक वस्तु कुछ काल पूर्व दूसरे रूप में देखता या समझता था उसी को कालान्तर में अन्य रूप में देखता और समझता है। इसी को भर्तृहरि लिखते हैं कि—

एकस्मिन्नपि दृश्येऽर्थे दर्शनं भिद्यते पृथक्।
कालान्तरेण वैकोऽपि तं पश्यत्यन्यथा पुनः॥
वाक्य० २, १३८।

एक व्यक्ति जो कि बौद्ध दर्शन के अध्ययन में अर्थ को तदनुसार ही समझता है कालांतर में वैशेषिक दर्शन के अध्ययन से वह ऐसी वस्तु को अन्य रूप में समझने लगता है, वह घट को परमाणुपुञ्ज न समझ कर एक अवयवी समझने लगता है।

इस प्रकार भर्तृहरि ने दिखाया है कि एक ही अर्थ का नाना व्यक्ति अपने अनुभव के अनुरूप नाना रूप में समझते हैं और एक व्यक्ति भी अपने परिवर्तन होते रहने के कारण समयान्तर में विभिन्न रूप से समझने लगता है। वाक्य० २, १३६। उपर्युक्त विवेचन के आधार पर भर्तृहरि आगे लिखते हैं कि इसका अर्थविकास पर किस प्रकार प्रभाव पड़ता है। अर्थ की अनुभवजन्यता के कारण व्यक्तियों का ज्ञान अपूर्ण और अनिश्चित है। उसका वचन भी उसी प्रकार अपूर्ण, अनिश्चित और अव्यवस्थित है।

तस्माद् दृष्टतत्त्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं वापि नित्यमेवानवस्थितम्॥
वाक्य० २, १४०।

अर्थ की इस अनुभवजन्यता के कारण ही प्रत्येक व्यक्ति का अर्थविषयक ज्ञान प्रतिक्षण बदलता रहता है। समूल में भी इसी परिवर्तन के कारण अर्थविकास

एक ध्रुव सत्य है। वैयक्तिक और सामूहिक ज्ञान में परिवर्तन का प्रतिबिम्ब अर्थविकास है।

अर्थ अनिश्चित और अपूर्ण

अर्थ अनिश्चित और अपूर्ण होता है, इसका विवेचन भर्तृहरि ने द्वितीय और तृतीय काण्ड में कई स्थानों पर किया है। अर्थ की इस अनिश्चितता और अपूर्णता के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। भर्तृहरि और पुण्यराज ने लिखा है कि पदों के अर्थों का स्वतः कोई निश्चित स्वरूप नहीं है, जिस जिस प्रकार से उनका निरूपण किया जाता है, उसी प्रकार से उनका अर्थ हो जाता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४४४।

लक्षणाद् व्यवतिष्ठन्ते पदार्था न तु वस्तुतः।
उपकारात् स एवार्थः कथंचिदनुगम्यते॥

वाक्य० २, ४४४।

पद का अर्थ वस्तुतः व्यवस्थित नहीं है, निरूपण से ही उसकी व्यवस्था होती है। एक ही अर्थ निरूपण भेद से अन्यथा ज्ञात होता है।

अर्थ की अनिश्चितता के कारण अर्थ में विकास किस प्रकार होता है इसका एक सुन्दर उदाहरण पतञ्जलि ने दिया है। 'भोग' शब्द के अर्थ के विषय में उन्होंने लिखा है कि इसका अर्थ है द्रव्य जैसे 'भोगवानयं देशः' का अर्थ है; जिस देश में गौ अन्न आदि प्रचुर मात्रा में हैं। भोग शब्द का अर्थ उपभोग भी है। जैसे 'भोगवानयं ब्राह्मणः' का अर्थ है जो ब्राह्मण धनादि का सम्यक्तया उपभोग करता है। कैयट ने लिखा है कि इसीलिए धनवान् को भी जो कि धनादि का उपभोग नहीं करता है उसे भोगवान् नहीं कहते। अपितु 'निर्भोग' (कृपण) कहते हैं। इसका तृतीय अर्थ है शरीर। यह अर्थ सर्प के शरीर के लिए रूढ हो गया। आगे चल कर यही सर्प के फण के लिए भी प्रचलित हो गया। कैयट ने इसपर विवेचन करते हुए लिखा है कि भोग शब्द समुदाय अर्थात् शरीरमात्र के लिए था, परन्तु उसका एकदेश फण के लिये प्रयोग होने लगा। कतिपय आचार्यों का कथन है कि सर्प के फण को ही भोग कहते हैं, उसके समस्त शरीर को नहीं। कैयट ने इस कथन को अयुक्त बताया है और महत्त्वपूर्ण शब्दों में कहा है कि प्रयोग का विषय अनन्त है, उसकी इयत्ता निर्धारित नहीं की जा सकती है।

अनन्तत्वात् प्रयोगविषयस्यावधारणस्य कर्तुमशक्यत्वात्
प्रदीप, महा० ५. १. ६।

कैयट के कथन से यह स्पष्ट है कि किसी शब्द के अर्थ की इयत्ता या निश्चितता निर्धारित नहीं की जा सकती है, क्योंकि एक ही शब्द का विभिन्न

रूप से विभिन्न अर्थों में प्रयोग होता रहता है, अतः प्रयोग का विषय अनन्त है। हेलाराज ने अतएव लिखा है कि—

विवक्षोपारूढोह्यर्थः शब्दानाम्। वाक्य० ३. पृ० ४६७।

शब्दों का अर्थ वक्ता की इच्छा के अधीन होता है। वक्ता एक ही शब्द का विभिन्न रूप से प्रयोग करता है और उसके अर्थ में अन्तर हो जाता है।

अर्थ अनिश्चित ही नहीं, अपितु अपूर्ण भी होता है। इसका विवेचन प्रथम अध्याय में किया जा चुका है। भर्तृहरि ने लिखा है कि अर्थ अपूर्ण होता है, अर्थ वस्तु के किसी एक अंश का बोध कराता है, सम्पूर्ण का नहीं। इसका परिणाम यह होता है कि अर्थ संदिग्ध और अपूर्ण होने के कारण विकल्पों का कारण होता है। इसी अपूर्णता और अनिश्चितता से अर्थ में भी विकास और परिवर्तन होता रहता है।

अकृत्स्नविषयाभासं शब्दः प्रत्ययमाश्रितः।
अर्थमाहात्म्यरूपेण स्वरूपेणानिरूपितम्॥

वाक्य० ३. पृ० १२४।

हेलाराज ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि शब्द अपूर्ण अर्थ का बोध कराता है। शब्द से विकल्पात्मक (संदिग्ध) ज्ञान उत्पन्न होता है। अतः कहा गया है कि शब्द विकल्पों के कारण हैं और विकल्प शब्दों के।

तदुक्तम् विकल्पयोनयः शब्दा विकल्पाः शब्दयोनयः। हेलाराज।

पतञ्जलि ने (महा० २, १, ३५) दधि शब्द के विषय में लिखा है कि दधि के कई भेद हैं। दधि कहते ही मन्दक (कमजमी हुई), उत्तरक (मलायी वाली), निलीनक (न जमी हुई) आदि का बोध होता है। अर्थ की अनिश्चितता और अपूर्णता के कारण दधि शब्द से दधि के निश्चित और पूर्ण स्वरूप का ज्ञान नहीं होता अतः दधि के जितने प्रकार मिलते हैं उन सब को ही दधि शब्द के द्वारा सम्बोधित किया जाता है।

शाब्दबोध और अर्थ विकास

षष्ठ अध्याय में शाब्दबोध किस प्रकार होता है, इसका विवेचन करते हुए लिखा गया है कि शाब्दबोध आप्तजनों के व्यवहार, आवाप, उद्वाप उपदेश, अन्वयव्यतिरेक आदि के द्वारा होता है। भर्तृहरि ने लिखा है कि अर्थज्ञान प्रत्येक को अपनी प्रतिभा के अनुरूप ही होता है। जिसकी जैसी प्रतिभा होती है, उसी प्रकार उसको अर्थग्रहण शीघ्र या विलम्ब से होता है।

अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वो परैः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थप्रतिपादने॥

वाक्य० २,११६।

भर्तृहरि ने आगे बताया है कि प्रत्येक की प्रतिभा समान नहीं होती है, किसी की मन्द और किसी की तीव्र। मनुष्य अपनी प्रतिभा के अनुरूप शब्दों का अर्थ भी शुद्ध या अशुद्ध समझता है। स्थूल वस्तुओं का अर्थ दृश्य होने के कारण अशुद्ध ज्ञात होने पर भी ज्ञानवृद्धि के साथ साथ शुद्ध हो जाता है। परन्तु सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान दृश्य न होने के कारण प्रतिभा पर ही निर्भर रहता है और प्रत्येक का अपना अपना विचार उन सूक्ष्म तत्त्वों के विषय में भिन्न भिन्न रहता है। अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि वक्ता एक अर्थ में शब्द का प्रयोग करता है, परन्तु भिन्न-भिन्न श्रोता उसको अपनी अपनी बुद्धि के अनुसार भिन्न भिन्न अर्थों में लेते हैं। वाक्य० २,१३७।

भर्तृहरि ने इस प्रकार से शब्दबोध की प्रकिया को ही अर्थविकास का मूल कारण बताया है। सब की प्रतिभा, अनुभव, ज्ञान और ग्रहण शक्ति समान नहीं है, अतएव अर्थ समान, व्यवस्थित और निश्चित नहीं रहता। एक शब्द का नाना व्यक्ति ही नाना अर्थ नहीं समझते, अपितु एक ही व्यक्ति एक शब्द के अर्थ को बाल्यावस्था में कुछ अन्य समझता है और युवा या वृद्धावस्था में अन्य। एक शास्त्र के अध्ययन से एक तत्त्व को कुछ समझता है, दूसरे शास्त्र के अध्ययन से कुछ अन्य। अतः भर्तृहरि कहते हैं कि :—

> एकस्यापि च शब्दस्य निमित्तैरव्यवस्थितैः।
> एकेन बहुभिश्चार्थो बहुधा परिकल्प्यते॥ वाक्य २,१३६।

अर्थ व्यावहारिक है वैज्ञानिक नहीं

भर्तृहरि ने लिखा है कि "शब्दा लोकनिबन्धना" वाक्य० २,२२६।

अर्थात् शब्द लोक व्यवहार के चलाने के लिए हैं। पुण्यराज ने इसका स्पष्टीकरण करते हुए लिखा है कि अर्थ के बोधन के लिए शब्द हैं, वे लोक-व्यवहार के निमित्तभूत हैं। अर्थ की गौण और मुख्य की व्यवस्था इसी आधार पर की जाती है कि वह शिथिल है या अशिथिल। स्खलद्गति वाले अर्थ को गौण कहा जाता है, और अस्खलद् गति को मुख्य, अर्थात् प्रचलित अर्थ मुख्य होता है और अप्रचलित गौण। पुण्यराज।

अर्थ सर्वथा शुद्ध और वैज्ञानिक नहीं होता है। अतः भर्तृहरि और पुण्यराज ने कहा है कि शब्द अर्थ के स्वरूप को वस्तुतः स्पर्श नहीं करता है, केवल दूर से अर्थ का संकेतमात्र करता है और उसको व्यवहारोपयोगी बना देता है। शब्द अर्थ का शुद्ध रूप में वाचक नहीं होता है। शब्द में वस्तुतः वह शक्ति नहीं है कि वह अर्थ की शक्ति को स्पर्श कर सके। पुण्यराज वाक्य० २, ४४२।

> वस्तूपलक्षणंशब्दो नोपकारस्य वाचकः।
> न स्वशक्तिः पदार्थानां संस्प्रष्टुं तेन शक्यते॥
> वाक्य० २, ४४२।

भर्तृहरि ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि शब्द की शक्ति नियमित है, अर्थ की शक्ति बहुत व्यापक है, अतः शब्द अर्थ के पूर्ण स्वरूप का स्पर्श नहीं कर पाता।

अनेकशक्तिरपि ह्यर्थो न शब्दैः साकल्येन स्पृश्यते, नियतविषयत्वात् शब्द-शक्तीनाम्। पुण्यराज, वाक्य० ३ पृ० ५०३ से ५०४।

भर्तृहरि ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वक्ता की इच्छा के अधीन रहता है। प्रयोक्ता जिस शब्द का जिस अर्थ में प्रयोग करता है, उसी प्रकार उसका स्वरूप हो जाता है, अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वास्तविक नहीं है, अपितु काल्पनिक है, असत्य है। पुण्यराज।

प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्यसाधनरूपताम्।
अर्थस्य वाभिसंबन्ध कल्पनां प्रसमीहते॥
वाक्य० २, ४३५।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध में प्रयोक्ता की इच्छा का बहुत ही महत्त्व है। प्रयोक्ता ही एक शब्द का विभिन्न रूप में प्रयोग करके विभिन्न अर्थों का बोध कराता है। पुण्यराज ने इसीलिए आगे लिखा है कि यदि शब्द और अथ का सम्बन्ध वास्तविक होता तो वस्तु के स्वभाव को ब्रह्मा भी अन्यथा नहीं कर सकता। क्योंकि वस्तु स्वभाव को अन्यथा करने की सामर्थ्य उसमें भी नहीं है। अर्थ व्यवस्थित होना चाहिए था, परन्तु ऐसा दृष्टिगोचर नहीं होता है। भर्तृहरि ने साधन समुद्देशप्रकरण में विस्तार से यह प्रदर्शित किया है कि यह शब्दार्थ सम्बन्ध आदि सब कुछ विवक्षाधीन हैं। सम्बन्ध काल्पनिक ही है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४३६।

यदि हि वास्तवमेतत् स्यात् तदा वस्तुस्वभावस्य ब्रह्मणाऽप्यन्यथाकर्तुमशक्य-त्वाद् व्यवस्थितमेवैतद् भवेत् न च तथा परिदृश्यते। पुण्यराज वाक्य० २, ४३६।

ऐतरेय ब्राह्मण (३, ४४), और गोपथ ब्राह्मण उत्तर (४, १०) यह बताते हैं कि सूर्य न कभी अस्त होता है और न कभी उदय होता है, जो कि सूर्य को "अस्त होता है" कहा जाता है वह दिन की समाप्ति को देखकर और जो कि 'सूर्य उदय होता है' कहा जाता है वह रात्रि की समाप्ति को देखकर, वस्तुतः न तो सूर्य उदय होता है और न कभी अस्त होता है।

स वा एष (आदित्यः) न कदाचनास्तमेति नोदेति, तं यदस्तमेतीति मन्यन्तेऽह्न एव तदन्तमित्वाऽथ यदेनं प्रातरुदेतीति मन्यन्ते रात्रेरेव तदन्त-मित्वा। स वा एष कदाचन निम्रोचति। ऐतरेय ब्राह्मण ३. ४४।

यद्यपि सूर्य उदय होता और सूर्य अस्त होता है ये वाक्य वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है, परन्तु व्यवहारिक दृष्टि से ऐसा प्रयोग किया जाता है। भर्तृहरि ने अर्थ अवैज्ञानिक है, इसके बहुत से उदाहरण दिए हैं। वाक्य० २, २८८ से

२६८। यथा, व्यावहारिकता के आधार पर ही गन्धर्वनगर, खपुष्प, आकाश-कुसुम, वन्ध्यासुत आदि की स्थिति है। चित्र में भी नदी, पर्वत, नगर आदि की सत्ता प्रत्यक्ष की जाती है जो कि वैज्ञानिक दृष्टि से असंगत है। मृन्निर्मित सिंह हस्ती, अश्व आदि बेचे जाते हैं। आजकल भी चीनी के बने हुए सिंह, अश्व, उष्ट्र, एवं विविध प्रकार के पशु पक्षी खाये जाते हैं, वस्तुतः उपर्युक्त नाम उनको देना वैज्ञानिक दृष्टि से अनुचित है। गगन में तल की और खद्योत में अग्नि की सत्ता का प्रयोग किया जाता है। परन्तु ये सभी प्रयोग और इनके अर्थ अवैज्ञानिक और अशुद्ध हैं। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि:—

तलवद् दृश्यते व्योम खद्योतो हव्यवाडिव।
न चेन्नास्ति तलं व्योम्नि न खद्योते हुताशनः।
वाक्य० २. १४२।

वस्तुतः न तो आकाश में तल है और न खद्योत में अग्नि। यह केवल व्यावहारिक उक्ति है। भर्तृहरि ने अर्थ की व्यावहारिकता का उल्लेख करके लिखा है कि जिन तत्त्वों का वर्णन शब्दों द्वारा ठीक-ठीक नहीं किया जा सकता है, उनके विषय में विद्वानों को भी उचित है कि जैसा उस विषय में लोकव्यवहार में प्रयोग होता हो उसे ही अपना कर व्यवहार चलावें।

असमाख्येयतत्त्वानामर्थानां लौकिकैर्यथा।
व्यवहारे समाख्यानं तत्प्राज्ञो न विकल्पयेत्।
वाक्य० २. १४४।

इस व्यवहारोपयोगिता के कारण कितने ही शब्दों का अन्य अर्थ में प्रयोग होने लगता है यथा, अर्थगाम्भीर्य, ज्ञानालोक, ज्ञानदृष्टि, प्रज्ञाचक्षु, गुणगौरव आदि।

यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिये कि वैयाकरणों का दृष्टिकोण केवल व्यावहारिक नहीं है और व्यावहारिकता के आधार पर दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण का अपलाप नहीं किया जा सकता है। जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य है, वह दार्शनिक और वैज्ञानिकदृष्टि से असत्य ज्ञात होता है अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि उपर्युक्त जो उदाहरण दिये गये हैं, उनको व्यावहारिक दृष्टि से अपना लेना चाहिये। परन्तु उनका फिर भी दार्शनिक विवेचन करना आवश्यक है। स्थूल प्रत्यक्ष से जो ठीक समझा जाता है, वह सूक्ष्म दृष्टि से प्रायः सत्य नहीं होता है। अतः केवल स्थूल प्रत्यक्ष पर ही विश्वास करके सूक्ष्म और वैज्ञानिक अर्थ अर्थात् परमार्थ का अपलाप न करें।

तस्मात्प्रत्यक्षमप्यर्थं विद्वानीक्षेत युक्तितः।
न दर्शनस्य प्रामाण्यात् दृश्यमर्थं प्रकल्पयेत्।
वाक्य २. १४३।

अर्थ की अस्पष्टता और अर्थ-विकास

पतञ्जलि ने जातिवाची और गुणवाची शब्दों के विषय में विशेष रूप से लिखा है कि इनका अर्थ अस्पष्ट रहता है। ये जो वस्तु जितनी और जैसी होगी, वैसा और उतना ही उसका अर्थ बोधित करेंगे।

केचिद्यावदेव तद् भवति तावदेवाहु, य एते जातिशब्दा गुणशब्दाश्च।
महा० १, १, ७१।

उदाहरण के रूप में उन्होंने लिखा है कि जैसे तैल या घृत कहने से उसके परिणाम रूप आदि का बोध नहीं होता। एक बूँद तैल भी तैल है औ. मन भर भी। गो शब्द के कहने से कौन सी गाय, किस रंग की, कितनी बड़ी इत्यादि का बोध स्पष्ट रूप से नहीं होता। प्रत्येक प्रकार की गाय का गाय शब्द बोध कराता है, इसी प्रकार गुणवाची शब्द। यथा, शुक्ल, कृष्ण, नील आदि बड़ी से बड़ी और छोटी से छोटी वस्तु की शुक्लता, को व्यक्त करते हैं। प्रत्येक वस्तु की शुक्लता कृष्णता और नीलता में अन्तर होता है। जिस वस्तु में जैसी शुक्लता आदि होगी, वैसा ही शुक्ल आदि शब्द अर्थ होता जाएगा। वाक्य० का० ३ पृ० ११६

स्फटिक के ऊपर जिस रंग की जो वस्तु रखी जाती है, उसका रूप रंग तद्वत् हो जाता है। इसी प्रकार शब्दों का अर्थ भी जिस-जिस वस्तु के साथ सम्बद्ध होता है, वैसा ही अर्थ व्यक्त करता है। हेलाराज ने इसकी व्याख्या करते हुए लिखा है कि शब्द के अर्थ में पदान्तर के साथ सम्बद्ध होने के कारण विशेष रूप आ जाता है। अतः शब्दार्थ औपचारिक सत्ता से युक्त होता है। हेलाराज, वाक्य० ३ पृ० ११६।

पतञ्जलि ने ऐसे स्थलों का क्या और कैसा अर्थ होता है, इसके विषय में लिखा है कि इस प्रकार के सामान्य शब्दों (जातिवाची और विशेषण शब्द) का जिस प्रकार इन्होंने या जिस विशेष शब्द के साथ प्रयोग होता है, उसी प्रकार से अपना अर्थ बोधित करते हैं, और विशेष अर्थ में व्यवस्थित होते हैं।

सामान्यशब्दाश्च नान्तरेण विशेषं प्रकरणं वा विशेषेष्ववतिष्ठन्ते।
प्रकरणादिसापेक्षतयाऽर्थप्रत्यायकत्वं सामान्यशब्दत्वम्॥
(उद्योत्)। महा० १, २, ४५।

इस प्रकार से सामान्य शब्दों का मनुष्य या वस्तु, भली या बुरी, छोटे या बड़े जिसके साथ प्रयोग होगा, तदनुसार अर्थ परिवर्तित होता जाएगा। जैसे "सुन्दर स्त्री" और 'सुन्दर चित्र" में सुन्दर शब्द के अर्थ में अन्तर है। "शोभनोदिवासः" और "शोभनो जनः" में शोभन शब्द के अर्थ में समानता नहीं है। गुणवाची शब्दों के अर्थों में किस प्रकार सामान्यवाचिता के कारण विशेष अर्थविकास उपलब्ध होता है।

सादृश्य और अर्थ-विकास

यास्क ने सादृश्य को अर्थविकास का मुख्य कारण माना है और नानार्थक शब्दों के अर्थ का विस्तार प्रदर्शित करते हुए सादृश्य को ही मुख्यता दी है। यथा, पाद शब्द का मुख्य अर्थ था पैर। उसी से सादृश्य के आधार पर पशु के एक पैर को चतुर्थांश देखकर चतुर्थांश के लिए भी पाद शब्द प्रयोग होने लगा। सादृश्य के आधार पर इसका इतना अधिक अर्थविस्तार हुआ कि खाट आदि के पावे के लिए पाद शब्द (चतुष्पादिका), वृक्ष की जड़ के लिए पाद शब्द (पादप) का प्रयोग होने लगा। सादृश्य के आधार पर ही सूर्य की किरण (बालस्यापि रवेः पादा), अध्याय का चतुर्थ भाग (प्रथमपाद), रुपए का चतुर्थांश (सपादो रूप्यक), एक श्लोक का चतुर्थांश आदि के लिए पाद शब्द प्रयुक्त होने लगा। निरुक्त २, ७।

क्रिया साम्य के कारण एक शब्द के अर्थ का विस्तार हो जाता है। यास्क ने गो शब्द का निर्वचन करते हुए लिखा है कि गम् धातु के आधार पर पृथ्वी को गो कहा जाता है, क्योंकि वह दूर तक विस्तृत है, गतिशील है, इसी गमनशीलता के कारण गाय को भी गो कहा गया। गमनक्रिया के सादृश्य को देखकर वाणी, वाण, सूर्य की किरण आदि को भी गो कहा जाने लगा। निरुक्त २, ५ से ६।

इसी प्रकार क्रिया साम्य अर्थात् क्रान्त होना, व्याप्त होना, अर्थ को लेकर काष्ठा शब्द का दिशा, उपदिशा, आदित्य, जल और गन्तव्य स्थान के लिए प्रयोग होने लगा। (निरुक्त २, १५)। वस्तु के सादृश्य के कारण कक्ष शब्द जिसका अर्थ अश्व की कक्ष कांख था, मनुष्य की कक्ष के लिए भी प्रयुक्त होने लगा। (निरुक्त २, २)। गुण के सादृश्य के कारण मधु शब्द जो सोम रस के लिए प्रयुक्त होता था, मादकता के कारण शहद, सुरा, आदि का भी वाचक हो गया। निरुक्त ४, ८।

पाणिनि ने सादृश्य के आधार पर चित्रों, मूर्तियों आदि के लिए भी उसी शब्द का प्रयोग होना लिखा है। यथा चित्रों और मूर्तियों को भी शिव, विष्णु, अर्जुन, युधिष्ठिर। अष्टा० ५, ३, ९६ से १००।

लक्षणा और अर्थ-विकास

पतञ्जलि ने लक्षणा के द्वारा अर्थविकास होना बताया है। पतञ्जलि ने लिखा है कि "चतुर्भि प्रकारैस्तस्मिन् स इत्येतद् भवति, तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात्, तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति"। महा० ४, २, ४८।

लाक्षणिक प्रयोगों के मूल में चार तथ्य हैं, जिनके आधार पर अन्य के लिए अन्य शब्द का प्रयोग किया जाता है। तत्स्थता, तद्धर्मता, तत्समीपता और तत्साहचर्य के कारण अन्य को ही उसी शब्द से लक्षित किया जाता है। इनके उदाहरण देते हुए उन्होंने लिखा है कि 'मंचा हसन्ति' (मचान हंसते हैं) 'गिरिर्दह्यते' ('पर्वत जलता

है), इन प्रयोगों में मंचस्थ बालकों को मंच और पर्वतस्थ वृक्षादि को गिरि शब्द से लक्षित किया है। गुणों की समानता (ताद्धर्म्य) के कारण 'सिंहो माणवकः' और 'गौर्वाहीकः' में माणवक को सिंह और वाहीक को गौ कहा गया है। पहले में बालक की शूरवीरता को लक्षित किया गया है दूसरे में वाहीक देशवासी को मूर्खता के कारण गौ कहा गया है। समीपस्थता के आधार पर गंगा में घोष, और कूप में गर्गकुल, गङ्गातीर के लिए गङ्गाशब्द और कूप के समीपस्थ स्थान के लिए कूप शब्द का प्रयोग किया गया है। साहचर्य के कारण 'कुन्तान् प्रवेशय' और 'यष्टीः प्रवेशय' में भाले वालों को कुन्त और यष्टिधारियों को यष्टि नाम से सम्बोधित किया गया है।

अर्थ-विकास में लक्षणा का स्थान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। अर्थविस्तार और अर्थादेश में मुख्य रूप से लक्षणा की प्रवृत्ति कार्य करती है। एक शब्द का ही गुण, क्रिया, रूप या अन्य साम्य को देखकर उसको उस नाम से सम्बोधित करने की भावना सर्वत्र समान रूप से कार्य करती है। भर्तृहरि और नागेश ने इसका बहुत विस्तार से विवेचन किया है। शब्दशक्ति अध्याय में लक्षणा के विवेचन में इसके विभिन्न रूपों पर विस्तार से प्रकाश डाला गया है। यास्क ने सादृश्य के ऊपर जो बल दिया है, वह लक्षणा का ही एक अंग है। लक्षणा के आधार पर शब्द के अर्थ का विकास होना प्रारम्भ होता है। विभिन्न अर्थ जो कि लक्षणा के आधार पर प्रथम लाक्षणिक या गौण अर्थ रहते हैं, शनैः शनैः समय परिवर्तन से वे गौण अर्थ मुख्य अर्थ की समानता करने लगते हैं और मुख्यार्थ के तुल्य ही उनका प्रयोग होने लगता है। यास्क ने गो शब्द के उदाहरण में गो का मुख्यार्थ पृथ्वी तथा निर्वचनसाम्य के आधार पर गाय के लिए भी गो शब्द का प्रयोग लिखा है। दोनों अर्थसाहित्य में गो शब्द के लिए प्रचलित हैं। यास्क जिस अर्थ (गाय) को गौण बताते हैं, वह संस्कृत साहित्य में मुख्य अर्थ पृथ्वी की अपेक्षा अधिक प्रचलित है। पाद और कक्ष शब्द के उदाहरणों में जिन अर्थों का उल्लेख किया गया है वे सभी अर्थ मुख्यार्थ के रूप में व्यवहृत होते हैं। लक्षणा के आधार पर अर्थों में विकास इस विशेष गति से होता है कि पर काल में यह बताना कठिन हो जाता है कि शब्द का प्राथमिक या मुख्यार्थ क्या था और गौण क्या। एक से अधिक अर्थ भी शब्द के मुख्यार्थ के तुल्य प्रचलित हो जाते हैं।

भर्तृहरि ने अर्थविकास के विषय में लिखा है कि एक शब्द ही नाना अर्थ का बोध कराता है। इस पर यह आपत्ति की गई है कि ऐसी अवस्था में ऐसे शब्द के प्रयोग से एक ही स्थान पर समस्त अर्थों की उपस्थिति होने लगेगी, अतः इसका उत्तर देते हुए उन्होंने लिखा है कि निमित्तभेद से समस्त अर्थ की उपस्थिति नहीं होती है। अर्थ प्रकरण या अन्य शब्दों के साहचर्य से तत्तत्प्रकरण में एक ही प्रासंगिक अर्थ लिया जाता है, अन्य नहीं। वाक्य० २, २५२ से २५३।

शब्दों का साधारणतया मुख्यार्थ एक होता है, अन्य अर्थ गौण। गौण अर्थों

के विकास का कारण भर्तृहरि निमित्तविशेष बताते हैं। किसी विशेष कारण गुण प्रयोग रूप आदि के सादृश्य के कारण एक शब्द का अन्यार्थ के लिए प्रयोग करते हैं। शब्द लक्ष्यार्थ का बोधक होते हुए भी अपने अर्थ को सुरक्षित रखता है। वाक्य० २, २५७।

'गो' शब्द "गौर्वाहीकः" में जाड्य गुण के आधार पर वाहीक के लिए प्रयुक्त हुआ है। यहां पर प्रयोग का निमित्त गो की मूर्खता का सादृश्य वाहीक में होना है। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि अर्थविकास के द्वारा गो शब्द गाय और वाहीक दोनों का बोधक हो गया है। वाक्य० २, २५४।

भर्तृहरि ने इस प्रकरण में वैयाकरणों का सिद्धांत लिखा है कि "सर्वे सर्वार्थ-वाचकाः" अर्थात् शब्द सर्वशक्तिमान् है, उसमें समस्त अर्थों के बोध की शक्ति है। मुख्य और गौण अर्थ जिनको कहा जाता है, वह प्रसिद्धि और अप्रसिद्धि के आधार पर ही है। जो अर्थ प्रसिद्ध है उसे मुख्य कह देते हैं, जो अप्रसिद्ध है, उसे गौण। वाक्य० २, २५५।

भर्तृहरि ने लिखा है कि मृत्तिका के बने हुए सिंह हस्ती अश्व को भी सिंह आदि के नाम से सम्बोधित किया जाता है। केवल रूपसाम्य के आधार पर ऐसे स्थलों पर मुख्य शब्द का प्रयोग होने लगता है। गुण और कार्य की दृष्टि से दोनों में महान् अन्तर स्पष्ट है, मृन्निर्मित सिंह से न डर है और न अश्व वाहन के योग्य है। वाक्य० २ २६५।

लक्षणा के द्वारा 'असमाख्येय तत्त्वों' के लिए स्थूल 'तत्त्वों' के लिए प्रयुक्त होने वाले शब्दों का प्रयोग किया जाता है। यथा, ज्ञान में गम्भीरता, उच्चता, आलोक और गुरुता नहीं है, परन्तु स्थूलतत्त्वों के अनुमान का आरोप सूक्ष्म तत्त्वों पर करके उन भावों को व्यक्त किया जाता है, अतएव, ज्ञानालोक, ज्ञान-गरिमा, ज्ञानगाम्भीर्य, आदि प्रयोग होते हैं। तीक्ष्णबुद्धि, कुशाग्रबुद्धि, कुंठित बुद्धि, गुणगौरव, उच्चविचार, महान् आत्मा आदि में लक्षणा के आधार पर ही बुद्धि, विचार, गुण, आत्मा आदि सूक्ष्म तत्त्वों के लिए उनके गुण बोधनार्थ स्थूल पदार्थों के अनुकूल व्यवहार सम्भव होता है। अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि ऐसे स्थलों पर विद्वानों को भी लोकव्यवहार के अनुसार व्यवहार करना चाहिए। वाक्य० २, १४४।

पशु-पक्षी और जीव जन्तुओं के विभिन्न गुणों को देखकर लक्षणा के आधार पर तत्सदृश गुणयुक्त मनुष्यादि के लिए उन शब्दों का प्रयोग किया जाने लगता है। यथा मूर्खता के सादृश्य से 'गौर्वाहीकः' शूरता के सादृश्य से 'सिंहो माणवकः' और अल्पज्ञता के कारण कूपमंडूक, कूपकच्छप, उदुम्बरमशक, अवटकच्छप, आदि शब्द अनुभवहीन के लिए अस्थिरचित्त, छात्र को तीर्थध्वांक्ष, तीर्थकाक। पाणिनि ने इस प्रकार के बहुत से मनोरंजक उदाहरणों का 'पात्रसमितादयश्च' (अष्टा० २, १, ४८) सूत्र के गणपाठ में समावेश किया है।

भर्तृहरि ने बताया है कि लक्षणा के आधार पर ही तद्गुणसाम्य को देखकर पुरुष को स्त्री और स्त्री को पुरुष भी कहा जाता है।

केचित् पुमांसो भाषन्ते स्त्रीवत् पुवंच्च योषितः।
व्यभिचारे स्वधर्मोऽपि पुनस्तेनोपदिश्यते।
वाक्य० ३, पृ० ७१६।

अत्यन्त लज्जाशील वक्ता पुरुष को कहा जाता है कि "क्या स्त्रियों के तुल्य बोल रहे हो, पुरुष के तुल्य बोलो" और अतिप्रगल्भभाषिणी स्त्री को कहा जाता है कि "क्या पुरुषों के तुल्य बोल रही हो, स्त्रियों के तुल्य बोलो"। हेलाराज ने कहा है कि "पुरुष को भी कायरता के कारण कहा जाता है कि (यह पुरुष स्त्री है) और स्त्री को निर्लज्जता के कारण कहा जाता है कि (यह स्त्री पुरुष है)"। यहाँ पर पुरुष और स्त्री शब्द अपने से सर्वथा विपरीत 'लिंग' वाले के लिए गुणसाम्य के कारण प्रयुक्त होते हैं। हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० ४४८।

कात्यायन और पतञ्जलि ने इस विषय पर विचार करते हुए कि अन्य लिंग के लिए अन्य लिंग का शब्द किस प्रकार प्रयुक्त हो सकता है, और वह तदर्थप्रतिपादन कर सकता है, लिखते हैं कि "ऐसे स्थलों पर सामान्य गुण की विवक्षा की जाती है और विशेष गुण की अविवक्षा।"

विशेषस्याविवक्षितत्त्वात् सामान्यस्य च विवक्षितत्त्वात् सिद्धम्।
महा० १. २. ६८।

इस सामान्य की विवक्षा से ही लक्षणामूलक प्रयोग सम्भव होते हैं, अन्यथा "यह पुरुष स्त्री है", और "यह स्त्री पुरुष है" जैसे प्रयोग सर्वथा असंगत और अनर्गल प्रलाप सिद्ध होते हैं।

साहचर्य और अर्थ-विकास

यास्क, पतञ्जलि और भर्तृहरि ने साहचर्य के द्वारा अर्थविकास का विस्तार से निरूपण किया है। यास्क ने (निरुक्त २, २०) लिखा है कि साहचर्य के कारण एक शब्द का अन्य अर्थ में प्रयोग होता है। उन्होंने बताया है कि ऋग्वेद में भी इस प्रकार के उदाहरण विद्यमान हैं, जिनमें साहचर्य के कारण अर्थ-विकास हुआ है। सूर्य को उषा के साहचर्य से 'वत्स" (बछड़ा) नाम से निर्दिष्ट किया गया है।

रुशद्वत्सा रुशती श्वेत्यागादुरैगु कृष्णा सदनान्यस्या।
ऋग्० १, ११३, २।

सूर्यमस्या वत्समाह साहचर्यात्। निरुक्त २, २०।

वेंकटमाधव ने भी अपने ऋग्वेद भाष्य में लिखा है कि:—

सूर्यं वत्समाह साहचर्यात्। वेंकट, ऋग्० १, ११३,२।

अर्थात् सूर्य को वत्स कहा गया है, क्योंकि वह उषा के साथ रहता है। इसी प्रकार साहचर्य के आधार पर उषा को सूर्य की बहन और सूर्य को उसका भाई वेद में बताया गया है।

उषसमस्य स्वसारमाह साहचर्यात्। निरुक्त ३, १६।

यास्क ने साहचर्य के द्वारा अर्थविकास के अन्य उदाहरण दिए हैं। "कृष्णा" शब्द का मुख्यार्थ है "कृष्णवर्ण" परन्तु वेद में कृष्णा शब्द रात्रि के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है, क्योंकि कृष्ण गुण का रात्रि के साथ साहचर्य है। अर्जुन शब्द श्वेतगुण का वाचक है, परन्तु दिन के साथ श्वेतता का साहचर्य होने से वेद में अर्जुन शब्द दिवस का वाचक प्रयुक्त हुआ है।

अहश्च कृष्णमहरर्जुनं च। कृष्णा कृष्णवर्णा रात्रिः। अहश्च कृष्णं रात्रिः। शुक्लं चाहरर्जुनम्। निरुक्त २, २० से २१।

कृष्णा, कृष्ण और अर्जुन शब्दों का प्रयोग संस्कृत साहित्य में द्रौपदी, वासुदेव और पार्थ के लिए होता है, परन्तु वेद में कृष्णा और कृष्ण शब्द रात्रि के लिए और अर्जुन दिन के लिए प्रयुक्त हुआ है। साहचर्य के कारण इन तीनों शब्दों का गुणवाचकता के स्थान पर रात्रि और दिन के अर्थ में प्रयोग होने से अर्थसंकोच हुआ है।

साहचर्य के द्वारा अर्थविकास पर पतञ्जलि लिखते हैं कि :—

शब्दस्तु खलु येन येन विशेषेणाभिसम्बध्यते, तस्य तस्य विशेषको भवति। महा० १, १, २२।

शब्द का जिस-जिस विशेष के साथ सम्बन्ध होता है, वह उसी का विशेषक हो जाता है। शुक्ल कृष्ण आदि शब्द जिस-जिस वस्तु के साथ सम्बद्ध हो जायँगे, वह उन विशिष्टों का ही बोध कराएंगे। प्रत्येक वस्तु की शुक्लता, कृष्णता, सुन्दरता आदि में अन्तर होता है, उसी प्रकार इनके अर्थों में भी अन्तर रहेगा।

साहचर्य के कारण शब्द का अर्थविकास हो जाने से तत्सहचरित को उसी नाम से सम्बोधित किया जाता है। यथा वसन्तऋतु के साहचर्य से उस काल को ही वसन्त कहते है।

साहचर्यात् ताच्छब्द्यं भवति। महा० ४, २६३।

पाणिनि ने 'नक्षत्रेणयुक्तः कालः' (अष्टा० ४, २, ३) सूत्र के द्वारा बोधित किया है कि नक्षत्रवाची शब्द साहचर्य के कारण काल का भी बोध कराते हैं। मासों के नाम इसी प्रकार पड़े हैं। चित्रा नक्षत्र से युक्त काल को चित्रा कहेंगे, और उस मास को चैत्र। इसी प्रकार विशाखा से वैशाख, ज्येष्ठा से ज्येष्ठ, अषाढ़ा से आषाढ़, श्रवणा से श्रावण, फल्गुनी से फाल्गुन मास आदि। इन मासों से पूर्णिमा

के दिन चित्रा आदि नक्षत्र होते हैं। चित्रा नक्षत्र युक्त पूर्णिमा जिस मास में हो उसे चैत्र, इसी प्रकार वैशाख आदि। अष्टा० ४, २, २१।

साहचर्य के कारण गुणवाची शब्द द्रव्य वाची हो जाते हैं। पतञ्जलि ने लिखा है कि—

कथं न पुनरयं गुणवचनः सन् द्रव्यवचनः सम्पद्यते। गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिति। तद्यथा, शुक्लगुणः शुक्लः, कृष्णगुणः कृष्णः। महा० २, १, ३०।

गुणवाची शब्द गुणी के लिए भी प्रयुक्त होते हैं। शुक्लगुणयुक्त वस्तु को शुक्ल और कृष्णगुणयुक्त को कृष्ण। इस प्रकार समस्तगुणवाची शब्द गुण और उनके साहचर्य से गुणी दोनों का बोध कराते हैं। एक स्थान पर वह गुणवाची हैं, दूसरे स्थान पर द्रव्यवाची।

साहचर्य के द्वारा अर्थ का विस्तार होना भी पतञ्जलि ने बताया है। गंगा और यमुना शब्द उन नदियों के बोधक हैं, परन्तु जो नदियां उनमें आकर मिल जाती हैं, उनको भी गंगा और यमुना ही कहा जाता है। पर्वत के मध्यस्थ प्रदेश को भी पर्वत ही कहा जाता है।

तदेकदेशभूतस्तद्ग्रहणेन गृह्यते। महा० १, १, ७१।

गृह के साहचर्य से स्त्री के लिए भी गृह शब्द "गृहा दाराः" का प्रयोग होता है। इसी भावना के आधार पर कवि का कथन है कि घर को घर नहीं कहते हैं अपितु घरवाली को घर कहते हैं।

न गृहं गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।

भर्तृहरि ने लिखा है कि साहचर्य के आधार पर एक शब्द अन्यार्थ के लिए भी प्रयुक्त होता है। यथा, "छत्रिणो यान्ति" (छत्रयुक्तजन जा रहे हैं) "ध्वजिनो यान्ति" (ध्वजायुक्त जन जा रहे हैं) "ते विष्णुमित्राः" (वे विष्णुमित्र हैं)। इन उदाहरणों में जो छत्र या ध्वजायुक्त नहीं हैं उनको भी तत्सहचरित होने के कारण छत्री और ध्वजी कहा गया है। विष्णुमित्र के साहचर्य से विष्णुमित्र अन्यों को भी कहा गया है। सहचरितों के लिए भी उस शब्द के प्रयोग से शब्दों के अर्थ का विस्तार होता है। वाक्य० ३, पृ० ४६३।

पतञ्जलि ने लिखा है कि साहचर्य के कारण प्रत्येक शब्द के अर्थ में विशेषता आ जाती है।

सर्वश्च शब्दोऽन्येन शब्देनाभिसम्बद्ध्यमानो विशेषवचनः सम्पद्यते।
महा० २, १, ५५।

सीरदेव ने इसी भाव को व्यक्त करते हुए दूसरे शब्दों में लिखा है कि पदान्तर के सन्निधान होने पर पदों की अर्थविशेष में वृत्ति होती है।
परिभाषा-वृत्ति, परि० १३०।

जैसे बालक सिंह है आदि वाक्यों में दोनों शब्द पृथक् रखने से उनके सादृश्य आदि की जो अभिव्यक्ति वाक्य में होती है वह नहीं हो सकती है। वीरता आदि भावों की अभिव्यक्ति साहचर्य के कारण ही हुई है। इसी प्रकार प्रत्येक शब्द में साहचर्य के कारण विशेषता आ जाती है।

पतञ्जलि ने कहा है कि एक शब्द अनेक अर्थों का बोध कराता है, यह न्याय्य है।

एषोऽपि न्याय्य एव यद्प्येकेनानेकस्याभिधानं भवति।
महा० १, २, ६४।

कैयट ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि एकशेष समास इसीलिए किया जाता है कि एक के द्वारा अनेक का बोध हो। यथा, "पितरौ" कहने से माता और पिता दोनों का बोध होता है। हेलाराज ने इसको साहचर्य का प्रभाव बताया है। साहचर्य के कारण दो शब्दों में यह पारस्परिक शक्ति आ जाती है कि एक शब्द भी दोनों का अर्थबोध करा सकता है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति पृथक्-पृथक् एक भार को नहीं उठा सकते हैं परन्तु सामूहिक रूप से उसको उठा लेते हैं। इसी प्रकार शब्द भी पारस्परिक शक्ति के आर्विभाव से एक शब्द के अभाव में भी दोनों शब्दों का अर्थबोध कराते हैं। हेलाराज। वाक्य० ३ पृष्ठ ४६५।

एकशेष समास में जिन शब्दों का पाठ है, उनका साहचर्य प्रसिद्ध है, अतः एक शब्द के शेष रहने पर भी दोनों अर्थों का बोध होता है, जिनका साहचर्य नहीं है उनका एक शेष नहीं हो सकता क्योंकि उससे दोनों अर्थों का बोध नहीं होगा। इसी साहचर्य मूलक शक्ति को ही लक्ष्य में रखते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि अर्थान्तरवाची शब्द भी अर्थान्तर का बोधक होता है।

अर्थान्तराभिधायित्वं तथाऽर्थान्तरवर्तिना। वाक्य० ३ पृ० ४६३।

सांस्कृतिक-विकास और अर्थ-विकास

सांस्कृतिक विकास के अनुसार भाषा के प्रत्येक अंगों और उपांगों में विभिन्न भावों को व्यक्त करने के लिए अनेकों नए शब्दों की आवश्यकता पड़ती है। साधारणतया जो शब्द पूर्वप्रचलित होते हैं, उनको ही उपयोग में लाया जाने लगता है। शब्द का मौलिक अर्थ कुछ रहता है परन्तु विभिन्न शाखाओं और विभिन्न श्रेणियों में उसके द्वारा विभिन्न अर्थों का बोध कराया जाने लगता है। इस प्रकार से एक शब्द ही समाज की विभिन्न श्रेणियों में विभिन्न अर्थ का बोधक हो जाता है। पतञ्जलि ने इसका आधार बताया है कि प्रथम ऐसे अर्थ का बोध आचार्य या आप्त व्यक्ति कराते हैं। उनके आचरण से विभिन्न अर्थों में उन शब्दों का प्रचलन हो जाता है। शास्त्रीय और पारिभाषिक शब्दावली को पतञ्जलि ने कृत्रिम कहा है और प्रचलित एवं प्रसिद्ध अर्थ को अकृत्रिम। इन कृत्रिम संज्ञाओं का प्रचलन आचार्यों के व्यवहार से होता है।

आचार्याचारात् संज्ञासिद्धिः। आचार्याणां व्यवहारात्।
इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः कैः? आचार्यैः।

महा० १. १. १।

नागेश का कथन है कि कृत्रिम संज्ञाओं को अनित्य इसलिए कहा जाता है क्योंकि उनका अर्थग्रहण पाणिनि आदि के उपदेश से होता है।

मंजूषा० पृ० ६५।

पतञ्जलि का कथन है कि साधारणतया कृत्रिम और अकृत्रिम संज्ञाओं में से कृत्रिम का ही ग्रहण होता है। महा० १. १. २२।

वृद्धि, गुण, अंग, प्रकृति, धातु, गति आदि शब्दों का पाणिनि ने पारिभाषिक रूप में प्रयोग किया है। इनका प्रचलित अर्थ अन्य है। एक ही शब्द का प्रचलित अर्थ एक होता है और पारिभाषिक अर्थ दूसरा। जिस प्रकार पाणिनि ने व्याकरण के लिए प्रचलित शब्दों का पारिभाषिक अर्थ में प्रयोग किया है, उसी प्रकार प्रत्येक दर्शन, साहित्य, ब्राह्मण, उपनिषद्, स्मृति और विज्ञान ग्रन्थों में प्रचलित शब्दों का पारिभाषिक-रूप में प्रयोग किया जाता है। प्रत्येक शास्त्र का विद्वान् अपने शास्त्र में उसी पारिभाषिक अर्थ को लेगा, प्रचलित को नहीं। इस प्रकार संस्कृति के विकास के अनुसार ही अर्थ का विकास स्वाभाविक रूप से होता जाता है। गुण शब्द प्रथम गुण का बोधक था, परन्तु संस्कृति विकास के साथ उसके अनेकों अर्थ हो गए हैं यथा, १—गुण, (सद्गुण, दुर्गुण), २—वैयाकरणों के अनुसार अदेङ्गुणः अ, ए, ओ अक्षर, ३—वैशेषिकों के अनुसार सात पदार्थों में से एक। (द्रव्य, गुण, कर्म आदि) ४—सांख्यों के अनुसार तीन गुण (सत्व, रजस्, तमस्) ५-रूप, रस, गन्ध आदि पांच विषय, ६—साहित्यिकों के अनुसार रसों के उत्कर्ष के हेतु शौर्य आदि गुण, (काव्यप्रकाश उच्छ्वास, ८), ७—माधुर्य, ओज और प्रसाद तीन गुण (काव्यप्रकाश उच्छ्वास ८), ८—राजनीति में, राजनीति का प्रयोग (संधि, विग्रह आदि ६ गुण), ९—व्याकरण और मीमांसा में शुक्लता आदि गुण, (जातिगुण, क्रिया, द्रव्य रूपी चार प्रकार के शब्दार्थ में से एक)। इसी प्रकार प्रकृति धातु, गति, विभक्ति, कारक, पुरुष, सम्बन्ध, समास आदि शब्द भिन्न भिन्न शाखाओं और श्रेणियों में विभिन्न अर्थों के बोधक हैं।

इस अर्थविकास का वैयाकरण एवं साहित्यिक आदि सदुपयोग भी विशेष रूप से उठाते हैं। एक शब्द के प्रयोग से ही एक से अधिक अर्थों का बोध कराते हैं। अतएव पतञ्जलि और भर्तृहरि ने लिखा है कि प्रचलित और पारिभाषिक दोनों अर्थों का भी एक शब्द से ही ग्रहण किया जाता है। महा० १, १, २२ तथा वाक्य० २, ३७६।

अर्थविकास साधारणतया अज्ञातरूप से संस्कृति विकास के साथ होता रहता है। प्रथम जिन कारणों का उल्लेख किया गया है, उनके द्वारा अर्थविकास

अदृष्ट रूप से होता रहता है, परन्तु कुछ अर्थों का विकास ऐच्छिक भी होता है। प्रसिद्ध जर्मन भाषा विशेषज्ञ हर्मनपाउल का मत है कि अर्थों में परिवर्तन अदृष्ट रूप से होता रहता है। ऐच्छिक प्रयत्न के द्वारा भी अर्थ-विकास का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि (पृष्ठ १२) व्यक्तिविशेष के ऐच्छिक प्रयत्न के कारण भी अर्थ परिवर्तन होता है। विज्ञान साहित्य और वाणिज्य की पारिभाषिक शब्दावली उपाध्यायों, अन्वेपकों और आविष्कारकों द्वारा ही स्थिर और समृद्ध की गई है।

मानव-सुलभ स्खलन और अर्थविकास

भर्तृहरि का कथन है कि मनुष्य तत्त्वदर्शी नहीं है, अपितु अल्पज्ञ है। मनुष्य का ज्ञान त्रुटिपूर्ण है। उसका कथन भी उसी प्रकार अपूर्ण है और त्रुटि युक्त है। अतएव मानवज्ञान और वचन त्रुटि युक्त, अव्यवस्थित और दोषपूर्ण है।

तस्माददृष्टतत्वानां सापराधं बहुच्छलम्।
दर्शनं वचनं चापि नित्यमेवानवस्थितम्॥
वाक्य० २, १४०।

ऋषियों और महर्षियों का ज्ञान कुछ अंश तक व्यवस्थित और त्रुटिरहित होता है। परन्तु सांसारिक व्यवहार उनके ज्ञान के आधार पर नहीं चलता। उनका ज्ञान शब्दशक्ति का विषय नहीं है। वाक्य २, १४१।

भर्तृहरि का मत है कि जहाँ तक सांसारिक व्यवहार, वस्तुनिरूपण, भाषण, वार्तालाप आदि का सम्बन्ध है, वालक और पंडित समान ही हैं। ऋषि महर्षि भी व्यावहारिक अवस्था में वही त्रुटियां करते हैं, जोकि वालक करते हैं। पुण्यराज, वाक्य० २, पृ० ४१ तथा का० ३ पृ० १२४।

अतएव अज्ञान, त्रुटियुक्त स्मरणशक्ति, अस्पष्टश्रवण, मिथ्याज्ञान, अशुद्धप्रयोग, प्रमाद और आलस्य के कारण शब्दों के अर्थों में अन्तर पड़ जाता है। वही बद्धमूल होने पर मुख्यार्थवत् व्यवहृत होने लगता है। भर्तृहरि इसी को स्पष्ट करते हुए लिखते है ज्ञान आलेख (विषयरूप दोष, प्रसाद आदि) के कारण अशुद्ध हो जाता है और इस प्रकार से अर्थ भी अपने स्वरूप से दूर चला जाता है। यही अर्थविकास है।

.यथा च ज्ञानमालेखादशुद्धौ व्यवतिष्ठते।
तथोपाश्रयवानर्थः स्वरूपाद् विप्रकृष्यते॥
वाक्य० ३ पृ० १२६।

हेलाराज ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि प्रमाद आदि तक कारण उन शब्दों का अर्थ वैसा ही समझा जाता है और वैसा ही प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार वह अर्थ व्यावहारिक हो जाता है। हेलाराज।

भर्तृहरि ने यह भी लिखा है कि यह विपर्यय अर्थ में ही नहीं होता, अपितु शब्द, अर्थ और ज्ञान तीनों में होता है।

एवमर्थस्य शब्दस्य ज्ञानस्य च विपर्यये।
भावाभावावभेदेन व्यवहारानुपातिनौ ॥
वाक्य० का० ३ पृ० १२६।

इस शब्द, अर्थ और ज्ञान के विपर्यय का ही फल है कि शब्दशास्त्र में अर्थ परिवर्तन अर्थविकास और अर्थभेद होता रहता है। भर्तृहरि ने इस विषय का इस प्रकरण में विशेष विस्तार से विवेचन किया है।

वैद्यनाथ ने महाभाष्य की छाया टीका में इसको अनृत नाम से बोधित करते हुए लिखा है कि—

द्विविधमनृतम्-अर्थानृतं शब्दानृतं च। महा० आ० १।

शब्द और और अर्थ दो प्रकार का असत्य है। शब्दों का अशुद्ध प्रयोग, अशुद्ध व्यवहार और अर्थ का अशुद्ध अर्थ में प्रयोग और व्यवहार।

जैमिनि ने मीमांसा दर्शन में त्रुटियुक्त प्रयोग के कारण की मीमांसा करते हुए लिखा है कि शब्द का प्रयोग प्रयत्नपूर्वक होता है, और प्रयत्नसाध्य। कार्य में त्रुटि होना स्वाभाविक है, जैसे कि कोई व्यक्ति प्रयत्न करता है कि कूदकर शुष्क स्थल पर गिरूं, परन्तु वह कीचड़ में गिर पड़ता है। इसी प्रकार प्रयत्न साध्य होने के कारण अशुद्ध प्रयोग भी होता है।

शब्दे प्रयत्ननिष्पत्तेरपराधस्य भागित्वम्। मीमांसा० १,३,२५।

पतञ्जलि ने शुद्ध और अशुद्ध प्रयोग में पुण्य और पाप की व्यवस्था करके अन्तर बताया है। अशुद्ध प्रयोग के द्वारा अर्थबोध होता ही है। अतएव शबर स्वामी ने कहा है कि शब्दों का प्रयोग अर्थबोध के लिए किया जाता है, धर्म के लिए नहीं। मजूषा० पृ० ८३।

लोकव्यवहार में प्रयोग के समय धर्म की चिन्ता नहीं की जाती है, अतएव अशुद्ध प्रयोग भी किए जाते हैं। यह प्रयोग ही व्यवहारिक होने पर तदर्थप्रतिपादक हो जाते हैं।

पतञ्जलि ने त्रुटिपूर्ण प्रयोग से किस प्रकार अर्थविकास हो जाता है इसके कुछ उदाहरण भी दिए हैं। प्रमाण अर्थ के बोधन के लिए द्वयस, दघ्न और मात्रप्रत्यय होते हैं और इनका शब्द के साथ प्रयोग होना चाहिए। यथा उरुदघ्नम्, उरुमात्रम्, परन्तु इन प्रत्ययों का शब्दों से पृथक् भी प्रमाण अर्थ के बोध के लिए भी प्रयोग होने लगा। "किमस्यद्वयसम्, किमस्य मात्रम्" (इसका क्या परिणाम है)। महा० ३, १, २।

कैयट ने लिखा है कि पूरण अर्थ में शब्द के साथ तिथीशब्द का प्रयोग होता था। यथा, बहुतिथी (बहुत से), परन्तु भ्रम से इसमें तिथि शब्द को देखकर

पृथक् भी इसका प्रयोग प्रचलित हो गया और "काऽद्य तिथी" (आज क्या तिथी है), कहा जाने लगा। तिथिशब्द का स्त्रीप्रत्ययांत "तिथी" प्रयोग शुद्ध है। कैयट, महा० ३, १, २।

गुप्त काल के शिलालेखों से ज्ञात होता है कि बदि और सुदि शब्द बहुलपक्ष दिवस (कृष्णपक्ष का दिवस) और शुक्लपक्ष दिवस (शुक्लपक्ष का दिवस) शब्दों के संक्षिप्त प्रथमाक्षर हैं, परन्तु भ्रम से इनको पूर्ण शब्द माना जाता है।

प्रसिद्ध दार्शनिक लाक का कथन है कि मनुष्य बाल्यावस्था से ही इस बात का अभ्यस्त हो जाता है कि वह शब्दों का पूर्ण अर्थ जाने बिना भी अनायास जो शब्द सीखे जाते हैं उनको सीखता है और प्रयुक्त करता है। वह जीवन भर ऐसा ही करता रहता है। इसी प्रकार मनुष्य अपने समीपस्थों द्वारा प्रयुक्त शब्दों को सीखता है और उन शब्दों के निश्चित अर्थ के जानने का प्रयत्न न करके, जैसा प्रयोग के आधार पर शुद्ध अर्थ समझता है, उसी अर्थ में विश्वास पूर्वक प्रयोग करता रहता है।

वक्ता अपनी बुद्धि के अनुसार शब्द का प्रयोग करता है और श्रोता अपनी बुद्धि के अनुसार उसका अर्थ समझता है। इस प्रकार कहीं अर्थ का विस्तार होता है और कहीं अर्थ का संकोच।

आलंकारिक तथा व्यङ्ग्य प्रयोग और अर्थ-विकास

शब्दशक्ति अध्याय में कतिपय प्रयोगों द्वारा यह बताया गया है कि शब्द जब लाक्षणिक या व्यंग्य रूप में प्रयुक्त किया जाता है तो वह अपने मुख्यार्थ का बोध नहीं कराता अतएव लाक्षणिक और व्यंग्य प्रयोगों में मुख्यार्थ की अवहेलना की जाती है। व्यंग्य प्रयोगों में उस शब्द या वाक्य का सर्वथा विपरीत अर्थ लिया जाता है, भर्तृहरि ने अतएव कहा है कि व्यंग्य प्रयोगों में जो अर्थ शब्दों द्वारा प्रतीत होता है, वह अर्थ वास्तविक नहीं होता है। स्तुतिसूचक वाक्य का अर्थ निन्दा होती है और निन्दासूचक का अर्थ स्तुति। वाक्य० २, २४६।

आलंकारिक एवं व्यंग्य प्रयोगों से शब्दार्थ में विशेष विकास लक्ष्य होता है।

प्रकरण-भेद आदि से अर्थभेद

भर्तृहरि ने लिखा है कि वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश और काल से शब्दों के अर्थों में भेद हो जाता है। वाक्य० २, ३१६।

एक ही शब्द का विभिन्न वाक्यों, विभिन्न प्रकरणों आदि में कुछ विभिन्नता को लेते हुए प्रयोग किया जाता है, इस प्रकार से एक ही शब्द के अर्थों में भेद हो जाता है। इन कारणों के द्वारा अर्थभेद से शब्द नानार्थक कैसे हो जाते हैं, इसके विषय में पतञ्जलि ने पाणिनि के सूत्रों (अष्टा० १, ३, १४ से ३५) की व्याख्या में स्पष्ट किया है कि प्रकरणभेद से धातुओं आदि के अर्थों में परिवर्तन हो

जाता है। यथा, 'आदित्यमुपतिष्ठते' (आदित्य की उपासना करता है) 'रथिकानुपतिष्ठते' (रथिकों का साथ करता है), 'महामात्रानुपतिष्ठते' (महामात्रों से मित्रता करता है), 'गंगा यमुनामुपतिष्ठते' (गंगा यमुना से मिलती है), 'अयं पन्थाः स्रुघ्नमुपतिष्ठते' (यह मार्ग आगरा को जाता है)। एक ही धातु का प्रकरण भेद से अर्थभेद हुआ है।

औचित्य के कारण अर्थभेद होता है, यथा, 'परदारान् प्रकुरुते' (पर स्त्रियों में गमन करता है), गाथाः प्रकुरुते (गाथा सुनाता है), 'जनापवादान् प्रकुरुते' (जनापवाद फैलाता है), 'शतं प्रकुरुते' (१०० रुपये धमार्थ लगाता है)। औचित्य के कारण कृ धातु के अर्थों में भेद है। अष्टा० १, ३, ३२।

देशभेद से अर्थभेद हो जाता है। यास्क और पाणिनि ने उदाहरण दिया है कि शव् धातु का कम्बोज देश के व्यक्ति गम् धातु अर्थात् जाना के अर्थ में प्रयोग करते हैं और आर्य लोग इसका देहावसान के अर्थ में प्रयोग करते हैं। यथा शव (महा० आ० १, तथा निरुक्त २, २)। जयन्त ने न्यायमंजरी (पृ० २२२) में लिखा है कि दाक्षिणात्यतस्करवाचक चौर शब्द का ओदन भात के अर्थ में प्रयोग करते हैं।

एक ही भाषा के शब्दों में देश से अर्थभेद हो जाता है। यदि विभिन्न भाषाओं का संग्रह करें तो देशभेद से अर्थभेद बहुत व्यापक हो जाता है। अन्य देश की भाषाओं का मौलिक अन्तर है अतः उसे केवल ध्वनि साम्य कह सकते हैं। संस्कृत में 'ना' का अर्थ है नहीं, किन्तु चीनी भाषा में ना का अर्थ है 'वह' और रूसी भाषा में इसका अर्थ है 'पर या ऊपर'। संस्कृत में 'पा' धातु का अर्थ है, पीना या रक्षा करना, परन्तु चीनी भाषा में 'पा' संख्या है, इसका अर्थ है आठ। संस्कृत में 'नाक' स्वर्ग है और चीनी में 'वह'। जर्मन, इंग्लिश, ग्रीक लेटिन और रूसी आदि आर्य परिवार की भाषाओं में संस्कृत के शब्दों का कुछ ध्वनि परिवर्तन के साथ बहुत से शब्दों में अर्थ साम्य है। चीनी भाषा के शब्दों से संस्कृत शब्दों का अर्थ साम्य सर्वथा नहीं है।

कालभेद से अर्थों में भेद हो जाता है। वैदिक और संस्कृत साहित्य की तुलना से इसके अनेकों उदाहरण मिलते हैं। वेद में अद्रि और पर्वत शब्द का अर्थ मेघ भी है, परन्तु बाद में इनका अर्थ केवल सर्प और पहाड़ रह गया है। वेद में सह धातु का अर्थ है "जयकरन" परन्तु संस्कृत साहित्य में इसका अर्थ "सहन करना" हो गया है, वेद में "नश्वर" धातु का अर्थ है "प्राप्त करना" लाभ होना परन्तु उसका अर्थ नष्ट करना या नष्ट होना हो गया।

भर्तृहरि ने अवस्थाभेद से भी शक्ति होना लिखा है।

अवस्थादेशकालानां भेदाद् भिन्नासु शक्तिषु ॥

वाक्य० १, ३२।

मनुष्य की अवस्था के भेद से बाल्यावस्था, युवा और वृद्धावस्था में उसके ज्ञान में बहुत अधिक अन्तर पड़ जाता है। बाल्यावस्था में उसे सूक्ष्म तत्त्वों का अर्थ कुछ ज्ञात होता है, परन्तु युवावस्था में शास्त्राध्ययन से उन तत्त्वों का स्पष्ट ज्ञान होता है। कितने ही शब्दों का अर्थ जो कि उस समय कुछ समझा था, वह आंशिक या पूर्णरूप से भिन्न हो जाता है।

राजनैतिक, सामाजिक, धार्मिक और आर्थिक अवस्था में भी अन्तर हो जाने से शब्दों के अर्थों में अन्तर हो जाता है। प्रत्येक समय में राजनीति, समाज, धर्म आदि की अवस्था समान नहीं रहती है। समय परिवर्तन के साथ उनकी अवस्थाओं में अन्तर आ जाता है। कितने ही शब्दों का अर्थ जो पहले कुछ लिया जाता था, बाद में अवस्थाओं में अन्तर हो जाने से उनके अर्थ में परिवर्तन अवस्था के अनुसार ही अर्थभेद हो गया। पतञ्जलि ने इस प्रकार के अर्थपरिवर्तन एवं अर्थभेदों के उदाहरणों का भी उल्लेख किया है।

समास से अर्थभेद

पतञ्जलि ने कहा है कि समास में एक शब्द परार्थ का भी बोध कराता है, अतएव उसमें वाक्य की अपेक्षा अर्थ में अन्तर हो जाता है। 'परार्थाभिधानंवृत्तिः' महा० (२, १, १)। भर्तृहरि ने अतएव कहा है कि वाक्य में पद पृथक्-पृथक् सामान्य अर्थ का बोध कराते हैं, परन्तु समास होने से वे विशेष अर्थ का बोध कराते हैं।

वृत्तौ विशेषवृत्तित्वाद् भेदे सामान्यवाचिता। वाक्य० का० ३ पृ० ४६८।

समास होने पर "निष्कौशाम्बिः" शब्द में निस् उपसर्ग निष्क्रान्त का बोध कराता है, पृथक् होने पर ऐसा नहीं होता। समास होने से कितने ही शब्द जातिविशेष के वाचक हो गए हैं। अतएव पतञ्जलि ने कहा है कि,

अस्त्यत्र विशेषो जात्यात्र सम्बन्धः क्रियते।

समास और असमस्त में अर्थभेद का वर्णन करते हुए भर्तृहरि ने लिखा है कि:—

भेदे सति निरादीनां क्रान्ताद्यर्थेष्वसंभवः।
प्राग्वृत्तेर्जातिवाचित्वं न च गौरखरादिषु ॥
वाक्य० ३ पृ० ४६९।

समास होने "सेलवैनिष्कौशाम्बि" में जिस प्रकार विशिष्ट अर्थ प्रतीत होता है, उसी प्रकार 'दध्योदनः' में दधि शब्द दधिमिश्रित, "गुडधानाः" में गुड़ शब्द गुडमिश्रित, शाकपार्थी में शाक शब्द शाकीप्रिय का बोधक है। गौरखर, कृष्णसर्प, लोहितशालि, शब्द खर, सर्प, शालि की जातिविशेष के बोधक हैं। प्रत्येक काले सर्प को कृष्णसर्प नहीं कह सकते। समास में समुदाय का अर्थ प्रधान होता है और वही लिया जाता है। पद का अर्थ नहीं। अतः भर्तृहरि कहते हैं कि:—

पादवाच्यो यथा नार्थः कश्चिद् गौरखरादिषु।
सत्यपि प्रत्ययेऽत्यन्त समुदाये न गम्यते॥
वाक्य० २, २१८।

समस्त पद में पदार्थ कहीं पर इतना लुप्त हो जाता है कि उसका अर्थ सर्वथा लिया ही नहीं जाता है। यथा, ओदनपाकी, शंकुकर्णी, शालपर्णी, शंखपुष्पी, दासीफली, दर्भमूली, गोवाली। ये सारे शब्द औषधियों के नाम हैं, अतएव भट्टोजिदीक्षित कहते हैं कि "औषधिविशेषे रूढा एते" (अष्टा० ४, १, ६४) यह औषधियों के लिए रूढ हैं। मंडप में मंड (मांड़) के पान का अर्थ नहीं रहता।

समास का एक भेद एकशेष समास है। इसमें एक शब्द ही समास के कारण एक से अधिक का अर्थ बोध कराता है। इसका पाणिनि ने (अष्टा० १, २, ६५ से ७३) विस्तार से विवेचन किया है। यथा, "पितरौ" का अर्थ है माता पिता, "भ्रातरौ" का अर्थ है भाई बहन, और "श्वसुरौ" का अर्थ है "सास ससुर"।

पाणिनि ने अलुक् समास (अष्टा० ६, ३, १ से ३३) का भी उल्लेख किया है। इसमें समस्त पदों के मध्यगत विभक्ति का लोप नहीं होता है। समस्त होने से एक पद होते हैं और इनके अर्थों में अन्तर हो जाता है, पतञ्जलि ने बहुत से इसके उदाहरण दिए हैं। यथा, अप्सुचर (जलजन्तु), गोषुचर (कुक्कुट), वर्षासुज (इन्द्रगोप, एककीट), सरसिज (कमल), स्तम्बेरम (हाथी), कर्णेजप (सूचक, चुगलखोर), पश्यतोहर (स्वर्णकार), देवानांप्रिय (मूर्ख), कण्ठेकाल (शिव), परस्मैपद, आत्मपनेद, युधिष्ठिर, दास्याःपुत्रः (एक गाली है) इनमें कहीं पर कम और कहीं बहुत अधिक अर्थों में अन्तर पड़ गया है।

उपसर्ग-संयोग से अर्थभेद

यास्क ने उपसर्गों से अर्थभेद की चर्चा करते हुए शाकटायन और गार्ग्य का मत लिखा है कि उपसर्गों के संयोग से शब्द और धातुओं के अर्थ में अन्तर पड़ जाता है। (निरुक्त० १, ३)। ऋक् और यजुः प्रातिशाख्य ने लिखा है कि—

उपसर्गो विशेषकृत्। यजुः प्रातिशाख्य ८, ५४ तथा ऋक् प्राति० १२, २५।

उपसर्ग अर्थ में विशेषता उत्पन्न कर देता है। वेंकट माधव ने भी उपसर्गों के द्वारा अर्थभेद का अपने ऋग्वेद के भाष्य में (अष्टक ३, ७) वर्णन किया है।

कात्यायन और पतञ्जलि कहते हैं कि "क्रियाविशेषक उपसर्गः" (महा० १, ३, १) अर्थात् उपसर्ग धात्वर्थ में विशेषता के आधायक हैं। उपसर्ग के संयोग से शब्दों और धातुओं के अर्थ में महान् अन्तर पड़ जाता है, एक ही शब्द अपने विरुद्ध अर्थ का भी बोध कराने लगता है। भट्टोजिदीक्षित ने इसके उदाहरण देते हुए लिखा है कि:—

उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यत्र नीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारप्रतिहारवत्॥
सिद्धान्त० ८, ४, १८।

उपसर्ग के द्वारा धातु का अर्थ बहुत दूर चला जाता है। यथा, 'हृ' धातु का अर्थ है "हरण" परन्तु उपसर्गों के कारण उसी का अर्थ प्रहार, आहार, संहार, बिहार, प्रतिहार, आदि हो जाता है। 'स्था' धातु का अर्थ है रुकना, परन्तु प्रस्थान में इसका अर्थ विपरीत है 'प्रस्थान करना' इसी के उत्थान, संस्थान, अनुष्ठान, निष्ठान, निष्ठा, में भिन्न अर्थ हैं। 'ईक्ष्' धातु के प्रेक्षण, निरीक्षण, परीक्षण, समीक्षण, अन्वीक्षण, आदि में अर्थ भिन्न हैं। आकार, प्रकार, विकार, उपकार, अनुकरण, संस्कार, संस्करण, सब विभिन्न अर्थों के बोधक शब्द 'कृ' धातु के ही हैं। विजय और पराजय 'जि' धातु से भिन्नार्थक शब्द हैं। प्रत्येक धातु के अर्थों में उपसर्गों के लगाने से अन्तर पड़ जाता है। पतञ्जलि ने इस प्रकार के बहुत से उदाहरण (अष्टा० १, ३, १७ से ६३) सूत्रों की व्याख्या में दिए हैं।

उपसर्ग के संयोग से धातु अकर्मक के स्थान पर सकर्मक भी हो जाती है।

अकर्मका अपि वै सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति। महा० १. १. ४३।

यथा, 'भवति' अकर्मक है और 'अनुभवति' (सुखमनुभवति) सकर्मक है।

वाच्य भेद से अर्थभेद

वाच्यभेद से धातुओं के अर्थों में अन्तर हो जाता है। यथा 'छिनत्ति काष्ठम्' और "छिद्यते काष्ठम्' में वाच्यभेद से छिद् धातु का अर्थ काटना और दूसरे में कटना अर्थ हो जाता है। इसी प्रकार भिद् धातु का टूटना और तोड़ना, पच् धातु का पकना और पकाना अर्थ होता है। भिनत्ति काष्ठम्, भिद्यते काष्ठम्, पचति ओदनम्, पच्यते ओदनः, पतञ्जलि ने इसका 'कर्मवत् कर्मणा तुल्यक्रियः' (महा० ३, १, ८७) सूत्र की व्याख्या में विशेष विचार किया है।

भर्तृहरि ने कहा है कि पच् आदि धातु ण्यर्थ का भी बोध कराती हैं। कहीं पर कर्तृवाच्य प्रयोग होता है और कहीं कर्मवाच्य। वाक्य० का० ३ पृ० ४१६।

भर्तृहरि का मत है कि दोनों अर्थों (पकना, पकाना) में अन्तर होने के कारण दोनों प्रयोगों में पच् धातु को समानार्थक नहीं मानना चाहिए। वाक्य० का० ३ पृ० ४२१।

एक ही धातु में इस प्रकार वाच्यभेद से अर्थभेद हो जाता है। धातु में इस प्रकार के अर्थभेद का ज्ञान क्रिया के समीपस्थ पद से होता है।

अत्र तूपपदेनायमर्थभेदः प्रतीयते। वाक्य० ३ पृ० २८।

भर्तृहरि ने कुछ आप्त प्रयोगों का उल्लेख किया है, जिनमें णिजन्त का प्रयोग किए बिना ही अन्तर्भावित ण्यर्थ मानकर धातुओं का प्रयोग किया गया है और ण्यर्थ का बोध कराया गया है। (वाक्य० ३, पृ० ४१८)। 'स्वात्मानं क्रीणीष्व' 'केशश्मश्रुवपते' 'मंत्रेण पत्नी रेतो धत्ते' आदि आप्त प्रयोग हैं, इनमें क्रीणीष्व आदि का णिजर्थ में प्रयोग किया है।

पाणिनि ने ऐसे बहुत से स्थलों का संग्रह किया है जहाँ पर पदों अर्थात् आत्म-

नेपद और परस्मैपद के अन्तर से अर्थों में अन्तर पड़ जाता है। भट्टोजिदीक्षित ने इन सूत्रों को आत्मनेपद और परस्मैपद प्रक्रिया में संग्रह कर दिया है। अष्टा० १, ३, १३ से ६३।

भर्तृहरि ने ऐसे अर्थभेद को उपग्रह नाम सम्बोधित किया है और कहा है कि आत्मनेपद और परस्मैपद के भेद से अर्थभेद होता है। वाक्य० ३ पृ० ४१५।

इनके कुछ उदाहरण बहुत प्रचलित हैं। यथा, भुज् धातु आत्मनेपदी का अर्थ है भोजन करना और परस्मैपदी का रक्षा करना, ओदनं भुङ्क्ते (भात खाता है), और राजा महीं भुनक्ति (राजा पृथिवी की रक्षा करता है)।

लिंगभेद से अर्थभेद,

भर्तृहरि ने लिंगभेद से अर्थभेद का होना बताया है। भर्तृहरि का कथन है कि जिस प्रकार स्वरभेद से अर्थभेद होता है, उसी प्रकार लिंगभेद से भी अर्थभेद होता है।

स्वरभेदाद्यथा शब्दाः साधवो विषयान्तरे।
लिंगभेदात् तथा सिद्धात् साधुत्वमनुगम्यते, ॥ वाक्य० ३, पृ० ४४१।

पतञ्जलि ने इस अर्थभेद का उदाहरण दिया है कि अर्थ शब्द नपुंसकलिंग में समप्रविभाग वाचक है और पुलिंग में अवयववाची है। महा० २, २, २।

इसी प्रकार वृक्षवाची शब्द पुलिंग होने पर वृक्ष के वाचक होते हैं और नपुंसकलिंग होने पर फल के, यथा, पीलुर्वृक्षः, पीलु फलम्, आम्रः, आम्रम्, महा० ७,१,७६

हेलाराज ने इसके उदाहरण देते हुए लिखा है कि नपुंसकलिंग सार शब्द का अर्थ है न्यायसंगत, यथा, "नैतत् सारम्", और पुलिंग का अर्थ है उत्कर्ष या सारभाग, यथा, चन्दनसार, खदिरसार। पद्म और शंख शब्द कमल के अर्थ में नपुंसक हैं और निधि के अर्थ में पुलिंग। लिंगभेद से अर्थभेद कहीं-कहीं पर इतना अधिक है कि उनका सर्वथा विभिन्न शब्द के तुल्य ही प्रयोग होता है। निम्नशब्दों में इसी अर्थभेद की तुलना कीजिए।

लक्षणः, लक्षणा, लक्षणम्। व्यंजनम्, व्यंजना, अभिधः, अभिधा। मित्रः, मित्रम्। रामः, रामा, अभिरामम्। वामः वामा, कृष्णः, कृष्णा, कृष्णम्। अर्जुनः, अर्जुनम् अर्जुनी। श्यामः, श्यामा। पापः, पापम्। धर्मः, धर्मम्। सूर्या, सूरी, सूर्यः।

पुलिंग शब्दों का साधारणतया स्त्रीलिंग में स्त्री अर्थ होता है, यथा ब्राह्मण, ब्राह्मणी क्षत्रिय, क्षत्रिया, अन्य स्थलों पर स्त्रीलिंग के द्वारा ह्रस्वता का द्योतन कराया जाता है, यथा, कुटी, अश्वका, आदि। परन्तु पतञ्जलि ने कुछ ऐसे स्थलों का भी निर्देश किया है जहाँ स्त्रीलिंग से महत्ता का बोध होता है। यथा, महद्हिमं हिमानी, महद् अरण्यम् अरण्यानी। यव शब्द से स्त्रीलिंग यवानी का अर्थ हो जाता है दुष्टयव। यवनानी यवनों की लिपि का बोधक है। महा० ४, १, ४६।

पाणिनि ने ऐसे स्थलों का भी संग्रह किया है, जहाँ पर एक लिंग के शब्दों का ही प्रत्यय में थोड़ा अन्तर होने से अर्थभेद होता है। स्त्री प्रत्यय में ङीप्, ङीप् और टाप् के अन्तर से अर्थभेद के बहुत से उदाहरण दिये गए हैं। यथा, आचार्या (स्वयं शिक्षिका), आचार्याणी (आचार्य की धर्मपत्नी), पाणिगृहीती (भार्या) पाणिगृहीता (कोई भी स्त्री जिसका हाथ पकड़ा हो)। इसी प्रकार 'जानपद०' (अष्टा० ४, १, ४२), सूत्र में कुण्डी, कुण्डा, गोणी गोणा, कामुकी कामुका, नीली नीला, नागी नागा, भाजी भाजा आदि शब्दों में अन्तर बताया गया है।

स्वरभेद से अर्थभेद

पतञ्जलि ने लिखा है कि स्वर या वर्ण के भेद से शब्द के अर्थ में भेद ही नहीं अपितु अर्थ का अनर्थ हो जाता है। स्वरभेद से वह शब्द उस अर्थ का बोधक नहीं रहता।

दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा, इत्यादि। महा० आ० १।

वृत्र ने इन्द्र के नाशार्थ अभिचारयज्ञ कराया। उसमें "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" में तत्पुरुष समास द्वारा इन्द्रशत्रु शब्द अन्तोदात्त ऋत्विज् को पढ़ना चाहिए था। परन्तु उसने बहुव्रीहि समास साध्य आद्युदात्त पढ़ दिया, इससे वृत्त का इन्द्र को मारने के स्थान पर वृत्र ही मृत्यु का पात्र बना। यह केवल स्वर के अन्तर का फल था।

संस्कृत साहित्य में स्वरों का उपयोग नहीं किया जाता है, अतः स्वरभेद से अर्थभेद के उदाहरण वहां नहीं मिलते। वैदिक साहित्य में स्वरज्ञान का बहुत ही अधिक महत्त्व है। मन्त्र का ठीक ठीक अर्थ जानने के लिए स्वर का ज्ञान आवश्यक है। स्वर के आधार पर वेद में कितने ही स्थानों पर अर्थ निर्णय में आशातीत सफलता प्राप्त होती है। अतएव ऋक्प्रातिशाख्य का कथन है कि वेदाध्यायी को स्वर आदि का ज्ञान आवश्यक है। मन्त्रार्थ ज्ञान के लिए स्वरादि का सदा ध्यान रक्खें।

स्वरो वर्णोऽक्षरं मात्रा दैवं योगार्षमेव च।
मन्त्रं जिज्ञासमानेन वेदितव्यं पदे पदे॥
ऋक्प्रातिशाख्य पृ० ३४।

इसमें स्वर को मुख्यता दी गई है। एक स्थान पर अन्यत्र भी कहा है कि उदात्त अनुदात्त आदि स्वरों का ज्ञान वेदाध्यायी के लिए आवश्यक है। ऋक्-प्राति० पृ० १४।

शुक्लयजुः प्रातिशाख्य का कथन है कि लौकिक संस्कृत की अपेक्षा वेद में स्वर की विशेषता है। अतएव उसका नियम लिखा गया है।

स्वरसंस्कारयोश्छन्दसि नियमः। शुक्लयजुः० प्राति० पृ० १।

मन्त्र में यदि स्वर या वर्ण की थोड़ी भी उच्चारण में त्रुटि होने से न केवल कार्य की क्षति होती है अपितु वह विघ्नमारक होकर पाप का कारण होता है।

मन्त्रस्तु यदि मनागपि स्वरतो वर्णतो वा हीनो भवति, न केवलं कर्मासमृद्धिः किन्तर्हि दुरिष्टहेतुः प्रत्यवायः स्यात्। शुक्लयजुः० प्राति० पृ० ३।

अथर्वप्रातिशाख्य का कथन है कि वेद के पदपाठ का उपयोग भी यही है कि उसके द्वारा स्वर, अर्थ आदि का ठीक ज्ञान हो जाता है।

पदाध्ययनमन्तादि शब्दस्वरार्थज्ञानार्थम्। अथर्वप्राति० पृ० २३४।

वेंकटमाधव ने लिखा है कि प्रकृति या प्रत्यय में जहां स्वर ठीक ठीक ज्ञात होता है, वहां मन्त्र का अर्थ तदनुसार करे। ऐसे भी स्थल हैं, जहाँ पर कि पदकारों ने पदच्छेन नहीं किया है, उन स्थलों का भी अर्थ निर्णय स्वर के आधार पर ही करे। यदि शब्द का अर्थ वही होगा तो स्वर भी वही होगा, परन्तु यदि स्वर में अन्तर हो तो उसका तदनुसार अन्यथा ही अर्थ करे। ऋग्वेदभाष्य, अष्टक १, ४ से ५।

पाणिनि ने स्वर विषयक जिन नियमों का उल्लेख किया है, उनके कतिपय उदाहरण जिनमें स्वरभेद से अर्थभेद है, निम्न हैं—हेलाराज ने अक्ष शब्द का उदाहरण देते हुए लिखा है कि 'अक्षस्यादेवस्य' के नियमानुसार शटक धुरावाची अक्ष शब्द आद्युदात्त है, और देवनाक्षवाची अक्ष अन्तोदात्त हैं। वाक्य० (का० ३ पृ० ४४१)। 'रक्षस्' शब्द आद्युदात्त का अर्थ है 'राक्षसी कृत्य' और अन्तोदात्त का राक्षस दातु शब्द आद्युदात्त का अर्थ है 'देना' और अन्तोदात्त का 'दाता'। तृन् और तृच् प्रत्यय द्वारा पाणिनि ने इन दोनों शब्दों में अन्तर किया है। 'सद्-मन्' आद्युदात्त का अर्थ है 'बैठने का स्थान' और अन्तोदात्त 'बैठने वाला'। 'ज्येष्ठाकनिष्ठयोर्वयसि (अन्तउदात्तः)' नियम से ज्येष्ठ और कनिष्ठ शब्दों के दोनों अर्थों में अन्तर किया गया है। आद्युदात्त ज्येष्ठ और कनिष्ठ का है। (सबसे बड़ा, और सबसे छोटा), परन्तु अन्तोदात्त का अर्थ है (सबसे बड़ा भाई और सबसे छोटा भाई)। 'अमित्र' शब्द बहुव्रीहि समास से अन्तोदात्त का अर्थ है, 'मित्ररहित' परन्तु तत्पुरुष से 'मि' उदात्त होने पर इसका अर्थ है 'शत्रु'। अपस् आद्युदात्त का अर्थ है 'कार्य' और अन्तोदात्त का 'क्रियाशील'। पाणिनि ने अष्टा-ध्यायी के अन्तिमसूत्र 'अ अ' द्वारा विवृत के स्थान पर संवृत करके अर्थभेद प्रदर्शित किया है।

अर्थ की अस्पष्टता और अर्थभेद

यास्क ने बहुत से ऐसे वैदिक शब्दों का संग्रह किया है, जिनका वास्तविक अर्थ अज्ञात हो गया था और उन शब्दों के अर्थों के विषय में विद्वानों में मत-भेद हो गया था, कोई उसका कुछ अर्थ लेता था, कोई कुछ। इस प्रकार उन शब्दों के एक से अधिक अर्थ विभिन्न शाखाओं में प्रचलित हो गए। यास्क ने

कौत्स का वचन लिखा है कि बहुत से मन्त्रों के अर्थ अस्पष्ट हैं, यथा, अम्यक्, याद्दस्मिन्, जारयायि, काणुका, (निरुक्त० १, १५)। पतञ्जलि ने (महा० २, १, १) में लिखा है कि जर्भरी (भरणकर्त्ता), तुर्फरीतू (हनन करने वाला) आदि शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं होता है। यास्क ने निरुक्त (अध्याय २, ८ और १२) में लिखा है कि वृत्र का अर्थ निरुक्तकार मेघ मानते हैं और ऐतिहासिक त्वष्टा का पुत्र एक राक्षस। अश्विनौ का अर्थ कोई द्यावापृथिवी मानते हैं कोई अहोरात्र, कोई सूर्यचन्द्र, कोई दो पवित्रात्मा राजा। नराशंस का अर्थ कात्थक्य मानते हैं यज्ञ और शाकपूणि अग्नि।

आगम आदि से अर्थ में अभेद—पतञ्जलि ने उदाहरणों द्वारा प्रदर्शित किया है कि आगम, आदेश, द्वित्व, लिंगभेद, ध्वनि के होने पर भी बहुत स्थलों पर अर्थ में परिवर्तन नहीं होता। (महा० १, १, १६)। आगम उसी के अंगभूत हो जाते हैं, अतः अर्थ परिवर्तन नहीं होता। स्वार्थिक प्रत्ययों के लिए लिखा है कि स्वार्थिक प्रत्ययों से अर्थभेद नहीं होता है। यथा, देवदत्तक, अश्वक (महा० १, १, २६)। ध्वनिभेद से भी कितने स्थानों पर अर्थभेद नहीं होता। (महा० १, १, ५५)। यजुः प्रातिशाख्य ने (पृ० ४१४ से ४२६) कतिपय नियमों का उल्लेख किया है कि मन्त्रों में किन स्थानों पर य को ज, र को रे, ऋ को रे, ष् को ख् और म को ग्वङ् बोलना चाहिए।

प्रातिशाख्यप्रदीप शिक्षा में (पृ० ३००) लिखा है कि इस प्रकार के उच्चारण से अर्थभेद नहीं होता है। 'अर्थविचारे तु प्रकृत्या ये वर्णाः, त एव, न त्वर्थ भेदः।'

———

अध्याय—४

अर्थ-निर्णय के साधन

पदार्थों को नाम कैसे दिए जाते हैं—पहले अध्याय में यह उल्लेख किया गया है कि एक शब्द एक ही अर्थ में रूढ नहीं है, एक से अधिक अर्थों का भी बोध एक शब्द द्वारा होता है। ऐसी स्थिति में यह प्रश्न स्वाभाविक है कि इस अव्यवस्था एवं अनिश्चितता में अर्थ का निर्णय किस प्रकार होता है। पतञ्जलि का सिद्धान्त यह है कि "अर्थगत्यर्थः" "शब्दप्रयोगः" अर्थ बोधन के लिए शब्द का प्रयोग होता है। यदि यह अर्थबोधकता संदिग्ध हो जाय तो अर्थबोधन के लिए शब्दप्रयोग एक निश्चित साधन न हो सकेगा। अतः इस प्रकरण में इस विषय पर विचार किया गया है कि अर्थ की नानार्थकता एवं संदिग्धार्थकता होने पर भी वाक्य में प्रयुक्त शब्दों द्वारा किस प्रकार निश्चित अर्थ ज्ञात होता है और अर्थ-बोधनार्थ शब्दप्रयोग एक सर्वोत्तमसाधन बना रहता है।

अर्थ-निश्चय के साधनों पर विस्तृत विवेचन से पूर्व यह ज्ञान आवश्यक है कि पदार्थों के नाम कैसे पड़ते हैं। नामकरण के प्रकरणों का ज्ञान अर्थनिश्चय के साधनों पर विशेष प्रकाश डालता है। अतः प्रथम इसी विषय का उल्लेख किया जाता है।

नामकरण के विषय में वेद और श्रुति आदि का मत

नामकरण का महत्व—ऋग्वेद (१०, ७१, १) का कथन है कि वाक्शक्ति के विकास का सर्वप्रथम कार्य था, वस्तुओं का नामकरण। इसके द्वारा ऋषियों ने सर्वश्रेष्ठ एवं निर्दोष ज्ञान जो कि अज्ञात और अप्रकट था, उसको ज्ञात और प्रकट किया। अतएव छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि "नामरूपे व्याकरोत्" परमात्मा ने सर्वप्रथम वस्तुओं के नाम और स्वरूप का विभाजन किया है, जिससे यह ज्ञान प्रारम्भ हुआ कि किस वस्तु का क्या नाम है और उसका क्या स्वरूप है। भर्तृहरि का कथन है कि इस समस्त संसार को एक सूत्र में बाँधने की शक्ति शब्दों में ही है। शब्द ही अर्थबोध का साधन है। यह शब्दशक्ति ही प्रतिभा के अनुरूप भिन्न होकर लोकव्यवहार कराती है। (वाक्य० १, ११८)। प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न नामकरण यह मानवीय प्रतिभा का ही फल है, शब्द ही एक आश्रय है जिसके द्वारा समस्त विद्याएं, कलाएं, शिल्प आदि सब एक सूत्र में ओत-

प्रोत हैं। शब्दों के द्वारा ही संसार की समस्त उत्पन्न हुई वस्तुओं में नामकरण द्वारा विभाजन किया जाता है। (वाक्य० १, १२५) हरिवृषभ ने भर्तृहरि के उक्त श्लोक की व्याख्या में कहा है कि समस्त उत्पन्न हुई वस्तुओं में जो कि समान आकारवाली हैं, शब्दरूप नामकरण के द्वारा ही विभेद किया जाता है। ऋग्वेद में इस भाव को दूसरे शब्दों में व्यक्त किया है कि वाणी (अर्थ) सरूप, विरूप और एकरूप है, अग्नि उनके नामों को इष्टि (नामकरण) द्वारा जानता है।

याः सरूपा विरूपा एकरूपा या सामाग्निरिष्ट्या नामानि वेद।

ऋग्० १०, १६६।

वेदों और ब्राह्मणग्रन्थों में नाम किस प्रकार पड़ते हैं, इस विषय पर पर्याप्त विवेचन है। वेदों में स्थान-स्थान पर संकेत किया गया है कि इस वस्तु का यह नाम क्यों पड़ा है। ब्राह्मणग्रन्थों में यह विचार विशेष विस्तार से है। मुख्य भाव निम्न हैं:—

कार्य के अनुरूप नाम—(क) अर्थों के नाम उनके कार्य के अनुरूप पड़ते हैं। मैत्रायणी संहिता में लिखा है कि अग्नि का नाम जातवेदस् इसलिए पड़ा क्योंकि उसने उत्पन्न होते ही पशुओं को प्राप्त किया। मैत्रायणीसंहिता (१, ८,२)। ऐतरेय ब्राह्मण (३, ३६) ने भी इसका ऐसा ही वर्णन किया है। शतपथ ब्राह्मण (६, ५, १, ६८) ने इसके नामकरण का कारण लिखा है कि अग्नि को जातवेदस् इसलिए कहते हैं क्योंकि प्रत्येक उत्पन्न होने वाले जीव को यह प्राप्त होना है। वृत्र नाम इसलिए पड़ा क्योंकि उसने सब लोगों को घेर लिया। तैत्ति० सं० (२,४,१२,२)। "रुद्र" नाम इसलिए पड़ा क्योंकि वह रुलाता है तैत्तिरीय सं० (१, ५, १, १), शतपथ ब्राह्मण (६, १, १, ६) और बृहद्देवता (२, ३४) इसी अर्थ को मानते हैं। परन्तु काठकसंहिता (२५, १) ने इसका कारण लिखा है कि वह रोता है, अतः रुद्र हुआ।

एक अर्थ के लिए अनेक नाम—(ख) एक भाव को व्यक्त करने के लिए एक से अधिक नाम भी होते हैं। इसका कारण भिन्न-भिन्न व्यक्तियों का एक ही भाव को भिन्न प्रकार से द्योतन करना है। वेद ने इसको उदाहरण द्वारा समझाया है, जैसे ऋत्विज् वस्तुओं को दूसरे नाम से पुकारते हैं और कन्याएँ उनको दूसरे नामों से। ऋग्० १, १६१,५।

एक के अनेक नाम—(ग) एक ही वस्तु के नाना नाम उनके विभिन्न गुणों के कारण पड़ जाते हैं। यजुर्वेद (अ० ८, ४३) में गौ के ११ नाम एक ही मन्त्र में उक्त हैं और स्पष्ट लिखा है कि ये ११ गौ के नाम हैं। यथा. इडा हव्या, काम्या, सरस्वती मही, चन्द्रा, अदिति, अघ्न्या आदि। ये अर्थ स्पष्ट रूप से उसके विभिन्न गुणों का बोध कराते हैं। ऋग्वेद (१, १६४, ४६) में लिखा है कि "परमात्मा" एक है, उसी को विद्वान् लोग इन्द्र, मित्र, वरुण, अग्नि, यम, वायु आदि विभिन्न नामों से पुकारते हैं।

यौगिक नाम—(घ) व्यक्तियों के किस प्रकार निर्वचनात्मक नाम पड़ते हैं इसका उदाहरण वेद में नाम उसका निर्वचन देकर निर्देश किया गया है। यथा, "वृत्रं हनति वृत्रहा शतक्रतुः"। (यजु० ३३, ९६,) में इन्द्र को वृत्रहा क्यों कहते हैं, इसका स्पष्टीकरण साथ ही है कि वह वृत्र को मारता है। इसी प्रकार "यदप्रथत् तत् पृथिवी" (काठक सं० ८, २) में विस्तृत होने के कारण पृथिवी कहते हैं यह निर्देश है। विश्वामित्र नाम के विषय में (ऐतरेय ब्राह्मण० २९, ४, १८) का कथन है कि वह सब के मित्र थे, अथवा सब उनके मित्र थे। अतः विश्वामित्र नाम पड़ा। यास्क ने भी ऐसा ही इसका कारण बताया है। निरुक्त० २, २४।

नाम प्रवाह से आते हैं, ध्वन्यनुकरणात्मक नाम—(ङ) जैमिनि तथा शबर स्वामी ने मीमांसा दर्शन पू० मी० (१, १. ३० से ३१) में नामों के विषय में विचार किया है और कुछ मुख्य बातों की ओर निर्देश किया है। १, वस्तुओं के नाम प्रवाह से चले आ रहे हैं। सूर्यचन्द्रादिवत् शब्द और नाम प्रवाह रूप से नित्य हैं। इसके लिए वेद का मन्त्र "धाता यथा पूर्वमकल्पयत्" परमात्मा ने पूर्व सृष्टि के अनुसार ही सब वस्तुएं निर्मित की हैं, यह उपस्थित किया है। २, वस्तुओं के ध्वन्यनुकरणात्मक नाम पड़ जाते है। यथा, "बबरः प्रावाहणिरकामयत" बबरध्वनि के कारण वायु को बबर कहा गया है। ३, प्रवक्ता के नाम से वस्तु का नाम पड़ जाता है। यथा, कठ और चरक ऋषि ने जिन मन्त्रों एवं सूक्तों का प्रवचन किया है, वे सूक्त कठ और चरक कहलाने लगे।

नव शब्द-निर्माण के लिए पूर्व संचित सामग्री का आश्रयण—(च) मनु ने निर्देश किया है कि समस्त नए आए हुए भावों के लिए पूर्वसंचित सामग्री का आश्रय लिया जाता है और उसी आधार पर नए भावों के लिए पूर्व शब्दकोष से शब्द लेकर उनके नाम डाल देते हैं। अतः मनु ने कहा है कि प्रारम्भ में जब प्रत्येक भावों, वस्तुओं आदि को नाम देने की आवश्यकता हुई तो वेद के शब्दों से ही नाम डाले गए। यथा, व्यक्तियों को वैदिक व्यक्तियों के नाम, ऋषियों को ऋषियों के नाम और नदियों को नदियों के नाम इत्यादि।

> सर्वेषां यानि नामानि कर्माणि च पृथक्-पृथक्।
> वेदशब्देभ्य एवादौ पृथक् संस्थाश्च निर्ममे॥ मनु० अ० १।

नामकरण के विषय में यास्क का सिद्धान्त

नाम का लक्षण—यास्क ने नाम का लक्षण करते हुए लिखा है कि नाम में सत्व (द्रव्य) की प्रधानता होती है। (निरुक्त० १, १)। भर्तृहरि ने भी (वाक्य० २, ३४६,) द्रव्य की प्रधानता नाम की विशेषता मानी है (ऋक् प्रातिशाख्य १२, ५), अथर्वप्रातिशाख्य (४, १,), और यजुः प्रातिशाख्य (८, ५५) ने संज्ञा का लक्षण किया है जिसके द्वारा सत्व (वस्तु) का बोध कराया जाय।

शब्द से नामकरण में लाघव

यास्क ने नाम के लक्षण के पश्चात् महत्त्वपूर्ण शब्दों में इस भाव को अभिव्यक्त किया है कि शब्द से ही संज्ञाएँ क्यों की जाती हैं, संकेत या अन्य साधनों से क्यों नहीं ? इसका उत्तर यास्क ने देते हुए लिखा है कि संसार में व्यवहारार्थ शब्द के द्वारा ही संज्ञाएँ की जाती हैं, क्योंकि शब्द व्यापक और अणुतर है। निरुक्त० (१, २) । भर्तृहरि (वाक्य० २, ३४८) ने भी शब्दों के द्वारा व्यवहार के यही दो महत्त्वपूर्ण लाभ परिगणित किए हैं। संकेत या अन्य साधन बहुत सीमित और संकुचित होंगे। उनसे अर्थ असंदिग्ध रूप से ज्ञात नहीं हो सकता। संकेत शब्दवत् अल्पप्रयत्नसाध्य नहीं होगा। शब्द व्यापक है, एक शब्द द्वारा बहुत व्यापक अर्थ बताया जा सकता है। शब्द के द्वारा अर्थबोध असंदिग्ध होता है। शब्द के द्वारा अर्थबोधन बहुत ही अल्पप्रयत्नसाध्य है। अतः शब्दों के द्वारा ही नामकरण होते हैं। अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि संसार में कोई ऐसा ज्ञान नहीं है, जो कि शब्दों के बिना सम्भव हो सके। समस्त ज्ञान शब्दों के साथ ओत-प्रोत होकर प्रकाशित होता है। वाक्य० १, १२३।

सब नाम धातुज हैं

पूर्व उल्लेख किया गया है कि वेद और ब्राह्मणादि ग्रन्थ सब नामों को धातुज मानते हैं। यास्क ने प्राचीन परम्परा के अनुसार अपना तथा समस्त निरुक्तकारों का मत दिया है कि सारे नाम धातुज हैं। (निरुक्त० १, १२)। यास्क ने उणादि सूत्रों के रचयिता शाकटायन का भी उल्लेख किया है कि वह भी इसी मत के पोषक हैं। शौनक ने बृहद्देवता (१, ३० से ३१) में भी इस विषय का उल्लेख करते हुए अपना मत लिखा है कि "समस्त नाम कर्मों के आधार पर ही पड़ते हैं"। प्रत्येक नाम किसी न किसी क्रिया के आधार पर पड़ते हैं। अतः सब नाम धातुज हैं। यास्क के कथन का अभिप्राय है कि प्रत्येक नाम जो भी किसी वस्तु को दिया गया है, उसका आधार कोई क्रिया है। वस्तुगत किसी क्रियाविशेष को देखकर प्रारम्भ में उसका तदनुरूप नाम रख लिया जाता है। यथा गतिशीलता के आधार पर पृथिवी के लिए "गो" शब्द प्रचलित हो गया। व्यापकता और विस्तार के आधार पर पृथ्वी और उर्वी नाम पड़े। मननशीलता के कारण मनुष्य नाम पड़ा। चलने के कारण अश्व नाम हुआ और छेदनशीलता के कारण तृण। इसी प्रकार अन्य सभी नाम किसी न किसी क्रिया के आधार पर पड़े हैं।

यास्क ने गार्ग्य और अन्य वैयाकरणों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि वे समस्त नामों को धातुज नहीं मानते। वे धातुज, उन्हीं नामों को मानते हैं, जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार प्रकृति और प्रत्यय से हो सके। अन्य शब्द जिनकी सिद्धि व्याकरण के नियमानुसार नहीं हो सकती, वे अव्युत्पन्न

और परम्परागत ही हैं। यथा, गौ, अश्व, पुरुष, हस्ती, आदि। पतञ्जलि ने 'उणादयोबहुलम्' (अष्टा० ३, ३, १) की व्याख्या करते हुए संज्ञाओं के धातुज होने का समर्थन किया है। निरुक्त १, १२।

यास्क के सिद्धान्त पर कुछ आक्षेप

यास्क ने निरुक्त (१, १२—१३) नाम को धातुज मानने में जो अन्यों द्वारा आक्षेप किए गए हैं, उनका भी उल्लेख किया है। १—यदि सब नामों को धातुज ही माना जायगा तो प्रत्येक शब्द धातुज अर्थ (यौगिक) का बोध कराएगा। इससे आपत्ति यह होगी कि जो भी उस कार्य को करेगा उसी का वह नाम पड़ जायगा। यथा मार्ग पर चलने से अश्व नाम हुआ, तो जो भी मनुष्य पशु, आदि मार्ग पर चलते हैं, उन्हें भी अश्व कहा जाएगा। जो भी वस्तु छेद करने वाली होगी, यथा सूई, भाला आदि सब को तृण कहा जाएगा।

२—यदि सब नाम धातुज हैं तो एक वस्तु का जितनी क्रियाओं से सम्बन्ध होगा, उतने ही उसके नाम होने चाहिये। यथा, खंभे का दरशया और "संजनी" भी नाम पड़ना चाहिये, क्योंकि वह गड्ढे में रखा जाता है और वल्ली को आश्रय देता है। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता कि एक वस्तु के उसके कर्मानुरूप सारे नाम पड़ते हों।

३—यदि नाम धातुज ही है तो वर्तमान नामों के विषय में कतिपय प्रश्न उपस्थित होते है, यथा, यदि प्रथम (विस्तार) के कारण "पृथिवी" कहा गया है तो इसका विस्तार किसने किया, कब किया, क्या आधार था जिस पर स्थित होकर इसका विस्तार किया, इत्यादि।

४—क्रिया से पूर्व कर्त्ता की स्थिति होती है। भावी क्रिया के आधार पर पूर्वजात द्रव्य का नाम नहीं पड़ सकता।

आक्षेपों का उत्तर

यास्क ने (नि० १, १०) उपर्युक्त आक्षेपों का उत्तर बहुत ही उत्तमता से दिया है, जिनसे नामों के स्वरूप पर विशेष प्रभाव पड़ता है। उत्तर निम्न हैः—

१—लोकव्यवहार में देखा गया है कि समान कर्म करने वालों में से किसी को वह नाम दिया जाता है अन्य को नहीं। यथा तक्षा, परिव्राजक, जीवन, और भूमिज। प्रत्येक तक्षण क्रिया करने वाले को तक्षा (बढ़ई) नहीं कहा जाता। प्रत्येक घूमने वाले को परिव्राजक (संन्यासी) नहीं कहा जाता। प्रत्येक जिलाने वाले को जीवन नहीं कहते और प्रत्येक भूमि से उत्पन्न वस्तु को भूमिज (मंगल ग्रह) नहीं कहते। दुर्गाचार्य ने जीवन का रूढ अर्थ इक्षुरस एवं शाकविशेष बताया है तथा भूमिज का मंगल और वृक्ष।

२—लोकव्यवहार में देखा गया है कि एक वस्तु का कितनी ही क्रियाओं से

सम्बन्ध होता है, परन्तु उनका नाम किसी विशेष क्रिया के आधार पर पड़ जाता है। अन्य क्रियाओं के आधार पर नहीं।

निर्वचनात्मक विवेचन प्रयुक्त नामों के विषय में ही होता है। नाम पहले से प्रयुक्त हैं। पृथिवी देखने में पृथु (व्यापक) है, अतः इसे पथिवी कहा गया है। इसका किसी ने विस्तार भले ही न किया हो।

३—लोक में देखा जाता है कि भावी क्रियाओं के आधार पर भी वस्तुओं के नाम पड़ते हैं। यथा, "बिल्वाद" और "लम्बचूडक" नाम। बच्चे का नाम भावी क्रिया के आधार पर भी डाल दिया जाता है। "बेल खाने वाला" "लम्बी शिखा वाला" यह दोनों भावी कार्य हैं, इनके आधार पर नाम डाला गया है।

यास्क के उपर्युक्त विवेचन से नाम के विषय में कुछ विशेष प्रकाश पड़ता है। यास्क ने जिन बातों का उल्लेख या संकेत किया है, वे निम्न हैं:—

१—वस्तुओं के नाम किसी क्रियाविशेष के आधार पर पड़ते हैं, प्रारम्भ में नाम अपने यौगिक अर्थ से पड़ते हैं, परन्तु पश्चात् वह योगरूढ हो जाते हैं।

२—समान क्रिया के आधार पर प्रत्येक वस्तु का वही नाम नहीं पड़ता।

३—नाम किस क्रिया के आधार पर पड़ेगा, यह निश्चित नहीं कहा जा सकता।

४—एक ही वस्तु के नाना क्रियाओं से सम्बद्ध होने पर भी तदनुसार नाम नहीं पड़ते हैं।

५—नाम प्रथम प्रयोक्ता की अनुभूति पर पड़ते हैं। एक बार नाम पड़ने पर फिर उनकी सन्दिग्धता होने पर भी नाम वही बने रहते हैं।

६—नामकरण, उसकी बोधकता आदि के विषय में लोकव्यवहार सबसे मुख्य है। व्यवहार में जिसके जो नाम पड़ गए हैं, उसके वही नाम रहेंगे। अन्यार्थ में प्रयोग, अन्य नामों का पड़ना आदि सब लोकव्यवहार पर स्थित है।

७—भावी क्रियाओं के आधार पर भी नाम पड़ते हैं।

८—व्यक्तियों के नाम भी क्रियाविशेष के आधार पर पड़ते हैं।

नामकरण के विषय में वैयाकरणों का मत

लाघवार्थ संज्ञाकरण—पतञ्जलि ने नामकरण के महत्त्व पर लिखा है कि किसी वस्तु के नाम डालने के मूल में मुख्य भावना लाघव है। संक्षेप और सरलतम उपाय से उस वस्तु का ज्ञान हो सके, अतः प्रत्येक वस्तु को नाम दिया जाता है। नाम डालने में एक बात का और ध्यान रखा जाता है वह यह कि नाम बहुत संक्षिप्त हो। दस-बीस अक्षरों वाले नाम अतएव नहीं रखे जाते।

लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः।

महा० १, १, २२।

नामकरण में वक्ता का महत्त्व—यास्क ने नामकरण के विषय में जिन तथ्यों की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वैयाकरण भी उनका समर्थन करते हैं। भर्तृहरि और नागेश ने लिखा है कि शब्द सृष्टि के कार्य में वक्ता की इच्छा सब से मुख्य कारण है। वक्ता की इच्छा पर ही यह निर्भर है कि किस वस्तु को क्या और कैसा नाम देता है। सर्व प्रथम प्रयोक्ता उसका किसी अर्थ में प्रयोग करता और तदनुसार वह प्रयोग चल पड़ता है। पुण्यराज, वाक्य० २. ४३५ तथा मंजूषा पृ० ६५।

प्रयोक्तैवाभिसन्धत्ते साध्यसाधनरूपताम्।
अर्थस्य वाऽभिसम्बन्धकल्पनां प्रसमीहते॥
वाक्य० २, ४३५।

भर्तृहरि के कुछ महत्त्वपूर्ण विचार—भर्तृहरि ने इस विषय में कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों पर प्रकाश डाला है, वे विशेष अवधेय हैं। संक्षेप में उनका विवरण निम्न है:—

१—अर्थ की अवस्थाएँ नाना हैं, उन अवस्थाओं में से जो जिस अवस्था को देखता है, तदनुसार ही उसका नामकरण करता है। वस्तुओं के नामकरण में इसकी मुख्यता इसलिए है कि जो भाव, गुण या अवस्था प्रयोक्ता को सर्वप्रथम परिज्ञात होते हैं वही नामकरण के आधार होते हैं। अतः भिन्न-भिन्न अवस्थाओं के दर्शन से भिन्न-भिन्न नाम एक वस्तु के पड़ जाते हैं। कभी कभी अवस्था भेद के दर्शन से इस प्रकार के भी नाम डाले जाते हैं, जैसे किंशुक (टेसू) इसका कारण प्रवक्ता का ध्यान इस पर जाने से है कि "किं शुको न" क्या इस पर तोता तो नहीं है। पुण्यराज वाक्य० २, १७५।

अन्यथा च समाख्यानमवस्थाभेददर्शिभिः।
क्रियते किंशुकादी नामैकदेशेऽवधारणात्॥
वाक्य० २, १७५।

२—एक वस्तु का नाना कारणों से सम्बन्ध रहता है, अतः उसके अनेक रूप से नाम पड़ सकते हैं, परन्तु इस विषय में यह नहीं कहा जा सकता कि किस निमित्त के आधार पर नाम पड़ेगा। शब्दशक्ति विचित्र है, अतः किसी एक शक्ति के आधार पर नाम पड़ जाता है अन्य के आधार पर नहीं। यथा, तक्षा (बढ़ई) तक्षण, छेदन, भेदन आदि अनेक क्रियाएँ करता है, परंतु उसका नाम केवल तक्षण क्रिया के ही आधार पर पड़ा अन्यों के आधार पर नहीं। इसी प्रकार कुम्भकार कुम्भ (घड़े) के अतिरिक्त कितने ही मृत्तिका के पात्र शराव (डोले) आदि बनाता है, परंतु उसका नाम कुम्भ के आधार पर ही पड़ा शराव आदि के आधार पर नहीं। हेलाराज, वाक्य० ३, पृष्ठ ४४०।

संनिधाने निमित्तानां किंचिदेव प्रवर्तकम्।
यथा तक्षादिशब्दानां लिंगेषु नियमस्तथा॥ वाक्य० ३, पृ० ४४०।

३—नाम साधारणतया उसके मुख्य भावों या गुणों के आधार पर पड़ते हैं क्योंकि मुख्य गुण पर ही सर्वप्रथम दृष्टि पड़ती है। पतञ्जलि ने भी इस कारण का उल्लेख करते हुए लिखा है कि नाम पड़ने में प्रधान वस्तु या गुण मुख्य कारण होता है। उन्होंने उदाहरण देकर समझाया है कि "ब्राह्मणग्राम" ग्राम का नाम इसलिए पड़ गया क्योंकि उसमें ब्राह्मणों की संख्या अधिक थी। ऐसा नहीं कि उस ग्राम में अन्य वर्ण के लोग नहीं। कम से कम ५ कर्मकर कुलाल, कर्मार (राज) बढ़ई, नाई और धोबी प्रत्येक ग्राम में अवश्य होते हैं परन्तु मुख्यता के आधार पर उसका नाम ऐसा पड़ गया। प्रदीप और उद्योत महा० १, १, ४७।

मुख्येनैव पदार्थेन व्यवहारो विधीयते। वाक्य० ३ पृ० १३६।
भूयस एव ग्रहणानि भविष्यन्ति। महा० १, १, ४७।

४—एक ही अर्थ के क्रियाभेद से नानासंज्ञाएं पड़ जाती हैं। जिसने उसकी जिस अवस्था का दर्शन किया वह उसी अवस्था के अनुरूप नाम डाल देता है। एक व्यक्ति ही तक्षण क्रिया के कारण तक्षा कहलाता है वही कार्य बदल देने पर लोहे का कार्य करने से "अयस्कार" (लोहार) कहलाता है। ऋतु एक है, परन्तु उसकी विभिन्न अवस्थाओं के आधार पर वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा, शरद् आदि नाम पड़े हैं। हेलाराज, वाक्य० ३ पृ० ३५३।

क्रियाभेदाद् यथैकस्मिन् तक्षाद्याख्या प्रवर्तते।
क्रियाभेदाद् तथैकस्मिन् ऋत्वाद्याख्योपजायते॥
वाक्य० ३ पृ० ३५३।

वस्तुओं के नाम, जैसा कि भर्तृहरि ने बताया किसी एक अंश या किसी क्रिया विशेष के आधार पर पड़ते हैं अतः वस्तुओं के नामों को पूर्ण नहीं कहा जा सकता। क्योंकि किसी नाम के द्वारा उसके समस्त गुणों का बोध नहीं होता। गमन क्रिया के आधार पर गाय को गौ कहने से उसके समस्त क्रियाकलाप का ज्ञान नहीं होता। मननशीलता से मनुष्य का और दर्शन की योग्यता से पशु का बोध पूर्णज्ञान नहीं है। अतएव नाम विवेचनात्मक दृष्टि से अपूर्ण होते हैं। नैरुक्तों की प्रक्रिया के अनुसार वस्तुओं के नाम यदि अन्वर्थ माने जायँगे तो नामों को त्रुटिपूर्ण भी मानना पड़ेगा। गमन क्रिया के आधार पर गाय को गौ कहा गया परन्तु जब सोती, बैठी, लेटी, या मृत हो, तब नियमानुसार उसे गौ नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें गमनक्रिया विद्यमान नहीं है। एक विक्षिप्त निश्चेतन या सुप्त मनुष्य को मनुष्य नहीं कह सकते, क्योंकि उसमें उस समय मननशीलता विद्यमान नहीं है। इसी प्रकार सभी नामों के विषय में अपूर्णता और त्रुटि विद्यमान रहती है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ के मुख्य होने पर गो शब्द का गौ के लिए शयनकाल में प्रयोग नहीं हो सकता। अतएव यास्क ने पृथ्वी शब्द के विषय में किए गए प्रश्नों के उत्तर में कहा है कि किसी क्रिया

के आधार पर एक बार नाम पड़ जाता है और प्रसिद्ध हो जाता है, तो फिर उसके प्रयोग में सूक्ष्मार्थ पर ध्यान नहीं दिया जाता। पृथ्वी का किसी ने विस्तार किया हो या नहीं, एक बार पृथ्वी नाम हो जाने पर वह नाम चलता रहेगा। सा० दर्पण २, ५।

पतञ्जलि ने नाम त्रुटिपूर्ण किस प्रकार चल पड़ते हैं इसके एक उदाहरण का उल्लेख किया है। पाणिनि ने परम्परागत विधि के अनुसार उल्लेख किया है कि वैदूर्य मणि का नाम इसलिए पड़ा कि क्योंकि वह विदूर स्थान पर उत्पन्न होती है।

विदूराञ्ञ्यः प्रभवति। अष्टा० ४, ३, ८४।

पतञ्जलि ने लिखा है कि यह कथन त्रुटिपूर्ण है, क्योंकि यह मणि विदूर नामक स्थान से उत्पन्न नहीं होती, अपितु बालवाय नामक स्थान से उत्पन्न होती है विदूर नगर में इसका केवल संस्कार होता है। (महा० ४, ३, ८४) प्रसिद्धि विदूर नाम के आधार पर हो गई, अतः उसे वैदूर्य कहा जाने लगा। पतञ्जलि ने पाणिनि के कथन का यह कहकर समाधान किया है कि बालवाय को विदूर नाम से भी निर्देश करते हैं। इस पर यह आपत्ति उठाई गई है कि लोकव्यवहार में तो बालवाय को विदूर नहीं कहा जाता है। इसका समाधान पतञ्जलि ने यह कहकर किया है कि जिस प्रकार वैश्य वाराणसी को मंगलार्थ "जित्वरी" नाम से पुकारते हैं, उसी प्रकार वैयाकरण बालवाय को विदूर नाम से निर्देश करते हैं। कैयट ने इस पर टीका करते हुए कहा है कि यह आवश्यक नहीं है कि सार्वजनिक प्रसिद्धि को ही प्रसिद्ध माना जाय, वैयक्तिक आधार पर भी शब्दों की प्रसिद्धि होती है। वैयाकरण बालवाय को विदूर कहते हैं, जैसे वैश्य वाराणसी को जित्वरी। प्रदीप। महा० ४ ३, ८४ तथा वाक्य० २ १८१।

नाम इस प्रकार से वस्तु के संकेतशब्द होते हैं। नाम वस्तु की अपेक्षा बहुत सूक्ष्म होते हैं अतः वे वस्तु के उतने ही स्वरूप का संग्रह करते हैं जितना कि एक शब्द में संग्रह सम्भव है। प्रत्येक गुण या भाव जो कि वस्तु में विद्यमान है या वस्तु के द्वारा जिन समस्त भावों का द्रष्टा के मन में उद्‌बोधन होता है उसका एक शब्द में संग्रह करना असंभव है अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि नाम किसी मुख्य भाव को लेकर पड़ता है समस्त भावों को लेकर नहीं। एक वस्तु के नाना नाम पड़ने में यही कारण है कि नाम वस्तु के एक ही अंश को बोधित करता है। उसके अन्य अंशों के बोध कराने के लिए तदनुरूप अन्य नाम दिए जाते हैं। नाम वस्तु के एक गुण को लेकर चल पड़ता है और वह धीरे-धीरे संकेतशब्द रह जाता है। विश्वनाथ ने अतएव साहित्यदर्पण में निर्देश किया है कि शब्दों की व्युत्पत्ति का निमित्त अन्य होता है और प्रवृत्ति का निमित्त अन्य। गो शब्द की व्युत्पत्ति का निमित्त है गमनकर्तृता, परन्तु उसके संकेतग्रह में कारण रूप है गोत्वजाति, जिसके आधार पर प्रवृत्ति होती है। महा० १, १, १ तथा सा० दर्पण २, ५।

नए भावों के नाम कैसे पड़ते हैं

पतञ्जलि ने बताया है कि नाम परंपरा से चले आते हैं। पूर्वजों ने उन अर्थों से उन नामों का सम्बन्ध किया है। वह नाम उन अर्थों में प्रचलित हो गए हैं, उनको परंपरागत मानकर उन्हीं अर्थों में अब भी उनका प्रयोग किया जाता है। भर्तृहरि ने अतएव निर्देश किया है कि संज्ञा और संज्ञी (नाम और अर्थ) का सम्बन्ध नित्य है।

कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्धः। महा० १,१,१।
नित्य एव तु सम्बन्धो डित्थादिषु गवादिवत्। वाक्य० २ ३६६।

पतञ्जलि ने लौकिक और वैदिक नामों की चर्चा करते हुए लिखा है कि लोक और वैदिक क्रिया कलाप में जिन वस्तुओं को जो नाम दिए गए हैं वे व्यक्तियों ने ही दिए हैं। ऋषियों और आचार्यों ने प्रथम उन अर्थों में उन शब्दों का प्रयोग किया। अतएव नागेश ने लिखा है कि सर्वप्रथम नामकरण का कार्य ऋषियों ने ही किया। यथा, स्फ्य (खदिरनिर्मित खड्गसदृश यज्ञियकाष्ठ), यूप (यज्ञियस्तम्भ) चषाल (यूप के आगे रक्खा जाने वाला यूपवलय नामक काष्ठ) उद्योत, महा० १, १, १।

इस प्रकार जो भी नए पदार्थ आते हैं, उनका नामकरण प्रथम ऋषियों, आचार्यों और आप्तों द्वारा किया जाता है। जन सामान्य उनके प्रयोग और व्यवहार को देखकर उन अर्थों में उन्हें अपना लेता है। नागेश ने अतएव व्यवहार को सबसे अधिक मुख्यता दी है और कहा है कि व्यवहार शक्तिग्राहकशिरोमणि है। किस वस्तु का क्या नाम है, इसमें व्यवहार ही मुख्य निर्णायक है। आचार्यों के व्यवहार पर बल इसलिये दिया गया है क्योंकि उनको आप्त (यथार्थवक्ता) मानते हैं। जिन अर्थों में जिन नामों का प्रयोग उन्होंने ठीक समझा है उनका ही उन्होंने प्रयोग स्वीकार किया है। प्रदीप और उद्योत, महा० १, १, १।

नए भाव या विचार संस्कृति और सभ्यता के विकास से उद्भूत होते हैं कितने ही विचार अन्यों के सम्पर्क से मनुष्य के हृदय में आते हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में जो उदाहरण दिए हैं उनसे ऐसे नामों पर प्रकाश पड़ता है। नवीन भावों के लिए पूर्व संचित सामग्री के आधार पर कभी सर्वथा नए शब्द की सृष्टि हो जाती है, कभी पुराने शब्द नवीन भावों के द्योतन के लिये प्रयुक्त होने लगते हैं।

उदाहरणार्थ, वाद्यों के नवीन नाम जो कि वैदिक साहित्य में नहीं मिलते हैं, इसी प्रकार पड़े हैं। यथा मार्दङ्गिक, पाणविक, वीणा, परिवादक, तूर्य आदि। सेना के विभिन्न अंगों के सुविभक्त नाम पड़े, रथिक, अश्वारोही, पदाति, महारथी, अतिरथी, आदि। काशिका, अष्टा० २, ४, २।

व्यक्तियों के नामों पर एक दृष्टि

चार प्रकार की संज्ञाएँ—भर्तृहरि ने लिखा है कि संज्ञाएँ चार प्रकार की होती हैं, १—अकृत्रिम, जो प्राचीन परंपरा से चले आते हैं यथा गौ, अश्व, हस्ती आदि। २—कृत्रिम, जो किसी ऋषि, आचार्य या व्यक्ति द्वारा किसी भाव को बोधित करने के लिए रक्खी जाती हैं। यह दो प्रकार की हैं। १—पारिभाषिक जो पारिभाषिक भावों के बोधनार्थ रक्खी गई हैं, यथा, गुण, वृद्धि, टि, घु आदि। २—व्यक्तियों आदि के नाम देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम। ३—उभय-विधि, जो कृत्रिम और अकृत्रिम दोनों प्रकार की हैं, इनके द्वारा कृत्रिम (पारिभाषिक) और अकृत्रिम (प्रचलित) दोनों भाव बोधित किए जाते हैं। यथा, कर्म, क्रिया, संख्या आदि। ये प्रचलित और पारिभाषिक दोनों प्रकार की संज्ञाएँ हैं। ४—अकृत्रिम (प्रचलित) संज्ञा होते हुए भी कृत्रिम संज्ञा के विषय में भी प्रवृत्त होने वाली। यथा, सम्बोधन। यह लौकिक अर्थ के साथ ही पारिभाषिक अर्थ को भी बताता है। हेलाराज, वाक्य० २, ३७६ से ३७७।

भर्तृहरि ने लिखा है कि व्यक्तियों के नाम व्यवहार के लिए डाले जाते हैं। नागेश कहते हैं कि व्यक्तियों को नाम देने में नाम देने वाले की तत्कालीन भावना ही मुख्य होती है, अतः जिसको जैसा नाम देना चाहते हैं वैसा नाम रख देते हैं। व्यक्तिगत संज्ञाएँ नित्य नहीं होतीं, इसको व्यक्ति विशेष अपनी भावना के अनुरूप रखते हैं। नवजात बालक का नाम माता पिता अपनी भावनाओं से प्रेरित होकर रखते हैं यथा, देवदत्त, यज्ञदत्त आदि। उनके प्रयोग से अन्य व्यक्तियों को यह ज्ञान होता है कि उनका यह नाम है, एक व्यक्ति के एक से अधिक नाम चल पड़ते हैं जिनमें एक नाम मुख्य हो जाता है, अन्य गौण। कैयट ने निर्देश किया है कि रावण और कुवेर के पिता के इसी प्रकार तीन नाम थे, विश्रवस्, विश्रवण और रवण। इन्द्र, पुरुहूत, पुरन्दर, शक्र आदि नाम इसी प्रकार के हैं। वाक्य० २, ३६६। मंजूषा, पृ० ६५। महा० १, १, १। प्रदीप, महा० ४, ३, ८४।

व्यक्तियों के नामकरण पर पाणिनि के विचार

पाणिनि ने व्यक्तियों के किस प्रकार नाम पड़े हैं, इसके कुछ तथ्यों पर भी प्रकाश डाला है।

१—कितने ही नाम पिता के नाम के आधार पर पड़ते हैं। यथा, दाशरथि, वासुदेव, पाण्डव, दाक्षि, दैत्य, आदित्य। अष्टा० ४, १, ६२।

२—माता के नाम के आधार पर भी नाम पड़ते हैं यथा, पार्थ, कौन्तेय, माद्रेय ऐतरेय, वैनतेय, सौपर्णेय, सौमित्र। अष्टा० ४, १, १२०।

३—गोत्र के नाम पर नाम पड़ते हैं। यथा, काश्यप, वात्स्यायन, कात्यायन, भारद्वाज, राघव, कौरव, यादव, जामदग्न्य। अष्टा० ४, १, ६०। त्रिकाण्डशेष और

केशव के कोषों से ज्ञात होता है कि पाणिनि का "वैयक्तिक" नाम "आहिक" था, गोत्र नाम पाणिनि था ।

> पाणिनिस्त्वाहिको दाक्षीपुत्रः शालंकिपाणिनौ ।
> शालातुरीय इति । त्रिकांडशेषः
> शालातुरीयो दाक्षेयः सालंकिः पाणिनाहिकौ ।
> पाणिनिः । इति केशव

४ - जन्मस्थान के नाम पर भी नाम पड़ते हैं। यथा, पाणिनि का नाम शालातुरीय । शलातुर स्थान वर्तमान समय में "लाहुर" नाम से प्रसिद्ध है। यह सीमा प्रान्त में पेशावर जिले में अटक स्टेशन से पश्चिम में १५ मील तथा वर्तमान ओहिण्ड से ३ मील पश्चिमोत्तर में है। पतञ्जलि का इसी प्रकार नाम "गोनर्दीय" है। गोनर्द के विषय में प्राचीनों का मत है कि यह काश्मीर में है परन्तु आधुनिक विद्वान् इसे अयोध्या जिले में विद्यमान "गोंडा" स्थान को गोनर्द का विकसित रूप मानते हैं।

गोनर्दीयस्त्वाह । महा० १, १, २० ।

५—जिस प्रान्त या देश में जन्म हुआ है उसके नाम पर भी नाम पड़ते हैं। यथा, कैकेयी, माद्री, गान्धारी, मैथिली, कौसल्या । अष्टा० ४, १, १७८ ।

६—जिस राशि या नक्षत्र में उत्पन्न होता है, उसके नाम पर भी नाम पड़ता है। यथा, रौहिणेय, रोहिणी नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण। फाल्गुन, (अर्जुन) फाल्गुनी नक्षत्र में उत्पन्न होने के कारण ।

७—प्राचीन कथानकों उपाख्यानों आदि के आधार पर नाम पड़ जाते हैं। यथा, इन्द्र के नाम पुरन्दर, वृत्रहा। शिव के त्र्यम्बक, त्रिपुरारि । विष्णु के मध्वरि, मधुसूदन, अन्धकारि आदि ।

८—भावी क्रियाओं के आधार पर भी माता पिता अपनी भावनानुसार नाम रख देते हैं। सोमयाजी, अग्निष्टोमयाजी, बिल्वाद, लम्बचूडक । अर्थात् जो सोम आदि से यज्ञ आदि भविष्य में करेंगे। अष्टा० ३, ४, १ । सिद्धान्तकौमुदी तथा निरुक्त १, १४ ।

९—जिस विशेष उद्देश्य से व्यक्ति काम करता है, या वह जो विशेष कार्य करता है उसके आधार पर भी नाम पड़ जाते हैं। यथा, स्फोटायन, स्फोटसिद्धान्त की व्याख्या, उसका प्रतिपादन और विस्तार करने के कारण ।

१०—चिढ़वाले या व्यंग्यात्मक नाम भी किसी के किसी विशेष कारण से पड़ जाते हैं और प्रचलित हो जाते हैं। पतञ्जलि महा० आ० १ ने इसी प्रकार के नाम लिखे हैं कि "यर्वाणः तर्वाणः" नाम के ऋषि थे। ये "यद्वा नः, तद्वा नः के स्थान पर "यर्वाणः तर्वाणः" उच्चारण करते थे, अतः इनका नाम ही "यर्वाणः तर्वाणः" पड़ गया। वैदिक ऋषियों में शुनः शेष, शुनः पुच्छ, शुनोलांगूल नाम

आते हैं। ये नाम भी सम्भवतः इसी प्रकार पड़े हुए प्रतीत होते हैं। पात्रेसमितादिगण, अष्टा० २, १, ४८; में ऐसे व्यंग्यात्मक वचनों एवं नामों के उदाहरण बहुत से दिए गए हैं। यथा कूपमंडूक, कूपकच्छप; उदुम्बरमशक, नगरवायस; तीर्थध्वांक्ष।

वैयक्तिक नामों की सार्थकता

आधुनिक विद्वानों में से कुछ विद्वान्, जैसे जान स्टुअर्ट मिल आदि यह मानते हैं कि व्यक्तियों के नाम सार्थक नहीं होते, वे केवल संकेतार्थ होते हैं। जानसन का मत है कि नामों को निष्प्रयोजन या निरर्थक नहीं कहा जा सकता है। भारतीय नामों पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि नाम अधिकतर सार्थक हैं। केवल संकेतार्थक नाम यथा, डित्थ कपित्थ आदि न्यून हैं। नामों की सार्थकता से यह नहीं समझा जा सकता है कि जिस व्यक्ति के जो नाम हैं मातापिता ने रक्खे हैं, वह तद्गुण सम्पन्न अवश्य होगा या हुआ है। वेदों में आने वाले नाम तथा पुराण, रामायण, महाभारत आदि में आने वाले वैयक्तिक नाम प्रायः सार्थक हैं और उनका शाब्दिक अर्थ सरलता से जाना जा सकता है। यास्क ने निरुक्त के अध्याय २,५,६, १०, ११, १२ आदि में कतिपय ऐसे नामों का अर्थ स्पष्ट भी किया है। यथा इन्द्र (ऐश्वर्यशाली), पुरन्दर (दैत्यों के पुरों का नाशक), वृत्रहा (वृत्र का नाशक), रुद्र (भयंकर तथा रुलाने वाला), शिव (कल्याणकारी), विश्वामित्र (सबका मित्र), कश्यप (द्रष्टा) ,पराशर (राक्षसों को नष्ट करने वाला), च्यवन (स्तुतिकर्ता), अंगरिस् (अंगों का रस, सारभूत), उर्वशी (बहुत व्यापक या बहुत प्रभाव शाली), अथर्वा (निश्चल स्वभावयुक्त), ऋभु (सत्यवादी या अतितेजस्वी), शन्तनु (शरीर से सुखी), बृहस्पति (बड़ों का भी पालनकर्ता), अश्विनी (सर्वव्यापक)।

पतञ्जलि ने (महा० ३, ३, १३०) रामायण महाभारत में प्रचलित व्यक्तियों के नाम देते हुए उनका धात्वर्थ निर्देश किया है। यथा दुर्योधन (जिससे कठिनाई से युद्ध किया जा सके) , दुःशासन (कठिनाई से शासन करने योग्य) दुर्धर्षण, दुर्मर्षण, रावण (रुलाने वाला) , भरत (पालक) , राम (रमणकर्ता) शत्रुघ्न (शत्रुनाशक), युधिष्ठिर (युद्ध में भी स्थिरचित्त) , भीम (भयंकर) आदि।

भावों के नामकरण पर पाणिनि के कुछ महत्वपूर्ण विचार

पाणिनि ने नामकरण के मूल में विद्यमान कतिपय तथ्यों का दर्शन किया है और उनका उल्लेख अष्टाध्यायी में किया है। पतञ्जलि आदि ने उन तथ्यों की व्याख्या करके स्पष्ट किया है। नामकरण के सिद्धांत की दृष्टि से ये तथ्य अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं।

१—किसी ग्रन्थकार की कृति को ग्रन्थकार का ही नाम दे दिया जाता है।

यथा, कठ और चरक ऋषि की बनाई संहिताओं को कठ और चरक नाम दिया गया है। अष्टा० ४, ३, १०७।

२—किन्हीं आख्यायिका आदि की पुस्तकों को आख्यायिका आदि के मुख्य पात्र का ही नाम दे दिया जाता है यथा, वासवदत्ता, सुमनोत्तरा, उर्वशी, कादम्बरी। अष्टा० ४, ३, ८७।

३—देश के राजाओं को देश के नाम से ही सम्बोधित कर दिया जाता है। यथा कम्बोज, चोल, केरल, शक, यवन। अष्टा० ४, १, १७५।

४—वृक्षों के फलों को भी वृक्ष का नाम दे दिया जाता है। यथा आम्र, जम्बु, पीलु, कुवलय, बदर, हरीतकी। अष्टा० ४, ३, १६३।

५—अन्नों को उसी पौधे का नाम दे दिया जाता है यथा, यव, व्रीहि, माष, मुद्ग, तिल। महा० ४, ३, १६६।

६—फूलों को वृक्ष या लता का नाम दे दिया जाता है। यथा, कदंब, अशोक, मल्लिका, पद्म, कुवलय। महा० ४, ३, १६६।

७—मूल को वृक्ष या लता का नाम दे दिया जाता है। यथा, विदारी, अंशुमती, बृहती। महा० ४, ३, १६६।

८—जातियां जो कि वहीं निवास करती हैं, उनके नाम पर ही देश का भी नाम पड़ जाता है। यथा, पंचाल, कुरु, अंग, वंग, मगध, पुण्ड्र। अष्टा० ४,२, ८१।

९—किन्हीं मुख्य वस्तुओं के नाम पर उनके समीपस्थ नगर ग्राम आदि का भी वही नाम पड़ जाता है। यथा, वरण के समीपस्थ नगर को वरण, कटुक बदरी के समीपस्थ ग्राम को कटुकबदरी और मथुरा उज्जयिनी आदि के समीपस्थ ग्रामों को मथुरा उज्जयिनी आदि। अष्टा० ४, २, ८३।

१०—तन्निर्मित वस्तुओं को भी वही नाम दे दिया जाता है। यथा, शर्करा निर्मित को शर्करा नाम। अष्टा० ४, २, ८३।

११—शास्त्रों या कृतियों के ज्ञाताओं और पढ़ने वालों को उसी नाम से सम्बोधित किया जाने लगता है। यथा, पाणिनीय शास्त्र के ज्ञाता और छात्र को पाणिनीय। अष्टा० ४, २, ६४।

१२—एक भाग के लिए भी सम्पूर्ण का नाम प्रयुक्त किया जाता है। यथा, पूर्वपंचाल, उत्तर पंचाल। वस्तु का एक अंश भी शुक्ल या कृष्ण होगा तो उसे शुक्ल या कृष्ण कहते हैं। शालासमूह के लिए ग्राम शब्द प्रयुक्त होता है परन्तु एक मकान वाला भी गाँव होता है। महा० आ० १ तथा १, १, २०।

१३—सम्पूर्ण के लिए भी एक भाग प्रयुक्त होता है यथा देवदत्त के लिए देव या दत्त, सत्यभामा के लिए भामा। सम्पूर्ण मुख, नाक, आँख आदि के लिए मुख

शब्द शिरस्, हस्त पाद एक भाग के द्योतक होते हुए भी सम्पूर्ण अंग के लिये प्रयुक्त होते हैं। महा० १, १, ४४।

१४—लक्ष्य के लिये लक्षण। जिस लक्षण से जीव लक्षित होता है, उसके लिए लक्षण का ही प्रयोग कर दिया जाता है। यथा, काणः (कांणापुरुष) अवटीट, निविड, चिकिन, चिपिट, निम्ननासिक के बोधक होते हुए नीची नाक वाले पुरुष के भी बोधक हैं। अष्टा० ५, २, ३१ से ३२।

१५—जो वस्तु जिस स्थान पर उत्पन्न होती है, उस स्थान के नाम द्वारा ही उसका भी बोध कभी-कभी कराया जाता है। यथा, गोस्थान, अश्वस्थान, गोशाल, तद्देशज व्यक्ति को देश के नाम से भी सम्बोधित किया जाता है। यथा, अंगाः, वंगाः, कलिंगाः। अष्टा० ४, ३, ३३।

नए शब्दों का आगमन

नामकरण के प्रकरण के मध्य में इस बात का उल्लेख किया गया है कि संस्कृति और सभ्यता के विकास के साथ, नए भाव, नए पदार्थों की सृष्टि होती है और उनके नए नाम डाल दिये जाते हैं। नवीन अनुसंधानों, आविष्कारों के तदनुरूप ही नाम डाले जाते हैं इस प्रकार भाषा में नए शब्दों का आगमन होता है। प्राचीन शिलालेखों के अध्ययन से इस प्रकार के सैकड़ों शब्द मिलते हैं जो संस्कृति के विकास के साथ अपना लिये गए हैं और उनका नवीन अर्थों में प्रयोग किया जाने लगा। अशोक ने अपने शिलालेखों में निम्न शब्दों का नए भावों के लिये प्रयोग किया है। आधुनिक विद्वानों ने उनके अर्थों को निम्नरूप से माना है। भुक्ति (प्रान्त), विषय (जिला), युक्त (जिले का सर्वोच्च अधिकारी), नगर व्यवहारक (जिले का न्यायाधीश)। चाणक्य ने कौटिल्य अर्थशास्त्र में इसके लिये पौर व्यावहारिक शब्द प्रयुक्त किया है, महामात्र (उच्चराजकीय अधिकारी), मन्त्रिपरिषद् (वर्तमान मन्त्रिमंडल), परिषद् (वर्तमान धारासभा)।

गुप्तकाल के शिलालेखों में इसी प्रकार सैकड़ों शब्द नए भावों के लिये मिलते हैं, यथा विषयपति (वर्तमान जिलाधीश), शौल्किक (चुंगी विभाग का अध्यक्ष) गौल्मिक (जंगल विभाग का अध्यक्ष), दिविर एवं लेखक (लेखक, क्लर्क), स्थपतिसम्राट् (स्थपति विभाग का अध्यक्ष), बलाधिकृत (सेनाध्यक्ष), महाबलाधिकृत (फील्ड-मार्शल), अक्षपटलाधिकृत (रिकार्डकीपर), दीनार (सुवर्णमुद्रा), महानौ (जल-के जहाज), महाप्रतीहार (द्वारपालों का मुखिया), भोगिक (अश्वशालाध्यक्ष), सान्धिविग्रहिक (संधि या विग्रह विभाग का मन्त्री), उपरिक (वर्तमान गवर्नर), आयुक्त (वर्तमान मजिस्ट्रेट), हिरण्यसामुदायिक (राजकीयकोष विभाग का अध्यक्ष), आदि। इन शब्दों का उस समय वास्तविक अर्थ क्या था, यह आज निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है तथापि आधुनिक पुरातत्त्ववेत्ताओं ने इन शब्दों का आधुनिक समकक्ष अर्थ देने का प्रयत्न किया है और उपर्युक्त अर्थ उन्हीं के अनुसार दिए गए हैं।

अनुपयोगी शब्दों का अप्रयोग

इस संस्कृति विकास का परिणाम यह होता है कि कितने ही प्राचीन प्रचलित शब्द भाषा से उठते चले जाते हैं, पतञ्जलि ने इसका उल्लेख करते हुए इसके दो कारणों पर ध्यान दिलाया है। प्रथम यह कि वह अर्थ जिनके द्योतन के लिए शब्दों का प्रयोग होता था, उनका व्यवहार से उठ जाना। 'अर्थे शब्दप्रयोगात्" (महा० आ० १) यदि वह अर्थ विद्यमान है तो शब्द विद्यमान रहता है, और यदि उस अर्थ का अप्रयोग हो जाएगा तो वह शब्द भी नहीं रहेगा। इसके उदाहरण में उन्होंने "अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्" का उल्लेख किया है कितने ही प्राचीन यज्ञों के नाम यथा सौत्रामणी, ज्योतिष्टोम, अग्निष्टोम, राजसूय, अश्वमेध, गोमेध राष्ट्रभृत्, विश्वभृत्, वाजपेय आदि प्रचलित न होने के कारण लुप्त हो गए हैं। दूसरा कारण पतञ्जलि ने यह बताया है कि "अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्" (महा० आ० १), कितने ही अर्थ हैं जो विद्यमान तो हैं, परन्तु उनके लिए प्राचीन शब्दों के स्थान पर अन्य नवीन शब्द प्रचलित हो जाते है, अतः उन शब्दों का लोप हो जाता है। वैदिक साहित्य के अध्ययन से ऐसे सैकड़ों शब्दों का ज्ञान होता है जो कि उस समय प्रचलित थे, परन्तु उन अर्थों के विद्यमान होते हुए भी उन शब्दों का प्रयोग नहीं रहा, क्योंकि उन अर्थों में नवीन शब्द प्रचलित हो गए हैं। पृथिवी, अन्तरिक्ष, मेघ, रात्रि, वाणी, जल, नदी, युद्ध आदि कितने ही पर्यायवाची निघंटु, में दिए गए हैं, परन्तु उनमें से बहुत ही कम संस्कृत साहित्य में प्रचलित रहे, यथा पृथ्वी के लिए ग्मा, ज्मा, क्षा, रिपः, गातुः, मेघ के लिए अद्रि, गोत्र, व्रज चरु, वराह अहि, असुर, जल के लिए कबन्ध, पुरीष, पिप्पल, विष, कश, बुस, नदी के के लिए अवनि, खा, एनी, वधू, उर्वी, धुनि आदि शब्द संस्कृत साहित्य में सर्वथा प्राप्त नहीं होते हैं।

अर्थ-निश्चय के साधन

यास्क, पाणिनि, पतञ्जलि, और भर्तृहरि ने शब्दों की नानार्थकता पर विशेष प्रकाश डाला है। इस विषय का विस्तृत विवेचन अध्याय ३ में किया जा चुका है।

वैयाकरणों के 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः' सिद्धान्त के अनुकूल तथा यास्क के निर्वचन-साम्य, सादृश्य आदि के अनुकूल संस्कृति के विकास के साथ एक शब्द के नाना अर्थ हो गए हैं। अभिधाशक्ति जब यौगिक अर्थ के आधार पर अन्य रूप से अनेकार्थ का बोध कराने लगती है, तब यह आवश्यक होता है कि शब्दों से निश्चित अर्थ का द्योतन और बोध कैसे हो, इस पर विचार किया जाय। पतञ्जलि और भर्तृहरि ने इस विषय पर विशेष प्रकाश डाला है। नामकरण के विषय में यह लिखा जा चुका है कि नाम प्रारम्भ में अन्वर्थ होते हुए भी बाद में यौगिक अर्थ न प्रकट कर अर्थ विशेष में रूढ़ हो जाते हैं और रूढ शब्दवत् प्रयुक्त होते हैं। इसके

कारण अर्थ के एक बहुत बड़े भाग के अर्थ निश्चय के प्रश्न का समाधान हो जाता है। भर्तृहरि ने अर्थ निश्चय के निम्न साधनों का उल्लेख किया है।

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता।
अर्थः प्रकरणं लिंगं शब्दस्यान्यस्य सन्निधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥

वाक्य० २. ३१७ से ३१८।

१—संयोग, किसी वस्तु का किसी के साथ प्रसिद्ध सम्बन्ध होता है, उसके आधार पर नानार्थक शब्द के अर्थ का संयोग-निर्देश द्वारा अर्थ-निर्णय हो जाता है, हरि शब्द के कई अर्थ हैं।

यमानिलेन्द्रचन्द्रार्कविष्णुसिंहांशुवाजिषु ।
शुकाहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु । अमरकोश ।

विष्णु, सिंह, वानर, किरण, अश्व, सूर्य, आदि। किन्तु 'सशंखचक्रो हरिः' में हरि से विष्णु का ही बोध होगा, क्योंकि विष्णु ही शंख चक्र से युक्त हैं, गौ के नाना अर्थ हैं, पृथ्वी, गाय, किरण, बैल, वाणी, आदि परन्तु, सवत्सा गौः से गाय का ही अर्थ बोध होगा। "धेनु" शब्द गाय के अतिरिक्त प्रत्येक दूध देने वाले पशु (स्त्रीलिंग) के लिए आता है, परन्तु सवत्सा धेनुः से गाय का सकिशोराधेनुः से वड़वा (घोड़ी) का, सकरभाधेनुः से हथिनी या ऊंटिनी का। प्रदीप, महाभाष्य, १, ३, ६६ ।

२—विप्रयोग, प्रसिद्ध संयोग का वियोग निर्दिष्ट हो तो भी उसका ही बोध होगा। यथा उपर्युक्त उदाहरणों में 'अशंखचक्रोहरिः" से विष्णु का ही बोध होगा, क्योंकि शंख चक्र का वियोग उसी से होगा। इसी प्रकार "अवत्सा गौः" में गाय का अवत्सा गौः अकिशोरा गौः में गाय आदि का।

३—साहचर्य, नागेश ने इसका "सहचरितासहचरितयोः सहचरितस्यैव ग्रहणम्" परिभाषा द्वारा स्पष्ट किया है कि यदि दो शब्द एकत्र हों तो जिनका साहचर्य देखा गया है उसका ही ग्रहण होगा। परि० ११२। यथा, "रामलक्ष्मणौ" में लक्ष्मण के साहचर्य से दाशरथि राम का, परशुराम या बलराम का नहीं। "भीमार्जुनौ" में भीम के साहचर्य से पार्थ अर्जुन का, कार्तवीर्य अर्जुन का नहीं।

४—विरोधिता, जिनका विरोध प्रसिद्ध है उनके विरोध का साथ में उल्लेख होने से अर्थ निश्चय होता है। यथा, कर्णार्जुनौ में अर्जुन के शत्रु कर्ण का उल्लेख होने से पार्थ अर्जुन का, कार्तवीर्य का नहीं, रामार्जुनौ, में प्रसिद्ध शत्रु कार्तवीर्यअर्जुन का उल्लेख होने से राम से परशुराम का, दाशरथि राम का नहीं। यहां पर दोनों शब्दों का अर्थ निश्चय विरोध से है, विरोधी परशुराम का उल्लेख होने से पार्थ अर्जुन का ग्रहण नहीं होगा।

५—अर्थ, पतञ्जलि ने अर्थ निश्चय के साधनों में अर्थ और प्रकरण इन दोनों पर बहुत अधिक बल दिया और कई स्थानों पर इनका उल्लेख मुख्य रूप से किया है। अर्थ का स्पष्टीकरण कैयट ने किया है कि अर्थ से अभिप्राय है, जिस प्रयोजन के लिए वह वाक्य बोला गया है, उसका ही ग्रहण होगा। साथ ही वह अर्थ-गृहीत होगा, जिसमें उस अर्थ को पूर्ण करने की सामर्थ्य हो यथा, "गोपालकमानय, माणवकमध्यापयिष्यति" गोपाल के दोनों अर्थ हैं १—ग्वाला, २—व्यक्ति विशेष का नाम। यहां पर छात्र के अध्यापन की सामर्थ्य गोपाल नामक व्यक्ति में है अतः उसका ग्रहण होगा। यहां अध्यापन प्रयोजन है। "स्थाणुं वन्दे" में वन्दना प्रयोजन के कारण शिव का ग्रहण होगा, स्तम्भ का नहीं।

अर्थात् प्रकरणाद् वा लोके द्वयोरेकस्याभिनिवृत्तिः।

महा० ६, १, ८४।

६—प्रकरण, भर्तृहरि ने भी स्थान-स्थान पर अर्थ निश्चय के मुख्य साधन अर्थ और प्रकरण ही उल्लेख किए हैं (वाक्य० २, ३३५)। शब्दशक्ति प्रकाशिका में जगदीश ने प्रकरण को अर्थ निश्चय का मुख्य साधन बताया है। (शब्दशक्ति० पृ० १७३)। वर्तमान पाश्चात्य विद्वान भी प्रकरण को ही मुख्य साधन मानते हैं, आग्डेन रिचार्ड्स ने 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' (अध्याय ३ और १०) में इस पर बहुत अधिक लिखा और प्रकरण के ही अर्थ निश्चय को मुख्य साधन सिद्ध किया है। नागेश ने स्पष्ट लिखा है कि नानार्थक स्थलों में अर्थ निश्चय प्रकरण के द्वारा होता है। ऐसा ही पतञ्जलि भी मानते हैं। (उद्योत, महा० १, १, २२) सर्व प्रथम प्रकरण के महत्त्व पर ध्यान यास्क ने आकृष्ट किया है। यास्क ने लिखा है कि "वेद में मन्त्रों का अर्थ प्रकरण के अनुसार ही करना चाहिए पृथक् पृथक् करके नहीं। निरुक्त० १३, १२। यही नियम लौकिक वाक्यों पर भी लागू होता है। नानार्थक स्थलों पर भी प्रकरण के द्वारा अर्थ स्पष्ट और निश्चित ज्ञात होता है। प्रकरण का अर्थ है प्रसंग, कौन सा शब्द या वाक्य किस प्रसंग में कहा या लिखा गया है, इसके ज्ञान से अर्थ निश्चय होता है। यथा, सैन्धवमानय, में सैन्धव का अर्थ भोजन का प्रसंग होता तो लवण का लाना और प्रस्थान या गमन का प्रसंग होता तो अश्व अर्थ होगा। वक्ता और श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ रहता है वह प्राकरणिक अर्थ माना जाता है। यथा, "सर्वं जानाति देवः" में वार्तालाप में देव का अर्थ "आप" होगा।

७—लिंग, चिह्न विशेष जिससे किसी विशेष का ही अर्थ समझा जाता है उस चिह्न का उल्लेख होने से अर्थनिर्णय होता है। "कुपितो मकरध्वजः" में मकरध्वज से कामदेव का ही बोध होगा, क्योंकि मकरचिह्न उसकी ध्वजा में है। मकराकार ध्वज का ग्रहण नहीं होगा।

८—अन्य शब्द का सान्निध्य, अन्य शब्द की समीपता के कारण अर्थ का निश्चय हो जाता है, पतञ्जलि ने अतएव कहा है कि "प्रत्येक शब्द अन्य

शब्द के साथ सम्बद्ध होने पर विशेष वाचक हो जाता है" (महा० २, १, ५५) यथा, "रामो जामदग्न्यः" में जामदग्न्य के सान्निध्य से राम से परशुराम का और "रामो दाशरथिः" में रामचन्द्र का ग्रहण होता है । "देवः पुरारिः" में देव से शिव का ।

९—सामर्थ्य, जिसमें उस कार्य या भाव की सामर्थ्य होगी, उसी अर्थ का ग्रहण होगा । यथा, "मधुना मत्तः पिकः" में पिक को मत्त करने की सामर्थ्य वसंत ऋतु में है, अतः मधु से वसन्त का ग्रहण होगा, शहद, सुरा या मधु राक्षस का नहीं ।

१०— औचित्य, वाक्य में जो अर्थ उचित एवं संगत होगा, उसी का ग्रहण होगा । यथा "पातु वो दयितामुखम्" में मुख का अर्थ साम्मुख्य लिया जाएगा । क्योंकि वही (प्रेयसी का साम्मुख्य) विरही नायक की रक्षा कर सकता है । पुण्यराज ने औचित्य का अभिप्राय वर्णन करते हुए लिखा है कि यदि वाक्य में कुछ शब्दों का प्रयोग न किया गया हो तो औचित्य के आधार पर वह अर्थ समझ लिया जाता है ।

११—देश, नानार्थ शब्द का वाक्य में स्थान या देश का निर्देश होने से ही अर्थ निर्णय हो जाता है । यथा, "विभाति गगने चन्द्रः" में गगन का निर्देश होने से चन्द्र का अर्थ चंद्रमा होगा, कपूर नहीं । "भात्यत्र परमेश्वरः" में राजधानी का निर्देश होने से परमेश्वर से राजा का परमात्मा का नहीं ।

१२—काल, वाक्य में काल का उल्लेख होने से भी अर्थ निर्णय हो जाता है । यथा, चित्रभानु का अर्थ सूर्य और अग्नि दोनों हैं । पर "निशि चित्रभानुः" में निशा कहने से अग्नि का और "दिवा चित्रभानुः" में सूर्य का । पुण्यराज ने इसका उदाहरण दिया है कि ग्रीष्म काल में "द्वारम्" कहने पर इसका अर्थ होगा, द्वार को बन्द कर दो और शिशिर में द्वारम् का अर्थ होगा द्वार खोल दो ।

१३—व्यक्ति, व्यक्ति से तात्पर्य है पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग का । एक ही शब्द विभिन्न लिंगों में विभिन्न अर्थ बोधित करता है, अतः लिंग के द्वारा अर्थ निर्णय हो जाता है । यथा, मित्र शब्द का पुलिंग में सूर्य और नपुंसकलिंग में सुहृद् अर्थ होता है । "मित्रो भाति" में सूर्य और "मित्रं भाति" में सुहृद् अर्थ होगा । अर्थशब्द नपुंसक में समविभाग का और पुलिंग में सम या विषम रूप दोनों विभाग का बोधक होता है । गौ शब्द का पुलिंग में अर्थ है बैल और स्त्रीलिंग में गाय । अतः "गौ बन्ध्या" में गाय का अर्थ लिया जाएगा ।

१४—स्वर, उदात्त अनुदात्त, स्वरित आदि के द्वारा अर्थ निर्णय हो जाता है । स्वर के द्वारा अर्थनिर्णय वेद में अत्यन्त ही महत्त्वपूर्ण अर्थ निश्चय का साधन है ।

स्वर का मंत्र में निर्देश देखकर अर्थ निश्चय करने में कठिनाई नहीं होती है। पतञ्जलि ने स्वर के द्वारा अर्थ निश्चय के दो उदाहरण दिए हैं यथा, "इन्द्रशत्रुर्वर्धस्व" यदि इन्द्रशत्रु शब्द तत्पुरुष समास द्वारा अन्तोदात्त होगा तो इसका अर्थ होगा इन्द्र का शत्रु। अर्थात् (नाशक) (वृत्र) विजयी हो। यदि बहुव्रीहि समास द्वारा आद्युदात्त होगा तो इसका अर्थ होगा इन्द्र है शत्रु (नाशक) जिसका, वह (इन्द्र) विजयी हो। वृत्र ने इन्द्र के मारने के लिए यज्ञ में इस अभिचार मन्त्र का पाठ कराया था। अन्तोदात्त के स्थान पर आद्युदात्त उच्चारण करने से इन्द्र के स्थान पर वृत्र का ही बध हो गया। इसी प्रकार "स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमानड्वाहीमालभेत" में अन्तोदात्त स्थूलपृषती का अर्थ होगा स्थूल चिह्न और बहुव्रीहि समास में आद्युदात्त होने पर इसका अर्थ होगा स्थूल चिह्नों से युक्त।

१५—सत्व-षत्व, कारिकाओं में आदि शब्द के प्रयोग की व्याख्या में पुण्यराज ने सत्य-षत्व का भेद और णत्व-नत्व का भेद भी अर्थ निश्चय का साधन परिगणित किया है। यथा "सु सिक्तम्" में अनुपसर्ग होने से मूर्धन्य ष न होने से सु का अर्थ पूजा ज्ञात होता है और "सुषिक्तम्" में मूर्धन्य ष होने से, यह उपसर्ग है, ज्ञात होता है।

१६—णत्व-नत्व, णत्व और नत्व के अन्तर से भी अर्थ निश्चय होता है। यथा, प्रणायक का अर्थ होगा, प्रणयन कर्त्ता (ग्रन्थ लेखक) परन्तु प्रनायक का अर्थ होगा, प्रगत है नायक जिसका, अर्थात् नायकहीन। (राज-रहित, देश)।

१७—अभिनय, साहित्याचार्यों ने आदि शब्द के द्वारा अभिनय का भी ग्रहण किया है। इंगित आकार प्रकार आदि के द्वारा अर्थ निश्चय होता है। ऐसे वाक्य जिनमें "इयत्, एतावत्, तावत्, यावत्" आदि शब्दों का प्रयोग एक से अधिक बार परिमाणभेद को लेकर हुआ है, अभिनय द्वारा ही निश्चित बताया जा सकता है। विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (परिच्छेद २) में इसका उदाहरण लिखा है,

> एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्राभ्यामक्षिपत्राभ्याम्।
> एतावन्मात्रावस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः।

इसमें एतावत् शब्द का प्रयोग भिन्न परिमाण बोधन में है। हस्त संकेत के द्वारा स्तनों की पृथुता, नेत्रों की विशालता, शरीर की उच्चता, और दिवसों (वर्षों) का उंगलियों पर गणना के द्वारा नायिका का वर्णन दूती नायक के सम्मुख करती है।

१८—वाक्य, भर्तृहरि ने एक अन्य श्लोक में अर्थनिश्चय के साधनों में वाक्य, प्रकरण, अर्थ, औचित्य, देश, और काल का परिगणन किया है, अन्य साधनों के उदाहरण ऊपर दिए जा चुके हैं। पुण्यराज ने वाक्य से अर्थनिर्णय पर प्रकाश डालते हुए लिखा है कि वाक्यगत सम्बन्ध शब्द के अर्थ का निर्णय करता है। यथा, "कटं करोति भीष्ममुदारं दर्शनीयम्" में कट का करोति

क्रिया से सम्बन्ध होने पर भीष्म का अर्थ होगा "बहुत बड़ी (चटाई)"। यहाँ भीष्म से भीष्मपितामह का ज्ञान नहीं होगा।

१६—वक्ता की भावना, पुण्यराज ने उपर्युक्त श्लोकों की व्याख्या करते हुए लिखा है कि यह शब्दार्थ निर्णय के उपायों का दिग्दर्शनमात्र है। अन्य भी अर्थ निश्चय के साधनों का अनुसंधान करना चाहिए।

वाक्यात् प्रकरणादर्थादौचित्याद् देशकालतः।
शब्दार्थाः प्रविभज्यन्ते न रूपादेव केवलात्॥
वाक्य०, २, ३१६।

पतञ्जलि और भर्तृहरि ने वक्ता की भावना का ज्ञान प्राप्त करना अर्थ निर्णय में मुख्य साधन बताया है। नानार्थक शब्दों में वक्ता जिस अर्थ में उसका प्रयोग करता है, उस शब्द का वही अर्थ होगा। (महा० १, १, ५५) तथा (वाक्य० २, ४०६)। एक ही वाक्य को वक्ता जब समानरूप से बोलेगा तो उसका अर्थ एक होगा और उसको वह व्यंग्य रूप में या काकुरूप में बोलेगा तो उसका अर्थ सर्वथा विपरीत होगा। यथा—

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥
सा० दर्पण, परि० २।

इस श्लोक में सामान्यार्थ उपकारी मित्र की प्रशंसा और उसको धन्यवाद प्रतीत होता है। परन्तु यह श्लोक व्यंग्य रूप से एक अपकारी के लिये प्रयुक्त किया गया है। अतः इसका अर्थ सामान्यार्थ के सर्वथा विपरीत अप्रशंसा और घृणा प्रकट करता है।

२०—अर्थकृत आन्तर्य या अन्वय प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा के प्रणेता का कथन है कि "दूरस्थस्यापि अर्थतः सम्बन्धो ग्राह्यः"।

यस्य येनार्थसम्बन्धो दूरस्थस्यापि तस्य सः।
अर्थतो ह्यसमानानामानन्तर्यमकारणम्॥

जिसका जिसके साथ अर्थकृत आन्तर्य है, वह दूरस्थ होते हुए भी समीपस्थ होता है। अतः पतञ्जलि ने (महा० १, १, ५७) कहा है कि "वाक्य में विभिन्न स्थानों पर पड़े हुए शब्दों का भी यथायोग्य सम्बन्ध किया जाता है। उन्होंने इसका मनोरंजक उदाहरण दिया है, यथा, "अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्तमद्राक्षीः" यह वाक्य सर्वथा असंगत एवं निरर्थक प्रतीत होता है परन्तु इसका ठीक अन्वय कर देने पर इसके अर्थ का ठीक निश्चय हो जाता है। इसका अन्वय करने पर इसका रूप यह होता है "उदहारि भगिनि, या त्वं कुम्भं हरसि शिरसा, अनड्वाहं साचीनमभिधान्तं अद्राक्षीः" (हे जल-

हारिणी भगिनी, जो कि तुम सिर पर घड़ा ले जा रही हो क्या तुमने तिरछे भागते हुए बैल को देखा है)। कैयट ने अतएव कहा है कि "पाठ क्रम से अर्थक्रम बलवान् होता है, इसीलिए अर्थक्रम के अनुसार शब्दों का सम्बन्ध किया जाता है। प्रदीप, महा० ६, १, ५७।

२१—अन्वयव्यतिरेक, पतञ्जलि या भर्तृहरि ने अन्वय और व्यतिरेक को भी अर्थज्ञान और अर्थनिश्चय का मुख्यकारण माना है। भर्तृहरि का तो यहां तक कथन है कि अन्वय और व्यतिरेक ही सारे व्यवहार के आधार हैं।

अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहारनिबन्धनम्। वाक्य० २, १२।

पतञ्जलि ने उदाहरण दिया है कि प्रकृति का क्या अर्थ है और प्रत्यय का क्या अर्थ है इसका निश्चय अन्वय व्यतिरेक से ही होता है। यथा, पचति, पचतः इत्यादि। धातु का अर्थ है विक्लित्ति क्रिया और प्रत्यय का अर्थ है कर्त्ता एकवचन द्विवचन आदि। इसी प्रकार कथानक में वक्ता के पूर्वोक्त वाक्यों से अन्वय के कारण अर्थ निश्चय हो जाता है। यथा, राजा-राज्ञी आदि शब्दों के उल्लेख से उस कथानक में उसी राजा और राज्ञी का बोध होगा।

२२—व्याख्यान, पतञ्जलि ने लिखा है कि "संदेह होने पर ही नियम की आवश्यकता होती है जहाँ पर अर्थ-निश्चय में संदेह नहीं होगा वहाँ पर नियम की आवश्यकता नहीं होगी। आगे एक स्थल पर फिर उन्होंने लिखा है कि कहीं कहीं दोनों अर्थ तुल्य बल वाले होते हैं, वहाँ पर एक भी अर्थ की प्रवृत्ति नहीं हो सकती। कई प्रकरणों में ऐसे शब्दों का प्रयोग मिलता है, जहाँ पर दोनों अर्थ लग सकते हैं। वहाँ पर या तो दोनों ही अर्थ नहीं लग सकते या दोनों ही प्राप्त होते हैं। ऐसे स्थलों के लिए पतञ्जलि ने कहा है कि संदिग्ध मानकर अर्थ नहीं छोड़ दिया जाएगा। अपितु आचार्यों के व्याख्यान (विवरण) के आधार पर अर्थ लिया जाएगा और वही अर्थ माना जाएगा। यथा, "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" में सिद्ध शब्द का अर्थ संदिग्ध है। आचार्य के व्याख्यान में "नित्य" अर्थ स्वीकार किया गया है। महा० आ० १ तथा परिभाषेन्दु शेखर परिभाषा ६।

२३—ज्ञानरूप (बौद्ध) प्रकरण, नागेश ने परिभाषेन्दु में "ज्ञानरूपंप्रकरणम्" (परिभाषा० ६) ज्ञानरूप प्रकरण का भी उल्लेख किया है। ज्ञानरूप प्रकरण अर्थ-निश्चय का मुख्य साधन है। मनुष्य के ज्ञान में पूर्व कही हुई बातों का संस्कार पड़ा रहता है। जब उस विषय की कोई बात पुनः कही जाती है तो पूर्व ज्ञान को स्मृति से अर्थ निश्चय हो जाता है। यथा, रामायण महाभारत का कथानक जिसने सुन रक्खा है, उसके मस्तिष्क में वह कथानक विद्यमान है। अतः पुनः कभी भी रामायण में राजा आदि शब्द पढ़ते ही उस राजाविशेष का निश्चय हो जाता है।

२४—सामान्यज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान, पतञ्जलि ने सामान्यज्ञान तथा व्यावहारिक ज्ञान को भी अर्थनिश्चय का साधन बताया है।

अवचनात् लोकविज्ञानात् सिद्धम्। महा० १, १, ६४।

पतञ्जलि ने बहुत से उदाहरणों द्वारा बताया है कि मनुष्य को सामान्य ज्ञान होगा तो वह वाक्य का अर्थ-निश्चय सरलता से कर लेगा। यथा, "अमीषां ब्राह्मणानामन्त्यात् पूर्व आनीयताम्" इस वाक्य में अन्त्य से पूर्व को ले आओ, इसमें सामान्य ज्ञान से अत्यन्त से पूर्व ब्राह्मण का ही आनयन होगा। कितनी ही बातें जो स्पष्ट रूप से नहीं कही जाती हैं या नहीं कही गई हैं, उनका सामान्य ज्ञान के द्वारा निर्णय कर लिया जाता है।

२५—शब्दाध्याहार, पतञ्जलि और भर्तृहरि ने लिखा है कि पूरे वाक्य के स्थान में वाक्य के एक देश का भी प्रयोग होता है। ऐसे स्थलों पर अर्थ का निश्चय अप्रयुक्त शब्द के अध्याहार के द्वारा ही किया जाता है। (महा० १, १, ४४) तथा पुण्यराज, (वाक्य० २, ३३८)। यथा प्रविश, पिण्डीम्, प्रविश तर्पणम् इन वाक्यों में अर्थ निश्चय अध्याहार के द्वारा ही होगा, घर में घुसो, भोजन खाओ, घर में घुसो, तर्पण करो, इसी प्रकार 'कुतोभवान्' का अर्थ निश्चय आगच्छति क्रिया के अध्याहार से होगा। कहां से आप आ रहे हैं। अध्याहार किस प्रकार से होता है इसके विषय में पतञ्जलि और भर्तृहरि का कथन है कि अर्थ और प्रकरण से अप्रयुक्त शब्दों के अर्थ का ज्ञान होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ३३८।

भवति वै कस्यचिदर्थात् प्रकरणाद् वा पेक्ष्यं निर्ज्ञातम्।

महा० २, २, ११।

२६—युक्तिसंगतता, पतञ्जलि ने अर्थ निश्चय तथा इसी प्रकार के अन्य संदिग्ध या विवादग्रस्तविषयों के लिए बहुत ही महत्त्वपूर्ण बात कही है कि "यच्च नाम सहेतुकं तन्न्याय्यम्" (महा० १, ३, ६) जो भी अर्थ युक्तिसंगत एवं प्राकरणिक ज्ञात हो, वही अर्थ स्वीकार करना चाहिए। यह एक सामान्य नियम है जो सर्वत्र लागू होता है।

पुण्यराज ने अर्थनिर्णय के प्रकरण में लिखा है कि कतिपय आचार्यों का मत है कि केवल सामर्थ्य ही अर्थ निर्णय का साधन है। अर्थ, प्रकरण आदि के द्वारा अर्थ निर्णय किया जाता है, वह भी सामर्थ्य से प्रतीत होता है। संसर्ग आदि जो उपाय बताए गए हैं, वह भी सामर्थ्य को ही व्यक्त करते हैं अतः केवल सामर्थ्य ही अर्थनिर्णय का साधन है। सामर्थ्य का अर्थ व्यापक रूप में यह है कि कौन सा अर्थ वाक्यार्थ को स्पष्ट करता है तथा प्राकरणिक और युक्तिसंगत है। पुण्यराज २,३१७।

वर्तमान भाषाशास्त्री सामर्थ्य के रूपान्तर प्रकरण को ही अर्थनिश्चय का साधन मानते हैं। हर्मन पाउल ने अपने 'प्रिंसिपल्स् आव् लैंग्वेज" के (अध्याय ४) में इस विषय पर विशेष विवेचन किया है। उन्होंने निम्न बातों की ओर विशेष ध्यान दिलाया है :—

१—वक्ता और श्रोता का समान अवधारण।

२—वक्ता के पूर्वोक्त वाक्य आदि।

३—विशेष सामर्थ्य, यह सामर्थ्य वक्ता और श्रोता की समानस्थिति, समान आयु, समानश्रेणी, समानव्यापार या अन्य समानताओं से प्राप्त होती है।

४—अन्य शब्दों के सान्निध्य या संयोग से।

५—अनिश्चित अर्थ वाले शब्द के सम्बन्धी शब्द के द्वारा।

ये कारण उपर्युक्त लिखे गए कारणों के ही अन्तर्गत आ जाते हैं, अतः यहां विशेष उदाहरणादि देना आवश्यक प्रतीत नहीं होता है।

अध्याय—५

शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

शब्द की उपयोगिता पतञ्जलि ने अर्थ का बोध कराना बताया है। शब्द और अर्थ (वस्तु) में कोई सम्बन्ध है या नहीं इस विषय में भारतीय वैयाकरणों तथा दार्शनिकों में, पर्याप्त मतभेद है। वैयाकरणों के मत का वर्णन पतञ्जलि, भर्तृहरि, कैयट, नागेश आदि ने विशेष विस्तार के साथ किया है। वैयाकरणों के मत का प्रथम वर्णन करने के बाद अन्य दार्शनिक विचारों का संक्षिप्त वर्णन किया जाएगा।

पतञ्जलि का मत—पतञ्जलि ने 'सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे' (महा० आ० १) की व्याख्या कर के यह स्पष्ट किया है कि पाणिनि और कात्यायन शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को मानते हैं और वह सम्बन्ध नित्य है।

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च। नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः।

महा० आ० १।

कैयट ने यह स्पष्ट किया है कि शब्द की अर्थ के साथ सम्बन्ध की नित्यता का क्या भाव है शब्द में अर्थ को बोध कराने की योग्यता नामक शक्ति स्वाभाविक है। शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि वह जब उच्चारण किया जाता है, अर्थ की उपस्थिति करता है। द्रव्य रूपी अर्थ के अनित्य होने पर भी सम्बन्ध को नित्य कहते हैं, क्योंकि अर्थबोधन की योग्यता शब्द में रहती है और शब्द नित्य है।

अनित्येऽर्थे कथं सम्बन्धस्य नित्यतेति चेद्-योग्यतालक्षणत्वात् संवन्धस्य। तस्याश्च शब्दाश्रयत्वात् शब्दस्य च नित्यत्वात्। प्रदीप महा० आ० १।

व्याडि का मत—हरिवृषभ ने संग्रह ग्रन्थ से व्याडि का श्लोक उद्धृत किया है। व्याडि का कथन है कि लोक और वेद में शब्द और अर्थ का सम्बन्ध करने वाला कोई व्यक्ति नहीं है। शब्दों के द्वारा ही शब्दों का सम्बन्ध कैसे किया जा सकता है।

सम्बन्धस्य न कर्तास्ति शब्दानां लोकवेदयोः।
शब्दैरेव हि शब्दानां संबन्धः स्यात् कृतः कथम्।

वाक्य० १, २६।

यहाँ पर यह ध्यान रखना उचित है कि व्याकरण के विवेचन में अर्थ शब्द दो अर्थों को लेकर प्रयुक्त हुआ है। "अर्थ" का एक अर्थ शब्दार्थ (माने) है और दूसरा वाच्य वस्तु है। शब्द का शब्दार्थ के साथ, जैसे "गौ" शब्द का गाय अर्थ के साथ कब किस व्यक्ति ने सम्बन्ध किया है अर्थात् गो आदि शब्दों का यह अर्थ है, किस व्यक्ति ने सर्वप्रथम यह प्रयोग चलाया यह कोई नहीं बता सकता है। अतएव इस प्रकार के सम्बन्ध को व्यवहार परम्परा के कारण अनादि मानकर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य कहा जाता है। हरिवृषभ और कैयट इसी प्रकार की नित्यता का प्रतिपादन करते हैं। शब्द और वस्तुओं का सम्बन्ध स्वाभाविक है। शब्द का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध यह है कि यदि शब्द का वस्तु के साथ स्वाभाविक सम्बन्ध न होता तो शब्द के उच्चारण करने पर वस्तु का ज्ञान नहीं होता, परन्तु अनुभव में देखा जाता है कि शब्द से वस्तु का ज्ञान होता है अतः शब्द और वस्तु का यह सम्बन्ध स्वाभाविक है।

सम्बन्धो हि नित्यः। स हि नेदंप्रथमतया शक्यः कर्तुम्, अर्थादेशनस्याशक्य-कर्तव्यत्वात् किन्त्वौत्पत्तिकः स्वभावसिद्धोऽनादिः प्राप्ताविच्छेद इति नित्यः। हरि-वृषभ, वाक्य० १, २३।

सम्बन्धस्यापि व्यवहारपरम्परयाऽनादित्वान्नित्यता।

प्रदीप, महा० आ० १।

व्याडि ने जिस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वह यह है कि शब्द के साथ अर्थ सदा रहता है। जहाँ शब्द है वहाँ अर्थ है और जहाँ अर्थ है वहाँ शब्द है। ऐसी स्थिति नहीं बताई जा सकती जब (सार्थक) शब्द बिना अर्थ के रहा हो और फिर किसी ने शब्द और अर्थ को सम्बद्ध किया हो। यहाँ पर शब्द में अर्थ बोधकता के सम्बन्ध का अभिप्राय है। शब्द विशेष के अर्थ से सम्बन्ध का नहीं। एक बार शब्द से अर्थ का बोध होना सिद्ध होने पर बाद में आप्तोपदेश, आचार्योपदेश आदि से कितने ही शब्दों की नवीन सृष्टि होती है और उनसे नवीन अर्थों का बोध होता है। प्रश्न सबसे प्रथम शब्द और अर्थ से सम्बन्ध का है। शब्द से अर्थ के सम्बंध का साधन भी शब्द है, अतः जब तक पहले किसी शब्द से अर्थ का सम्बन्ध ज्ञात नहीं होगा, तब तक अन्य शब्दों से अर्थ का सम्बन्ध नहीं किया जा सकता। इसी भाव को व्याडि ने अपने पद्य में व्यक्त किया है।

भर्तृहरि का मत—भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को अपना मंतव्य बताते हुए लिखा है कि प्राचीन सूत्रकार, वार्तिककार और भाष्य-कार महर्षियों ने शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य ही बताया है।

नित्याः शब्दार्थसंबंधाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां चानुतन्त्राणां भाष्याणांश्च प्रणेतृभिः॥

वाक्य० १, २३।

सूत्रकार जैमिनि ने नित्यता का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध नि य है, अर्थात् स्वभावसिद्ध और अनादि है। शबरस्वामी ने औत्पत्तिक शब्द का अर्थ नित्य बताया है।

औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन सम्बन्धः॥ मीमांसा० १, १, ५।

वार्तिककार कात्यायन ने "सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे" स्पष्ट रूप से लिखा ही है। पतञ्जलि ने "अभिधानं पुनः स्वाभाविकम्" (महा० २, १, १) अर्थात् शब्द में अर्थ बोधकता का गुण स्वाभाविक है, कहकर इस सम्बन्ध की स्वाभाविकता का प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थसम्बंध की नित्यता पर जो आक्षेप किए गये हैं उनका कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में विस्तार से खण्डन किया है। आक्षेपों का वर्णन आगे किया जायगा।

शब्द और अर्थ (वस्तु) में सम्बन्ध है। इसके लिए निम्न कतिपय युक्तियाँ वैयाकरणों ने दी है।

लोक-व्यवहार—कात्यायन और पतञ्जलि ने लोक व्यवहार को कारण बताया है, जिससे ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध स्वाभाविकरूप से है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो लौकिक व्यवहार नहीं चल सकता। घट शब्द कहने पर यदि शब्द का वस्तु से सम्बन्ध नहीं होता तो घड़ा वस्तु का ज्ञान नहीं हो सकता।

कथं ज्ञायते सिद्धः शब्दोऽर्थः संबन्धश्चेति "लोकतः"।
महा० आ० १।

वृद्ध-व्यवहार—कैयट ने बताया है कि वृद्धव्यवहार से शब्द और वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

तस्माद् वृद्धव्यवहारादेव शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तिः।
प्रदीप, महा० २, १, १।

बालक आवाप और उद्वाप की पद्धति से शब्द का वस्तु से सम्बन्ध समझता है। जब एक वृद्ध दूसरे वृद्ध को कहता है कि 'गामानय" (गाय लाओ), तब दूसरा गाय लाता है। इस प्रकार 'गां नय" (गाय ले जाओ), "अश्वमानय" (घोड़ा लाओ) आदि आदेशों को पाने पर वस्तुओं के लाने से बालक को ज्ञान होता है कि इस शब्द का इस वस्तु से सम्बन्ध है। उसे गाय अश्व आदि शब्दों का वस्तुओं के साथ सम्बन्ध ज्ञात हो जाता है। सर्वप्रथम यह सम्बन्ध ज्ञान विशिष्ट गुणों से युक्त व्यक्तिविशेष में ही होता है। पृ० १६ तथा ४६७—४६८।

नागेश ने उपर्युक्त उदाहरणों में इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रयोजक और प्रयोज्य वृद्ध के व्यवहार को देखकर बालक इस बात का अनुमान करता है कि प्रयोज्य वृद्ध को गो शब्द के अर्थ का ज्ञान हुआ है, अतः वह लाने के लिए प्रवृत्त हुआ है। इससे वह गो शब्द को गाय पशु के ज्ञान का कारण सम-

भता है। सम्बन्ध के बिना कारणता नहीं हो सकती, अतः गो शब्द और गाय नामक पशु में सम्बन्ध की कल्पना करता है। मंजूषा पृ० २१।

सम्बन्ध नियामक है—भर्तृहरि और उनके व्याख्याकार हेलाराज ने सम्बन्ध समुद्देश (वाक्य० कांड ३ पृष्ठ ६६ से १३८) में सम्बन्ध के विभिन्न अंगों का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। सबसे प्रथम यह ध्यान रखना चाहिए कि शब्द के द्वारा जो अर्थ का बोध होता है, उसमें सम्बन्ध ही कारण है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न हो तो प्रत्येक शब्द से प्रत्येक वस्तु की प्रतीति होने लगेगी।

शब्देनार्थस्याभिधाने सम्बन्धो हेतुः, अन्यथा सर्वं सर्वेण प्रत्याय्येत। हेलाराज; वाक्य० ३, पृष्ठ ६६।

शब्द-बोध में तीन तत्त्वों की सत्ता—भर्तृहरि का कथन है कि जब शब्दों का उच्चारण किया जाता है तो उनसे तीन तत्त्वों की प्रतीति होती है १—शब्द के स्वरूप का बोध होता है। यथा गो शब्द के प्रयोग में गो शब्द का २—बाह्य अर्थ—गो शब्द से गाय नामक बाह्य जगत् में विद्यमान पशु का बोध होता है। ३—वक्ता का अभिप्राय—वक्ता ने गो शब्द को गाय का बोध कराने के लिए प्रयोग किया है, इस बात का भी ज्ञान होता है। इस प्रकार से शब्द स्वरूप, बाह्य अर्थ और वक्ता का अभिप्राय इन तीनों बातों का ज्ञान शब्द से होता है। जब तक इन तीनों में वास्तविक सम्बन्ध न होगा तब तक नियमित रूप से तीनों बातों का बोध नहीं हो सकता। अतएव भर्तृहरि ने सम्बन्ध को स्वाभाविक रूप से विद्यमान माना है।

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।
शब्दैरुच्चरितैस्तेषां सम्बन्धः समवस्थितः।
वाक्य० का० ३ पृ० ६६।

प्रयोगेणाभिज्वलितैः शब्दैस्त्रितयमवगम्यते। आत्मीयं रूपमर्थश्च फलसाधनः प्रयोक्तुरभिप्रायश्च। न चैतदसति सम्बन्धे नियमेन घटत इति वास्तवः सम्बन्धावसायः। हेलाराज, वाक्य० पूर्ववत्।

सम्बन्ध स्वभावसिद्ध है—हेलाराज का कथन है कि यह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध सामयिक अर्थात् किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित (सांकेतिक) नहीं हो सकता, क्योंकि शब्द में अर्थ की बोधकता शक्ति का सम्बन्ध अनादिकाल से है। अतएव भर्तृहरि ने "सम्बन्धः समवस्थितः" कहा है अर्थात् यह सम्बन्ध स्वभावसिद्ध है, किसी पुरुष के द्वारा निर्धारित नहीं। हेलाराज। पूर्ववत्।

शब्द का उपर्युक्त तीनों तत्त्वों में से प्रथम और द्वितीय अर्थात् स्वरूप और बाह्य अर्थ के साथ वाच्य-वाचक सम्बन्ध है। शब्द वाचक है और स्वरूप तथा

अर्थ उसके वाच्य हैं। वक्ता के अभिप्राय के साथ शब्द का कार्य कारण रूप सम्बन्ध है। शब्द कारण है और वक्ता का अभिप्राय उसका कार्य है। हेला-राज, पूर्ववत्।

शब्द के स्वरूपों की उपलब्धि—शब्द के स्वरूपों की जब उपलब्धि होती है, तब या तो अर्थ (बाह्यवस्तु) का बोध होता है, या कहीं पर शब्दविषयक ज्ञान में सन्देह होता है। इस नियम का अपवाद कहीं नहीं होता। शब्दार्थ के विषय में यह नियम अर्थ के साथ शब्द के सम्बन्ध का बोध कराता है।

> प्रतिपत्तिर्भवत्यर्थे ज्ञाने वा संशयः क्वचित्।
> स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते।
>
> वाक्य० का० ३ पृ० ६६।

शब्दार्थ में तादात्म्यबुद्धि—हेलाराज ने भर्तृहरि के उपर्युक्त कथन को स्पष्ट करते हुए कतिपय बातों पर प्रकाश डाला है। हेलाराज का कथन है कि "अयं गौः" (यह गौ है) "अयमर्थः" (यह गाय है), गाय शब्द और गाय पशु रूप अर्थ में अभिन्नता की प्रतीति होने से शब्द अपने स्वरूप का बोध कराता हुआ ही वस्तु का बोध कराता है। शब्द और अर्थ दोनों में अभिन्नता को ग्रहण करते हुए ही 'घट' इस प्रकार का ज्ञानवाचक कहा जाता है। वृद्धव्यवहार से शब्द और अर्थ दोनों की अभिन्नता को लेते हुए ही सम्बन्ध का ज्ञान होता है। जब 'अयं गौः' (यह गाय है),ऐसा संकेत किया जाता है,तब 'अयम्' यह शब्द का प्रयोग शब्द और अर्थ दोनों में भेद रूप से बोध कराता है। "अयम्" के प्रयोग से संकेतित पशु का अर्थ वस्तु समझा जाता है। हेलाराज ने इस प्रकार से शब्द और अर्थ में तात्त्विक विवे-चन की दृष्टि से भेद रहता है, इस बात को स्पष्ट किया है। परन्तु साथ ही यह भी लिखा है कि संकेत की उपयोगिता है। व्यवहार और लौकिक व्यवहार में जैसी प्रतीति होती है, उसी को उचित समझना चाहिए। लौकिक व्यवहार में शब्द और अर्थ में अभेद (तादात्म्य) की प्रतीति होती है। हेलाराज, वाक्य० का० ३ पृष्ठ ६७।

अर्थ की शब्दरूपता—शब्द के द्वारा जो अर्थ की प्रतीति होती है, उसमें शब्द अर्थ का जनक है, इस रूप से दोनों के सम्बन्ध का अनुभव नहीं होता है। अपितु अर्थ प्रतीति में अर्थ शब्द रूप ही प्रतीत होता है अर्थात् ज्ञान के समय शब्द और अर्थ में तादात्म्य की प्रतीति होती है शब्दबोध का ऐसा ही स्वभाव है। हेला-राज, पूर्ववत्।

यदि अर्थ की शब्दरूप में ही प्रतीति होती है तो अर्थ में वर्णमाला की क्यों उपलब्धि नहीं होती। अर्थात् शब्द के द्वारा अर्थबोध में शब्द और अर्थ का शब्द से भिन्न न अनुभव होने पर शब्द के विभिन्न वर्णों की प्रतीति होनी चाहिए। परन्तु ऐसा नहीं होता। हेलाराज ने इस प्रश्न को ही दार्शनिकप्रक्रिया के अज्ञान का सूचक बताते हुए कहा है कि यहां पर वाचक शब्द से अभिप्राय है चित् शक्ति

(ज्ञान) का वाणी रूप व्यापार। इसका दूसरा नाम "शब्दन" है अर्थात् ज्ञान का वाणी रूप में आना। ज्ञान ही शब्दरूप को प्राप्त होकर वाचक होता है। श्रवण का विषय न होने पर भी उपांशुप्रयोग में जो शब्द इस नाम से व्यवहृत होता है, वह चित्शक्ति का वाणीरूप व्यापार वाचक शब्द है।

हेलाराज ने इस कथन के द्वारा स्फोट की वाचकता पर ध्यान आकृष्ट किया है। स्फोट की अवस्था में शब्द और अर्थ, वाचक और वाच्य में भेद नहीं रहता है। जब ज्ञान प्राण और मन दोनों का आश्रय लेकर वाणीरूप में आने लगता है, तब वाच्य और वाचक का भेद प्रतीत होता है। मध्यमा नामक अवस्था में शब्द को वाचक मानते हैं। उस अवस्था में शब्द स्वरूप का बोध कराता हुआ स्वरूप से भिन्न अर्थ को तादात्म्यसम्बन्ध से बोधित करता है। यथा: —"गौरयमर्थः" (यह गायवस्तु है)। हेलाराज, पूर्ववत्।

ननु न वर्णमालार्थे समुपलभ्यते। दर्शनानभिज्ञो देवानां प्रियः इह शब्दो नामवाचकः स उच्यते, योऽयं चिच्छक्तेर्वागात्मा व्यापारः शब्दनापरपर्यायोऽश्रूयमाणोऽप्युपांशुप्रयोगे शब्द इति व्यवह्रियते। परतस्तु प्राणवृत्त्यनुप्राणितमनोभूमिसमवलम्बितनिजस्वभावस्य वाच्यवाचकरूपविभागशाखाद्वयाऽवलम्बिनः समवस्थानम्। अस्यां च मध्यमाऽवस्थायां परामर्शनात्मा वाचकः शब्दः। हेलाराज।

वाच्य में वाचक शब्द वर्णों का ज्ञान इसलिए नहीं होता है कि वाच्य और वाचक का सम्बन्ध बुद्धि में ही होता है। बुद्धि में शब्द के स्थूलरूप ध्वनि का जो कि वर्णमाला रूप है, अभाव रहता है। शब्द तालु आदि स्थानों के संघर्ष होने पर वर्णरूप में आता है, उससे पूर्व नहीं। नागेश ने मंजूषा (पृष्ठ ३९) में अर्थ "वर्णमालाऽनुभवापत्तिश्चेति निरस्तम्" शब्द और अर्थ के बोध अध्यास सम्बन्ध के कारण ही अर्थ में वर्णमाला का अनुभव नहीं होता है, कह कर इसी भाव को व्यक्त किया है।

षष्ठी विभक्ति का प्रयोग—भर्तृहरि का कथन है कि शब्द और अर्थ (वस्तु) में स्वाभाविक सम्बन्ध है, इसका ज्ञान षष्ठी विभक्ति के प्रयोग से ज्ञात होता है। "अस्यार्थस्यायं शब्दो वाचकः" (इस वस्तु का यह शब्द वाचक है), "अस्य शब्दस्यायमर्थो वाच्य." (इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है)। इस प्रकार से षष्ठी विभक्ति का प्रयोग बिना सम्बन्ध के नहीं किया जा सकता है अतएव यह ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध है। जिन वस्तुओं में इस प्रकार का स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है, जैसे घट पट आदि उनके विषय में इस प्रकार वाच्य-वाचकरूप सम्बन्ध का व्यवहार नहीं किया जाता। स्वाभाविक सम्बन्ध होने के कारण ही शब्द और अर्थ में तादात्म्य का व्यवहार किया जाता है। जैसे "गौरयमर्थः" (गौ यह अर्थ है)। हेलाराज का० ३ पृ० ९९।

अस्यायं वाचको वाच्य इति षष्ठ्या प्रतीयते।
योगः शब्दार्थयोस्तत्त्वमप्यतो व्यपदिश्यते ॥
वाक्य० ३ पृ० ६६।

नागेश ने भी (मंजूषा पृष्ठ ४५) में इसी युक्ति का प्रतिपादन किया है।

आप्तोपदेश—नागेश का कथन है कि समय, संकेत, आप्तोपदेश और वृद्ध-व्यवहार ये चारों शब्द पर्यायवाची हैं। आप्तोपदेश से शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का ज्ञान होता है। "इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है" "इसका यह नाम है।" "इस शब्द से इस वस्तु का बोध करना"। इस प्रकार आप्तों के उपदेश से तत्तद्वस्तुओं में उन शब्दों का सम्बन्ध ज्ञात होता है। "यह घट है, यह पट है, यह चन्द्रमा है," इस प्रकार के संकेतों से सम्बन्ध का ज्ञान होता है। मंजूषा पृ० ४६—४७।

वेंकट ने न्यायपरिशुद्धि (पृष्ठ ३६५) में लिखा है कि बालक को आप्तोपदेश से जो वस्तुओं का ज्ञान होता है, उससे वह शब्द और अर्थ (वस्तु) में सम्बन्ध की सत्ता को समझता है।

शब्द से अर्थ की उपस्थिति—भर्तृहरि और हेलाराज ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है, इसकी पुष्टि में कहा है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध होने पर ही शब्द से वस्तु का ज्ञान हो सकता है। शब्दविशेष के द्वारा वस्तुविशेष की नियम से प्रतीति सम्बन्ध को मानने पर ही हो सकती है, अन्यथा नहीं। वस्तु का शब्द से ज्ञान होता है, इस अर्थबोधनरूपी कार्य से शब्द और वस्तु में सम्बन्ध है, यह निश्चय होता है।

सति प्रत्ययहेतुत्वं सम्बन्ध उपपद्यते।
शब्दस्यार्थे यतस्तत्र संबंधोऽस्तीति गम्यते ॥
वाक्य० का० ३ पृ० ११४।

हेलाराज ने मीमांसकों के कथन का उद्धरण देते हुए कहा है कि "शब्द के ज्ञान होने पर अर्थ का ज्ञान होता है. इस कार्य से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध जाना जाता है", यह कथन भी उपर्युक्त भाव का प्रतिपादक है। हेलाराज, वाक्य० पूर्ववत्।

नागेश ने भी भर्तृहरि का उपर्युक्त श्लोक सम्बन्ध की सत्ता के प्रतिपादन में उद्धृत किया है। मंजूषा पृष्ठ ३८।

हरिवृषभ ने भर्तृहरि के "शब्दानां यतशक्तित्वम्" (वाक्य० १, ६) की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि शब्द में यह स्वाभाविक सामर्थ्य है कि वह नियत अर्थ का बोध कराता है। इस स्वाभाविक सामर्थ्य से दोनों में सम्बन्ध का ज्ञान होता है।

शब्दानां यतशक्तित्वं नियतार्थ प्रत्यायनसामर्थ्यम्। हरिवृषभ।

सम्बन्ध का स्वरूप—भर्तृहरि ने यह विचार करके कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है, इस बात पर विचार किया है उस सम्बन्ध का क्या स्वरूप है। हेलाराज ने यह प्रश्न उठाया है कि केवल यह कह देने से काम नहीं चल सकता कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध है। उसका स्वरूप भी बताना चाहिए। भर्तृहरि और हेलाराज ने इसका उत्तर दिया है कि शब्द और अर्थ में जो सम्बन्ध है, वह असाधारण स्वभाव का है। षष्टी विभक्ति के अतिरिक्त उसका कोई अन्य वाचक नहीं है, क्योंकि सम्बन्ध का स्वरूप विशेष नहीं है, अतः 'इदम्' (यह है) इस रूप में उसका बोध नहीं कराया जा सकता। इसका कारण यह है कि सम्बन्ध शब्द और अर्थ से पृथक् कोई सत्ता नहीं रखता है, जिससे उसको पृथक् किया जा सके। उसका स्वरूप केवल उसके कार्य से जाना जाता है।

नाभिधानं स्वधर्मेण संबन्धस्यास्ति वाचकम्।
अत्यन्तपरतन्त्रत्वाद् रूपं नास्याऽपदिश्यते॥
वाक्य० ३ पृ० ६६।

उपकार्य-उपकारक सम्बन्ध—उपकार्य और उपकारक में उपकारक सम्बन्ध स्वभाव से रहता है, क्योंकि असम्बद्धों में उपकार की सत्ता नहीं रह सकती। जहाँ पर उपकारक सम्बन्ध है वहां पर शक्ति नामक धर्म का अनुमान किया जाता है। यह सम्बन्ध ही शक्तियों का भी शक्ति है अर्थात् शक्ति के द्वारा जो कार्य होता है, उसका नियामक भी सम्बन्ध ही है। यह सम्बन्ध गुणों का भी गुण है अर्थात् गुणों का द्रव्य के आश्रित रहना इस व्याख्या का कारण भी सम्बन्ध है। अतएव यह सम्बन्ध अत्यन्त परतन्त्र होने से अनुमान के द्वारा जाना जाता है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं।

उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्राऽनुगम्यते।
शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः॥
वाक्य० का० ३ पृ० १००।

संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं—भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में संयोग और समवाय सम्बन्ध नहीं है, इसका विस्तार से विवेचन किया है। वाक्य० का० ३ पृष्ठ १००-१०५।

संयोग और समवाय सम्बन्धों के अपने विशेष नियम हैं, जहाँ पर वे रह सकते हैं। शब्द और अर्थ में न संयोग सम्बन्ध सम्भव है और न समवाय।

संयोगसमवायाविह नेह सम्बन्धो यथाऽन्येषां दर्शनम्। हेलाराज।

दो प्रकार के सम्बन्ध, योग्यता और कार्य-कारण—भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में दो प्रकार के सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। एक योग्यता और दूसरा कार्य-कारण सम्बन्ध।

कार्यकारणभावेन योग्य भावेन च स्थिताः। वाक्य० १, २५।

योग्यता-सम्बन्ध—पाणिनि ने 'तस्येदम्' (४, ३, १२०) सूत्र के द्वारा कार्य-कारण सम्बन्ध की सत्ता को बताया है और 'तदर्हति (५,१,६३, तथा 'तदर्हम्' ,५,१, ११७) सूत्रों के द्वारा शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। इसी के आधार पर पतञ्जलि और भर्तृहरि आदि ने दोनों में योग्यता सम्बन्ध की सिद्धि की है। योग्यता सम्बन्ध का निरूपण करते हुए भर्तृहरि और हेलाराज ने लिखा है कि जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों में रूप आदि के ग्रहण करने और रूपादिविषयक ज्ञान उत्पन्न करने की स्वाभाविक योग्यता है, उसी प्रकार शब्द में यह स्वाभाविक योग्यता है कि शब्द उच्चारण से अर्थ का बोध कराता है। यह योग्यता ही सम्बन्ध है।

इन्द्रियाणां स्वविषयेष्वनादिर्योग्यता यथा।
अनादिरर्थैः शब्दानां सम्बन्धो योग्यता तथा॥

वाक्य० ३, पृ० ११०।

शब्द समवाय या संयोग सम्बन्ध की अपेक्षा न करके उच्चारण मात्र से अर्थ का बोध कराता है, अतएव यह शब्द की अकृत्रिम शक्ति समझी जाती है। चक्षु आदि में रूप के देखने आदि की शक्ति किसी पुरुषविशेष की आवश्यकता नहीं रखती। इसी प्रकार शब्द की भी अर्थबोधकता स्वाभाविक शक्ति है। हेलाराज।

प्रकाश्य और प्रकाशक सम्बन्ध से जिस प्रकार इन्द्रिय और उनके विषयों में सम्बन्ध का ग्रहण किया जाता है, उसी प्रकार शब्द और वस्तु के सम्बन्ध का ज्ञान दोनों में प्रकाश्य-प्रकाशक चक्षु रूपी योग्यता से होता है। इस योयग्ता का फल यह होता है जिस प्रकार चक्षु रूप का ही ग्रहण करती है और रसना रस का, उसी प्रकार प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध न कराकर विशेष शब्द विशेष अर्थों का ही, जिन अर्थों में नियमित रूप से प्रसिद्ध हैं, बोध कराते हैं। हरिवृषभ ने इस बात पर भी यहाँ ध्यान आकृष्ट किया है कि जो शब्द नियमित रूप से प्रसिद्ध नहीं है, उनकी अपने अर्थों के साथ योग्यता सामयिक (सांकेतिक) है। हरिवृषभ, वाक्य० १, २५।

हरिवृषभ का भाव यह है कि जब शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध माना जाता है तो गाय, अश्व आदि शब्द जो अनादि परंपरा से आ रहे हैं, और जिनका सम्बन्ध प्रसिद्ध है, वे अपनी स्वाभाविक योग्यता के कारण अपने निश्चित अर्थों का ही बोध कराते हैं। गाय शब्द से अश्व का बोध नहीं कराया जा सकता है और न अश्व शब्द से गाय का। अतएव पतञ्जलि ने लिखा है कि जो गाय को अश्व कहता है, उससे कभी बोध नहीं हो सकता।

यो हि गामश्व इति ब्रूयान्न जातुचित् संप्रत्ययः स्यात्। महा०।

परन्तु जो शब्द नवीन प्रचलित होते हैं या विभिन्न भावों के द्योतन के लिए व्यक्तिविशेषों द्वारा आविष्कृत किये जाते हैं, उनमें शब्द और अर्थ का सम्बन्ध

सांकेतिक ही माना जाता है। हेलाराज ने भी इसी भाव को व्यक्त करते हुए लिखा है कि यथारुचि संकेत में जैसे व्यक्तियों के इच्छानुसार नाम आदि में अपने अर्थों की बोधकता वाचकशक्ति के आधार पर नहीं अपितु सांकेतिक होती है। ऐसे जो शब्द प्रसिद्ध हो जाते हैं, उनमें सांकेतिक शक्ति ही होती है।

हेलाराज का० ३ पृष्ठ ११०।

प्रसिद्धा अपि समयमात्रं तत्। हेलाराज।

हेलाराज ने संज्ञा शब्दों (नामवाचक शब्दों) के विषय में लिखा है कि संज्ञा शब्दों में यह शक्ति है कि वह प्रत्येक संज्ञी (नामधारी) का बोध करा सकते हैं, परन्तु किसी विशेष के लिए संज्ञा शब्दों का प्रयोग यह सामयिक (संकेत के कारण) है। हेलाराज, पूर्ववत्।

शाब्दज्ञान और इन्द्रियजन्यज्ञान में अन्तर—शब्दों की उपमा इन्द्रियों से दी गई है, परन्तु दोनों में थोड़ा अन्तर है। इन्द्रियां अपनी सत्तामात्र से विषय का ज्ञान कराती हैं। इन्द्रियजन्य ज्ञान में यह ज्ञात नहीं होता कि वह वस्तु का ज्ञान करा रही है। इन्द्रियां अपना ज्ञान नहीं कराती हैं। चक्षु के द्वारा रूपदर्शन में चक्षु अपने स्वरूप (चक्षु) का ज्ञान कराए बिना ही अपनी सत्तामात्र से रूप का दर्शन कराती है। परन्तु शब्द में अन्तर यह है कि शब्द सत्तामात्र से बोध नहीं कराता है। शब्द ज्ञापक है। जब शब्द सुन लिया जाता है, तब वह वस्तु का ज्ञान कराता है इसमें स्वरूप के ज्ञान के बाद वस्तु का ज्ञान होता है। इन्द्रियों और विषयों का साक्षात् सम्बन्ध है, शब्द और अर्थ का असाक्षात्। शब्द पहले अपने स्वरूप का बोध कराता है और फिर अर्थ का। दोनों में समानता इस आधार पर है कि दोनों में यह योग्यता स्वाभाविक है, पुरुष के प्रयत्न से इनमें यह योग्यता नहीं आई है।

यद्यपि इन्द्रियाणि कारकत्वादज्ञातान्येव ज्ञानं जनयन्ति, शब्दस्तु ज्ञापकत्वात् स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः, तथापि पुरुषप्रयत्नानपेक्षा शक्तिः साधारणीति साम्यम्। हेलाराज, पूर्ववत्।

सम्बन्ध शब्द के द्वारा जिस सम्बन्ध का बोध जहाँ कराया गया है, वह योग्यता रूपी सम्बन्ध है। इस योग्यता सम्बन्ध का ज्ञान शब्द की अर्थ के बोध कराने की योग्यता से ही होता है। यह योग्यता स्वाभाविक है।

सम्बन्धशब्दे सम्बन्धो योग्यतां प्रति योग्यता।

वाक्य० ३, पृष्ठ १११।

योग्यता सम्बन्ध में संकेत का स्थान—यदि यह सम्बन्ध स्वाभाविक है तो शब्द से अर्थ का ज्ञान सदा क्यों नहीं होता। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि इस योग्यता का ज्ञान समय अर्थात् संकेत से होता है, जैसे माता और पुत्र आदि के सम्बन्ध का ज्ञान संकेत से होता है। हेलाराज ने इसकी व्याख्या में कहा

है कि शब्द का अर्थ के विषय में व्यापार अनादिकाल से है, इसी स्वाभाविक योग्यता का ज्ञान वृद्धव्यवहार से या दूसरे शब्दों में परंपरा से किया जाता है। संकेत के द्वारा उनमें अविद्यमान सम्बन्ध का प्रादुर्भाव नहीं किया जाता और न ऐसा उचित है। जिस प्रकार कि माता और पुत्र में जन्यजनक सम्बन्ध विद्यमान है उस सिद्ध सम्बन्ध का ही संकेत के द्वारा बोध कराया जाता है कि यह इसकी माता है और यह इसका पुत्र है। हेलाराज ३ पृ० १११ से ११२।

समयाद् योग्यता संविन्मातापुत्रादियोगवत्। वाक्य० ३ पृ० १११।

पातञ्जलभाष्य की सम्मति—नागेश ने मंजूषा (पृ० ३८—३९) में और कौण्डभट्ट ने भूषण में (कारिका ३७, ३९) भर्तृहरि के उपर्युक्त दोनों श्लोकों को शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को बताने के लिए उद्धृत किया है। नागेश ने इस विषय में पातञ्जल भाष्य की सम्मति उद्धृत की है। नागेश का कथन है कि शब्द और अर्थ में यह तादात्म्य (अध्यास) सम्बन्ध व्यवहारों के आदि कर्ता ईश्वर के द्वारा किया हुआ है। अतएव पातञ्जल भाष्य में कहा गया है कि शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध पहले से विद्यमान है। ईश्वरीय संकेत इस विद्यमान सम्बन्ध को ही प्रकट करता है जैसे पिता और पुत्र के सिद्ध सम्बन्ध को संकेत के द्वारा बताया जाता है कि यह इसका पिता है और यह इसका पुत्र है। मंजूषा पृ० ३८।

भट्टोजि और कौण्डभट्ट के मत का खण्डन—नागेश ने इस प्रकरण में एक विशेष बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है और भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट के मत का खण्डन किया है। भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में लिखा है कि घट आदि शब्दों की घट आदि अर्थों के बोध को उत्पन्न करने की सामर्थ्य ही शक्ति है। इसी में लाघव है। सम्बन्ध को भी मानने में गौरव होता है। (कौस्तुभ का उद्धरण, मंजूषा कलाटीका पृ० ३५)।

कौण्डभट्ट ने भूषण में "इन्द्रियाणां स्वविषयेषु" (कारिका ३७) की व्याख्या करते हुए लिखा है कि जिस प्रकार चक्षु आदि इन्द्रियों का अपने विषय घट आदि में अनादि योग्यता है अर्थात् उनकी चाक्षुष आदि रूप से कारणता है, उसी प्रकार शब्दों का अर्थों के साथ उनके बोध का कारण होना योग्यता है, वही शक्ति है।

दोनों में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को शक्ति न मानकर, अपितु गौरव दिखाकर, इसके विपरीत शब्द और अर्थ में वाच्यवाचक भाव को नियमित करने वाली शक्ति को ही सम्बन्ध माना है। नागेश ने इनके खण्डन में भर्तृहरि और हेलाराज को उपस्थित करते हुए इस बात को स्पष्ट किया है कि शक्ति ही सम्बन्ध नहीं हो सकती, क्योंकि शक्ति होने पर भी जब तक उनमें सम्बन्ध नहीं होगा, तब तक बोध नहीं हो सकता। शक्ति से कार्य तभी उत्पन्न होता है जब कि शक्ति का वस्तुओं से सम्बन्ध होता है। अतएव शक्ति के ऊपर भी एक नियामक शक्ति

है और वह है सम्बन्ध। दीपक में प्रकाश करने की शक्ति है फिर भी सम्बन्ध होने पर ही वह वस्तु का प्रकाशक होता है, अन्यथा नहीं। मंजूषा पृष्ठ ३४।

सम्बन्ध ही शक्ति है—भर्तृहरि ने कहा है कि सम्बन्ध शक्ति का भी शक्ति है। हेलाराज ने इसकी व्याख्या में स्पष्ट शब्दों में लिखा है कि शक्ति ही सम्बन्ध नहीं हो सकती क्योंकि शक्तियों के भी आधारपारतंत्र्य, अर्थात् शक्ति किस वस्तु में रहती है, और नियतकार्य-जनन अर्थात् नियमित रूप से किस कार्य को उत्पन्न करती है, इन सब का नियामक सम्बन्ध ही है।

शक्तीनामपि सा शक्तिर्गुणानामप्यसौ गुणः। वाक्य० ३, पृ० १००।

न च शक्तिरेव सम्बन्धः, शक्तीनामप्याधारपारतन्त्र्ये नियतकार्यजनने च सम्बन्ध एव नियामकः। हेलाराज।

नागेश ने अतएव कहा है कि शब्द और अर्थ में एक सम्बन्धविशेष ही शक्ति है। इसका ही दूसरा नाम वाच्यवाचक भाव है। यह वाचक है और यह वाच्य है, यही शब्द और अर्थ का सम्बन्ध शक्ति है। इस शक्ति का ग्रहण इतरेतराध्यास-मूलक अर्थात् शब्द और अर्थ में एक दूसरे के गुण का आरोपनिमित्तक, तादात्म्य से होता है। इस तादात्म्य का ही नाम संकेत है। संकेत के द्वारा शब्द और अर्थ में अभेद का अनुभव किया जाता है।

पदपदार्थयोः सम्बन्धान्तरमेव शक्तिः, वाच्यवाचकभावापरपर्याया। तद्ग्राहकं चेतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्, तच्च संकेतः। मंजूषा पृष्ठ २६।

शब्द, अर्थ और सम्बन्ध तीनों का पृथक् अस्तित्व—भर्तृहरि ने शब्द के स्वरूपों की ओर ध्यान आकृष्ट करते हुए उनकी विभिन्नता का प्रतिपादन किया है। हेलाराज ने उसका स्पष्टीकरण करते हुए कहा है कि शब्द के तीन विभिन्न रूप हैं, अभिधान (शब्द) अभिधेय (अर्थ) और निमित्त (सम्बन्ध)। इन तीनों के कारण भर्तृहरि ने स्वरूप शब्द का बहुवचनान्त प्रयोग किया है।

स्वरूपेषूपलब्धेषु व्यभिचारो न विद्यते।
वाक्य० ३, पृ० ६६।

अभिधानाभिधेयनिमित्तभेदाच्च भिन्नरूपमिति स्वरूपेष्वित्याह।
हेलाराज।

इनमें से अभिधान (शब्द) कारणरूप से निविष्ट है और वाचकरूप है। अर्थ वाच्यरूप है और वाणी के भेद से ज्ञात होता है। सम्बन्ध का ज्ञान संकेत से होता है, परन्तु उसका शब्द और अर्थ से पृथक् श्रवण नहीं होता है। सम्बन्ध नियामक है अतएव अर्थ प्रवृत्ति-निमित्त है। ये तीनों सर्वत्र एक साथ नियम से रहते हैं। इनमें विभिन्नता का ज्ञान इसलिए नहीं हो पाता, क्योंकि व्यवहार में इनकी एकता का अभ्यास रहता है और तीनों के उच्चारण में समानता रहती है।

तीनों के सुनने में कोई भेद ज्ञात नहीं होता है, अतएव इन्हें स्वरूप अर्थात् शब्द का अपने रूप में कहा जाता है। हेलाराज, पूर्ववत।

नागेश ने (मंजूषा पृष्ठ ३६) अतएव कहा है कि शब्द क्या है? अर्थ क्या है? जब यह प्रश्न किया जाता है तो इसका उत्तर दिया जाता है कि घट शब्द है और घट अर्थ है। ज्ञान भी घटरूप है। घट कहने पर शब्द, अर्थ और ज्ञान को पृथक् करके नहीं समझा जाता। इस व्यवहार के कारण ही तीनों में अध्यास-सम्बन्ध है। अध्यास का अर्थ ऊपर कहा जा चुका है कि अन्य में अन्य धर्म का ज्ञान। तीनों वस्तुतः पृथक् तत्त्व हैं। नागेश का कथन है कि भर्तृहरि ने "ज्ञानं प्रयोक्तुः०" (वाक्य० ३ पृष्ठ ६६) इत्यादि के द्वारा शब्द, अर्थ और ज्ञान इनके अध्यास का प्रतिपादन किया है। मंजूषा पृष्ठ ३६।

आक्षेपों का उत्तर अध्यास के द्वारा—नागेश ने नैयायिक वैशेषिकों आदि ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने पर जो आक्षेप किए हैं, उनका समाधान इस अध्यास के आधार पर दिया है। शब्द और अर्थ में यदि वास्तविक सम्बन्ध होता तब तो यह प्रश्न ठीक होता कि घट शब्द आदि शब्द के उच्चारण से ही घट का काम चल जाना चाहिये और शब्द में ही मधु आदि का रखना होना चाहिये। अग्नि आदि शब्दों के उच्चारण से मुँह का जलना आदि होना चाहिए। अर्थ में वर्णों का अनुभव होना चाहिये। यह सब प्रश्न इसलिये निराधार हैं, क्योंकि शब्द और अर्थ में वास्तविक अभेद नहीं है। वास्तविक सम्बन्ध होता तो वे आक्षेप सार्थक होते। शब्द और अर्थ इन दोनों विभिन्नों में अभेद तादात्म्य ज्ञान के कारण है। मंजूषा पृ० ३६।

पतञ्जलि का मत—पतञ्जलि ने योगदर्शन में शब्द, अर्थ और ज्ञान में विभेद के जानने की उपयोगिता का निरूपण करते हुए लिखा है कि शब्द, अर्थ और ज्ञान इन तीनों के इतरेतराध्यास अर्थात् इनमें अवास्तविक एकता के ज्ञान से संकर (माया, अज्ञान) होता है। इन तीनों के विभाग के ज्ञान से समस्त प्राणियों के शब्दों का ज्ञान होता है।

शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराध्यासात् संकरस्तत् प्रविभागसंयमात्तु सर्वभूतरुतज्ञानम्। योगसूत्र ३, १७।

व्यास भाष्य में इन तीनों के विभाग का ज्ञान प्राप्त करने वाले को सर्वज्ञ कहा गया है।

> गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरिति ज्ञानम्, य एषां प्रविभागज्ञः स सर्ववित्। व्यास।

आधुनिक विचारकों की सम्मति—आधुनिक दार्शनिक मनीषी हुस्सेर्ल, गेसेर और गोम्पेर्त्स ने शब्दार्थ सम्बन्ध और इस त्रैत के विश्लेषण पर जो मत

प्रकट किया है, वह उपर्युक्त विचारों से बहुत अधिक मिलता है। हुस्सेर्ल और गेसेर का कथन है कि शब्द और वाच्य या बोध्य में वास्तविक सम्बन्ध है, क्योंकि बोध्य की स्वभावानुकूल अभिव्यक्ति ही अर्थ है। जो कुछ बोध्य है वह विचारों या वाणी में वस्तुरूप से रहता है। अतएव शब्द, अर्थ और वस्तु इन तीनों में हमें अन्तर समझना चाहिए। 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' पृष्ठ २७०।

गोम्पेर्त्स का मत है कि प्रत्येक पूर्ण वक्तव्य में हम तीन तत्त्वों का विभाजन कर सकते हैं, १—ध्वनितत्त्व, (शब्द) २—अर्थ, ३—वस्तु। कथन और बोध्य विषय में जो सम्बन्ध विद्यमान रहता है, वही अर्थ है। 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' पृष्ठ २७५।

आटो येस्पर्सन का कथन है कि बालक तथा वयस्क की दृष्टि में दो तत्त्व १, बाह्यध्वनितत्त्व, २, आभ्यन्तरतत्त्व, शब्द का अर्थ ये दोनों अविच्छेद्यरूप से संबद्ध हैं। लैंग्वेज पृ० ११३।

प्रसिद्ध नैयायिक गंगेश ने 'तत्त्वचिन्तामणि' में कहा है कि शक्ति शब्द और अर्थ (वस्तु) का वह सम्बन्ध है जिससे अर्थज्ञान होता है। भाग ४ पृ० ६२७। भर्तृ-हरि ने सम्बन्ध के जिस महत्व की ओर ध्यान आकृष्ट किया है, वह वस्तुतः आवश्यक और अहेय है। साथ ही शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध की विभिन्नता समझ लेने पर शब्दार्थ सम्बन्ध पर जो आक्षेप दिए गए हैं, उनकी निर्मूलता भी स्पष्ट हो जाती है।

कार्य-कारण सम्बन्ध—भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ में दूसरा सम्बन्ध कार्यकारणरूप बताया है। शब्द और अर्थ दोनों एक दूसरे के कारण और कार्य हैं। योग्यता सम्बन्ध शब्द की अर्थबोधकता शक्ति पर प्रकाश डालता है, और कार्यकारण सम्बन्ध उनकी व्यावहारिक शक्ति पर। शब्द ही एक साधन है जिससे अपने भावों को श्रोता तक पहुँचाया जाता है। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द अर्थ का कारण है अर्थात् श्रोता की बुद्धि में जो अर्थ (वस्तु) विद्यमान रहता है उसका कारण शब्द है। शब्द के द्वारा श्रोता का बुद्धिगत अर्थ जागृत होता है। बुद्धि में पहले से विद्यमान अर्थ के द्वारा शब्द का ज्ञान होता है, अतः अर्थ शब्द का कारण होता है, क्योंकि अर्थ की बुद्धि में पूर्व उपस्थिति ही उसका ज्ञान कराती है।

शब्दः कारणमर्थस्य स हि तेनोपजन्यते।
तथा च बुद्धिविषयादर्थाच्छब्दः प्रतीयते॥
वाक्य० ३, पृ० ११२।

अर्थ का आदान-प्रदान—हेलाराज का कथन है कि शब्द का अर्थ बाह्य जगत् में विद्यमान वस्तु होता है। शब्द और अर्थ पहले बुद्धि में अभिन्न रूप से

रहते हैं। विवक्षित अर्थ शब्दभेद से रहित नहीं होता, उसमें भेद रहता है। वह बुद्धि में संकल्प रूप से रहता है और उसी का प्रतिभा द्वारा ज्ञान होता है इसीलिए तालु आदि स्थानों के व्यापार से अभिव्यक्त शब्द जब श्रोता के द्वारा सुना जाता है तब वह उसी प्रकार स्वरूप के मिश्रण से अर्थ का बोध कराता है। प्रतिपाद्य (वाच्य) और प्रतिपादक (वाचक) में परस्पर अभिप्राय का अनुप्रवेश ही व्यवहार कहाता है अर्थात् शब्द और अर्थ का तादात्म्यज्ञान करना। व्यवहार में वक्ता और श्रोता किस प्रकार अर्थ का आदान-प्रदान करते हैं, इसके विषय में हेलाराज का कथन है कि अर्थ वक्ता की बुद्धि में रहता है, वह उस बुद्धिगत अर्थ को उच्चारण के द्वारा श्रोता को समर्पित करता है और श्रोता भी उसी प्रकार अपनी भावना से युक्त होता है और अपनी स्वाभाविक योग्यता के अनुसार उसको ग्रहण करता है। शब्द के ग्रहण करने से उसके शब्दविषयक संस्कार उद्बुद्ध हो जाते हैं और तदनुसार वह प्रवृत्त होता है। हेलाराज ने इस बात को स्पष्ट किया है कि वक्ता अपनी भावना के अनुसार अर्थ को बताने के लिए शब्दों का प्रयोग करता है और श्रोता अपनी बुद्धि के अनुसार उनका अर्थ समझता है।

हेलाराज ३ पृ० ११२।

शब्दार्थौ ह्यर्थो बहीरूपतयाऽवस्थीयमानः। बुद्धौ शब्दार्थयोः पूर्वमभेदेनावस्थानम्०। हेलाराज पूर्ववत्॥

सामान्य का बोध—हेलाराज ने इस बात को स्पष्ट किया है कि शब्द के द्वारा जो अर्थ का बोध कराया जाता है, वह अर्थ के सामान्य रूप को लेकर, विशेषरूप को लेकर नहीं। अतएव हेलाराज कहते हैं कि समस्त घट शब्दों में साधारण सामान्यरूप जो कि अर्थ (वस्तु) रूप है और जिसकी अर्थ के साथ समानाधिकरणता है, वह सामान्यरूप (जातिरूप) स्वरूप शब्द का वाच्य है। जिस प्रकार शब्द और अर्थ समानाधिकरण (एकत्र) है, उसी प्रकार शब्द का स्वरूप भी शब्द के साथ समानाधिकरणभाव से रहता है, संकेत सामान्य रूप को लेकर ही होता है। हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० ६८।

श्रोता वक्ता के भाव का अनुमान करता है—हेलाराज ने बताया है कि श्रोता जब शब्द सुनता है तो वह अपने अभिप्राय के अनुसार वक्ता के ज्ञान का अनुमान करता है। शब्द सुनने पर शब्द के स्वरूप से अध्यस्त (तादात्म्यभाव को प्राप्त) अर्थ को जान कर श्रोता यह अनुमान करता है कि वक्ता ने यह कहा है। इस प्रकार शब्द, अर्थ, और प्रयोक्ता का ज्ञान यह तीनों साथ-साथ रहते हैं। इनमें अभिन्नता की ही प्रतीति होती है। वक्ता के हृद्गत भावों को भी शब्द तादात्म्यसम्बन्ध के द्वारा ही प्रतिपादित करता है। शब्द, अर्थ और ज्ञान ये तीनों अत्यन्त सम्मिश्रित रूप से ज्ञात होते हैं। अतएव भर्तृहरि का यह कथन है कि ऐसा कोई ज्ञान नहीं है जो कि शब्दज्ञान के बिना हो। पतञ्जलि ने जो "गौरित्यत्र कः शब्दः"

(गाय इस ज्ञान में शब्द क्या है) प्रश्न किया है, वह भी इसी सम्मिश्रित ज्ञान के कारण है ।

स्वाभिप्रायानुसारेण श्रोत्रा वक्तृज्ञानस्यानुमानात् स्वयं शब्दस्वरूपाध्यस्तमर्थमवबुद्ध्य तथैव वक्तर्यनुमानमुचितमित्यभेदेनैव घटशब्दाध्यस्तप्रयोक्तृबुद्ध्य ज्ञान मवसीयते । लोलीभूतानि शब्दार्थज्ञानानि घट इत्येवमवगम्यन्ते । यथोक्तम्, न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमाद् ऋते ।

हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० ६८ ।

शब्दार्थ-सम्बन्ध और बुद्धिवाद

भर्तृहरि, हेलाराज, कैयट और नागेश आदि ने शब्दार्थ सम्बन्ध के विचार में अर्थ बुद्धिगत है या बाह्य भी, इस विषय पर बहुत विस्तृत विवेचन किया है। उनके मत के निरूपण से पूर्व इस विषय पर पतञ्जलि का विवेचन पहले दे देने से वैयाकरणों के सिद्धान्त का ज्ञान हो जाएगा।

पतञ्जलि का मत

अर्थ बाह्य और बौद्ध दोनों है—पतञ्जलि का मत है कि अर्थ बाह्य भी है और बुद्धिगत भी। जो वस्तुएँ दृश्य हैं, उनका प्रत्यक्षरूप से बोध कराया जाता है, परन्तु जो वस्तुएँ प्रत्यक्ष नहीं हैं उनकी सत्ता बौद्ध है। दोनों में से एक ही की सत्ता मानना अभीष्ट नहीं है। इसका स्पष्टीकरण पतञ्जलि ने कई स्थलों पर किया है।

'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' (महा० १, ३, २) के भाष्य में उपदेश और उद्देश शब्दों के अन्तर को बताते हुए पतञ्जलि ने बाह्य और बौद्ध दोनों अर्थों के मानने का वर्णन किया है। पतञ्जलि का कथन हैं कि प्रत्यक्ष वस्तु का वर्णन करना यह उपदेश है। जैसे जो गाय को नहीं जानता है उसे गाय का ज्ञान कराने के लिए एक गाय लाकर उसकी सींग या कान को पकड़ कर दिखा कर बता देना कि "यह गाय है'। गुणों के वर्णन के द्वारा जो वस्तु सामने नहीं है, उसका बोध कराना, यह उद्देश है। जैसे किसी ने कहा कि मुझे देवदत्त का ज्ञान करा दीजिए। देवदत्त पटना रहता है और वह व्यक्ति यहाँ पूछ रहा है ऐसी स्थिति में उसे देवदत्त के गुणों का वर्णन करके उसका ज्ञान कराया जाता है कि वह अंगद, कुण्डल, किरीट धारण करता है, उसकी आँखें लाल हैं, ऊँची नाक है, आदि, ऐसा देवदत्त है।

प्रत्यक्षं तावदाख्यानमुपदेशः। अयं गौरिति। गुणैः प्रापणमुद्देशः। ...... ईदृशो देवदत्त इति। महा० १, ३, २

यहाँ प्रथम स्थल पर अर्थ बाह्य है और द्वितीय स्थल पर बौद्ध। अतएव

भर्तृहरि और कैयट कहते हैं कि "ऐसा देवदत्त है" यह कहने पर इन शब्दों से जैसा अर्थ बुद्धि में भासित होता है वैसा ही बाह्य है। वाक्य० का० ३ पृष्ठ ७१६।

एतैः शब्दैः यादृशो बुद्धावर्थः प्रतिभासते तादृशो बाह्यः। कैयट।

नागेश ने (मंजूषा पृष्ठ२४२ से २४३) में इस उदाहरण द्वारा बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता पर बल दिया है कि ईदृश (ऐसा) तादृश (वैसा) इन शब्दों से वस्तुतः बौद्ध अर्थ की ओर ध्यान दिलाया जाता है।

बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता—'हेतुमति च' (३, १, २६) की व्याख्या में पतञ्जलि ने बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता को स्पष्ट किया है। ऐतिहासिक वर्तमान कैसे सिद्ध हो सकता है। जैसे "(कृष्ण) कंस को मारता है" "(वामन) बलि को बांधता है।" कंस का वध और बलि का बंधन चिरकाल हुए हो चुका है अतः उसके साथ वर्तमान काल की क्रिया का प्रयोग नहीं होना चाहिए। पतञ्जलि इसका उत्तर देते हैं कि अभिनेता उनका रूप धारण करके उनकी उपस्थिति करते हैं। चित्रकार चित्र द्वारा और लेखक अपने वर्णन द्वारा जन्म से नाश तक उनके ऐश्वर्यों का वर्णन करते हुए बुद्धि में विद्यमान कंस आदि को उपस्थित करते हैं।

इह तु कथं वर्तमानकालता-कंसं घातयति, बलिबन्धयतीति च, चिरहते च कंसे चिरबद्धे च बलौ ? तेऽपि हि तेषामुत्पत्तिप्रभृत्याविनाशाद् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः सतो बुद्धिविषयान् प्रकाशयन्ति। महा० ३, १, २६।

यदि अर्थ की बुद्धि में सत्ता नहीं मानी जायगी तो अतीत का वर्तमान समय में वर्णन नहीं हो सकता है। अतएव नागेश ने उद्योत में बहुत बल से बौद्ध सत्ता का प्रतिपादन किया है। पतञ्जलि ने वस्तु की बुद्धि में सत्ता के कारण ही यह भी लिखा है कि व्यवहार में त्रिकालता भी देखी जाती है। जैसे जाओ, कंस मारा जा रहा है। जाओ, कंस मारा जायगा। जाकर क्या करोगे, कंस मारा जा चुका है।

त्रैकाल्यं खल्वपि लोके लक्ष्यते। महा० ३, १, २६।

अभिनय आदि के द्रष्टा अभिनय को देखकर बुद्धि में उन वस्तुओं की उपस्थिति करते हैं। भर्तृहरि और हेलाराज ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि शब्दों के द्वारा वस्तु की उपस्थिति बुद्धि में की जाती है और बुद्धिगत अर्थ के आधार पर कंस का बध आदि प्रत्यक्ष रूप में माना जाता है।

शब्दोपहितरूपांश्च बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षमिव कंसादीन्साधनत्वेन मन्यते॥

वाक्य० ३, पृष्ठ १७७।

अर्थ की त्रैकालिक सत्ता—पतञ्जलि ने 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' (महा० ५, २, ९४) के भाष्य में इस महत्त्वपूर्ण सिद्धांत का प्रतिपादन किया है कि वस्तु की सत्ता त्रैकालिक है। पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया है इस सूत्र में अस्ति (वर्तमान काल)

का निर्देश करने की क्या आवश्यकता है। उत्तर दिया है कि वर्तमान काल में ही मतुप् प्रत्यय होना चाहिये। जैसे गोमान्, धनवान् आदि, जिसके पास गाय या धन वर्तमान काल में है। इस पर पतञ्जलि ने कहा है कि कोई भी पदार्थ अपनी सत्ता को नहीं छोड़ता है, अर्थात् तीनों कालों में पदार्थ सत् (विद्यमान रूप में रहता है)। वह सत्ता भूत, भविष्यत् और वर्तमान तीनों हो सकती है। यदि सत्ता त्रैकालिक है तो मतुप् प्रत्यय सम्प्रतिसत्ता (इस समय की सत्ता) में होना चाहिए, भूत या भविष्यत् की सत्ता में नहीं।

अस्तिग्रहणं किमर्थम्? सत्तायामर्थे प्रत्ययो यथास्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्, न सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। इदं तर्हि प्रयोजनम्, सम्प्रति सत्तायां यथा स्याद् भूतभविष्यत्सत्तायां मा भूत्। महा० ५, २, ६४।

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध के विषय में जो नैयायिकों आदि ने आक्षेप उठाये हैं उनमें एक प्रश्न यह भी मुख्य है कि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध इसलिए नहीं माना जा सकता क्योंकि विद्यमान और अविद्यमान का सम्बन्ध नहीं हो सकता। जो वस्तुएं वर्तमान समय में नहीं हैं, किन्तु भूतकाल में थीं या भविष्य में रहेंगी, उनके साथ इस वर्तमान समय में उच्चारित शब्द का सम्बन्ध कैसे हो सकता है।

असति नास्तीति च प्रयोगात्। वैशेषिक० ७, २, १७।

पतञ्जलि ने स्पष्ट किया है कि शब्द त्रैकालिक सत्ता का बोध कराता है। अतएव शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध त्रैकालिक रहता है। कैयट और नागेश का कथन है कि शब्द सत्तासामान्य का बोध कराता है। सत्ताविशेष के ज्ञान के लिए 'अस्ति' आदि का प्रयोग किया जाता है। "अस्ति" (है) का अभिप्राय होता है कि वर्तमान समय में सत्ता है। "आसीत्" (था) का अभिप्राय होता है कि भूतकाल में सत्ता था और "भविष्यति" (होगा) भविष्यत् काल की सत्ता का बोध कराता है प्रदीप०...उद्योत...महा० ५, २, ६४।

कैयट और नागेश ने इस प्रकरण में यह भी स्पष्ट किया है कि वर्तमान सत्ता बाह्य सत्ता है, यही मुख्य सत्ता है। जब इस मुख्य सत्ता का अभाव बताना होता है तो "नास्ति" (नहीं है) का प्रयोग किया जाता है।

संप्रतिसत्तायां वर्तमानायां सत्तायाम्। बाह्यायां सत्तायामित्यर्थः। प्रदीप। बाह्यायां मुख्यायामित्यर्थः। उद्योत। महा० ५, २, ६४।

कैयट का स्पष्टीकरण—कैयट ने पतञ्जलि का भाव स्पष्ट करते हुए कतिपय बातों पर प्रकाश डाला है। पदार्थ सत्ता को कभी नहीं छोड़ता है। बुद्धि में पदार्थ की सत्ता के बिना अर्थबोधन के लिये पद का उच्चारण असम्भव है क्योंकि सारे शब्दों की प्रवृत्ति में सत्ता ही कारण है, प्रदीप। महा० ५, २, ६४।

पश्चिमीय विद्वान् ब्राडले ने (लाजिक पृ० ११५) इसी भाव को व्यक्त किया है कि प्रत्येक वाक्य विधिरूप या निषेधात्मक, अन्ततोगत्वा सत्तारूप होता है। जैसे इस निर्णय में कि "पत्थर न अनुभव करता है और न देखता है" में पत्थर का निषेधात्मक विधेयांश इस बात पर निर्भर है कि पत्थर पत्थररूप सत्ता है। केवल इस बात के आधार पर नहीं कि पत्थर कुछ नहीं है।

अर्थ बौद्ध है—दूसरी इस बात पर ध्यान दिलाया है कि पदार्थ जब तक बुद्धि के द्वारा ग्रहण नहीं किया जाएगा, तब तक पद का प्रयोग नहीं किया जा सकता है। पद के प्रयोग के लिये आवश्यक है कि पदार्थ (वस्तु) का ज्ञान बुद्धि के द्वारा हो। "वृक्षोऽस्ति" (वृक्ष है), "वृक्षो नास्ति" (वृक्ष नही है), ' वृक्षो जायते" (वृक्ष उत्पन्न हो रहा है) इन वाक्यों में बुद्धिगत वस्तुओं का ही सत्ता अभाव और उत्पत्ति से सम्बन्ध होता है। जो वस्तुएँ अत्यन्त अविद्यमान हैं, जैसे शश-विषाण आदि, उनमें सत्ता का अभाव देखा जाता है। इसका उत्तर कैयट ने दिया है कि ऐसी वस्तुएँ जिनका बाह्य जगत् में सर्वथा अभाव है, उनको भी बुद्धि का विषय बनाकर शशविषाण (खरगोश के सींग) आदि प्रयोग होते हैं। अतएव बाह्य सत्ता के अतिरिक्त बुद्धिगत सत्ता, जो कि गौण सत्ता है, नियमित रूप से समस्त शब्दों के प्रयोग का आधार है। प्रदीप, पूर्ववत्।

बाह्य अर्थ मानने पर आक्षेप—कैयट ने भर्तृहरि के निर्वचन के आधार पर बौद्ध सत्ता की आवश्यकता को स्पष्ट किया है और केवल बाह्य अर्थ मानने में कठिनाइयों का वर्णन किया है। कैयट कहते हैं कि वही बुद्धिगत वस्तु की सत्ता वक्ता और श्रोता को बाह्यरूप में प्रतीत होती है। यदि वृक्षों आदि के द्वारा बाह्यसत्ता युक्त वस्तु का ही बोध कराया जाता तो वृक्ष कहने से सत्ता का स्वयं बोध हो जाने के कारण "है" का प्रयोग नहीं होना चाहिये। "वृक्ष है" में वृक्ष इतने से ही सत्ता का ज्ञान होने के कारण "है" क्रिया का प्रयोग नहीं होना चाहिये। 'वृक्ष नहीं है" यह प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि बाह्यसत्ता का नहीं के साथ विरोध है। "अंकुर उत्पन्न होता है" यह प्रयोग भी नहीं हो सकता, क्योंकि सत्ता का और जन्म का विरोध है। यदि बौद्ध सत्ता मान ली जाती है तो यह दोष नहीं आते हैं। वस्तु की बुद्धि में सत्ता मानने पर बाह्य सत्ता के प्रतिपादन के लिए "है" अभाव के लिए "नहीं" और उत्पत्ति के लिए "उत्पन्न होता है" ये प्रयोग हो जायंगे। कैयट, पूर्ववत्।

नागेश ने इन्हीं युक्तियों का बौद्ध अर्थ के प्रतिपादन और बाह्य अर्थ के खंडन में उल्लेख किया है। मंजूषा पृ० २३९–२४०।

भर्तृहरि और बौद्ध अर्थ—भर्तृहरि ने पतञ्जलि के इस कथन के आधार पर कि त्रैकालिक सत्ता होती है, भूत और भविष्यत् सत्ता भी होती है, अर्थ के बुद्धिगत होने के सिद्धान्त का बहुत विस्तार से निरूपण किया है। कैयट, नागेश

आदि ने इस विषय में भर्तृहरि का ही अनुसरण किया है। भर्तृहरि कहते हैं। कि शब्द के द्वारा बोध कराने में बाह्य सत्ता के अतिरिक्त वस्तुओं की एक गौण सत्ता है अर्थात् पदार्थ बुद्धि में गौण रूप से रहते हैं। वही सत्ता प्रत्येक अवस्था में प्रत्येक वस्तु के स्वरूप को दिखाने वाली है। हेलाराज ने यहाँ पर यह भी निर्देश किया है कि पतञ्जलि ने भूत और भविष्यत् सत्ता को मान कर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता का निर्वाह किया है।

व्यपदेशे पदार्थानामन्या सत्तौपचारिकी।
सर्वावस्थासु सर्वेषामात्मरूपस्य दर्शिका॥
वाक्य० ३, पृष्ठ ११५।

भर्तृहरि ने अतएव स्पष्ट लिखा है कि यदि त्रैकालिक सत्ता को नहीं माना जायगा तो शब्दों का व्यवहार ही नहीं चल सकता। भर्तृहरि कहते हैं कि यह सत्ता विभिन्न कालों में भी रहती है। वस्तु के साथ इसका कालभेद नहीं होता। इसी के कारण शब्दों का व्यवहार चलता है। इस त्रैकालिक बौद्ध सत्ता को कोई भी पदार्थ नहीं छोड़ता। अतएव पतञ्जलि ने वर्तमान सत्ता के अतिरिक्त भूत और भविष्यत् का प्रतिपादन किया है। वाक्य० ३, पृष्ठ १२१।

भर्तृहरि का समन्वयवाद—भर्तृहरि के विवेचन में एक मुख्य बात जो दृष्टिगोचर होती है, वह है उनका समन्वयवाद। भर्तृहरि के सम्मुख दो सर्वथा विपरीत वाद थे। एक अभाववादी और दूसरे भाववादी। एक केवल यही मानते थे कि बाह्यसत्ता सर्वथा नहीं है, जो कुछ है वह काल्पनिक है या ज्ञानरूप है। दूसरे यह मानते थे कि बाह्यसत्ता के अतिरिक्त कोई वस्तु नहीं है, जो कुछ है वह दृश्य पदार्थ ही है। इसका उल्लेख भर्तृहरि ने निम्नरूप में किया है:—

तस्मात् सर्वमभावो वा भावो वा सर्वमिष्यते।
न त्ववस्थान्तरं किंचिदेकस्मात् सत्यतः स्थितम्॥
तस्मान्नाभावमिच्छन्ति ये लोके भाववादिनः।
अभाववादिनो वापि न भावं तत्त्वलक्षणम्॥
वाक्य० ३, पृ० १२८—१२९

भर्तृहरि का कथन है कि यदि केवल अभाव ही माना जायगा तो उसका भाव (बाह्य) की सत्ता नहीं हो सकती और यदि भाव को ही मानते हैं तो वह अभाव (काल्पनिक) नहीं हो सकता। अतएव वह भाव और अभाव दोनों को एक आत्मा के ही दो विभिन्न स्वरूप बतलाते हैं।

ना भावो जायते भावो नेति भावोऽनुपाख्यताम्।
एकस्मादात्मनोऽनन्यौ भावाभावौ विकल्पितौ॥
वाक्य० ३, पृ० १२७।

गीता में श्री कृष्ण का भी यही कथन है कि:—

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः। गीता २, १६।

भर्तृहरि ने, जैसा कि पतञ्जलि ने बाह्य और काल्पनिक दोनों प्रकार के पदार्थों की सत्ता मानी है, उसी प्रकार दोनों पक्षों का निरूपण किया है।

हेलाराज ने इस समन्वयवाद पर ध्यान आकृष्ट करते हुए कहा है कि व्याकरण-शास्त्र सभी दार्शनिक शाखाओं से सम्बन्ध रखता है, अतएव जो शब्द का अर्थ बाह्य वस्तु नहीं मानते हैं, उनके मत के संग्रह के लिए भर्तृहरि ने शब्द के द्वारा होने वाले बोध में वक्ता के अभिप्राय में विद्यमान वस्तु को ही शब्दार्थ यहाँ लिखा है।

सर्वपार्षदं पुनरिदं शास्त्रमिति ये बाह्यस्यार्थस्य शब्दवाच्यत्वं नेच्छन्ति तन्मतोपस्कारार्थं वक्त्रभिप्रायारूढस्यैव शब्दार्थत्वम्॥

हेलाराज, वाक्य० ३ पृ० ६६।

पतञ्जलि ने वैयाकरणों का कर्तव्य बताते हुए इसकी ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि व्याकरण का सम्बन्ध सभी वेदों और सभी वैदिक शाखाओं से है, अतएव किसी एक मार्ग को नहीं अपनाया जा सकता है।

सर्ववेदपारिषदं हीदं शास्त्रम्। तत्र नैकः पन्थाः शक्य आस्थातुम्।

महा० २, १, ५८।

भर्तृहरि ने अतएव शाब्दबोध में तीन तत्त्वों के ज्ञान का उल्लेख करते हुए बाह्य अर्थ (वस्तु) के ज्ञान का स्पष्ट उल्लेख किया है।

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते।

वाक्य० ३ पृ० ६६।

केवल बाह्य अर्थ की सत्ता मानने का भर्तृहरि ने उग्ररूप से खंडन किया है और सम्बन्ध समुद्देश, साधन समुद्देश तथा वृत्तिनिरूपण में पुनः पुनः केवल बाह्य अर्थ मानने पर अनेकों आपत्तियों का उल्लेख किया है और बौद्ध अर्थ मानने की आवश्यकता बताई है। भर्तृहरि का विशेष झुकाव विवर्तवाद की ओर है, अतएव बौद्ध अर्थ की वाच्यता पर विशेष बल सर्वत्र दिखाई देता है। परन्तु परिणामवाद को मानते हुए बाह्य अर्थ की भी सत्ता को मानते हैं। अतएव भर्तृ-हरि का निम्नश्लोक वैयाकरणों के लिए समस्या है। इसमें एक ही स्थान पर भर्तृहरि अर्थ को शब्द का परिणाम और विवर्त दोनों कहते हैं।

शब्दस्य परिणामोऽयमित्याम्नायविदो विदुः।
छन्दोभ्य एव प्रथममेतद् विश्वं व्यवर्तत॥

वाक्य० १, १२०।

इसका समाधान केवल यही ज्ञात होता है कि भर्तृहरि का लक्ष्य विवर्त और परिणाम दोनों वादों का समन्वय करना है।

बाह्य अर्थ मानने में आपत्तियाँ—भर्तृहरि और नागेश ने केवल बाह्य अर्थ मानने में जो आक्षेप किए हैं उनमें से मुख्य आक्षेप निम्न हैं:—

१—यदि बाह्य अर्थ की ही सत्ता मानी जायगी तो नहीं का प्रयोग नहीं किया जा सकता। अतएव भर्तृहरि की टीका में हेलाराज ने मनोरञ्जन करते हुए लिखा है कि बाह्य अर्थ मानने पर संसार से "नहीं" शब्द का नाम मिट जायगा, क्योंकि जो वस्तु है उसको "नहीं" नहीं कह सकते और जो नहीं है वह तो है ही नहीं, फिर "नहीं" शब्द का प्रयोग किसके लिए होगा। मंजूषा, पृष्ठ २३६ से २४०।

न सतां च निषेधोऽस्ति सोऽसत्सु च न विद्यते।
जगत्यनेन न्यायेन नञर्थः प्रलयं गतः॥
वाक्य० ३ पृ० ११७।

बौद्ध अर्थ मानने पर बाह्यसत्ता का अभाव बताने के लिए 'नहीं' शब्द का प्रयोग सिद्ध होता है। वाक्य० ३ पृष्ठ ११७।

२—बाह्य अर्थ मानने पर "अंकुरो जायते" (अंकुर उत्पन्न होता है) आदि स्थलों में उत्पन्न होता है का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि जन्म का अर्थ है आत्मलाभ। जो वस्तु सत् है वह उत्पन्न क्या होगी। यदि उत्पत्ति मानी भी जाय तो किससे? यदि असत् है तो असत् सत् कैसे हो सकता है। बौद्ध अर्थ मानने पर जो वस्तु बुद्धि में है, उसी का बाह्य जगत् में जन्म बताया जाता है।

आत्मलाभस्य जन्माख्या सत्ता लभ्या च लभ्यते।
यदि सज्जायते कस्मादथाऽसज्जायते कथम्॥
वाक्य० ३ पृ० ११८।

३—"अस्ति" (है), का प्रयोग नहीं हो सकता। है का अर्थ है जो वस्तु अपने स्वरूप में नहीं थी, उसका अपने स्वरूप को प्राप्त करना। जैसा कि यास्क ने कहा है कि अस्ति का अर्थ है उत्पन्न हुई वस्तु की सत्ता का निश्चयीकरण। जो वस्तु सत् है, वह उत्पन्न नहीं हो सकती। अतः "घड़ा" कहने से ही अस्तित्त्व का ज्ञान हो जाएगा। "है" का प्रयोग निरर्थक हो जाएगा। निरुक्त १, २।

आत्मानमात्मना बिभ्रदस्तीति व्यपदिश्यते।
अन्तर्भावाच्च तेनासौ कर्मणा न सकर्मकः॥
वाक्य० ३ पृ० १२०।

४—यास्क ने जिन ६ क्रिया के विकारों का उल्लेख किया है, उनमें से तीन उपर्युक्त हैं। शेष तीन अर्थात् विपरिणमते (परिणत होना), वर्धते (बढ़ना) अपक्षीयते (क्षय होना)। क्रिया के इन विकारों में प्रथम दो का "जन्म होना" क्रिया में और तृतीय का "नहीं है" में समावेश होने से इन तीनों का भी प्रयोग नहीं हो सकता। उपर्युक्त युक्तियां इनके साथ ही लागू होती हैं इस प्रकार से बाह्यार्थ मानने पर किसी भी क्रिया का प्रयोग नहीं हो सकता, क्योंकि प्रत्येक क्रिया में

सम्बन्ध मानने पर जो यह आक्षेप किया जाता था कि अग्नि शब्द के उच्चारण से मुँह में आग लग जानी चाहिये, उसका समाधान किया है। वस्तु को बौद्ध (असत्य) मानने पर आग कहने से मुँह जलने का डर नहीं रहेगा।

न च बौद्धे दाहादिशक्तिमत्त्वम्। मंजूषा पृष्ठ ४५।

नागेश ने इस प्रकार से बाह्य अर्थ मानने पर कठिनाई का अनुभव कर बाह्य अर्थ का सर्वथा खण्डन किया है और बौद्ध अर्थ की ही सत्ता स्वीकार की है। नागेश ने इस सम्बन्ध में बाह्य सत्ता का खंडन करके अर्थमात्र को काल्पनिक माना है। वस्तुमात्र को असत्य बताकर संसार को भ्रम और माया मान लिया है। इसके लिए अद्वैतवाद के प्रतिपादक ग्रन्थों के, जिनमें आदिशेष का परमार्थसार, ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य, श्री हर्ष के खण्डनखण्डखाद्य तथा वाचस्पति मिश्र के भाष्य मुख्यरूप से हैं, अद्वैतवाद के प्रतिपादन में स्थान-स्थान पर उद्धरण दिये हैं और बाह्य जगत् को कल्पना और असत्य माना है। परमार्थसार का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यह समस्त संसार भ्रमरूप है। जैसे मृगतृष्णा में जल, शुक्ति में रजत, रस्सी में साँप और तिमिर रोग से पीड़ित को दो चन्द्रमा ज्ञान असत्य है।

मृगतृष्णायामुदकं, शुक्तौ रजतं, भुजंगमो रज्ज्वाम्।
तैमरिकचन्द्रयुगवद् भ्रान्तमखिलं जगद्रूपम्॥
मंजूषा, पृ० २५६।

कूर्मपुराण का उद्धरण देते हुए कहते हैं कि पृथिवी आदि सब कुछ वस्तुएं चित्त में ही हैं, बाहर नहीं है। क्योंकि स्वप्न, भ्रम आदि की अवस्था में इनका सब अनुभव करते हैं।

विप्र पृथ्व्यादि चितस्थं न बहिः स्थं कदाचन्।
स्वप्नभ्रममदाद्येषु सर्वैरेवानुभूयते॥
मंजूषा, पृ० २७८।

परमार्थसार का एक अन्य उद्धरण देते हुए कहते हैं कि यह संसार असत्य है। परमात्मा ने इसको मूलप्रकृति से सत्य सा बना दिया है।

सत्यमिव जगदसत्यं मूलप्रकृतेरिदं कृतं येन्। मंजूषा, पृ० २८०।

अद्वैतवेदान्त के "ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या" का ही निरूपण शब्दार्थ के निरूपण में नागेश ने कर डाला है।

नागेश के मत की आलोचना—नागेश ने केवल बुद्धिवाद का समर्थन अपना लक्ष्य बनाकर एक सबसे बड़ी त्रुटि व्याकरण को एकांगी बनाने की की है। पतञ्जलि ने व्याकरण को वेद और दर्शनों की सब शाखाओं से सम्बद्ध बताया है और उसी का निर्वाह भर्तृहरि ने भी किया है। परन्तु नागेश ने उस मर्यादा का उल्लंघन किया है। उन्होंने यह भी स्पष्ट अनुभव किया कि उनका यह प्रतिपादन स्वयं अपने सिद्धान्त का घातक सिद्ध होता है। जब अर्थ (वस्तु) को असत्य

और सर्वथा काल्पनिक मान लिया तो शब्द और अर्थ का सम्बन्ध ही नित्य कैसे रह सकता है। शब्द और अर्थ की असत्यता का उल्लेख करते हुए लिखते हैं कि पद और पदार्थ आदि असत्य ही हैं। यहाँ तक कि शास्त्र भी असत्य का ही वर्णन करता है।

पदपदार्थाद्यसत्यमेव। शास्त्रमप्यसत्यव्युत्पादकमेव। मंजूषा, पृ० ४१०—४११।

शब्दार्थ सम्बन्ध को न मानने वाले बौद्धों के मत के खण्डन के विपरीत उन्हें यह स्पष्ट उल्लेख करना पड़ा है कि उनका मत बौद्धों के मत से कुछ भिन्न है। वे संसार को असत्य मानते हुए भी व्यवहार काल में उसकी प्रतीति मानते हैं। अतएव सत्य के तुल्य बताते हैं। "सत्यमिव जगदसत्यम्"।

सत्यमिवेति इवेन तस्यारोपितत्वात्। व्यवहारकाले तत्प्रतीतेः सत्यमिवेत्युक्तम्। मंजूषा पृष्ठ २८० से २८३।

अपने को बौद्धमतावलम्बी सिद्ध होने से यह कहकर बचाया है कि बौद्ध आरोपित सत्ता अर्थात् व्यावहारिक सत्यता को भी नहीं मानते हैं और आत्मा को अनित्य मानते हैं। नागेश यद्यपि असत् की प्रतीति बुद्धि में मानते हैं, तथापि व्यावहारिक सत्यता और आत्मा को नित्य मानने से बौद्ध नहीं होते। मंजूषा पृष्ठ २८२।

पतञ्जलि ने जैसा कि पहले उद्धृत किया जा चुका है कि "उपदेशेऽजनुनासिक इत्" (अष्टा० १, ३, २) में उपदेश और उद्देश की व्याख्या में बाह्य और बौद्ध दोनों सत्ताओं को स्वीकार किया है, परन्तु नागेश ने (मंजूषा, पृ० २४२) पर केवल बौद्ध अर्थ को लेकर पतञ्जलि को प्रस्तुत किया है और उनके समस्त बाह्य अंश का अपलाप किया है।

इससे भी अधिक भर्तृहरि के उद्धरण में दृष्टिगोचर होता है। भर्तृहरि ने शाब्दबोध में तीन तत्त्वों का उल्लेख करते हुए बाह्य अर्थ का स्पष्ट उल्लेख किया है। भर्तृहरि के श्लोक का रूप निम्न है:—

ज्ञानं प्रयोक्तुर्बाह्योऽर्थः स्वरूपं च प्रतीयते। वाक्य० ३ पृ० ६६।

नागेश ने इसमें से बाह्य शब्द को सर्वथा हटाकर बाह्य अर्थ भर्तृहरि को अभीष्ट है, इसका अपलाप किया है। नागेश ने श्लोक को निम्नरूप दे दिया है।

ज्ञानं प्रयोक्तुरर्थस्य स्वरूपं च प्रतीयते। मंजूषा, पृ० ३६।

तीन तत्त्वों में से बाह्य अर्थ को निकालकर दो तत्त्व कर दिए हैं। १—प्रयोक्ता का अभिप्राय और २—अर्थ का स्वरूप। ये दोनों उच्चरित शब्दों से ज्ञात होते हैं।

भर्तृहरि और बाह्यअर्थ—भर्तृहरि ने केवल बौद्ध अर्थात् काल्पनिक अर्थ मानने पर भी उन्हीं आक्षेपों को दिया है, जो कि बौद्ध अर्थ का अपलाप करने पर दिया गया है। तृतीय कांड के सम्बन्ध समुद्देश में अभाववादियों के मत के

खण्डन में (श्लोक० ६६ से ७५) तथा वृत्तिसमुद्देश में नञर्थ पर विचार करते समय भर्तृहरि ने विस्तार से केवल बौद्ध अर्थ का खण्डन किया है। बाह्य वस्तु की सत्ता के बिना न सम्बन्ध की ठीक सिद्धि होती है और न नञ् समास वाले पदों की संगति होती है।

जिस प्रकार बाह्य अर्थ मानने पर "है" "नहीं है" "उत्पन्न होता है" आदि क्रिया-कलाप की संगति नहीं होती है, उसी प्रकार केवल काल्पनिक वस्तु मानने पर भी इन शब्दों का प्रयोग नहीं हो सकता। जो युक्तियाँ यहाँ दी गई हैं, वही युक्तियाँ वहाँ भी लागू होती हैं। साँख्य, मीमांसा न्याय, वैशेषिक, जैन आदि दर्शन बाह्य वस्तु की सत्ता मानते हैं। संसार को सत्य मानते हैं। बाह्य अर्थ की सत्ता का कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के प्रत्यक्षसूत्र, निरालम्बनवाद, शून्यवाद और अभाव परिच्छेद में, जयन्त ने न्यायमंजरी के द्वितीय आह्निक में तथा प्रभाचन्द्र ने प्रमेय-कमलमार्तण्ड के प्रथम और द्वितीय परिच्छेद में बहुत विवेचन के साथ प्रतिपादन किया है।

दृश्य और अदृश्य अर्थ—भर्तृहरि ने दोनों वादों के समन्वय के लिए अर्थ की बाह्य और बौद्ध सत्ता दोनों की आवश्यकता का प्रतिपादन किया है। भर्तृहरि तथा उनके व्याख्याकार पुण्यराज ने लिखा है कि कुछ ऐसे अर्थ हैं जो आकार वाले हैं। शब्दों से अर्थ का जो ज्ञान होता है, उसमें इनके आकार की भी स्पष्ट प्रतीति होती है। कुछ अर्थ जैसे धर्म, अधर्म, स्वर्ग आदि ऐसे हैं जिनके आकारविशेष का ज्ञान नहीं होता है, अतएव ऐसे अर्थ केवल ज्ञानमात्र अर्थात् बौद्ध (काल्पनिक) हैं। अर्थों का जैसा स्वभाव है, वैसी ही उनकी व्यवस्था की जाती है।

आकारवन्तः संवेद्या व्यक्तस्मृतिनिबन्धनाः।
ये ते प्रत्यवभासन्ते संविन्मात्रं त्वतोऽन्यथा॥
वाक्य० २, १३५।

बौद्ध अर्थ के लिए भी बाह्य अर्थ की आवश्यकता—यह प्रश्न उठाया गया है यदि शब्द का अर्थ केवल बौद्ध (काल्पनिक) माना जायगा तो "ओदनं भुङ्क्ते" (भात खाता है) इत्यादि बाह्य व्यवहार कैसे हो सकता है। भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द से जो अर्थ का बोध कराया जाता है वह ज्ञान रूप है, अतएव बौद्ध है, परन्तु उस ज्ञान से जिस अर्थ (वस्तु) का निर्देश किया जाता है, वह बाह्य भी हो सकता है और बौद्ध भी। अतः भोजन आदि पदार्थ जो कि बाह्य हैं वहाँ पर बाह्य अर्थ का ग्रहण होगा। बौद्ध अर्थ मानने में जो असंभव समझा जाता है, वह भी सम्भव है।

भोजनाद्यभिमन्यन्ते बुद्ध्यर्थे यदसंभवि।
बुद्ध्यर्थादेव बुद्ध्यर्थे जाते तदपि दृश्यते॥
वाक्य० ३ पृष्ठ ११३।

हेलाराज ने इसको स्पष्ट करते हुए दो सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। एक अभ्युपगमवाद और दूसरा बाह्यवाद। दोनों वादों को मानने पर भात खाता है, इत्यादि व्यवहार हो सकते हैं। अभ्युपगमवाद अर्थात् विचारों में वस्तु की स्थिति को मानते हुए ऐसे प्रयोगों का प्रकार यह है कि बुद्धि में जो भात आदि शब्दों का विचार रहता है, उसी को जब दूसरे को बताया जाता है तो वहाँ पर विचारों में विद्यमान अर्थ का दूसरे को बोध कराया जाता है। वाक्यवादी प्रत्येक शब्द से अर्थ का ज्ञान नहीं मानते हैं अपितु वाक्य से ही अर्थ का ज्ञान मानते हैं। अतः वाक्य में शब्दों का अर्थ बौद्ध रूप से रहता है, उसी का आदानप्रदान होता है। इस पद्धति का नाम है अभ्युपगमवाद।

अर्थग्रह की मनोवैज्ञानिक पद्धति—बाह्यवाद के अनुसार पद्धति यह है कि बाह्य वस्तु होने पर दर्शन अर्थात् वस्तु को आँखों से देखते हैं। इस देखने से वस्तु का बुद्धि में अभास होता है अर्थात् वस्तु के विषय में ज्ञान होता है, इस बौद्ध प्रतीति के होने पर विचार को प्रकट करने की इच्छा होती है, तब प्रतिभा आदि से अर्थात् अपने ज्ञान के अनुरूप शब्दों का उच्चारण किया जाता है। इस प्रकार परंपरा (असाक्षात्‌रूप) से बाह्य वस्तु ही वाच्य होती है, उसी के विषय में प्रवृत्ति होती है जहाँ पर बाह्य अर्थ नहीं है, वहाँ केवल विज्ञानमात्र (बुद्धिगत) अर्थ का बुद्धि में आभास होने के कारण क्रिया और कर्त्ता का सम्बन्ध मिलाया जा सकता है। हेलाराज, वाक्य० ३ पृष्ठ ११३।

अभ्युपगमवादश्चायम्। वाह्यनयेऽपि हि शब्दार्थस्य बुद्धिपरिवर्तनः प्रतीतेः०। हेलाराज।

भर्तृहरि ने अतएव लिखा है कि जब शब्द के द्वारा अर्थ की प्रतीति बुद्धि में हो जाती है तब अर्थ (वस्तु) के विषय में प्रवृत्ति या निवृत्ति होती है। अतः दृश्य और बुद्धिगत ज्ञान में एकत्त्व के ज्ञान के कारण बाह्य शब्दार्थ मानना ही पड़ता है। यदि ऐसा ही न मानेंगे तो अब्राह्मण आदि शब्दों में नञ् समास नहीं के द्वारा किस वस्तु से पृथक्करण करेंगे। वाक्य० ३ पृ० ५८५।

निवृत्तेऽवयवस्तस्मिन् पदार्थे वर्तते कथम्।
नानिमित्ता हि शब्दस्य प्रवृत्तिरुपपद्यते ॥

वाक्य ३ पृ० ५८३।

पुण्यराज ने इससे भी स्पष्ट रूप में इस विषय को भर्तृहरि का भाव स्पष्ट करते हुए सैद्धान्तिक निर्णय दिया है कि शब्द के अर्थ का ज्ञान यदि बाह्य वस्तु के आधार पर हुआ है और वस्तुतः बाह्य अर्थ विद्यमान है तब तो शब्द का अर्थ बाह्यवस्तु होगा और यदि बाह्यवस्तु नहीं है अर्थात् ज्ञान केवल बौद्ध अर्थ के आधार पर है तब शब्दार्थ बौद्ध ही माना जायगा। पुण्यराज, वाक्य० २,४४९।

विभिन्न दर्शनों के सम्बन्ध विषयक विचार—भर्तृहरि और नागेश ने

शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में नैयायिक वैशेषिक और बौद्धों के मत का खण्डन किया है तथा मीमांसकों और तान्त्रिकों के मत का स्वपक्ष के समर्थन में उल्लेख किया है। अतएव यहाँ पर अत्यंत संक्षिप्तरूप में उनके सिद्धान्तों का उल्लेख करना उचित है।

नैयायिक और वैशेषिकों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध का खण्डन किया है, मीमांसक और तान्त्रिक शब्दार्थ संबंध को मानते हैं अतः यहाँ पर नैयायिकों और वैशेषिकों का मत प्रथम पूर्व पक्ष के रूप में रखकर मीमांसकों के मत का बाद में उल्लेख करने से विषय स्पष्ट हो सकेगा। प्रभाचन्द्र आचार्य ने प्रमेयकमल-मार्तण्ड में शब्दार्थ मानने पर आक्षेपों का अच्छा उल्लेख किया और आक्षेपों का उत्तर भी सुन्दर दिया है। अतः आक्षेपों का पूर्व पक्ष में और समाधान का उल्लेख मीमांसकों के मत के साथ किया जायगा। जैनियों का सिद्धान्त शब्दार्थ संबंध को मानते हुए भी उसे नित्य नहीं मानता है। बौद्धों का सिद्धान्त जो कि "अपोहवाद" के नाम से प्रसिद्ध है अपना पृथक् अस्तित्व रखता है। अतः उसपर पृथक् ही विचार किया जायगा।

नैयायिक और वैशेषिकों का शब्दार्थ-सम्बन्ध पर विचार

नैयायिक और वैशेषिकों में मतभेद—नैयायिक और वैशेषिक दोनों शब्द और अर्थ का केवल सामयिक अर्थात् सांकेतिक सम्बन्ध मानते हैं, नित्य और स्वाभाविक नहीं। इस विषय में मतों की एकता होने पर भी दोनों में एक विषय पर मतभेद है। वैशेषिक शाब्दबोध को पृथक् प्रमाण न मानकर अनुमान प्रमाण में ही शब्द प्रमाण का अन्तर्भाव मानते हैं और नैयायिक शब्द प्रमाण को पृथक् प्रमाण मानते हैं। कणाद ने अनुमान का निरूपण करके यह कह दिया है कि इससे ही शब्द प्रमाण की व्याख्या हो गयी।

एतेन शाब्दं व्याख्यातम्। वैशेषिक० ६, २, ३,।

गौतम शब्द को पृथक् प्रमाण मानकर प्रमाणों की संख्या चार मानते हैं अर्थात् प्रत्यक्ष, अनुमान, उपमान और शब्द। आप्त अर्थात् यथार्थ वक्ता के उपदेश को शब्दप्रमाण मानते हैं। यह शब्द दो प्रकार का होता है। एक वह जिसका विषय दृष्ट अर्थात् प्रत्यक्षसिद्ध पदार्थ है और दूसरा वह जिसका विषय अदृष्ट अर्थात् अप्रत्यक्ष पदार्थ है। इस प्रकार दो प्रकार के पदार्थों के कारण शब्द भी दो प्रकार का है।

प्रत्यक्षानुमानोपमानशब्दाः प्रमाणानि। न्याय० १, ३।

आप्तोपदेशः शब्दः। १, ७। स द्विविधो दृष्टादृष्टार्थत्वात्। १, ८।

गौतम ने शब्द प्रमाण के पृथक् सत्ता न मानने वालों की ओर से पूर्व पक्ष रक्खा है कि शब्दप्रमाण भी अनुमान है, क्योंकि अप्रत्यक्ष पदार्थों की शब्द से

प्राप्ति नहीं होती है, उनका अनुमान ही किया जाता है। जब पदार्थ की अन्य प्रमाण से उपलब्धि हो जाती है तो दो प्रमाणों की एक ही कार्य के लिए क्या आवश्यकता ? इसका उत्तर देते हैं कि आप्तों के उपदेश के सामर्थ्य से शब्द-प्रमाण से अदृष्ट पदार्थों का ज्ञान होता है। न्याय० २, १, ४९ से ५०, ५२।

वात्स्यायन ने न्यायभाष्य में, गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दखण्ड में, जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में तथा जन्यतभट्ट ने न्यायमंजरी के तृतीय आह्निक में शब्द प्रमाण की पृथक् सिद्धि का बहुत विस्तार से विवेचन किया है। इस विषय का कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के शब्दपरिच्छेद में तथा प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड के आगमप्रमाणनिरूपणप्रकरण में बहुत सुन्दर रूप से प्रतिपादन किया है।

शब्दार्थसम्बन्ध मानने पर आक्षेप

संयोग और समवाय सम्बन्ध सम्भव नहीं है—शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने पर निम्न मुख्य आक्षेप किये गए हैं :—

१—कणाद ने वैशेषिक दर्शन में शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने पर निम्न-रूप से आक्षेप किया है। शब्द और अर्थ में दोनों प्रकार के सम्बन्ध अर्थात् संयोग और समवाय में से कोई नहीं रह सकता। यह सम्बन्ध संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता, क्योंकि न्याय और वैशेषिक दर्शन के अनुसार शब्द आकाश का गुण है और जिसका शब्द से बोध कराया जाता है, वह साधारणतया द्रव्य होता है। द्रव्य और गुण में संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है, इनमें समवाय सम्बन्ध ही रह सकता है। दूसरी बात यह है कि शब्द भी गुण है, संयोग सम्बन्ध भी गुण है, दोगुणों का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता है। गुण द्रव्य में रहते हैं गुण में गुण नहीं रहता। शब्द का अर्थ प्रायः गुण भी होता है, अतः दोनों गुणों का संयोग सम्बन्ध नहीं होगा। शब्द सर्वदा निष्क्रिय अर्थात् किसी प्रकार की क्रिया से रहित है। संयोग सम्बन्ध के लिए आवश्यक है कि संयुक्त होने वालों में से कम से कम एक में क्रिया हो। निष्क्रिय पदार्थों जैसे आकाश आदि के बोधक शब्दों का संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। आकाश भी निष्क्रिय है और उसका बोधक शब्द भी निष्क्रिय है। अतः शब्द और अर्थ (वस्तु) में संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता। अविद्यमान वस्तु के लिए "नहीं है" जैसे 'घटो नास्ति' (घड़ा नहीं है), शब्द का प्रयोग किया जाता है। विद्यमान शब्द और अविद्यमान वस्तु के साथ संयोग सम्बन्ध नहीं हो सकता।

शब्द और अर्थ में संयोग या सम ाय सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता है। दण्डी (दण्डवाला व्यक्ति), एकाक्षः (एक आंख वाला व्यक्ति), इस प्रकार के उदाहरणों में दण्ड के साथ संयोग सम्बन्ध और आँख के साथ समवाय सम्बन्ध का ज्ञान होता है। शब्द और अर्थ के विषय में इस प्रकार प्रयोग नहीं कर सकते कि

घटः घड़ा शब्द वाला घड़ा। इससे ज्ञात होता है कि शब्द और अर्थ में न संयोग और न समवाय सम्बन्ध है।

युतसिद्ध्यभावात् कार्यकारणयोः योगविभागौ न विद्येते। गुणत्वात्। गुणोऽपि विभाव्यते। निष्क्रियत्वात्। असति नास्तीति प्रयोगात्। शब्दार्थाव-संबद्धौ संयोगिनो दण्डात् समवायिनो विशेषाच्च। वैशेषिक० ७,७,२,१३ से १६।

जयन्तभट्ट का कथन है कि शब्द और अर्थ में न तो घड़े और बेर के तुल्य संयोग सम्बन्ध हो सकता है और न तंतु और पट की तरह समवाय सम्बन्ध ही दीखता है। अन्य सम्बन्ध संयोग या समवाय को ही कारण मानते हैं, अतः किसी प्रकार का सम्बन्ध शब्द और अर्थ में नहीं हो सकता। संयोग सम्बन्ध के लिए यह भी आवश्यक है कि शब्द और अर्थ एक स्थान पर हों। शब्द मुँह में रहता है और अर्थ भूमि पर। न शब्द के स्थान पर अर्थात् मुँह में अर्थ (वस्तु) सम्भव है और न अर्थ के स्थान (भूमि) पर शब्द सम्भव है। शब्द के कारण कंठ, तालु आदि स्थान करण, जिह्वा और प्रयत्न हैं, इनकी घट आदि पदार्थों के स्थान पर प्राप्ति नहीं होती है अतः सम्बन्ध नहीं हो सकता। न्यायमंजरी, पृ० २२० से २२१।

शब्द और अर्थ में सम्बन्ध नहीं है। दोनों विभिन्न स्थलों पर रहते हैं जिस प्रकार हिमालय और विन्ध्याचल। सम्बन्ध के लिए दोनों का एक स्थल पर होना आवश्यक है।

न शब्दोऽर्थेन संगतः।
तद्देशान्तरादृष्टेर्विन्ध्यो हिमवता यथा॥
श्लोकवार्तिक, सम्बन्ध० ७।

वात्स्यायन ने न्यायसूत्र २, १, ५२ तथा शबर स्वामी ने मीमांसासूत्र (१, १, ५) में इन आक्षेपों का उल्लेख किया है। शब्द और अर्थ में प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध अर्थात् अर्थ के स्थान पर शब्द पहुँचे, यह नहीं होता है, अतः सम्बन्ध नहीं है।

भूत भविष्यत् आदि से सम्बन्ध नहीं हो सकता—२—प्रभाचन्द्र ने प्रश्न-कर्त्ता का यह प्रश्न रक्खा है कि शब्द अर्थ का प्रतिपादक नहीं है। उसका अर्थ से सम्बन्ध नहीं है। जो शब्द विद्यमान वस्तुओं को बताते हैं, वही अतीत और अनागत (भावी) वस्तुओं का भी जो कि है नहीं, उनका भी बोध कराते हैं। वस्तु के अभाव में भी शब्द रहते हैं। जो वस्तु जिसके अभाव में भी रहती है, उसका उससे सम्बन्ध नहीं कहा जा सकता है। जैसे कुत्ते के अभाव में ही जो गाय देखी जाती है, उसका कुत्ते से सम्बन्ध नहीं होता है। अर्थ के अभाव में भी शब्द देखे जाते हैं, अतः शब्द का अर्थ से सम्बन्ध नहीं है और वे अर्थ का बोध नहीं कराते हैं। प्रमेयकमल० पृ० १२४।

वास्तविक वस्तु की उपस्थिति नहीं होती—३—यदि शब्द का अर्थ के

साथ सम्बन्ध वास्तविक है तो लड्डू कहने से मुँह लड्डू से भर जाना चाहिये। आग कहने से मुँह जल जाना चाहिये, और छुरा कहने से मुँह कट जाना चाहिये। परन्तु ऐसा नहीं देखा जाता। अतः ज्ञात होता है कि दोनों में स्वाभाविक सम्बन्ध नहीं है।

पूरणप्रदाहपाटनानुपलब्धेश्च सम्बन्धाभावः।
न्यायसूत्र २, १, ५३।

शबर स्वामी ने पूर्व पक्ष की स्थापना में (मीमांसाशाबर भाष्य पृ० १२) जयन्त ने शब्दार्थ सम्बन्ध में विचार करते समय आह्निक ४ पृ० २२१ एवं प्रभाचंद्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृ० १२८) में इस युक्ति का विस्तार करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ का अविनाभाव सम्बन्ध (जो जिसके बिना न रह सके), जैसे आग और धुएँ का, नहीं है (जयन्त)। शब्द से अर्थ का ज्ञान उतना स्पष्ट नहीं होता, जितना चक्षु आदि से, प्रत्यक्ष वस्तु का होता है। प्रभाचन्द्र ने इसके लिए भर्तृहरि का उद्धरण दिया है कि जले हुये व्यक्ति को आग के छूने से जैसा आग का ज्ञान होता है अर्थात् हाथ आदि जलता है वैसा आग शब्द कहने से जलना आदि प्रतीत नहीं होता। प्रभाचन्द्र।

अन्यथैवाग्निसंबंधाद् दाहं दग्धोऽभिमन्यते।
अन्यथा दाहशब्देन दाहाद्यर्थः प्रतीयते॥
वाक्य० २, ४२५।

अतः वास्तविक सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है।

अर्थ एक ही निश्चित नहीं है—४—एक आपत्ति गौतम ने विशेष महत्त्वपूर्ण की है। उसका सम्बन्ध भाषाविज्ञान एवं विशेषकर अर्थविज्ञान से है। यदि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध वस्तुतः स्वाभाविक और नित्य है तो एक ही शब्द का विभिन्न देशों में (या विभिन्न भाषाओं में) विभिन्न अर्थ नहीं होना चाहिए।

जातिविशेषे चानियमात्। न्याय० २, १, ५६।

शब्द और अर्थ का ऐसा कोई नियम नहीं देखा जाता है, अतः दोनों का वास्तविक सम्बन्ध नहीं है। यास्क (निरुक्त २, २), पतञ्जलि (महा० आ० १) जयंत (पृ० २२२ और २२४) तथा कुमारिल ने श्लोकवार्तिक सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक १६ तथा तन्त्रवार्तिक में देशभेद, भाषाभेद एवं आर्य अनार्य प्रयोगभेद से एक ही शब्द के विभिन्न अर्थों में प्रयोग का उल्लेख किया है। कुमारिल ने तंत्रवार्तिक में ऐसे उदाहरण देने के बाद यहाँ तक कहा है कि जब द्राविड़ आदि भाषाओं (तेलगू, तामिल, कन्नड़) में इस प्रकार की स्वच्छंद कल्पना है, तब पारसी (फारसी), बर्बर (असभ्य जातियों की भाषा, पश्तो), यवन (अरबी, उर्दू), रोमन (इटालियन) आदि भाषाओं में उन्हीं शब्दों का क्या क्या अर्थ होगा, पता नहीं।

तद् यदा द्राविडादिभाषायामीदृशी स्वच्छन्द कल्पना, तदा पारसीबर्बरयवन-रौमकआदिभाषासु किं विकल्प्य किं प्रतिपत्स्यन्त इति न विद्मः। तन्त्रवार्तिक।

बाह्य वस्तु है ही नहीं, सम्बन्ध किससे? ५– धर्मकीर्ति ने न्यायविंदु के प्रथमपरिच्छेद में प्रत्यक्ष का लक्षण किया है कि प्रत्यक्ष वह है, जिसमें कल्पना मिश्रित नहीं हुई है और भ्रमयुक्त नहीं है।

तत्र कल्पनाऽपोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्। न्यायविन्दु।

धर्मकीर्ति ने प्रमाणवार्तिक के तृतीय परिच्छेद (प्रत्यक्षप्रमाण) में नैयायिकों वैशेषिकों आदि के सम्मत बाह्यपदार्थ का बहुत विस्तार से खण्डन किया है और केवल विज्ञान को ही एकमात्र तत्त्व बताया है। बाह्य वस्तु वस्तुतः कुछ नहीं है। बाह्य अर्थ के विषय में धर्मकीर्ति का कथन है कि वस्तुओं का वही (विज्ञान-रूप) सिद्ध है। अतः विद्वान् कहते हैं कि जैसे-जैसे अर्थों (पदार्थों) पर चिन्तन किया जाता है, वैसे ही वैसे वह छिन्नभिन्न हो लुप्त हो जाते हैं, (उनका भौतिक रूप सिद्ध नहीं होता)। प्रमाणवार्तिक ३, २०६ जो आकार प्रकार बाह्यपदार्थ में है, वह ग्राह्य और ग्राहक के आकार को छोड़कर नहीं मिलते। (ग्राह्य और ग्राहक एक ही निराकार विज्ञान के दो रूप हैं) अतएव आकार प्रकार से शून्य होने से सारे पदार्थ निराकार कहे गये हैं। (प्र० वा० ३, २१५)। धर्मकीर्ति ने स्वयं यह प्रश्न उठाया है कि वह जो बाह्यपदार्थ के रूप में अवभासित होने वाला ज्ञान है, उसका जैसे कैसे सी हो बाह्य पदार्थ वाला रूप भासित हो रहा है, उसे छोड़ देने पर पदार्थ अर्थात् घड़े आदि का ग्रहण (चक्षु इन्द्रिय से प्रत्यक्ष) कैसे होगा? उत्तर देते हैं कि प्रश्न ठीक है, मैं भी नहीं जानता। कैसे यह होता है। जैसे मंत्र (टोना आदि) आदि से जिनकी आँख आदि इन्द्रियों को बांध दिया गया है, उन्हें मिट्टी के ढेले (रुपया आदि) दूसरे ही रूप में दीखते हैं। यद्यपि वह वस्तुतः उस (रुपए आदि) के रूप से रहित है (प्र० वा० ३, ३५३ से ३५५)। इस तरह यद्यपि बाहर और अन्दर सभी एक ही विज्ञानतत्त्व है, किंतु तत्त्व अर्थ (वास्त-विकता) की ओर ध्यान न दे हाथी की तरह आँख मूँदकर सिर्फ लोकव्यवहार का अनुसरण करते हैं। अतः तत्त्वज्ञानियों को भी कितनी ही बार बाहरी पदार्थों का चिन्तन (वर्णन) करना पड़ता है (प्र० वा० ३, २१६)। जयन्त ने न्यायमंजरी के अतएव बौद्धाभिमत प्रत्यक्ष का वर्णन करते हुए लिखा है कि विद्वानरूपी तत्त्व जो बाह्यवस्तु का स्वरूप है, उसका चित्र द्वारा स्वयं प्रत्यक्ष होता है। उसका कौन सा अंश है जो अप्रत्यक्ष रहता है, जिसके लिए प्रत्यक्ष प्रमाण की आवश्यकता है।

एकस्यार्थस्वभावस्य प्रत्यक्षस्य सतः स्वयम्।
कोऽन्यो न दृष्टो भागः स्याद् यः प्रमाणैः परीक्ष्यते।

न्यायमंजरी पृ० ८७।

जब शब्द के सम्बन्ध के योग्य कोई वस्तु बाहर है ही नहीं, तो सम्बन्ध किसके साथ होगा।

शब्दार्थसंसर्गयोग्यार्थप्रतीतिः किल कल्पना।

न्यायमंजरी पृ० ८९।

प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में (पृ० १२५ से १२८) पूर्वपक्ष के रूप में बौद्धों की युक्तियों का संग्रह किया है। प्रभाचन्द्र (पृ० १२८) का पूर्वपक्ष के स्थापन में कथन है कि शब्द केवल निर्विकल्पक ही रहना चाहिये। क्योंकि एक शब्द जैसे "गाय" असंख्यों गायों के विशिष्ट गुणों का बोध नहीं करा सकता। ऐसा न कर सकने से उसका सब गायों के लिए प्रयोग नहीं किया जा सकता है, अतः शब्द निर्विकल्पक स्वलक्षणमात्र रहना चाहिये वह किसी सांसारिक बाह्य वस्तु का बोध नहीं करा सकता। धर्मकीर्ति का कथन है कि इस वस्तु का यह वाचक शब्द है, इस तरह वाच्य वाचक का जो सम्बन्ध है उसमें जो दो पदार्थ प्रतिभासित हो रहे हैं, उन्हीं वाच्य वाचक पदार्थों का वह सम्बन्ध है (प्र० वा० ३, १२९)। इससे स्पष्ट है कि शब्दार्थ सम्बन्ध वस्तुतः है कुछ नहीं।

शब्दार्थ-सम्बन्ध और संकेतवाद

शब्द और अर्थ में सांकेतिक सम्बन्ध—नैयायिक और वैशेपिकों ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न मानने पर यह अनुभव किया है कि संसार का काम ही नहीं चल सकता। यह देखा जाता है कि गाय कहने से गाय वस्तु का ग्रहण होता है, इस प्रकार शब्दों और अर्थों की व्यवस्था है। अतएव न्यायदर्शन में गौतम कहते हैं कि शब्द और अर्थ में व्यवस्था देखी जाती है, अतः सम्बन्ध का निषेध नहीं किया जा सकता है। यदि स्वाभाविक सम्बन्ध है नहीं और निषेध भी नहीं किया जा सकता तो सम्बन्ध कैसा है, उसका उत्तर देते हैं कि यह सम्बन्ध सामयिक अर्थात् सांकेतिक है।

शब्दार्थव्यवस्थानादप्रतिषेधः। सामयिकत्वाच्छब्दार्थसंप्रत्ययस्य।

न्यायसूत्र २, १, ५४ से ५५।

कणाद ने भी शब्दार्थ सम्बन्ध को सांकेतिक ही स्वीकार किया है।

सामयिकः शब्दार्थप्रत्ययः। वैशेषिक० ७, २, २०।

वात्स्यायन ने (न्यायसूत्र २, १, ५५) के भाष्य में कहा है कि शब्द और अर्थ की व्यवस्था किसी सम्बन्ध के आधार पर नहीं है, अपितु सांकेतिक है। संकेत का क्या अर्थ है? इसका उत्तर देते हैं कि इस शब्द का यह अर्थ वाच्य है, इस प्रकार का वाच्य वाचक नियम का विनियोग ही संकेत है। शंकरमिश्र ने वैशेषिकसूत्र (७, २, २०) के उपस्कार भाष्य में सामयिक की व्याख्या की है कि समय का अर्थ है "इस शब्द से इस अर्थ को समझना चाहिये।" इस प्रकार का ईश्वरीय संकेत जिस शब्द का जिस अर्थ में परमात्मा ने संकेत किया है, वह उस अर्थ का बोध कराता है, वात्स्यायन और शंकरमिश्र।

जयन्त भट्ट का विवेचन—जयन्त ने न्यायमंजरी (पृष्ठ २२१) में अपने पक्ष का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि न हम शब्द और अर्थ का संयोग सम्बन्ध मानते हैं और न कार्यकारण, निमित्त-नैमित्तिक, आश्रय-आश्रयिभाव आदि सम्बन्ध। तो क्या शब्दार्थ सम्बन्ध नहीं है ? है, क्योंकि शब्द से अर्थ का नियमित रूप से ज्ञान होता है, जिस प्रकार धूप से अग्नि का ज्ञान। तब क्या अविनाभाव सम्बन्ध मानकर अनुमान है ? नहीं, ऐसा मानने से शब्द अनुमान प्रमाण हो जायगा। शब्द और अर्थ में वाच्य वाचक नियम का निर्धारण समय (संकेत) है, वही सम्बन्ध है। जयन्त ने (पृष्ठ १४० से १४२) मीमांसकों के मत की आलोचना करके शब्दार्थ सम्बन्ध को अनुमान प्रमाण से सिद्ध होने का खण्डन किया है।

शब्दार्थयोःसमयापरनामा वाच्यवाचकभावः सम्बन्धः।
न्यायमंजरी पृ० १४२।

आक्षेपों के उत्तर—शब्दार्थ सम्बन्ध को स्वाभाविक मानने वालों की ओर से जो आक्षेप किए गए हैं उनका उत्तर जयन्त ने (पृ० २२२ से २२५) बहुत सुंदर रूप से दिया है। जयंत ने दोनों पक्षों के अंतर को बहुत अच्छी रीति से स्पष्ट किया है। जयंत का कहना है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा शब्द और अर्थ का एकबार सांकेतिक सम्बन्ध कर देता है, यह हमारा पक्ष है। इसलिए यह आक्षेप नहीं उठता कि सांकेतिक सम्बन्ध मानने पर सब शब्द यदृच्छा शब्द (ऐच्छिक शब्द) के सदृश हो जायँगे। हमारे और तुम्हारे मत में यह अंतर है कि तुम्हारे मत के अनुसार यह शब्द और अर्थ के संबंध का व्यवहार अनादि है और हमारे मत में यह सम्बन्ध सृष्टि के प्रारंभ से चला हैं। जहाँ तक आजकल के व्यवहार का सम्बन्ध है, शब्दार्थ सम्बन्ध के ज्ञान में हम दोनों का मार्ग एक ही है अर्थात् वृद्ध व्यवहार आदि से जानते हैं। उसमें भी थोड़ा अन्तर यह है कि तुम्हें शब्दबोध में शक्ति अर्थात् स्वाभाविक सम्बन्ध तक ज्ञान होता है और हमें केवल संकेत तक। संसार में इतनी ही व्युत्पत्ति देखी जाती है कि यह (वस्तु) इसका वाच्य है और यह (शब्द) इसका वाचक है। शक्ति तक व्युत्पत्ति नहीं देखी जाती है जहाँ पर साक्षात् गाय का सींग पकड़कर शब्द और अर्थ (वस्तु) को लक्ष्य कर सम्बन्ध करते हैं, वहाँ पर इतना ही कार्य किया जाता हुआ देखते हैं कि 'यह इसका वाचक है और यह (वस्तु) इसका वाच्य है।" जहाँ पर प्रयोजक और प्रयोज्य वृद्धि के व्यवहार से आवाप उद्वाप को देखकर व्युत्पत्ति होती है, वहाँ पर भी इतना ही अनुमान होता है कि इस अर्थ को इस शब्द से इस व्यक्ति ने समझ लिया है। ऐसा नहीं समझता कि दोनों में कोई और शक्ति है। इतनी ही व्युत्पत्ति से शब्द और अर्थ का ज्ञान हो जाता है और इतना ज्ञान अनिवार्य है। इससे अधिक शक्ति की कल्पना करने की आवश्यकता नहीं है, अतः शब्दार्थ सम्बन्ध नित्य नहीं है। अतएव तुमने (कुमारिल ने) (श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक १४०, १४१) जो शब्दार्थ

सम्बन्ध को तीन प्रमाणों अर्थात् प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थापत्ति से जो सिद्ध माना है, उसे हम नहीं स्वीकार करते। प्रत्यक्ष और अनुमान से, जैसा कि ऊपर प्रकार बताया है उस प्रकार, सम्बन्ध को मानते हैं और अर्थापत्ति से जो सम्बन्ध को नित्य होना सिद्ध करते हो अर्थात् प्रयोज्य वृद्ध प्रयोजक वृद्ध के कहने पर जब गाय लाता है तो प्रत्यक्ष और अनुमान के बाद समीपस्थ बालक यह निष्कर्ष निकालता है कि यदि शब्द का अर्थ से सम्बन्ध नहीं है तो प्रयोज्य वृद्ध गाय लाया कैसे ? अतः अर्थात् (अर्थापत्ति से) यह सिद्ध होता है कि दोनों में कोई विशेष सम्बन्ध है। इस अर्थापत्ति को हम स्वीकार नहीं करते क्योंकि वह लाने का काम संकेत के कारण हुआ है। इसलिए सम्बन्ध को दो प्रमाण से सिद्ध मानते हैं, तीन प्रमाण से नहीं।

तस्माद् द्विप्रमाणकः सम्बन्धनिश्चयोः न त्रिप्रमाणकः। न्यायमंजरी पृ० २२५।

उदयन ने न्यायकुसुमाञ्जलि में यह स्पष्ट किया है कि सृष्टि के आदि में परमात्मा ने अपनी माया से शब्द और अर्थ के अन्दर वाच्य वाचक सम्बन्ध स्थापित कर दिया। हरिदास भट्टाचार्य ने अपनी टीका में इसको और स्पष्ट किया है कि ईश्वर सृष्टि के आदि में प्रयोजक और प्रयोज्य रूप में दो शरीर बनाकर व्यवहार करके उस समय के लोगों को शक्ति का ज्ञान कराता है।

वर्षादिवद् भवोपाधिवृत्तिरोधः सुषुप्तिवत्।
उद्भिद्वृश्चिकवद् वर्णा, मायावत् समयाद्वयः॥

कुसुमांजलि, २, २।

आधुनिक विद्वानों का मत—आधुनिक भाषाविज्ञों में अधिक संख्या सांकेतिक सम्बन्ध को मानने के पक्ष में है। हर्मन, पाउल, सईस, आग्डेन और रिचार्ड्स और बर्ट्रेंड रसल आदि। आग्डेन रिचार्ड्स शब्द को अर्थ का प्रतीक मानते हैं। वे कहते हैं कि शब्दों का जैसा कि अब प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि स्वयं कोई अर्थ नहीं है यद्यपि पहले यह सार्वभौम विश्वास था कि शब्दों का कोई अर्थ होता है। इनका तभी अर्थ होता है, जबकि विचारक उनका प्रयोग करता है कि वे किसी अर्थ के बोधक हैं। एक अर्थ में यह माना जा सकता है कि उनमें अर्थ है, वह यह कि शब्द अर्थबोध के साधन हैं। विचारों और वस्तु में सम्बन्ध है, कभी साक्षात् और कभी असाक्षात्। शब्द और वस्तु में साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध असाक्षात् है। क्योंकि कोई किसी अर्थ के बोध के लिए इनका प्रयोग करता है। भाव यह है कि शब्द और वस्तु का वास्तविक साक्षात् सम्बन्ध नहीं है। यह सम्बन्ध सांकेतिक है 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' (पृष्ठ ६ से १२)। वे साथ ही यह भी स्वीकार करते हैं कि जब यह कहा जाता है कि "इस शब्द के यह अर्थ हैं" तब इसी भाव से यह प्रयोग किया जाता है कि शब्द और अर्थ का साक्षात् स्वाभाविक सम्बन्ध है। पृ० १२।

बर्ट्रेंड रसल का कथन है कि सभी शब्दों का अर्थ होता है, यह केवल इसी भाव को लेकर है कि वे अपने को छोड़कर अन्य किसी वस्तु के प्रतीक हैं। शब्द वस्तुतः कोई अर्थ लिए हुए होते हैं, यह तर्कशास्त्र को सम्मत नहीं है। 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' पृ० २७३।

शब्दार्थ सम्बन्ध पर मीमांसकों के विचार—शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानने वाले मीमांसकों आदि ने आक्षेपों का बहुत विस्तार से खण्डन किया है। वैयाकरणों के मतानुसार इन आक्षेपों का उत्तर ऊपर दिया जा चुका है। मीमांसकों के मतानुसार इनका उत्तर विशेषरूप से कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक के सम्बन्धाक्षेपवाद श्लोक (१ से ४६) तथा सम्बन्धाक्षेपपरिहार (श्लोक १ से १४१) प्रकरण में दिया है और अनुपम रूप से अपने मत की पुष्टि की है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृष्ठ १२४ से १३१) तथा जयन्त ने न्यायमंजरी (पृष्ठ २२० से २२२) में इस पक्ष का अच्छे रूप से उल्लेख किया है। आक्षेपों के उत्तर निम्नरूप से दिए गए हैं :—

शब्द और अर्थ में शक्तिरूप सम्बन्ध

१—भर्तृहरि ने संयोग और समवाय सम्बन्ध का खण्डन करके योग्यता सम्बन्ध की व्यवस्था की है। नैयायिकों और वैशेषिकों का यह कथन है कि संयोग और समवाय के अतिरिक्त सम्बन्ध नहीं होता, इसकी निराधारता पतञ्जलि के इस कथन से स्पष्ट होती है कि सम्बन्ध एक सौ एक प्रकार का होता है अर्थात् सम्बन्धों की संख्या अपरिमित है। संसार में बहुत से सम्बन्ध हैं, जैसे धन सम्बन्धी सम्बन्ध, स्व-स्वामिभाव (सेवक और स्वामी का सम्बन्ध), योनि-सम्बन्ध (पितापुत्र, मातापुत्र आदि), विद्या-सम्बन्ध (गुरुशिष्य आदि), यज्ञीयसम्बन्ध (यजमान पुरोहित आदि)।

एकशतं षष्ठ्यर्थाः, यावन्तो वा सन्ति। लोके बह्वोऽभिसम्बन्धा आर्था यौना मौखाः स्रौवाश्चेति। महा० १, १, ४६।

भर्तृहरि ने माता और पुत्र के सम्बन्ध की उपमा दी है। कुमारिल ने सम्बन्धाक्षेपवाद में शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की समानता पिता पुत्र के सम्बन्ध से की है। सम्बन्ध के लिए आवश्यक नहीं है कि संयोग या समवाय अवश्य रहे। इन दोनों के न रहते हुए भी पिता पुत्र के सम्बन्ध का अपलाप नहीं किया जा सकता। यह आक्षेप कि शब्द और अर्थ हिमालय और विन्ध्याचल के समान सुदूर हैं, ठीक नहीं है। यद्यपि दोनों में संयोग सम्बन्ध नहीं है, फिर भी एक भूमि से सम्बद्ध होने के कारण पार्थिव सम्बन्ध अवश्य है। श्लोक ६ से १०।

भर्तृहरि ने यह सिद्ध किया है कि वैशेषिकों को भी यह सम्बन्ध स्वीकार करना पड़ेगा। उनकी युक्ति बहुत ही महत्त्वपूर्ण है। भर्तृहरि कहते हैं कि जिस

प्रकार सर्वव्यापक आत्मा का सम्बन्ध सब पदार्थों के साथ समान रूप से होने पर भी धर्माधर्म विशेष के कारण कोई स्वामी है और कोई सेवक है, इस प्रकार स्वस्वामिभाव सम्बन्ध है। इसी प्रकार शब्द में भी शब्द और अर्थ के विषय में भी एक शब्द का एक अर्थ विशेष से सम्बन्ध का कारण अदृष्ट विशेष मानना पड़ेगा।

अदृष्टवृत्तिलाभेन यथा संयोग आत्मनः।
क्वचित् स्वस्वामियोगाख्यो भेदेऽन्यत्रापि संक्रमः॥
वाक्य० ३ पृ० १०५।

हेलाराज ने भर्तृहरि का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आत्मा का संयोग समान होने पर भी स्वस्वामिभाव सम्बन्ध का उत्तर यही है कि प्रयोग देखने और अभ्यासजन्य संस्कार की पराधीनता के कारण सब को स्वामी या सबको सेवक नहीं कहते। इसी प्रकार शब्द और अर्थ में भी शब्द का विषय नियत है, उसका प्रयोगदर्शन और अभ्यास तथा संकेत से ज्ञान होता है। यह ज्ञानरूप संस्कार योग्यता रूप सम्बन्ध है। प्रयोग देखने आदि के कारण प्रत्येक शब्द से प्रत्येक अर्थ का बोध नहीं कराया जाता। हेलाराज।

शब्द और अर्थ में सम्बन्ध इसलिए भी मानना पड़ता है कि शब्द में अर्थ की वाचकता की शक्ति है और अर्थ में शब्द के द्वारा वाच्यता की ही शक्ति है। यदि दोनों में सम्बन्ध नहीं है तो यह वाच्य वाचक सम्बन्ध सर्वदा नहीं रह सकता। शब्द और अर्थ में उपकार्य उपकारक सम्बन्ध है, अतः सम्बन्ध मानना पड़ता है। श्लोकवार्तिक, श्लोक ११ से १२, १५।

उपकारः स यत्रास्ति धर्मस्तत्रानुगम्यते। वाक्य० ३ पृ० १००।

भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में इस सम्बन्ध को वाच्यवाचक, ग्राह्यग्राहक, प्रकाश्य प्रकाशक, उपकार्य उपकारक संज्ञा संज्ञी नाम से सम्बोधित किया है। कुमारिल ने इस सम्बन्ध को प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थापत्ति तीनों प्रमाणों से सिद्ध माना है। प्रयोज्य प्रयोजक वृद्ध का उदाहरण दिया जा चुका है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध नहीं है तो "गाय लाओ" कहने पर गाय का लाना कैसे हो सकता है। श्लोकवार्तिक, सम्बन्धाक्षेपपरिहार श्लोक १४० से १४१।

वात्स्यायन ने न्यायभाष्य (२, १, ५३) में स्पष्ट किया है कि शब्द और अर्थ में प्राप्तिलक्षण सम्बन्ध नहीं है, अर्थात् उस वस्तु को वस्तुतः शब्द उत्पन्न नहीं कर देता। वाचस्पति ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (पृष्ठ २८६) में इसको स्पष्ट किया है कि प्राप्ति लक्षण सम्बन्ध उन्हीं पदार्थों में देखा जाता है, जो कि दोनों एक ही इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं। शब्द और अर्थ में यह सम्बन्ध नहीं हो सकता। क्योंकि शब्द कान से सुना जाता है और पदार्थ चक्षु आदि इन्द्रियों से ग्रहण किये जाते हैं। शब्द वस्तु को उत्पन्न नहीं कर देता है, अपितु उसका ज्ञान करा देता है।

२—कुमारिल ने द्वितीय आक्षेप का उत्तर दिया है कि शब्द सामान्य रूप से वस्तु का ज्ञान कराता है। वृक्ष शब्द का उच्चारण करने पर वह सामान्य रूप से वृक्ष का ज्ञान कराता है। उस समय उसकी सत्ता या अभाव का ज्ञान शब्द से नहीं कर सकते हैं। जब उसका सम्बन्ध "है" "था" "नहीं" आदि से किया जाता है तब उसके वर्तमान भूत या अभाव का वास्तविक ज्ञान होता है। श्लोकवार्तिक, आकृतिवाद (श्लोक ४ से ५) तथा अपोहसिद्धि, रत्नकीर्ति पृष्ठ ६।

वाचस्पति मिश्र ने न्यायवार्तिकतात्पर्यटीका (पृष्ठ ३४१) में कहा है कि शब्द जातिविशिष्ट व्यक्ति का बोध कराता है। यद्यपि जाति स्वरूप से नित्य है, किंतु अनेक व्यक्तियों का आश्रय है जो कि देश काल आदि के अनुसार विप्रकीर्ण, (फैली हुई) है। अतएव सत्ता और अभाव दोनों के विषय में साधारण होने से "है" के साथ इसका सम्बन्ध वर्तमान व्यक्ति से सम्बद्ध जाति के अस्तित्व का बोध कराता है। "था" "होगा" शब्द जाति के साथ व्यक्ति का क्रमशः भूतकाल और भविष्यत्काल में सम्बन्ध का बोध कराते हैं। "नहीं' अतीत या अनागत के साथ सम्बन्ध का ज्ञान कराता है, शब्द जाति-विशिष्ट व्यक्ति का बोध कराता है, अतः पदार्थ सदा बना रहता है।

पतञ्जलि और भर्तृहरि पदार्थ की त्रैकालिक सत्ता मानते हैं। अतः यह आक्षेप ही नहीं उठता है। प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृष्ठ १२६) में इसका उत्तर दिया है कि वस्तु अब न सही अपने समय भूत या भविष्यत् काल में रहती है। 'इदानीमभावेऽपि स्वकाले भावात्'। प्रभाचन्द्र।

३—भर्तृहरि ने, जिसको प्रभाचन्द्र ने उद्धृत किया है, इसका सुंदर उत्तर दिया है। भर्तृहरि का कथन है कि शब्द असत्योपाधिविशिष्ट सत्य का बोध कराता है।

असत्योपाधि यत् सत्यं तद्वा शब्दनिबन्धनम्॥

वाक्य० २, १२६।

भर्तृहरि ने अपने भाव की व्याख्या (वाक्य० २, ४२३ से ४२५) में इसका भाव स्पष्ट किया है कि शब्द जिस वस्तु का बोध कराता है, वह वस्तु वस्तुतः सत्य है। शब्द और अर्थ में संयोग या समवाय सम्बन्ध नहीं है, अतः शब्द द्वारा अर्थ बोध में उस वस्तु की शब्द में वस्तुतः सत्ता नहीं रहती है, बाह्य पदार्थ में और शब्द में विद्यमान अर्थ में यही अन्तर है। शब्द के अर्थ में यह असत्यता (अवास्तविकता) आ जाने से उसको असत्योपाधिविशिष्ट सत्य कहा है। अतएव पुण्यराज ने भी कहा है कि शब्द और अर्थ (वस्तु) में वास्तविक समन्वय नहीं है।

शब्दार्थयोर्नास्ति कश्चिद् वास्तवः समन्वय इति बोद्धव्यम्। पुण्यराज, वाक्य० २, ४२५।

प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड (पृष्ठ १२६) में इस आक्षेप का खण्डन किया है कि शब्द अर्थ का बोध नहीं कराते हैं, क्योंकि उनसे अर्थ का जो बोध होता है वह पूर्णरूप से स्पष्ट आकार वाला नहीं होता है। यह सत्य है कि अर्थ-ज्ञान के विभिन्न साधनों से अर्थ का ज्ञान समान रूप से स्पष्ट नहीं होता है, कोई अधिक स्पष्ट रूप से वस्तु का ज्ञान कराते हैं और कोई नहीं। आग शब्द से उतना आग का स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है, जितना कि आग से जलने से। साधन के भेद से स्पष्ट या अस्पष्ट ज्ञान होता है, विषय के भेद से नहीं। अतः अस्पष्ट ज्ञान कराने वाले साधन से ज्ञात पदार्थ को असत्य नहीं कह सकते। शाब्दबोध में सामान्य-विशेषात्मक अर्थ का ज्ञान होता है अतः यह आक्षेप ठीक नहीं है कि आग शब्द के द्वारा जलाने का अर्थ नहीं बताया जाता है।

४ – योगवाचस्पत्य में इसका उत्तर दिया गया है कि सब शब्दों में सब अर्थों को बोध कराने की शक्ति है। सब शब्दों का सब अर्थों के साथ सम्बन्ध है। ईश्वरकृत संकेत उसका प्रकाश करता है। मंजूषा, पृष्ठ ४६।

भर्तृहरि ने इसीलिए शब्द को अनेक शक्ति वाला बताते हुए इसको उसकी शक्तियों का विभाग माना है।

अनेकशक्तेरेकस्य प्रविभागोऽनुगम्यते।
वाक्य० २, ४४८।

जयन्त ने अतएव शब्दार्थ सम्बन्ध को नित्य मानने वालों के पक्ष का निरूपण करते हुए लिखा है कि सारे शब्दों में सारे अर्थों का बोध कराने की शक्ति है। अतः किसी देश में किसी अर्थ का व्यवहार होता है अन्य में दूसरे का। इसी-लिए जब ऐसे शब्द को सुनते हैं जिसके सम्बन्ध का ज्ञान नहीं होता तो संदेह होता है कि किस अर्थ को बताने के लिए यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। यदि शक्ति न होती और संकेत न किया गया होता तो उसमें बोधकता की आशंका नहीं उठ सकती थी। संकेत शब्द की उस सर्वशक्तिमत्ता का नियामक है। न्यायमंजरी, पृष्ठ २२२ से २२४।

पतञ्जलि, भर्तृहरि, कुमारिल आदि ने इस तथ्य को जानते हुए कि विभिन्न देशों में एक ही शब्दों का विभिन्न अर्थ में प्रयोग किया जाता है, इस नित्य सम्बन्ध का प्रतिपादन किया है। 'सर्वे सर्वार्थवाचकाः" (उद्योत, महा० १, १, १) यह नित्य सम्बन्धवादियों का सिद्धांत अर्थविज्ञान की विभिन्न दृष्टियों से बहुत ही महत्त्वपूर्ण है, नानार्थकता, भाषाभेद, देशभेद आदि के कारण एक ही शब्द के नाना अर्थों का मूल कारण शब्द की सर्वशक्तिमत्ता या अनेक शक्तिमत्ता को ही मानना पड़ेगा। इससे एक बात और स्पष्ट होती है कि शब्द और अर्थ के वाच्य वाचक सम्बन्ध को ही नित्य स्वाभाविक या सिद्ध कहने के मूल में इस सम्बन्ध को नित्य सिद्ध करना था।

बौद्धों द्वारा प्रत्यक्ष का खण्डन अव्यवहारिक है

५—बौद्धों ने जो प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन किया है, उसका न्याय वैशेषिक सांख्य आदि सभी दर्शनों ने खण्डन किया है। जैन दर्शन भी प्रत्यक्ष की सत्ता मानता है। अतः उन्होंने भी इसका बहुत विस्तार से खण्डन किया है। इस विषय का अपोहवाद के खण्डन मेंभी वर्णन आएगा। अतः यहां पर इतना कह देना आवश्यक है कि बौद्धों का प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा हेय है। एक बात और इस सम्बन्ध में लिख देना अनुचित न होगा कि जहां पर व्यावहारिक दृष्टिकोण से विचार करना होता है वहां बौद्ध दार्शनिक सूक्ष्मदार्शनिक दृष्टिकोण से विचार करते हुए पाये जाते हैं। और जहां पर सूक्ष्म दार्शनिक दृष्टिकोण से विचार का विषय होता है वहां पर वह व्यावहारिक एवं स्थूल दृष्टिकोण से विचार प्रस्तुत करते हैं अतएव उनके विचार न व्यावहारिकदृष्टि से ठीक प्रतीत होते हैं और न दार्शनिक दृष्टिकोण से। इसको संक्षेप में इसी बात से समझना चाहिए कि प्रत्यक्ष प्रमाण का खण्डन करके उन्होंने व्यावहारिक दृष्टिकोण के अभाव का परिचय दिया है और अवयवी तथा जाति का खण्डन करके दार्शनिक दृष्टिकोण के अभाव का। अतएव कुमारिल ने इनके सिद्धांतों पर श्लोकवार्तिक में वज्रपात किया है और उनकी असारता सिद्ध की है। दिङ्नाग ने प्रत्यक्ष का लक्षण "प्रत्यक्षं कल्पनापोढम्" (कल्पना का जिसमें समावेश नहीं हुआ है), अपरोक्ष इन्द्रियग्राह्य (प्रत्यक्ष है) किया था। परन्तु उद्योतकर ने अपने न्यायवार्तिक में जो दिङ्नाग में सिद्धान्तों की कठोर समीक्षा की, उसके फलस्वरूप धर्मकीर्ति को उसमें सुधार की आवश्यकता पड़ी, और उन्होंने उसमें "अभ्रान्त" (भ्रमरहित) पद जोड़कर "तत्र कल्पनापोढमभ्रान्तं प्रत्यक्षम्" (न्यायविन्दु प्रथम परिच्छेद) अपने मत की रक्षा का उपाय किया है। जयन्त भट्ट ने न्यायमंजरी के द्वितीय आह्निक में प्रत्यक्ष के इस लक्षण की असारता सिद्ध की है। यह विषय पृथक् दार्शनिक विवेचन का विषय है। यहां पर इतना लिखना पर्याप्त है कि इस सिद्धान्त की निःसारता का विशेष निरूपण कुमारिल ने श्लोकवार्तिक में निरालम्बनवाद तथा शून्यवाद प्रकरण में, प्रभाचन्द्र के प्रमेयकमलमार्तण्ड चतुर्थपरिच्छेद तथा विद्यानन्द के अष्टसहस्री (पृ० २४६) आदि में विस्तार से किया गया है।

शब्दार्थ सम्बन्ध और नित्यवाद

जैन दार्शनिकों का मत—प्रभाचन्द्र आचार्य ने अपने अतिविद्वत्तापूर्ण प्रमेयकमलमार्तण्ड ग्रन्थ में शब्दार्थ सम्बन्ध के विषय में जैन सिद्धान्त का निरूपण करते हुए कुमारिल भट्ट की दी हुई युक्ति अर्थात् प्रयोज्य प्रयोजक वृद्ध के व्यवहार से आवाप उद्वाप की पद्धति से अर्थज्ञान का उल्लेख करके प्रत्यक्ष अनुमान और अर्थापत्ति इन तीन प्रमाणों से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध की सिद्धि मानी है।

सम्बन्धावगमश्च प्रमाणत्रयसम्पाद्यः। प्रमेय० पृ० ११६।

बौद्धों के आक्षेप का उत्तर देते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि बौद्धों को भी शब्दार्थ सम्बन्ध मानना चाहिए। शब्द और अर्थ में वे स्वाभाविक सम्बन्ध मानते हैं। अतएव प्रभाचन्द्र कहते हैं कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविकयोग्यतारूपी सम्बन्ध है। दोनों में प्रतिपाद्य प्रतिपादक (वाच्य वाचक) शक्ति है। जिस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय में ज्ञाप्यज्ञापक शक्ति होती है। शब्द और अर्थ में योग्यता के अतिरिक्त अन्य कोई कार्य कारण आदि सम्बन्ध भाव नहीं है। शब्द और अर्थ में योग्यता सम्बन्ध होने पर ही संकेत होता है। संकेत से शब्द हस्त संकेत आदि स्पष्ट रूप से वस्तु के ज्ञान के साधन होते हैं जैसे "मेरु आदि पर्वत हैं"। प्रमेयकमल मार्तण्ड, पृष्ठ १२३।

प्रभाचन्द्र ने भर्तृहरि के प्रसिद्ध श्लोक, "नित्याः शब्दार्थसम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।" (वाक्य० १, २३) को उद्धृत करके उसका खण्डन किया है और कहा है कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध होने पर ही वह सम्बन्ध नित्य नहीं है, जिस प्रकार भित्ति के नष्ट हो जाने पर चित्र नष्ट हो जाता है।

सम्बन्धस्यानित्यत्वं भित्तिव्यवाये चित्रवत्। प्रमेय० पृ० १२४।

जैन मत के अनुसार शब्द सामान्य और विशेष (जाति और व्यक्ति) दोनों का बोध कराता है। व्यावहारिक उपयोगिता व्यक्ति की होती है, व्यक्ति अनित्य है, अतः उससे सम्बद्ध सम्बन्ध भी अनित्य है। प्रमेय० पृ० १२४ और १३६।

तान्त्रिकों का मत—नागेश ने तान्त्रिकों के मत का उल्लेख करते हुये लिखा है कि वे शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को नित्य मानते हैं।

"नित्यः शब्दार्थसम्बन्धः" इति तान्त्रिकाः। मंजूषा० पृ० ४६।

नागेश ने इसी प्रकरण में लिखा है कि सब अर्थों से सब शब्दों का सम्बन्ध, जैसा कि योगवाचस्पत्य में उल्लिखित है, योगियों के ज्ञान का विषय है, क्योंकि वे योगबल से शब्द और अर्थ रूप परावाणी का प्रत्यक्ष कर सकते हैं। यह युक्तिसंगत भी है। एक ही शब्द, ब्रह्मरूपी स्फोट समस्त शब्द और समस्त अर्थ इन दोनों रूपों का उपादान कारण है, अतः उसके कार्यरूप शब्द और अर्थ दोनों ही दोनों रूप हैं, अर्थात् शब्द और अर्थ दोनों परस्पर बदले जा सकते हैं। समस्त शब्दों से समस्त अर्थ हो सकते हैं और समस्त अर्थ सभी शब्दों द्वारा बोध्य हो सकते हैं।

नागेश ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नित्य इसलिए कहा जाता है कि जब से सृष्टि चली है तभी से इस सम्बन्ध की स्थिति है और व्यावहारिक नित्यता के कारण भी इसको नित्य कहा जाता है।

नित्यत्वं तु यावत्सृष्टिस्थित्या व्यवहारनित्यतया च बोध्यम्।
मंजूषा पृ० ४६।

श्रुति का वचन नागेश ने अपने समर्थन में उद्धृत किया है कि वाक्तत्त्व (शब्दतत्त्व) सूक्ष्म है और एक है। तात्त्विक रूप से यह अर्थ से पृथक् नहीं है। वही विभिन्न रूपों में अभिव्यक्त होता है, उसी के नाना रूप हैं, वह हृदय में रहता है। उसको सामान्य व्यक्ति पृथक्-पृथक् समझते हैं।

सूक्ष्मामर्थेनाप्रविभक्ततत्वाम्, एकां वाचमभिष्यन्दमानाम्।
तामन्ये विदुरन्यामिव च, नानारूपामात्मनि सन्निविष्टाम्॥

मंजूषा, पृ० ५०।

आधुनिक विद्वान् डा० ब्रोनिस्लाव् मालिनोस्की का, जो कि नृवंश-विज्ञान के विशेषज्ञ हैं, इस विषय में मत है कि भाषातत्त्व सम्बन्धी विवेचन और संस्कृति, जिससे कि भाषा का सम्बन्ध है, के विश्लेषण में दोनों में जो अभिन्न सम्बन्ध का स्पष्ट ज्ञान होता है, यह विश्वसनीयरूप में इस बात को प्रकट करता है कि शब्द और अर्थ दोनों में से एक भी एक दूसरे से पृथक् स्वतन्त्र अस्तित्त्व नहीं रखता है। 'मीनिङ् आव् मीनिङ्' पृ० ३०९।

आधुनिक विद्वान् के इस अन्वेषण को दृष्टि में रखते हुए भर्तृहरि के इस कथन पर गम्भीरता से विचार करें कि शब्द और अर्थ दोनों अभिन्न हैं और एक ही आत्मा के दो रूप हैं, तो भर्तृहरि का कथन कुछ स्पष्ट और एक वास्तविक तथ्य ज्ञात होता है।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ। वाक्य० २, ३१।

भर्तृहरि ने शब्दार्थ सम्बन्ध को अपने मत से नित्य सिद्ध करके तान्त्रिकों आदि के मत में उसको सिद्ध किया है। भर्तृहरि तथा उनके व्याख्याकार हेलाराज ने लिखा है कि शब्द और अर्थ का स्वाभाविक सम्बन्ध इससे भी ज्ञात होता है कि शब्द से दृष्ट और अदृष्टनिमित्तक अर्थ का संस्कार किया जाता है, अर्थात् शाबर आदि विद्याओं (तान्त्रिक विद्याओं) की विष आदि के उतारने में सामर्थ्य देखी जाती है। प्रत्येक तान्त्रिक शास्त्र में प्रसिद्ध बीजाक्षरों (मन्त्रों) के जप से अदृष्ट (धर्म) की प्राप्ति होती है। यदि शब्द और अर्थ में सम्बन्ध न होता तो यह कैसे सम्भव होता।

शब्देनार्थस्य संस्कारो दृष्टादृष्टप्रयोजनः।
क्रियते सोऽभिसंबन्धमन्तरेण कथं भवेत्॥

वाक्य० ३, पृ० ११४।

न्यायदर्शन में गौतम मुनि ने भी मन्त्र शक्ति आदि को स्वीकार करके वेद को उसी प्रकार आप्त प्रमाण मानकर वेद की प्रामाणिकता को सिद्ध किया है।

मन्त्रायुर्वेदप्रामाण्यवच्च तत्प्रामाण्यमाप्तप्रामाण्यात्।

न्यायसूत्र २, १, ६८।

सम्बन्ध सामयिक नहीं है—भर्तृहरि ने सांकेतिक सम्बन्ध मानने वालों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि बाह्य अर्थ चाहे वह नित्य (जाति) हो या अनित्य (व्यक्ति), जब तक शब्द और अर्थ में पहले से सम्बन्ध नहीं रहेगा तब तक संकेत सम्बन्ध नहीं किया जा सकता है।

नित्ये नित्येऽपि बाह्येऽर्थे पुरुषेण कथंचन।
सम्बन्धो कृतसम्बन्धैः शब्दैः कर्तुं न शक्यते ॥
वाक्य० ३, पृ० ११५।

संकेतवाद के पक्षपातियों के लिए भर्तृहरि का यह गूढ़ वचन बहुत विचार करने योग्य है। हेलाराज ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यदि संकेतवाद के मूल में जायँ तो अन्त में विवश होकर हमें किसी न किसी शब्द में स्वाभाविक योग्यता को मानना ही पड़ेगा क्योंकि संकेत जो किया जाता है वह पहले किसी शब्द में और अर्थ में उसके सम्बन्ध को जानने पर ही होता है। भाव यह है कि शब्द और अर्थ के स्वाभाविक सम्बन्ध को स्वीकार किए बिना और बिना जाने संकेतवाद का प्रारम्भ ही नहीं हो सकता। अतएव हेलाराज इस पर निर्णय देते हैं कि शब्द और अर्थ में स्वाभाविक सम्बन्ध है, यह सम्बन्ध संकेत के द्वारा व्यक्त किया जाता है। हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० ११५।

नित्यवाद का स्पष्टीकरण

पतञ्जलि आदि के विचार—वैयाकरण दार्शनिकों ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध को नित्य किस दृष्टि से कहा है, वह ऊपर के विवेचन से कुछ स्पष्ट होता है। कात्यायन, पतञ्जलि, भर्तृहरि आदि महावैयाकरणों और महादार्शनिकों ने भाषा विज्ञान के इस प्रश्न पर स्थूल दृष्टि से नहीं अपितु पूर्णतया दार्शनिक और वैज्ञानिक दृष्टिकोण से विचार किया है। अतएव उनके विचारों की गम्भीरता स्थूल दृष्टि से विचार करने पर स्पष्ट नहीं होती है। यह विषय भाषा-विज्ञान का सबसे गूढ़ और गहन प्रश्न है। पतञ्जलि और भर्तृहरि के विचार यहाँ इसलिए गम्भीरता से विचारणीय हैं क्योंकि वह इस विषय के आचार्य थे। दोनों ने वैदिक या संस्कृत भाषा को लक्ष्य में रखकर ही नहीं, अपितु भाषातत्त्व के मौलिक सिद्धान्तों को दृष्टि में रखकर विचार किया है। स्थूल बुद्धि से सूक्ष्म तत्त्वों के विषय में जो मौलिक बातें भासित होती हैं, उनका संक्षिप्त रूप निम्न है : —

शब्द और अर्थ की अभिन्नता

१—शब्द और अर्थ अर्थात् वाक्तत्त्व और बुद्धितत्त्व दोनों इतने अधिक सम्बद्ध हैं कि उनको पृथक् नहीं किया जा सकता है। वाक्तत्त्व और बुद्धितत्त्व दोनों एक दूसरे के आश्रित रहते हैं; दोनों की स्वतन्त्र पृथक् सत्ता नहीं है। यही वाणी और विचारों का समन्वय है, इसी को पारिभाषिक भाषा में स्फोट विवेचन

कहते हैं। शब्द और अर्थ का जो स्वाभाविक नित्य सम्बन्ध पतञ्जलि और भर्तृहरि ने कहा है, उसका तात्त्विक रूप यह है। शब्दार्थ सम्बन्ध को न मानने वालों ने जो प्रश्न उठाया है, जैसे आग शब्द से मुँह का न जलना, अर्थ में वर्णों की अनुपलब्धि, उनको हेलाराज ने अतएव कुछ अप्रिय किन्तु सत्य रूप में कहा है कि "दर्शनानभिज्ञो देवानां प्रियः" (वाक्य० ३, पृ० ६७) अर्थात् दर्शन (आत्म-साक्षात्कार) का ज्ञान न होने से यह प्रश्न उठाया है।

सम्बन्ध की नित्यता

२—पतञ्जलि और भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध के लिए "नित्य" शब्द का प्रयोग किया है। परन्तु कात्यायन ने "सिद्ध" शब्द का प्रयोग किया। दोनों शब्दों का अर्थ तात्विक दृष्टि से एक ही है। कात्यायन के सिद्ध शब्द से दोनों के सम्बन्ध की स्वाभाविकता पर अधिक प्रकाश पड़ता है और पतञ्जलि के नित्य शब्द से इस सम्बन्ध की अनादिता, अनन्तता और अविनाशिता पर विशेष प्रकाश पड़ता है।

संकेत से सम्बन्ध का ज्ञान

३—इस पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि अन्य दार्शनिकों के संकेतवाद का इसमें क्या स्थान है। तात्विक दृष्टि से जो नित्यता और स्वाभाविकता का स्थान है, वही व्यावहारिक दृष्टिकोण से संकेत का स्थान है। इस नित्य एवं स्वाभाविक सम्बन्ध को संकेत का रूप देने का काम अर्थात् यह शब्द है और यह अर्थ है, आस्तिक दर्शनों के अनुसार सब से प्रथम ईश्वर ने किया। शब्द भावाभिव्यक्ति का साधनमात्र है। अतः उसे प्रतीक भी कहा जा सकता है। संकेतवाद और प्रतीकवाद इस प्रश्न के व्यावहारिक रूप का विवेचन करते हैं, पारमार्थिक का नहीं। अतएव तात्विक दृष्टि से अर्धसत्य हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इनकी उपयोगिता पूर्ण और सत्य है। अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि समय अर्थात् संकेत से सम्बन्ध का मनुष्य को ज्ञान होता है।

समयाद् योग्यतासंविन्मातापुत्रादियोगवत्। वाक्य० ३, पृ० १११।

महर्षि कणाद और गौतम के विचार इस प्रश्न पर केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण को लेकर हैं। जयन्तभट्ट का अतएव यह कथन युक्तिसंगत है कि जहाँ तक आजकल के व्यवहार का सम्बन्ध है, वहाँ पर नित्यवादी और संकेतवादी दोनों लगभग समान ही हैं। दोनों को ही व्यावहारिक अवस्था में संकेत वृद्ध व्यवहार परम्परा से ही ज्ञान होता है।

अद्यत्वे तु शब्दार्थसम्बन्धव्युत्पत्तौ तुल्य एवावयोः पन्थाः। न्यायमंजरी, पृष्ठ २२४।

इस सम्बन्ध का ज्ञान भी व्यावहारिक अवस्था में संकेत के सहारे ही होता

है अतः व्यावहारिक दृष्टि से नित्य सम्बन्ध को न मानने पर भी काम चल ही जाता है। अतः जयन्त ने इस बात पर बल देते हुए कहा है कि संकेत दोनों अवस्थाओं में मानना पड़ता है। और उससे काम चल जाता है तो क्या आवश्यकता है कि सम्बन्ध को भी स्वीकार करें।

समयोपयोगी नियामक इति चेत् स एवास्तु किं शक्तिभिः। न्यायमंजरी, पृष्ठ २२४।

यह व्यावहारिक स्थूल दृष्टि का उत्तर भाषाशास्त्रियों को मौलिक उत्तर ज्ञात न होने से उन्हें इसके मूल में निहित स्वाभाविक सम्बन्ध को नित्य कहना पड़ा है। मौलिक स्वाभाविक सम्बन्ध के बिना संकेत का प्रारम्भ सम्भव नहीं है। वाक्-तत्त्व और बुद्धितत्त्व के नित्य स्वाभाविक सम्बन्ध को मानकर नित्य सम्बन्ध कहा गया है।

द्रव्यरूप अर्थ से नित्य सम्बन्ध

४—नित्य अर्थ क्या है जिसका शब्द से नित्य सम्बन्ध है। इसका विवेचन पतञ्जलि ने "सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे" (महा० आह्निक० १) की व्याख्या में द्रव्य और आकृति की नित्यता और अनित्यता पर विचार करते हुए स्पष्ट किया है। पतञ्जलि मिट्टी के बने बर्तनों और सुवर्ण के बने आभूषणों का उदाहरण देकर इनकी आकृति (आकार) को अनित्य कहते हुए आकृति शब्द को श्लिष्ट रूप में प्रयोग करके बहुत गम्भीर बात कह गये हैं। भर्तृहरि ने पतञ्जलि के २०-२५ पंक्तियों में कहे मौलिक भाव को १२४ श्लोकों में तृतीय काण्ड के जाति समुद्देश (वाक्य० का० पृष्ठ १ से ६५) में स्पष्ट किया है। स्थूल दृष्टि से समझा जाता है कि आकृति (जाति) नि य है और द्रव्य (व्यक्ति) अनित्य। परन्तु पतञ्जलि इसके सर्वथा विपरीत निर्णय देकर गम्भीर बात कह गए हैं। पतञ्जलि कहते हैं कि आकृति (जाति) बदलती रहती है और द्रव्य वही रहता है। यहाँ गूढ़ वर्णन का अभिप्राय यह है। पतञ्जलि ने आकृति शब्द, जिसके दो अर्थ हैं १—आकार प्रकार, २—जाति, का प्रयोग करके मिट्टी के बर्तनों और सोने के आभूषणों का उदाहरण दिया है। ऊपर से ऐसा ज्ञात होता है कि वह यह कह रहे हैं कि मिट्टी या सोने की बनी स्थूल वस्तुओं का आकार बदल जाता है और मिट्टी या सोना शेष रहता है, जो कि द्रव्य है। छान्दोग्य उपनिषद् (अध्याय ६, १) का वचन है कि "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" अर्थात् मिट्टी रूप मूल भूत वस्तु एक है, घड़े आदि जो उसके विकार दीखते हैं वह केवल कहने मात्र को हैं वस्तुतः मिट्टी के अतिरिक्त घड़ा आदि कुछ नहीं है। पतञ्जलि का भाव छान्दोग्य उपनिषद् के उदाहरण से कुछ स्पष्ट होता है। पतञ्जलि वस्तुओं के आकार प्रकार को ही आकृति शब्द से अनित्य नहीं कह गए हैं, अपितु जातिमात्र, जो कि आकृति शब्द का अर्थ है, को भी अनित्य कह कर केवल एक द्रव्य को नित्य कह

गए हैं। जातिमात्र के मूल में एक तत्त्व है जो स्थिर और नित्य है, वह है आत्म-तत्त्व। वैयाकरणों की भाषा में वह है शब्दतत्त्व, शब्दब्रह्म या स्फोट। पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया था कि किस पदार्थ को लेकर शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य मानते हो? उसका उत्तर दिया है कि द्रव्य को पदार्थ मानकर। द्रव्य क्या है? जो कि आकृति (जाति) के नष्ट होने पर भी बचा रहता है। वह है शब्दब्रह्म, शब्द-तत्त्व। यह ही वास्तविक नित्य है। इसी का लक्षण किया है कि नित्य वह है जो कि कूटस्थ अविचाली आदि हो अर्थात् जिसमें कभी किसी प्रकार का परिवर्तन आदि न होता हो। शब्द अर्थात् स्फोट रूपी शब्द वाचक है और शब्दब्रह्म (स्फोट) रूपी अर्थ वाच्य है। इन दोनों का सम्बन्ध स्वाभाविक है, नित्य है, और अनादि है। यह है वैयाकरणों का शब्द और अर्थ का नित्य सम्बन्ध। इसमें शब्द और अर्थ दोनों ही ध्रुव कूटस्थ हैं। अनित्यता का नाम ही नहीं है। यह है द्रव्य का दार्शनिक स्वरूप।

जातिरूप अर्थ से नित्य सम्बन्ध

५—पतञ्जलि इससे नीचे आकृति को द्वितीय कोटि का पदार्थ बताते हैं। प्रथम कोटि का अर्थ शब्दतत्त्व है। उसके बाद द्वितीय कोटि का अर्थ जाति है। आत्म-तत्त्व या परमात्मा की तुलना में जाति अनित्य पदार्थ है इसका स्वरूप बदलता रहता है। इसकी नित्यता की परिभाषा में भी पतञ्जलि ने अन्तर कर दिया है। वे कहते हैं कि एक स्थान पर नष्ट हो गई है इसलिए सब स्थानों पर नष्ट हो जाती है, ऐसी बात नहीं है, अन्य द्रव्यों में शेष रहती है इसलिये स्वरूप के बदलने या व्यक्तियों के नष्ट होने पर भी जाति बनी रहती है। अतः वह नित्य है।

नित्या आकृतिः कथम्? न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते। महा० आ० १।

यह है कि अर्थ की अनित्यता में भी नित्यता। अर्थ के परिवर्तन में भी अप-रिवर्तन। अर्थ के विनाश में भी अविनाश।

जाति को अर्थ मानते हुए एक और दूसरा उत्तर नित्यता का देते हैं। वह है कि नित्य का यही कोई लक्षण नहीं है कि ध्रुव कूटस्थ आदि हो, अपितु नित्य वह भी जिसमें तत्त्व (मौलिक तत्त्व) नष्ट नहीं होता।

तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्वं न विहन्यते। महा०

नागेश ने इसको स्पष्ट किया है कि जिसके नष्ट हो जाने पर भी तद्गत् धर्म (मौलिक तत्त्व) नष्ट नहीं होता वह भी नित्य है। इसका अभिप्राय है, प्रवाह नित्यता। जिस प्रकार प्रवाह में उसके नष्ट होने पर भी उसके धर्म का नाश नहीं होता, क्योंकि प्रवाह का जो मौलिक रूप है वह अविच्छिन्न रहता है। जाति में व्यक्ति नष्ट होते रहते हैं, जाति बनी रहती है। प्रवाह के नित्यता को स्पष्ट समझने

के लिए प्रवाह को समझ लेना चाहिये। नदी का प्रवाह चलता है, उसमें जो जल प्रारम्भ से चला था, वह घटता बढ़ता बदलता नष्ट होता रहता है, परन्तु प्रवाह चला जाता है। जल जल एक होने के कारण उसके परिवर्तन परिवर्धन आदि को ध्यान न देकर नित्य कहते हैं। तात्विक दृष्टि से प्रवाह नित्य नहीं है, क्षण क्षण में नष्ट होता रहता है। यह है आकृति का जातिरूप अर्थ, जो कि अनित्य होते हुए नित्य है, व्यावहारिक दृष्टि से, तात्त्विव दृष्टि से नहीं। यही है दूसरे शब्दों में भाषाविकास, शब्दविकास, अर्थविकास और सब प्रकार के विकास। यहाँ भी शब्द जाति का अर्थजाति से प्रवाह नित्यता सम्बन्ध रहने से सम्बन्ध को नित्य कहते हैं। देखो महा० 'स्त्रियाम्' (४, १, ३) सूत्र तथा वाक्यपदीय काण्ड ३, पृ० ३१।

व्यक्ति रूप अर्थ से सम्बन्धनित्य

६—ऊपर के दोनों प्रकार के अर्थों में तात्विक दृष्टि से प्रथम को वस्तुतः नित्य और द्वितीय को व्यावहारिक नि य अर्थ मानकर सम्बन्ध को नित्य कहा है। पतञ्जलि ने तृतीयकोटि का भी अर्थ दिया है, वह है अधमकोटि का अर्थ। स्थूल अर्थ और व्यक्तिरूप अर्थ। यही स्थूल अर्थ है, जिस तक अन्य दार्शनिक पहुँचे हैं और विभिन्न आक्षेप उठाए हैं। आजकल के भाषाशास्त्री जिसको विकासशील कहते हैं। इसके लक्षण में पतञ्जलि ने अन्तर कर दिया है। ऊपर के दोनों अर्थों की नित्यता का वर्णन करते हुए उन्होंने 'सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे' का विश्लेषण किया है "सिद्धे शब्दे अर्थ-सम्बन्धे च" अर्थात् ऊपर दोनों अर्थों में तीनों वस्तुएँ नित्य हैं शब्द भी, अर्थ भी और सम्बन्ध भी जिनकी उपर्युक्तनित्यता को ध्यान में रखते हुए किसी भी दार्शनिक को आक्षेप का स्थान नहीं रहता। इस तृतीय कोटि के अर्थ में पतञ्जलि ने कात्यायन के वार्तिक का विश्लेषण विभिन्न रूप से किया है, जिस पर आक्षेप उठाया जा सकता था, उसका पहले से निराकरण कर दिया है। विश्लेषण का रूप यह किया है। 'सिद्धे शब्दे अर्थ-सम्बन्धे च' नित्योह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः स्थूल द्रव्य रूप अर्थ, व्यक्तिरूप अर्थ न तो तात्विक दृष्टि से ही नित्य है और न व्यावहारिक या स्थूल दृष्टि से। अतः पतञ्जलि ने अर्थ को पृथक् रख कर नित्य नहीं बताया है। उसे सम्बन्ध शब्द के साथ संबद्ध कर दिया है और कहा है कि शब्द नित्य है, अर्थ अनित्य है, सम्बन्ध नित्य है। प्रश्न होगा कि अर्थ नित्य है तो सम्बन्ध कैसे नित्य हो सकता है। यह है सबसे स्थूल प्रश्न, जिसके विषय में पीछे पर्याप्त लिखा जा चुका है। इसका स्पष्टीकरण स्वयं पतञ्जलि ने किया है कि "न हि पदार्थः सत्तां व्यभिचरति" अर्थात् पदार्थ भी नित्य है, उसमें त्रैकालिक सत्ता रहती है। वर्तमान भूत भविष्यत् उसी के अंश हैं। पदार्थ की वर्तमान समय की सत्ता को बताने के लिए "है" कहते हैं। "था" "होगा" उसकी भूत और भविष्यत् सत्ता को बताते हैं। त्रैकालिक नित्य सत्ता का आविर्भाव वर्तमान है और तिरो-

भाव भूत भविष्यत् हैं। स्थूल दृष्टि से यह अनित्य है, अतः पतञ्जलि ने स्थूल दृष्टि के अनुसार ही इसको अनित्य कहा है। इसके सम्बन्ध का जैसा कि कैयट, नागेश और भर्तृहरि ने स्पष्ट किया है कि योग्यता रूपी सम्बन्ध को लेकर यह कहा गया है। योग्यता शब्द में रहती है। शब्द सब स्थिति में नित्य है। अनित्य अर्थों में भी शब्द की अर्थ बोधकता का सम्बन्ध सदा रहता है। भर्तृहरि और हेलाराज ने इसको स्पष्ट किया है कि अनित्य अर्थ के साथ भी शब्द का वाच्य-रूप सम्बन्ध नित्य है। यहाँ पर नित्य शब्द तात्विक नित्य नहीं, अपितु व्यावहारिक नित्यता एवं प्रवाह-नित्यता को लक्ष्य में रख कर कहा गया है।

अनित्येष्वपि नित्यत्वमभिधेयात्मना स्थितम्। वाक्य० ३, पृ० ११३।

भर्तृहरि ने इस सम्बन्ध में स्पष्ट करने के लिए एक सम्बन्ध समुद्देश (वाक्य० ३ पृ० ९६-१३८) प्रकरण पृथक् ही लिखा है। इस बाह्य स्थूल अर्थ को भर्तृहरि ने असत्योपाधिमिश्रित सत्य कहा है। सत्य इसलिए है कि मौलिक शब्दतत्त्व उसमें है। असत्योपाधि इस लिए है कि उसमें विनाशशीलता पर स्थूल दृष्टि से आभास मिलता है।

असत्योपाधि यत्सत्यं तद् वा शब्दनिबन्धनम्। वाक्य० २, १२९।

सम्बन्ध तीनों अवस्थाओं में नित्यरूप से रहता है। शब्दतत्त्व रूपी अर्थ के साथ सम्बन्ध तात्त्विक रीति से नित्य है। जाति और व्यक्तिरूपी अर्थ के साथ प्रवाह-नित्यता सम्बन्ध है।

अर्थ-विज्ञान की दृष्टि से विचार

७—पतञ्जलि ने शब्दब्रह्म को परब्रह्म से अभिन्न मानकर इसका विवेचन किया है। शब्दतत्त्व की दृष्टि से इसको स्पष्ट करने के लिए मिट्टी के बर्तन और सुवर्ण के आभूषण के स्थान पर शब्दशास्त्र के उदाहरण रखने से विषय स्पष्ट हो सकेगा। उपर्युक्त उदाहरण में तीन वस्तुएँ हैं, १ मूलतत्त्व, २ आकृति या जाति ३ - स्थूल द्रव्य या व्यक्ति। भाषाशास्त्र में १--मूलतत्त्व शब्दतत्त्व है २--आकृति या जाति संसार की विभिन्न भाषाएँ हैं। ३ स्थूलद्रव्य या व्यक्ति प्रत्येक भाषाओं के प्रत्येक शब्द हैं, पतञ्जलि के कथन को ध्यान में रखते हुए इसका विवरण निम्न होगा:—

क—संसार की समस्त भाषाओं में विद्यमान शब्दतत्त्व एक है। शब्दतत्त्व ही वाचक है और अर्थरूप में भी मौलिकतत्त्व के कारण वही वाच्य है। भर्तृहरि ने वाचक शब्द में दो शब्द बताए हैं, उनका स्वरूप बुद्धितत्त्व और प्राणतत्त्व है। उनका कथन है कि एक शब्द का निमित्त है और इस अर्थ में प्रयुक्त होता है (वाक्य० १,४४,४७), शब्दतत्त्व में ये दो तत्त्व रहते हैं। बुद्धितत्त्व (विचारतत्त्व) प्राणतत्त्व को प्रेरणा देता है, उसी प्रेरणा के कारण वह स्थूलरूप ध्वनि को प्राप्त होता है। दूसरा प्राणतत्त्व ध्वनिरूप में अर्थ के बोध के लिए प्रयुक्त होता है। मुख्य अर्थ

शब्दतत्त्व है। अतः वाचक शब्दतत्त्व का वाच्य सम्बन्धतत्त्व से नित्य सम्बन्ध रहता है। संकेत इसका प्रकाशक है। भाषा और अर्थ मौलिक रूप में सदा विद्यमान रहते हैं। आस्तिकवाद के शब्दों में ईश्वर उस संकेत का प्रकाशक है।

ख—द्वितीयकोटि का अर्थ है जाति। शब्दशास्त्र में विभिन्न जाति हैं। संसार की विभिन्न भाषाएँ। पतञ्जलि का कथन है कि जाति में भी परिवर्तन होते रहते हैं। यह है भाषाविज्ञान का आधुनिक सर्वसमस्त भाषाओं के विकास का सिद्धान्त। शब्दरूपी व्यक्ति नहीं अपितु भाषाओं की आकृति (जाति) बदलती रहती है। इस के उदाहरण रूप में वैदिक भाषा को ले सकते हैं। इसकी आकृति "आकृतिरन्या चान्या च भवति" नियम के अनुसार प्राकृत, साहित्यिक, संस्कृत, अपभ्रंश आदि आकारों में बदलती गई और आज हिन्दी के रूप में उसका स्वरूप है। संसार की अन्य भाषाओं लैटिन, ग्रीक आदि का ऐसा ही इतिहास है। १—भाषाओं में कितने ही परिवर्तन होते रहते हैं, परन्तु भाषा भाषा के रूप में चली जाती है। वैदिक भाषा कितने ही आकार बदलने पर भी नष्ट नहीं हुई, अन्य रूप ग्रहण करती गई। अतः उसकी नए रूपों में उपलब्धि होती है। २—भाषा में अनेकों शब्दों की सृष्टि और प्रलय होती रहती है, परन्तु भाषा का मूलतत्त्व विद्यमान रहने से भाषा प्रवाहनित्यता की प्रणाली से नित्य रहती है। जातिरूप में भाषा और जातिरूप में भाषा के अर्थ नित्य हैं। इस नित्य शब्दों और अर्थों का सम्बन्ध प्रवाह-नित्यता के अनुसार नित्य है। जिस प्रकार सारी भाषा की भाषा बदलती जाती है, उसी प्रकार भाषा के सारे शब्दों का अर्थ भी सामूहिक रूप में बदलता रहता है।

ग—तृतीयकोटि का अर्थ है व्यक्ति। शब्दशास्त्र में व्यक्ति है प्रत्येक भाषा के प्रत्येक शब्द और प्रत्येक शब्द के अपने अर्थ। ये सबसे स्थूल है, जिनका जन्म और नाश सबों को स्थूल रूप से भी दीखता है। अतः पतञ्जलि ने इन्हें (द्रव्यमनित्यम्) अनित्य कहा है। प्रत्येक शब्द अनित्य है और प्रत्येक शब्द का अर्थ भी अनित्य है। इनका ह्रास और विकास, जिस प्रकार संसार में मनुष्य का, भाषाशास्त्री देखते रहते हैं। जिस प्रकार स्थूल वस्तुओं की आयु भी परिमित होती है, उसी प्रकार इनकी आयु भी परिमित होती हैं प्रत्येक शब्द और उसके अर्थ का भाषाशास्त्री इतिहास ढूँढ़ सकते हैं। ये प्रत्येक शब्द और प्रत्येक अर्थ व्यावहारिक दृष्टि से भी अनित्य हैं फिर भी सम्बन्ध प्रवाह रूप से नित्य है। प्रत्येक भाषा में प्रत्येक शब्द का अर्थ प्रवाह नित्यता के उदाहरण के अनुसार बदलते बदलाते हुए भी प्रायोगिक दृष्टि से नित्य बना रहता है।

सर्वार्थवाचकता

८—"सर्वे सर्वार्थवाचकाः" यह भाषाविज्ञान की दृष्टि से सत्य है। नागेश का कथन है कि योगिजन उसको देख पाते हैं, साधारण व्यक्ति नहीं। साधारण व्यक्ति के लिए अपनी भाषा में जो शब्द जिस अर्थ में बोला जाता है, वही

उसका अर्थ है, परन्तु भाषा-विशेषज्ञों और उनमें भी बहुभाषाविशेषज्ञों की दृष्टि में शब्द "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" ही है। उनकी दृष्टि में प्रत्येक शब्द किसी भाषा में कोई अर्थ बताते हैं और किसी भाषा में कोई अर्थ। साधारण व्यक्ति के लिए एक अर्थ है पर उनके लिए अनेक अर्थ हैं। जो जितना अधिक व्यापक प्रतिभायुक्त है उसके लिए शब्द की सर्वार्थबोधकता उतनी ही बढ़ती जाती है। पूर्ण योगी के लिए वस्तुतः "सर्वे सर्वार्थवाचकाः" हैं। इस पर प्रश्न यह हो सकता है, जैसा कि ऊपर जयन्तभट्ट ने किया है कि सब जगह सर्वार्थवाचक क्यों नहीं है, इसका उत्तर समय, संकेत व्यवहार परम्परा का नियन्त्रण है। जहाँ पर जो शब्द जिस अर्थ में प्रचलित है, वहाँ उसी अर्थ की स्थिति रहती है। भाषा-विशेषज्ञ के लिए अर्थ निश्चय के साधन अर्थ नियन्त्रण करते हैं। इन साधनों का वर्णन किया जा चुका है। वैसे इसका सैद्धान्तिक अथ यह है कि शब्दतत्त्व कहने से सारे शब्द एक शब्द में आ जाते हैं। अर्थतत्त्व कहने से सारे अर्थ (कूटस्थ, जाति और व्यक्ति) एक अर्थ शब्द में आ जाते हैं। ये दोनों एक मूल-तत्त्व (शब्दब्रह्म या शब्दतत्त्व) के भाव और अभाव रूप से दो अपृथक् स्थिति रखते हुए भेद है। इनमें एक अंश (शब्दतत्त्व) वाचक है और दूसारा अंश (अर्थतत्त्व) वाच्य है। इस मूल अवस्था में सारे शब्द अर्थात् एक मूलशब्द-तत्त्व सारे अर्थों (अर्थात् एक मौलिक अर्थतत्त्व) का बोध कराता है। यह एक परम और ध्रुव सत्य है। जिसका वास्तविक ज्ञान सिद्धावस्था को प्राप्त योगी स्पष्ट रूप से देखता हैं। विशिष्ट भाषा विज्ञान-शास्त्री इसका पूर्ण नहीं तो अपूर्ण दर्शन अवश्य कर सकते हैं। यही कारण है कि एक शब्दतत्त्व से संसार की विभिन्न अगणित भाषा-उपभाषा उत्पन्न हो कर अगणित अर्थों का विभिन्न रूप में बोध कराती हैं। शब्द और अर्थ का जो नित्य सम्बन्ध कहा गया है, वह वास्तविक अर्थ में तो मौलिक अर्थ को लेकर कहा गया है और व्यावहारिक एवं प्रवाह नित्यता को दृष्टि में रखकर आधुनिक या व्यावहारिक अर्थ के साथ उसका सम्बन्ध नित्य कहा गया है। वर्तमान के मूल में जो त्रैकालिक सत्ता है, उसको ठीक जान लेने पर यह शब्दार्थ सम्बन्ध त्रैकालिक सत्य है।

नित्यवाद का दार्शनिकरूप

९—पतञ्जलि और भर्तृहरि के जो कथन हैं, वह वस्तुतः अथाह हैं। जो ऊपर विवरण दिया गया है, वह बहुत अंशों में एकांगी है। इस पर और सूक्ष्म दृष्टि से विवेचन करने से ज्ञात होता है कि यह शब्द और अर्थ (स्थूल अर्थ में) का विवेचन नहीं, अपितु ब्रह्मतत्त्व का विश्लेषण है। जिसमें व्याकरण ही नहीं, अपितु संसार की सारी विद्याओं का सूत्र रूप में स्पष्टीकरण है। इसकी पूर्ण सत्यता प्रत्येक दृष्टिकोण से विचार करने पर स्पष्ट होती हैं। ये दो तत्त्व ही, जिसको वैयाकरण शब्द और अर्थ नाम देते हैं संसार के मूलकारण दो तत्त्व हैं,

जो एक आत्मा के दो रूप हैं। इन्हीं दोनों तत्त्वों को पुरुष, प्रकृति ब्रह्म-माया, ज्ञान-अज्ञान, अस्ति-नास्ति, भाव-अभाव, ऋत-सत्य, अग्नि-सोम, और आधुनिक विज्ञान के शब्दों में धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियों का नाम देकर स्पष्ट किया है। पतञ्जलि और भर्तृहरि ने तथा उनके टीकाकारों ने एक नहीं, अनेक स्थलों पर इस बात का बहुत स्पष्ट रूप से संकेत किया है, जो कि स्थूल दृष्टि से अनर्गल और अप्रासंगिक सा प्रतीत होता है। इन दोनों योगियों के लिए व्याकरण स्थूल व्याकरण नहीं था, अपितु ब्रह्मतत्त्व को शब्दतत्त्व कहकर संसार के सारे प्रश्नों का दार्शनिक रूप में विवेचन करना था। भौतिक जगत् में जैसा स्थान स्थूल जाति और व्यक्ति का है, पंचभूतों और पंचतन्मात्राओं का है उसी प्रकार से व्याकरण में उनके प्रतिनिधि वर्ण पद और वाक्य हैं। इनका वास्तविकरूप स्पष्ट कर देना ब्रह्मतत्त्व या शब्दतत्त्व की आत्मा का स्वरूप प्रकट कर देना है। अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि यह व्याकरण की सब स्थूल प्रक्रिया व्यावहारिक है तात्त्विक दृष्टि से यह अविद्या है। यह साधन है, इसके समझ लेने से इसके अन्तर्निहित शब्द-तत्त्व की प्राप्ति होती है।

> व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः।
> शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते।
> अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्ण्यते॥
>
> वाक्य० २, २३४—२३५।

सम्भवतः कुछ ऐसी ही बातों को दृष्टि में रखकर वैदिक महर्षि ने कहा था कि इसको देखते हुए भी कुछ लोग नहीं देखते हैं, और इसको सुनते हुए भी नहीं सुनते हैं। परन्तु जो इसको आंख खोलकर देखता है और ठीक सुन लेता है, उसको यह अपना स्वरूप प्रकट कर देता है। पतञ्जलि ने महाभाष्य में इसको प्रारम्भ में ही स्पष्ट उद्धृत भी किया है।

> उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम्।
> उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे, जायेव पत्य उशती सुवासाः॥
>
> महा० आ० १।

बौद्ध दार्शनिकों का अपोहवाद

अपोहवाद का इतिहास—उपर्युक्त विवेचन के पश्चात् यह उचित नहीं प्रतीत होता है कि अपोहवाद को स्थूल रूप से प्रस्तुत किया जाय। यह बौद्ध दर्शन के मौलिक सिद्धान्तों का एक अंग है। गौतम बुद्ध के अंगुत्तर-निकाय (३, १, ३४) के "अनित्य, दुःख, अनात्म" इस एक सूत्र में बुद्ध का सारा दर्शन समाविष्ट है। बुद्ध ने क्षणिकवाद (महानिदानसुत्त दी० नि० २, १५) प्रतीत्य समुत्पाद, "अस्मिन् सति इदं भवति" (म० नि० १, ४, ८) अर्थात् इसके होने पर यह होता है, सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। प्रतीत्य समुत्पाद के इस विच्छिन्न

प्रवाह को लेकर नागार्जुन ने शून्यवाद को विकसित किया है। अनात्मवाद के सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए वे आत्मवाद को बालधर्म कहते हैं।

अयं भिक्खवे, केवलो परिपुरो बालधम्मो। मज्झिम नि० १, १, ३।

नागार्जुन ने अनित्यवाद का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि, "कहीं भी कोई सत्ता न स्वतः है, न परतः, न स्वतः परतः दोनों और न बिना हेतु के ही।" (मध्य० का० ४)। असंग ने योगाचारभूमि में अनित्यवाद और प्रतीत्यसमुत्पाद का और विस्तार से वर्णन किया है। अनित्यवाद के समर्थन के लिए यह आवश्यक था कि सभी पदार्थों को अनित्य माना जाय। इसमें सबसे बड़ा विघ्न आकृति या जाति था। यदि व्यक्ति के अतिरिक्त जाति जैसा कोई भी पदार्थ मानना पड़ता है तो अनित्यता सिद्ध नहीं हो सकती है अतएव अनित्यवाद के लिए आवश्यक हो गया कि जाति का बहुत उग्र रूप से खण्डन किया जाय। परन्तु जाति का खण्डन करने पर मनुष्य जाति, गोजाति आदि में जो अनेक में एकता मिलती है, उसका भी कुछ उत्तर होना चाहिये था। अतः अपोहवाद का जन्म हुआ है। दिङ्नाग ने सर्वप्रथम इसका मुख्य रूप से प्रतिपादन किया है। दिङ्नाग ने अपने मुख्य ग्रन्थ "प्रमाण समुच्चय" के ६ परिच्छेदों में से पंचम परिच्छेद अपोह-परीक्षा, जिसमें ५२ श्लोक हैं, लिखा है। कुमारिल भट्ट ने दिङ्नाग के इस अपोहवाद का श्लोकवार्तिक के अपोहवाद प्रकरण (श्लोक १ से १७६) में बड़े ऊहापोह से खण्डन किया है। कुमारिल के आक्षेपों को दृष्टि में रखकर धर्मकीर्ति ने अपने ग्रन्थ प्रमाण-वार्तिक में, जो कि दिङ्नाग के प्रमाणसमुच्चय की व्याख्या है, आवश्यक सुधार करके अपोहवाद को नये रूप में रक्खा है। धर्मकीर्ति ने (तृतीय परिच्छेद ३, ३) तथा चतुर्थ परिच्छेद (४, १३१) में अपने विचारों को स्पष्ट किया है। जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी (पृष्ठ २७६ से २८६) में धर्मकीर्ति के मत का बहुत विस्तार से खण्डन किया है। रत्नकीर्ति ने अपोहवाद का खण्डन करने वालों में वाचस्पति, कुमारिल, त्रिलोचन और न्यायभूषण का भी उल्लेख किया है। इनमें आक्षेपों को दृष्टि में रखकर रत्नकीर्ति ने "अपोह-सिद्धि" के निरूपण में पुनः आवश्यक संशोधन कर दिये हैं। इस प्रकार अपोहवाद दिङ्नाग, धर्मकीर्ति और रत्नकीर्ति के द्वारा अपने स्वरूप को बदलता रहा। मुख्य लक्ष्य जाति का खण्डन रहा है।

अपोहवाद का स्वरूप—आस्तिक दर्शनों ने शब्द और अर्थ के सम्बन्ध से अर्थज्ञान का निरूपण किया है, परन्तु नास्तिक सिद्धान्त के समर्थक होने के कारण बौद्धदार्शनिक शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध नहीं मानते हैं। उनके मतानुसार शब्द से अर्थज्ञान का प्रकार यह है। जैसे गाय शब्द गाय पशु का बोध नहीं कराता है, अपितु प्रथम "अपोह" अर्थात् अन्य की व्यावृत्ति, जैसे अश्व आदि, करता है। तदनन्तर इस अपोह के द्वारा अन्य व्यावृत्ति होने पर अनुमान से यह ज्ञान प्राप्त करते हैं कि यह गाय है।

कुमारिल ने जिस अपोहवाद को लेकर खण्डन किया है, उसका स्वरूप उनके टीकाकार पार्थसारथि मिश्र ने श्लोकवार्तिक अपोहवाद प्रकरण श्लोक १ में स्पष्ट किया है। अत्यन्त विलक्षण पदार्थों में सादृश्य या सामान्य का बोध उसके अन्य की व्यावृत्ति से ही देखा जाता है जैसे गाय अश्व हाथी के सादृश्य का बोध कराना हो तो उष्ट्रभिन्न पदार्थ कहने से उनका बोध हो जाता है। इसी प्रकार गाय शब्द का अर्थ गाय से भिन्नों की व्यावृत्ति करके ही काली गाय आदि गायों का बोध करा सकता है। अतएव गाय से भिन्न की व्यावृत्ति रूपी समानता गाय शब्द का वाच्य है इसीलिए कहा भी है कि जो लाल गाय का रूप है वह काली गाय का नहीं है, किन्तु गाय से भिन्न की व्यावृत्ति दोनों में है, गाय कहने से लाल काली दोनों गाय का बोध होता है। अतएव ज्ञात होता है कि शब्द वस्तु की सत्ता का बोध नहीं कराते हैं, अपितु तद्भिन्न की व्यावृत्ति का ही बोध कराते हैं।

यद् रूपं शाबलेयस्य बाहुलेयस्य नास्ति तत्।
अतद्रूपपरावृत्तिर्द्वयोरपि न भिद्यते ॥ श्लोक वार्तिक।

धर्मकीर्ति का विचार—कुमारिल ने दिङ्नाग का यह मत देकर इसका खण्डन किया है। जयन्त भट्ट ने धर्मकीर्ति के मत का उल्लेख किया है। बौद्ध मत के अनुसार ज्ञान विकल्पात्मक है। अन्य की व्यावृत्ति न बाह्य है और न आभ्यन्तर। अपितु ज्ञान और वस्तु से पृथक् है। यह न बाहर है न अन्दर, अतएव इसको मिथ्या कहते हैं। यदि दोनों नहीं है तो इसका क्या स्वरूप है? आरोपित विकल्पात्मक आकारमात्र।

गाय शब्द कहने पर विजातीय की व्यावृत्ति का उल्लेख करने वाला सा विकल्प ज्ञात होता है। सजातीय की व्यावृत्ति का उल्लेख नहीं करता। शब्द विकल्प के तुल्य ही विषय वाले होते हैं इसलिए उन्हें अन्य का अपोहविषयक कहा जाता है। यह आरोपित आकार वाला विकल्प न बाहर है, और आरोपित होने के कारण अन्तर भी नहीं है, क्योंकि उसका स्वरूप अज्ञात है। अतएव इसका कोई रूप न होने के कारण सार्थक रूप से अपोह (अन्यव्यावृत्ति) कहा जाता है। न्यायमंजरी, पृष्ठ २८०।

रत्नकीर्ति का विशिष्टापोहवाद

अद्वैतवाद के समानान्तर जिस प्रकार विशिष्टाद्वैत आदिमत हैं, उसी प्रकार रत्नकीर्ति ने "विशिष्टापोहवाद" सिद्धान्त का निरूपण किया है। अपोहसिद्धि में अपने विचार का निरूपण करते हुए लिखा है कि हम अपोहवाद से केवल विधि को ही ग्रहण नहीं करते और न केवल अन्य की व्यावृत्ति, अपितु अन्य व्यावृत्ति-विशिष्ट विधि शब्दों का अर्थ है अर्थात् गाय कहने पर गायभिन्न का निषेध करके गाय का ज्ञान करना। रत्नकीर्ति ने यह भी स्पष्ट किया है कि निषेध और विधि ये दोनों ज्ञान आगे पीछे नहीं होते हैं, अपितु एक साथ होते हैं। अतः

कहते हैं कि कोई भी व्यक्ति पहले विधि का ज्ञान करके बाद में अर्थापत्ति से अन्यव्यावृत्ति को नहीं जानता है और न ही अपोह को जानकर अन्यव्यावृत्त विधि को। इसलिये गाय का ज्ञान ही अन्य से व्यावृत्ति का ज्ञान है। यद्यपि अन्य व्यावृत्त शब्द का इसमें उल्लेख नहीं किया गया है तथापि विशेषणभूत अन्य व्यावृत्ति का ज्ञान होता ही है। गोभिन्न से व्यावृत्त में ही गो शब्द का प्रयोग किया गया है। जिस प्रकार नीलकमल के बोधक इन्दीवर शब्द से नीलकमल के ज्ञान में नील का भी ज्ञान अनिवार्य रूप से हो जाता है। इसी प्रकार गोभिन्नव्यावृत्त के अर्थ में प्रयुक्त गाय शब्द से एक ही साथ गोभिन्न की व्यावृत्ति का ज्ञान होना अनिवार्य है। यदि शब्द से अर्थ के ज्ञान के समय अन्य की व्यावृत्ति का ज्ञान नहीं हुआ तो अन्य का परिहार कैसे होता है। "गाय बांधो" कहने पर वह घोड़े आदि को बांध देगा।

नास्माभिरपोहशब्देन विधिरेव केवलोऽभिप्रेतः। नाप्यन्यव्यावृत्तिमात्रं, किन्त्वन्यापोहविशिष्टो विधिः शब्दानामर्थः। अपोहसिद्धि, पृ० ३।

कुमारिल का मत—कुमारिल ने अपोहवाद का खण्डन करते हुए लिखा है कि गायभिन्न की व्यावृत्ति कहकर गायजाति का ही स्पष्ट उल्लेख करते हैं। अभाव कोई पृथक् सत्ता नहीं है, भाव का ही रूपान्तर है। (श्लोक १ से २)। लाल काली आदि गायों में जब तक जाति की सत्ता नहीं मानी जायगी, तब तक विभिन्न वस्तुओं में सादृश्य की सिद्धि नहीं हो सकती। इस जातिरूपी सत्ता को बौद्ध मानते नहीं हैं। अन्य की व्यावृत्ति के द्वारा गाय शब्द लाल और काली दोनों प्रकार की गायों का बोध कराता है, यह विचार युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि "काली गाय" शब्द एक ओर तो गाय से भिन्न की व्यावृत्ति करता है, दूसरी ओर यह काली से भिन्न की व्यावृत्ति करता है। प्रथम का अभिप्राय यह होता है कि समस्त गायें चाहे काली हों या नहीं, दूसरी ओर काली से भिन्न का निषेध करता है। इस प्रकार "काली गाय" का अर्थ निकलेगा काली और काली से भिन्न दोनों प्रकार की गायें, परन्तु यह अर्थ असंगत होगा। जातिरूपी सत्ता को मानने से सब प्रकार की गायों का बोध होता है, क्योंकि वह सभी गायों में समानरूप से है। श्लोक वार्तिक, अपोहवाद, श्लोक ४ से १०।

प्रभाचन्द्र ने प्रमेयकमलमार्तण्ड में (पृष्ठ १२४ से १३०) अपोहवाद का विस्तार से खण्डन किया है। बहुत सी युक्तियाँ जो कुमारिल ने दी हैं उन्हें भी उद्धृत किया है। प्रभाचन्द्र का कथन है कि अपोहवाद केवल आँख बन्द करके मानने से तो सिद्ध हो सकता है, अन्यथा नहीं। अन्य की व्यावृत्ति ही केवल कहने से प्रतीति का विरोध होगा। गाय आदि कहने से जो ज्ञान होता है वह निषेधात्मक नहीं अपितु विधिरूप होता है। यदि अन्य की व्यावृत्ति ही उसका अर्थ है तो अन्य की व्यावृत्ति में चरितार्थ होने से वह गाय वस्तु की प्रतीति नहीं कराएगा। उसके लिए किसी अन्य शब्द की आवश्यकता होगी। यदि यह कहें कि एक ही

गाय शब्द से दोनों विधि और निषेध बुद्धि हो जायँगी अन्य की आवश्यकता नहीं, तो यह कथन ठीक नहीं है। एक ध्वनि से एक ही समय में दो विपरीत कार्य, विधि और निषेध का ज्ञान नहीं हो सकता, क्योंकि विधि और निषेध ज्ञान परस्पर विरोधी हैं, अतः एक से दोनों विपरीत ज्ञान हो सकते हैं। यदि यह कहें कि गाय शब्द से गाय से भिन्न की निवृत्ति मुख्य रूप से ज्ञात की जाती है, तो गाय शब्द कहने पर पहले गाय से भिन्न का ज्ञान सुनने वाले को होना चाहिए परन्तु वस्तुतः ऐसा नहीं होता। यदि ऐसा होता तो गाय का ज्ञान कभी हो ही नहीं सकता था। प्रमेय० पृ० १२५।

जयन्तभट्ट ने भी इसका बहुत विस्तार से (न्यायमंजरी पृ० २७६ से २८६) खण्डन किया है। जयन्त ने (पृ० २८३) में स्पष्ट रूप से लिखा है कि कुमारिल के दिये गए दोषों से बचने के लिए धर्मकीर्ति ने जो उपाय निकाला है, उससे भी काम नहीं चल सकता है। वह भी एक संकट ही है। जाति को स्वीकार किये बिना विभिन्न गायों में एकता का ज्ञान नहीं हो सकता। जाति और व्यक्ति दोनों ही शब्द के अर्थ हैं। इनमें से एक को छोड़ना या उसका निषेध करना अनभिज्ञता है। पृ० २८३।

भर्तृहरि का विवेचन भर्तृहरि ने बौद्धों के अपोहवाद का उल्लेख (वाक्य० ३ पृ० ७६) किया है। जिस प्रकार दिङ्नाग और धर्मकीर्ति ने बुद्ध के अपोहवाद को रक्खा है, उसका उसी प्रकार का उत्तर कुमारिल, वाचस्पति, जयन्त आदि ने देकर जातिवाद की पुष्टि की है। भर्तृहरि ने अपोहवाद का उल्लेख करके भी अपोहवाद का खण्डन नहीं किया है। उन्होंने इसके मूल पर कुठाराघात किया है। बुद्ध का अनित्यवाद का सिद्धान्त, जिसके आधार पर यह वाद चला है, भर्तृहरि ने असम्भव बताया है। यास्क, पतञ्जलि, कपिल आदि ने इस सिद्धान्त को सन्मुख रक्खा है कि असत् से सत् की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, जब भी होगी, सत् से ही सत् की उत्पति होगी। भर्तृहरि ने विस्तार से(वाक्य० का० ३ पृ० १२७ से १३७) अभाव से भाव की उत्पत्ति के सिद्धान्त का खण्डन किया है। यहाँ पर मौलिक प्रश्न, जो कि संसार का सब से जटिल प्रश्न अब भी है, यह है कि सृष्टि तत्त्व के मूल में कौन सा तत्त्व है। यद्यपि पारमार्थिक दृष्टि से भाव और अभाव एक ही मूल तत्त्व है दो रूप हैं, धनात्मक और ऋणात्मक शक्तियाँ अविच्छिन्न रूप से सृष्टि में रहती हैं। भाव और अभाव दोनों में से भावतत्त्व अविनाशी और अक्षर है, किन्तु अभाव अंश में आपेक्षिक विनाशिता और क्षरता है। बुद्ध ने यद्यपि मौलिक तत्त्व के अन्वेषण में संसार की प्रत्येक अनित्य वस्तु में अनित्यता को ठीक रूप से जाना, परन्तु अपने चरमलक्ष्य को पहुँचते समय उन्हें आपेक्षिक अभावांश असत्तत्त्व ही हाथ आया। वहां पर असत् की अपेक्षा मौलिक तत्त्व, जो कि असत् का भी मूल है अर्थात् जिसके सत् और असत् दो भाग हैं, को प्राप्त न कर सके। पतञ्जलि आदि ने उसमें नित्यभाव (सत्) शक्ति को पहि-

चाना है, अतएव "न हि पदार्थः सत्तां व्यभिचरति" (अर्थात् पदार्थ अपनी सत्ता नहीं छोड़ता है) कह गये हैं। अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से भर्तृहरि ने भी विचार कर इसी तत्त्व को ठीक पाया है। भावतत्त्व सर्व प्रथम स्थूल रूप में कैसे आया, इस पर भर्तृहरि कहते हैं कि यह अत्यन्त गूढ़ बात है अर्थात् इसकी वास्तविकता योगी ही प्रत्यक्ष कर सकते हैं।

अत्यद्भुता त्वियं वृत्तिः यदभागं यदक्रमम्।
भावानां प्रागभूतानामात्मतत्त्वं प्रकाशते।।

वाक्य० ३, पृष्ठ १३५

सृष्टि की उत्पत्ति परमाणु के भावात्मक अंश से हुई या अभावात्मक अंश से यह आज भी वैज्ञानिकों के लिए विवेच्य विषय है। भारतीय महर्षियों का इस पर स्पष्ट निर्णय है कि दोनों अंशों की सत्ता होने पर भी भाव अंश सृष्टि का कारण है। भावात्मक अंश की सत्यता पर विश्वास रखने से उन्हें नित्यता सुख और आत्मा को मानना पड़ा है। दूसरी ओर असत् अंश को स्वीकार करने से अनित्यता, दुःख और अनात्मा अंश को मानना पड़ा है। भाव अंश को मौलिक तत्त्व मानने से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध नित्य सिद्ध होता है। अभाव अंश मानने वालों को ऋणात्मक अंश अर्थात् निषेध अंश ज्ञात होता है। परन्तु भाषा के स्वरूप और व्यावहारिक प्रयोग पर भी ध्यान देने से शब्द और अर्थ में सम्बन्ध ज्ञात होता है। यह ज्ञान विधि रूप से ही प्रथम होता है, निषेध रूप से नहीं। अतः अपोहवाद का सिद्धान्त सैद्धान्तिक दृष्टि दार्शनिक दृष्टि, मनोवैज्ञानिक दृष्टि एवं व्यावहारिक दृष्टि से सर्वथा असंगत और अयुक्तिपूर्ण ज्ञात होता है।

अध्याय—६

शब्दशक्ति

शब्द और अर्थ के सम्बन्ध पर विचार करने के पश्चात् इस अध्याय में शब्द से अर्थ का क्या सम्बन्ध है, इस विषय पर विचार किया जायगा।

शब्द की उपयोगिता –पतञ्जलि का कथन है कि "अर्थगत्यर्थः शब्द प्रयोगः अर्थं संप्रत्ययिष्यामीति शब्दः प्रयुज्यते"। (महा० १, १, ४३) अर्थ का बोध कराने के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। यही शब्द की व्यावहारिकता उपयोगिता है। कुमारिल ने भी तन्त्रवार्तिक में इसी उपयोगिता को दृष्टि में रखते हुए कहा है कि—

सर्वो हि शब्दोऽर्थप्रत्यायनार्थं प्रयुज्यते। मीमांसा० सूत्र १, ३, ८ की टीका।

अर्थज्ञान के साधन—यदि शब्द की उपयोगिता अर्थबोधन है तो यह विचार उपस्थित होता है कि अर्थज्ञान कैसे होता है, उसके कौन से साधन हैं।

लोकव्यवहार—पाणिनि का इस विषय में कथन है कि लोकव्यवहार से ही अर्थज्ञान होता है।

प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्। अष्टा० १, २, ५६।

काशिकाकार वामन-जयादित्य ने पाणिनि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शास्त्र की अपेक्षा अन्य होने से लोक को पाणिनि ने "अन्य" नाम दिया है। अन्य प्रमाण है अर्थात् लोकप्रमाण है। शब्दों में अर्थबोधकता स्वाभाविक है। लोकव्यवहार से उस अर्थ का ज्ञान होता है। अतएव पाणिनि ने लोकव्यवहार को अर्थज्ञान का साधन मानकर अपने से प्राचीन आचार्यों के कतिपय नियमों को अनावश्यक मानकर प्रत्याख्यान कर दिया है।

लोकत एवार्थगतेः। यश्च लोकतोऽर्थः सिद्धः किं तत्र यत्नेन।
काशिका, १, २, ५६।

कात्यायन और पतञ्जलि ने पाणिनि के भाव को निम्न शब्दों में स्पष्ट किया है :—

यदि तर्हिलोक एषु प्रमाणम्। किं शास्त्रेण क्रियते ?
लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः ॥
महा० आ० १।

शब्दों का प्रयोग और उनसे अर्थज्ञान लोकव्यवहार के द्वारा ही होता है। व्याकरणशास्त्र लौकिकप्रयोग में धर्म और अधर्म की व्यवस्था करता है। अर्थात् साधु और शिष्ट-प्रयुक्त शब्दों के प्रयोग से धर्म होता है और असाधु के प्रयोग से अधर्म।

वृत्तिज्ञान में अर्थज्ञान—नागेश ने अर्थज्ञान के साधन पर विचार करते हुए वृत्तिज्ञान को अर्थज्ञान का मुख्य साधन बताया है। नागेश का कथन है कि जब तक वृत्तिज्ञान नहीं होगा, तब तक शाब्दबोध नहीं होता ।

तत्रागृहीतवृत्तिकस्य शाब्दबोधादर्शनात्। मंजूषा, पृ० १२।

शाब्दबोध के लिए आवश्यक है कि यह ज्ञान पहले प्राप्त किया जाय कि अमुक शब्द अमुक अर्थ का बोध कराता है, अर्थात् इस शब्द से इस अर्थ का बोध होता है और इस शब्द का यह अर्थ है। इस वृत्तिज्ञान को शक्तिज्ञान या शक्तिग्रह नाम से भी सम्बोधित करते हैं।

शक्तिग्रह के आठ साधन—शक्तिग्रह किन साधनों से होता है। इसके विभिन्न रूपों का उल्लेख वैयाकरणों, नैयायिकों, साहित्यिकों आदि ने किया है। उनका संक्षेप एक प्राचीन श्लोक में किया गया है। शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश ने उसको उद्धृत किया है।

शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोषाप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च ।
वाक्यस्य शेषाद् विवृषिर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः ॥
श्लोक २०।

शक्ति का ज्ञान निम्न आठ प्रकारों से होता है:—१—व्याकरण, २—उपमान, ३—कोष, ४—आप्तवाक्य, ५—व्यवहार, ६—वाक्यशेष (प्रकरण), ७—विवरण ८—ज्ञातपद के साहचर्य से।

जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, लोकव्यवहार सबसे मुख्य साधन है, अन्य साधन गौण हैं। अतएव प्रथम उसका विचार उचित है।

लोकव्यवहार—१—लोकव्यवहार। नागेश ने मंजूषा (पृ० १९ तथा ४६७) में उल्लेख किया है कि बालक को सर्वप्रथम ज्ञान लोकव्यवहार या वृद्ध व्यवहार से होता है, बालक आवाप और उद्वाप तथा अन्वयव्यतिरेक की पद्धति से वृद्धों के व्यवहार से अर्थ को समझता है। आवाप का अर्थ है पदान्तरप्रक्षेप अर्थात् वाक्य में नए शब्द का सम्मिश्रण और उद्वाप का अर्थ है विद्यमान पद का त्याग।

अर्थात् जो शब्द वाक्य में है, उसमें से उसका पृथक्करण। अन्वय का अर्थ है, जो अर्थ उसके साथ सम्बद्ध रहता है और व्यतिरेक जिसकी उससे विभिन्नता है। निम्न उदाहरण से यह बात स्पष्ट होती है एक वृद्ध पुरुष जब अपने छोटे को यह आदेश देता है कि "गामानय" (गाय लाओ), तब वह गाय नामक पशु को लाता है। इसको देखकर समीपस्थ बालक यह समझता है कि इस वाक्य का अर्थ है "सास्ना आदि से युक्त पशु-विशेष का लाना"। इसके पश्चात् "गां बधान" (गाय बांध दो) और "अश्वमानय" (अश्व को लाओ) इन दोनों वाक्यों से आज्ञा प्राप्त होने पर वह गाय बांधता है और अश्व को लाता है। बालक आवाप और उद्वाप से अर्थात् "गामानय" में जो "आनय" शब्द था, उसको हटाकर "बधान" शब्द को मिश्रित किया गया है। इससे गाय अर्थ दोनों स्थानों में विद्यमान है परन्तु द्वितीय वाक्य में लाने के स्थान पर बांधना अर्थ हो गया है, अतः वह समझता है कि गो का अर्थ है गाय और आनय का अर्थ है लाना। अतएव ' अश्व-मानय" (अश्व को लाओ) कहने पर लाना क्रिया तो होती है, परन्तु गाय के स्थान पर अश्व लाया जाता है, इस प्रकार तीन वाक्यों के श्रवण से उसे गौ, लाना, बांधना और अश्व इन शब्दों का अर्थ ज्ञान होता है।

जगदीश का अतएव कथन है कि किस शब्द का क्या अर्थ है, इस संकेत का ज्ञान सबसे प्रथम वृद्ध व्यवहार से होता है, अन्य उपमान आदि साधनों से शक्ति-ज्ञान बाद में होता है।

स्फोटसिद्धि की गोपालिका टीका में ऋषिपुत्र परमेश्वर ने तीन श्लोक प्राचीन ग्रन्थ से उद्धृत करते हुए लिखा है कि प्राचीन प्रबन्धों (पुस्तक आदि) में विद्यमान शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को जानने वाले व्यक्ति जिस शब्द को जिस अर्थ में प्रयुक्त करते हैं, उस अर्थ को समीपस्थ व्यक्ति उनके व्यवहार से समझ लेता है। अतएव शब्दार्थज्ञान लोकव्यवहार से होता है। जो शब्द लोकव्यवहार में नहीं आए हैं या जिनका प्रयोग नहीं देखा है, ऐसे अज्ञात शब्दों को सैकड़ों बार सुनने पर भी अर्थज्ञान नहीं होता। स्फोटसिद्धि, पृ० १३।

व्याकरण—२—व्याकरण। भर्तृहरि ने अर्थ दो प्रकार का बताया है, १—अपोद्धारपदार्थ, २—स्थितलक्षण।

अपोद्धारपदार्था ये ये चार्थाः स्थितलक्षणाः।

वाक्य० १, २४।

अपोद्धार शब्द का भर्तृहरि ने पारिभाषिक रूप में बहुत प्रयोग किया है। अपोद्धार शब्द को हेलाराज ने (काण्ड ३ पृ० १) अन्वर्थ बताते हुए इसका अर्थ किया है कि "अपोद्ध्रियन्ते कल्पनाबुद्ध्या निष्कृष्यन्ते" (कल्पना के द्वारा अपो-द्धार विभाजन या विच्छेद)। व्याक्रिया या व्याकरण शब्द का जो यौगिक अर्थ किया जाता है अर्थात् विभाजन, उसी अर्थ को अपोद्धार शब्द भी प्रकट करता है।

वैयाकरणों के मतानुसार वाक्य अखण्ड है, उसमें से पदों को पृथक् करना (वाक्य विच्छेद) तथा एक पद में से प्रकृति और प्रत्यय को पृथक् करना (पद विच्छेद) अपोद्धार (विभाजन, विच्छेद) कहाता है। अपोद्धारपदार्थ अर्थात् पदविच्छेद से प्राप्य प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ, तथा वाक्यविच्छेद से प्राप्य विभिन्न पदों का अर्थ। स्थितलक्षण का अर्थ है, जिसका लक्षण अर्थात् स्वरूप स्थित या निश्चित रहता है। मुख्यरूप से वाक्य का अर्थ स्थित (निश्चित) होने से स्थितलक्षण कहा जाता है। जो पद को अर्थ का साधन मानते हैं (पदस्फोट-वादी) उनके मतानुसार पद स्थितलक्षण है।

नागेश का कथन है कि "प्रथम शक्तिग्रहो वाक्य एव" (मंजूषा पृ० १६) सर्व-प्रथम शक्ति का ज्ञान वाक्य में ही होता है जब बालक अर्थ ग्रहण करता है, उस समय उसे वाक्यों के द्वारा ही मिलाकर अर्थज्ञान होता है। इस स्थितलक्षण अर्थ का ज्ञान मुख्य रूप से लोकव्यवहार से होता है, इसमें व्याकरण की सहायता विशेष आवश्यक नहीं होती है। परन्तु अपोद्धारपदार्थ का ज्ञान मुख्यरूप से व्या-करण द्वारा ही होता है, क्योंकि व्याकरण ही अन्वयव्यतिरेक की पद्धति का प्रयोग करके यह प्रकृति अर्थात् धातु या संज्ञा शब्द का अर्थ है और यह प्रत्यय का। धात्वर्थनिर्णय, लकारार्थनिर्णय, सुबर्थनिर्णय आदि का जो गम्भीर और विशद विवेचन नागेश ने मंजूषा में और कौण्डभट्ट ने भूषण में किया है, उसका ज्ञान व्याकरण के द्वारा ही हो सकता है। वाक्यरूप प्रयोग का अर्थ लोकव्यवहार कराता है, धातु-प्रत्यय, निपात आदि का पृथक्-पृथक् क्या अर्थ है, यह व्याकरण बताता है।

यहाँ पर यह ध्यान रखना आवश्यक है कि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ ही प्रचलित अर्थ होता है, यह आवश्यक नहीं है। कभी वही अर्थ रहता है और कभी विभिन्न। अतएव पाणिनि ने इस विषय में लोक-प्रसिद्धि और लोक व्यवहार को मुख्य साधन बताया है। जो अर्थ लोक में प्रसिद्ध है वह अर्थ लिया जाएगा।

> योगप्रमाणे च तदभावेऽदर्शनं स्यात्।
> प्रधानप्रत्ययार्थवचनमर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्॥
>
> अष्टा० १, २, ५५ से ५६।

अतएव विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा है कि शब्दों की व्युत्पत्ति अन्य रूप से होती है और उनका प्रयोग विभिन्न रूप से होता है।

> अन्यद्धि शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्।
>
> साहित्य० २, ५।

उपमान—३—उपमान। जिन शब्दों का अर्थ ज्ञात नहीं है उनके अर्थ का ज्ञान सादृश्य से कराया जाता है। गो शब्द का अर्थ ज्ञात होने पर गवय शब्द का

क्या अर्थ है यह आप्तों के उपदेश से ही ज्ञात हो सकता है। आप्त व्यक्ति इनका जो कुछ वर्णन करते हैं वही अर्थ ग्राह्य होता है। आग्डेन रिचार्ड्स का (पृ० १९७) कथन है कि ऐसे शब्दों (पाप, आत्मा) के अर्थ जो भिन्न-भिन्न शास्त्रों में जिस रूप में दिये गये हैं वही समझे जाते हैं।

वाक्यशेष (प्रकरण)—६—वाक्यशेष ऐसे स्थलों पर जहां पर एक शब्द के नानार्थ आदि होने के कारण अर्थ संदिग्ध होता है, वहां पर वाक्यशेष अर्थात् वाक्यगत चिह्न या प्रकरण द्वारा अर्थ का ज्ञान किया जाता है। यथा यव शब्द का प्रयोग म्लेच्छ जाति के व्यक्ति कंगुनी नामक धान्य के लिए करते हैं और आर्य लोग जौ के लिए। इसलिए जब यह कहा जाता है कि "यवमयश्चरुर्भवति" (चरु यवनिर्मित होता है), तब सन्देह होता है कि कौन सा अर्थ लिया जायगा। जहां पर यह वाक्य कहा गया है, वहां का प्रकरण देखने से ज्ञात होता है कि यह शब्द का 'जौ' अर्थ लिया जायगा।

विवरण—७—विवरण जिस शब्द का अर्थ ज्ञात नहीं होता है उसका विवरण से अर्थ ज्ञात होता है। यथा "पचति" का अर्थ स्पष्ट करने के लिए "पाकं-करोति" (पकाता है), कहने से अर्थ का ज्ञान होता है। "गौ" शब्द का बोध कराने के लिए सास्ना लांगूल ककुद खुर सींग से युक्त पशु-विशेष कहने से उस पशु का ज्ञान हो जाता है। विवरण सभी प्रकार के अर्थों को स्पष्ट करने के लिए विशेष उपयोगी साधन है।

ज्ञातपद का साहचर्य—८—ज्ञातपद के साहचर्य से भी शब्द के अर्थ का ज्ञान हो जाता है। यथा "इह सहकारतरौ मधुरं पिको रौति" (इस आम्र के वृक्ष पर कोयल मधुर शब्द कर रही है), इस वाक्य में अन्य शब्दों का अर्थ ज्ञात हो तो पिक शब्द का अर्थ अन्य ज्ञात शब्दों के साहचर्य से कोकिल पक्षी ज्ञात हो जाता है।

अर्थज्ञान में विघ्न

शब्दशक्ति का अज्ञान—शब्द से अर्थज्ञान के साधन ऊपर बताये गये हैं। परन्तु कई कारण ऐसे हैं जिनकी सत्ता से शब्दों का अर्थज्ञान नहीं होता है। नागेश ने सबसे प्रथम इसका कारण शब्दशक्ति का ज्ञान न होना बताया है। मंजूषा, पृ० १२।

प्रथम अध्याय में इसका उल्लेख किया जा चुका है कि शब्दों में स्वाभाविक शक्ति है कि वे अर्थबोध कराते हैं। उनकी शक्ति का जब तक ज्ञान नहीं होता तब तक उनका अर्थ ज्ञात नहीं होता है। शब्दों में अर्थ है परन्तु बालक जब उन अर्थों को वृद्ध व्यवहार, आवाप, उद्वाप या साक्षात् उपदेश से जान लेता है, तब उन शब्दों को सार्थक समझता है। जो बात बालक के लिए है, वही प्रत्येक

आबालवृद्ध के लिए है। जब तक प्रचलित शब्द की शक्ति का ज्ञान नहीं होता है, तब तक उन शब्दों का अनेकों बार श्रवण करने पर भी किसी अर्थ की उपस्थिति नहीं होती है। प्रत्येक देश और प्रत्येक भाषा में सहस्रों शब्द हैं जो अपने-अपने स्थान पर प्रचलित और सार्थक हैं, परन्तु जो व्यक्ति उस भाषा को और इनकी शक्ति को नहीं जानता, उसे उससे कोई अर्थ ज्ञात नहीं होता। अतः शब्दशक्ति का अज्ञान अर्थज्ञान में सबसे मुख्य विघ्न है।

नागेश ने अन्य कारणों का उल्लेख करते हुए कहा है कि १, शब्दशक्ति का विस्मरण होने से भी अर्थज्ञान नहीं होता। एक शब्द का अर्थज्ञात होने पर भी यदि उस शब्द का अर्थ विस्मृत हो गया है तो अर्थज्ञान नहीं होगा। २, तद्वाचक पद का ज्ञान न होने से भी अर्थबोध नहीं होता। यथा घट शब्द का वाचक कलश है, परन्तु जब तक यह ज्ञान नहीं होगा कि कलश घट को कहते हैं, तब तक कलश शब्द से अर्थज्ञान नहीं होगा। ३, अयथार्थ अर्थज्ञान से भी शब्दार्थ का ज्ञान नहीं होता। घट शब्द से आकाश का और आकाश शब्द से घट का अर्थ ज्ञात नहीं होता है। शब्द अपने अर्थ का बोध कराता है, अपने आश्रय या कर्त्ता आदि का नहीं। घट का आश्रय आकाश भी है. परन्तु वह उसका वाच्य अर्थ नहीं है, इसी प्रकार घट का कर्त्ता चैत्र आदि व्यक्ति भी वाच्य अर्थ न होने से उसका अर्थ नहीं होता। ४, संस्कार उद्बुद्ध न होना, जब तक घट शब्द से घट विषयक संस्कार जागृत नहीं होंगे तब तक उससे अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। अतएव अर्थज्ञान के लिए संस्कारों का उद्बुद्ध होना आवश्यक है। संस्कार शब्दशक्ति के स्मरण से जागृत होता हैं। दीधितिकार का कथन है कि "जायते च पुनः पुनः स्मरणाद् दृढतरः संस्कारः" वस्तु के पुनः पुनः स्मरण से संस्कार दृढ होते हैं। मंजूषा, पृ० १६।

अर्थ की अनुपलब्धि के छः कारण—पतञ्जलि का कथन है कि विद्यमान अर्थ की छः कारणों से उपलब्धि नहीं होती। १—अतिसन्निकर्ष – अत्यन्त समीपता के कारण स्वचक्षुगत अंजन का दर्शन नहीं होता है। २—अतिविप्रकर्ष—अत्यन्त दूरी के कारण उड़ते हुए पक्षी का दर्शन नहीं होता है। ३—मूर्त्यन्तरव्यवधान—किसी अन्य वस्तु के व्यवधान के कारण. यथा भित्ति के व्यवधान के कारण भित्ति के दूसरे ओर की वस्तु का अदर्शन। ४—अन्धकार के आवरण के कारण गड्ढे आदि की अनुपलब्धि। ५—इन्द्रिय दौर्बल्य—इन्द्रियों की दुर्बलता के कारण, यथा तिमिर आदि रोगयुक्त व्यक्ति को भी वस्तुदर्शन नहीं होता। ६ अतिप्रमाद—चित्त के विषयान्तर में आसक्त होने से भी अर्थ की उपलब्धि नहीं होती। महा० ४, १, ३।

इन छः कारणों में से कोई भी कारण विद्यमान रहता है तो अर्थ की उपलब्धि नहीं होती है। कैयट और नागेश ने चाक्षुष प्रत्यक्ष विषयक अनुपलब्धि के उदाहरण दिये हैं यह कारण शाब्दबोध में भी समानरूप से अनुपलब्धि के

कारण हैं। व्यापकता के कारण शब्द कान के अन्दर विद्यमान है, परन्तु उससे अर्थज्ञान नहीं होता। अत्यन्त दूरी पर उच्चरित शब्द श्रवण न होने से अर्थ-बोधक नहीं होता। किसी वस्तु का व्यवधान होने से शब्दश्रवण नहीं होगा, अतः अर्थज्ञान नहीं होगा। अज्ञान के आवरण के कारण शब्द से अर्थ का बोध नहीं होता है। श्रवणेन्द्रियों की दुर्बलता बधिरता आदि दोष होने से शब्द से अर्थज्ञान नहीं होता है। यदि चित्त विषयान्तर में आसक्त है तो भी शब्द से अर्थज्ञान नहीं होता है

पतञ्जलि ने विपयान्तर में ध्यान आकृष्ट होने से किस प्रकार अर्थज्ञान नहीं होता, इसका एक सुन्दर उदाहरण दिया है। पतञ्जलि का कथन है कि एक बार वैयाकरण शाकटायन मुनि रथ के मार्ग में बैठे हुए थे, उनके सामने से बहुत सी गाड़ियों का एक झुंड उधर से निकला, परन्तु उनको इसका कुछ भी ज्ञान न हुआ कि उधर से गाड़ियां गई हैं। पतञ्जलि ने प्रश्न उठाया कि वह जाग रहे थे, देख भी रहे थे, प्रमत्त भी नहीं थे फिर ऐसा क्यों हुआ? इसका उत्तर देते हैं कि इन्द्रियां जब मन से संयुक्त होती हैं तभी ज्ञान का साधन होती हैं। शाकटायन मुनि की इन्द्रियों का सम्बन्ध वस्तु से था, परन्तु उनके मन का इन्द्रियों के साथ सम्बन्ध नहीं था, अतः उनको वस्तु का दर्शन नहीं हुआ।

मनसा संयुक्तानीन्द्रियान्युपलब्धौकारणानि भवन्ति। मनसोऽसान्निध्यात्। महा० ३, २, ११७।

शब्द के सत्तामात्र से बोध नहीं होता—अतएव भर्तृहरि का यह कथन सर्वथा युक्तियुक्त है कि शब्द केवल सत्तामात्र से अर्थ का बोध नहीं कराता है। जब तक वे बोध के विषय नहीं बने हैं अर्थात् मनोयुक्त श्रवणेन्द्रिय से गृहीत नहीं हुए हैं, तब तक शब्द अर्थ का बोध नहीं कराते हैं।

विषयत्वमनापन्नैः शब्दैर्नार्थः प्रकाश्यते।
न सत्तयेव तेऽर्थानामगृहीताः प्रकाशकाः॥
वाक्य० १, ५६।

अतएव जब शब्द सुन भी लिया जाता है, परन्तु स्पष्ट रूप से श्रवण न होने के कारण यह प्रश्न किया जाता है कि "क्या कहा है"? यदि सत्तामात्र से शब्द अर्थ का बोधक होता तो यह प्रश्न ही नहीं उठता। वाक्य० १, ५७।

शब्द में और इन्द्रियों के प्रकाशन में यह अन्तर है कि शब्दसत्तामात्र से प्रकाशक नहीं है, अपितु श्रोत्रेन्द्रिय द्वारा उपलब्ध होने पर ही अर्थ का प्रकाशन करता है। शब्द अपने स्वरूप का भी प्रकाशन करता है। इन्द्रियाँ अपनी सत्ता से ही अर्थ को प्रकाशित करती हैं। चक्षुरिन्द्रिय अपनी सत्ता से ही वस्तु को प्रकाशित करती है। इन्द्रियों के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसमें उनके स्वरूप का ग्रहण नहीं होता। चक्षुरिन्द्रिय द्वारा ग्राह्य घट में चक्षुरिन्द्रिय के स्वरूप का ग्रहण नहीं होता इसी भाव को कैयट ने निम्न शब्दों में प्रकट किया है।

शब्द उपलब्धोऽर्थं प्रत्याययति, न सत्तामात्रेण। चक्षुरादीनि तु सत्तामात्रेण विषयमवगमयन्ति। महा० १, १, ६८।

शब्दशक्तिप्रकाशिका में जगदीश ने कहा है कि सार्थक प्रकृति प्रत्यय आदि जब वाक्य रूप में प्रयुक्त होते हैं और बोध के विषय होते हैं तभी शब्दबोध होता है। जब तक वाक्य रूप को प्राप्त नहीं हुए हैं, तब तक निराकांक्ष शब्दों के ज्ञानमात्र से अर्थ बोध नहीं होता है।

वाक्यभावमवाप्तस्य सार्थकस्यावबोधतः।
सम्पद्यते शाब्दबोधो न तन्मात्रस्य बोधतः॥
शब्द० श्लोक १२।

उच्चारित शब्द की अर्थबोधकता—पतञ्जलि का कथन है कि शब्द उच्चारण से ही अर्थ का ज्ञान होता है।

शब्देनोच्चारितेनार्थो गम्यते। महा० १, १, ६८।
उच्चार्यमाणः शब्दः सम्प्रत्यायको भवति, न सम्प्रतीयमानः।
महा० १, १, ६९।

जब शब्द का प्रयोग किया जाता है, तब वह अर्थ का बोध कराता है। बिना शब्द के प्रयोग किये किसी भी अर्थ का बोध नहीं कराया जाता। साथ ही जिस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उसी अर्थ का बोध होता है। पतञ्जलि ने इसका उदाहरण देते हुए कहा है कि "ऋक्" (ऋचा) कहने से वेद की ऋचा ऐसा अर्थ ज्ञात होता है, परन्तु किसी ऋचा विशेष का अर्थ ऋचा शब्द कहने से ज्ञात नहीं होता है, अतएव प्रयुक्त शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है। उच्चारित शब्द से जिस शब्द की प्रतीति होती है, उस शब्द का भी अर्थ प्रयुक्त शब्द बोधित नहीं करता। "ऋचा" शब्द से जो वेद की ऋचा का ज्ञान होता है, वह ऋचा का ज्ञान "अग्निमीले०" आदि ऋचा विशेष का अर्थ बोधित नहीं करेगा। वेद या श्रुति कहने से ग्रन्थ विशेषों का ज्ञान होगा, न कि उनमें विद्यमान मन्त्रों के अर्थों का।

इस पर नागेश ने मंजूषा (पृ० १४६) तथा (महा० १, १, ६९) प्रश्न उठाया है कि यदि उच्चारित शब्द से ही अर्थ का बोध होता है तो पुस्तक को एकान्त में मौन होकर पढ़ने से अर्थज्ञान नहीं होना चाहिये परन्तु अर्थज्ञान होता है। इसका उत्तर नागेश ने दिया है कि जिस प्रकार मानस जप में अत्यन्त सूक्ष्म तालु आदि का व्यापार होता है, उसी प्रकार पुस्तक पढ़ते समय भी मौन अवस्था में ही सूक्ष्मतर तालु आदि का व्यापार होने से सूक्ष्म उच्चारण होता ही है। जप में मानस उच्चारण होता है, अतएव उदात्त अनुदात्त स्वरित का भेद किया जाता है। सूक्ष्म उच्चारण के कारण अर्थ की प्रतीति होती है।

नागेश ने मंजूषा (पृ० ४४४ से ४४६) पतञ्जलि के उच्चारण द्वारा अर्थबोध

पर बल देने का महत्त्व बताते हुए लिखा है कि यदि उच्चारण के बिना ही अर्थ का बोध हो तो सभी शब्द बुद्धि में विद्यमान हैं, स्वयं ही ज्ञानधारा का प्रवाह होने लगेगा। अतः स्थूल नहीं तो सूक्ष्म मानस उच्चारण अर्थबोध के लिए आवश्यक है।

उच्चारितस्यैव शब्दस्य प्रत्यायकत्वमुक्तम्। अन्यथा ज्ञानमात्रे शब्दभानात् शाब्दधाराऽऽपत्तिः। मंजूषा, पृ० ४४४॥

लिपि की अर्थ बोधकता—नागेश ने इस पर एक अन्य आक्षेप यह उठाया है कि यदि उच्चारण को ही कारण माना जाय तो लिपि के द्वारा जो शब्द स्मृति से अर्थ बोध होता है, वह नहीं होगा। इसके उत्तर में नागेश कहते हैं कि लिपि से ही अर्थ का बोध होता है, जैसे विभिन्न संकेतों से। लिपि से शब्द की कल्पना और उससे अर्थज्ञान होता है ऐसा नहीं है, अपितु लिपि से साक्षात् अर्थबोध होता है। अतएव बालक लिपि को ही शब्द समझता है। लिपि में शक्ति ग्रह शब्द के संकेत ज्ञान के अधीन है। प्रथम शब्द में संकेत का ज्ञान होता है, तदनन्तर लिपि में संकेत का ज्ञान होता है लिपि में शब्द के तादात्म्य का आरोप परम्परा से चला आ रहा है, अतएव शब्द और लिपि में भेद जानने वाले विद्वान् भी लिपि में "यह क है" आदि व्यवहार करते हैं। लिपि से अर्थबोध का दूसरा प्रकार यह भी है कि मानस जप के तुल्य लिपि से अर्थज्ञान में भी सूक्ष्मतर तालु आदि के व्यापार से सूक्ष्मतर उच्चारण होता है। मंजूषा, पृ० ४४५ से ४४६।

अभिनय एवं संकेतों की अर्थबोधकता—पतञ्जलि ने हस्त आदि के संकेतों द्वारा अर्थ के ज्ञान के महत्त्व को भी स्पष्ट रूप से स्वीकार किया है। अतएव पतञ्जलि का कथन है कि शब्द के प्रयोग के बिना भी कितने ही अर्थ हाथ और आँख के संकेतों से ज्ञात होते हैं।

अन्तरेण खल्वपि शब्दप्रयोगं बहवोऽर्था गम्यन्ते अक्षिनिकोचैः पाणिविहारैश्च। महा० २, १, १।

कैयट इसकी व्याख्या में कहते हैं कि संकेतों से जो अर्थ का बोध होता है, वह लोकव्यवहार के कारण होता है। इसी प्रकार शब्दों से भी लोकव्यवहार के कारण अर्थ का ज्ञान होता है।

संकेत भावाभिव्यक्ति के उत्तम साधन हैं। जिस प्रकार शब्दों से अपने भावों को अभिव्यक्त करते हैं, उसी प्रकार संकेतों से भी अपने भाव अभिव्यक्त किए जाते हैं। कैयट ने संकेतों को शब्द के समान सी महत्त्वपूर्ण साधन मानते हुए कहा है कि आंख मीचना आदि संकेतों से भी जिस अर्थ का बोध हो जाता है, उसके लिए शब्द का प्रयोग नहीं किया जाता है।

अक्षिनिकोचादिभिरप्यवगतेऽर्थे शब्दो न प्रयुज्यते। महा० २, ३, १।

दुर्गाचार्य ने यास्क के कथन "व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य, अणीयस्त्वाच्च शब्देन संज्ञाकरणं व्यवहारार्थं लोके" (नि० १, २) शब्द व्यापक है और अणुतर है, अतएव शब्दों के द्वारा नाम रक्खे जाते हैं। इसकी व्याख्या में शब्द और संकेत में से शब्द की विशेषता का जो यास्क ने उल्लेख किया है उसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अभिनय (संकेत, इंगित) भी व्यापक हैं, परन्तु वे सूक्ष्मतर नहीं हैं, एक भाव को व्यक्त करने के लिए संकेत बड़े प्रयत्न से साध्य होता है, साथ ही संकेत से निःसंदिग्ध अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। शब्द में यह विशेषता है कि वह अल्प प्रयत्न से ही बहुत व्यापक भाव को व्यक्त कर देता है और शब्द के द्वारा बोध्य अर्थ संकेत की अपेक्षा असंदिग्ध होता है। निरुक्त० १, २।

संकेत शब्द की अपेक्षा सूक्ष्म भले ही न हो, परन्तु इससे संकेत का महत्त्व कम नहीं होता है। नाट्य नृत्य आदि में अभिनय का महत्त्व बहुत व्यापक है। जिन भावों को व्यक्त करने के लिए शब्द असमर्थ रहते हैं, उन भावों का बोध अभिनय द्वारा सम्भव होता है। अतएव विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में कहा है कि वाणी और अंगों के अभिनय से बहुत से अर्थों की विभावना (ज्ञान) होती है, अतएव रति आदि के उद्बोध के कारणों को विभाव कहते हैं।

बहवोऽर्था विभाव्यन्ते वागङ्गाभिनयात्मकाः।
अनेन यस्मात् तेनायं विभाव इति कीर्तितः॥
रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाट्ययोः।
साहित्य० ३, २८।

गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि शब्दखण्ड (पृष्ठ ८६० से ८६६) तथा विश्वनाथ ने न्यायवृत्ति (न्याय० २, २, १२) में इस विषय पर विचार किया है कि संकेतों को प्रत्यक्ष आदि के तुल्य पृथक् प्रमाण माना जाय या नहीं। गंगेश ने इस विषय पर विचार के अनन्तर यह निर्णय दिया है कि संकेतों को पृथक् प्रमाण नहीं मानना चाहिए, क्योंकि उनकी अर्थबोधकता शब्द को स्मरण दिलाने पर निर्भर है। अभिनय आदि शब्द को स्मरण दिलाते हैं, उससे अर्थज्ञान होता है। जिस प्रकार लिपि के द्वारा अर्थज्ञान होता है, उसी प्रकार संकेत से भी अर्थज्ञान होता है। अतएव शब्दस्मृति के उपयोगी होने से शब्द प्रमाण में इसका अन्तरभाव हो जाता है। पृ० ८६०।

विश्वनाथ का कथन है कि संकेत लिपि के तुल्य ही अर्थ बोधक होने से पृथक् प्रमाण नहीं है। इनका शब्द या अनुमान में अन्तरभाव हो जाता है। न्याय० २, २, १२।

अर्थज्ञान प्रतिभा के अनुसार—भर्तृहरि ने अर्थज्ञान में प्रतिभा का स्थान सबसे उत्तम बताया है। प्रत्येक व्यक्ति अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्द का अर्थ समझता और ग्रहण करता है।

अभ्यासात् प्रतिभाहेतुः शब्दः सर्वोऽपरैः स्मृतः।
बालानां च तिरश्चां च यथार्थ प्रतिपादने॥ २, ११६।

भर्तृहरि ने प्रतिभा की उपयोगिता और इसके महत्त्व पर बहुत विस्तार से विचार किया है। उसका वर्णन अध्याय ८ में वाक्यार्थ के विवेचन में विस्तार से किया जाएगा। कौण्डभट्ट ने पाणिनि के "अर्थस्यान्यप्रमाणत्वात्" (१, २, ५४) सूत्र की व्याख्या की है कि अर्थज्ञान प्रत्येक को अपनी व्युत्पत्ति (प्रतिभा) के अनुसार ही होता है। भूषण, कारिका ८।

प्रत्येक व्यक्ति एक शब्द से वही अर्थ नहीं समझता है जो दूसरा व्यक्ति समझता है। बालक, युवा और वृद्ध, शिक्षित और अशिक्षित सभी अपनी-अपनी प्रतिभा के अनुसार शब्दों के अर्थों को समझते हैं और तदनुसार ही प्रयोग करते हैं। अतएव शब्दों के अर्थों में विषमता प्राप्त होती है।

वाचक शब्द की द्विविधता—भर्तृहरि ने शब्द की वाचकता के विषय में कई बातों पर प्रकाश डाला है। भर्तृहरि का कथन है कि शब्दशास्त्री उपादान शब्दों में दो शब्दों को मानते हैं। एक शब्दों का कारण है और दूसरा अर्थ बोधन के लिए प्रयुक्त किया जाता है।

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥
वाक्य० १, ४४।

हरिवृषभ ने भर्तृहरि का भाव स्पष्ट करते हुए लिखा है कि वाचक शब्द को उपादान शब्द कहते हैं, क्योंकि उसके द्वारा अर्थ का उपादान (ग्रहण) होता है। प्रत्येक वाचक शब्द में दो शब्दों की सत्ता रहती है। पतञ्जलि के शब्दों में उन्हें स्फोट और ध्वनि कहते हैं। इनमें से एक (ध्वनि) प्रकाशक है, क्योंकि ध्वनि के द्वारा पद या वाक्य रूप श्रवण बोध्य अर्थ का प्रतिपादन करता है। स्फोट ध्वनि के द्वारा प्रकाश्य है। ध्वनि के सुनने पर स्फोट की अभिव्यक्ति होती है और स्फोट से अर्थज्ञान होता है। इस प्रकार प्रत्येक वाचक शब्द में स्फोट और ध्वनि ये दो प्रकार के शब्द रहते हैं, ध्वनि स्थूल शब्द है, जो कि विनश्वर है। यह इन्द्रियों के व्यापार से उत्पन्न होकर सूक्ष्म शब्द स्फोट को व्यक्त करता है। स्फोट नित्य होने के कारण अर्थ को प्रकट करता है, पतञ्जलि ने स्फोट और ध्वनि की जो व्याख्या की है, उसका उल्लेख पूर्व किया जा चुका है।

हरिवृषभ ने एक प्राचीन आचार्य (व्याडि) का वचन उद्धृत किया है कि स्फोट रूप शब्द अविभक्त है। अर्थात् उसमें विभाग या क्रम नहीं है, जब वह विभागयुक्त ध्वनियों के द्वारा अभिव्यक्त होता है तब अर्थ का वाचक होता है। बुद्धि में वह स्फोट रूप शब्द अर्थ रूप होकर अभिन्नता को प्राप्त होता है। इसका

भाव यह है कि बुद्धि में शब्द और अर्थ तादात्म्य भाव से रहते हैं। बुद्धिगत शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है।

अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा सम्भेदमुपगच्छति ॥
वाक्य० १, ४४।

शब्द और अर्थ में तादात्म्य—हरिवृषभ ने व्याडि का एक श्लोक उनके संग्रह ग्रन्थ से उद्धृत किया है कि शब्द और अर्थ में वास्तविक रूप में कोई भेद नहीं है। व्यवहार में उनमें भेद किया जाता है। क्योंकि शब्द और अर्थ में जो तादात्म्य है वह निश्चित एवं सिद्ध है।

शब्दार्थयोरसम्भेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम् ॥
वाक्य० १, २६।

भर्तृहरि भी व्याडि के अनुसार ही शब्द और अर्थ को अभिन्न मानते हैं। और इन दोनों को एक ही आत्मा के दो रूप बताते हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ ॥
वाक्य० २, ३१।

नागेश का विवेचन—नागेश ने मंजूषा और उद्योत में शब्द और अर्थ के तादात्म्य पर विस्तार से विचार किया है। नागेश का कथन है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य ही शक्ति है।

शब्दार्थयोस्तादात्म्यमेव शक्तिः। उद्योत० महा० आ० १।

अपने कथन की पुष्टि में नागेश ने पतञ्जलि भाष्य का उद्धरण दिया है कि संकेत क्या है ? संकेत उसे कहते हैं जिससे पद और पदार्थ का इतरेतराध्यास अर्थात् एक दूसरे का तादात्म्य निरूपण किया जाता है, संकेत स्मृति रूप है कि जो यह शब्द है, वही अर्थ है और जो अर्थ है वही शब्द है। मंजूषा, पृ० २७।

शब्द और अर्थ में यह तादात्म्य किस प्रकार का है, इसको नागेश ने स्पष्ट किया है कि यह इतरेतराध्यास मूलक है। दुर्बलाचार्य ने कुंजिकाटीका में अध्यास को स्पष्ट किया है कि अन्य में अन्य धर्म के आभास को अध्यास कहते हैं, शब्द और अर्थ में अध्यास रूपी (अन्यधर्माभास) तादात्म्य है। वास्तविक नहीं है।

इतरेतराध्यासमूलकं तादात्म्यम्। मंजूषा, पृ० २६।

अन्यस्मिन्नन्यधर्मावभासोऽध्यासः। तन्मूलकं तादात्म्यम्, न वास्तवमित्यर्थः। कुंजिका, मंजूषा, पृ० २६।

अतएव नागेश का यह कथन सत्य है कि जब यह प्रश्न किया जाता है कि शब्द क्या है ? अर्थ क्या है ? तब यही उत्तर दिया जाता है "घड़ा" यह शब्द है और 'घड़ा" यह अर्थ है। दोनों का एकाकार उत्तर देखने से इनके अध्यास की पुष्टि होती है शब्द और अर्थ में ही नहीं, अपितु शब्द और ज्ञान में भी यही अध्यास दृष्टिगोचर होता है। जिस प्रकार शब्द के लिए उत्तर देते हैं कि "घड़ा" यह शब्द है, उसी प्रकार ज्ञान के विषय में उत्तर देते हैं कि "घड़ा" यह ज्ञान हुआ है। मंजूषा, पृ० ३६।

नागेश ने लिखा है कि शब्द और अर्थ के इसी इतरेतराध्यास के कारण ही "वृद्धिरादैच्" (अष्टा० १ १, १)। आ ऐ औ वृद्धि हैं। "ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म" (ओम् यह एकाक्षर ब्रह्म है)। "रामेति द्व्यक्षरं नाम मानभङ्गः पिनाकिनः" (राम यह दो अक्षर का नाम शिव का मानभंग है) इस प्रकार के प्रयोग किये गये हैं। पाणिनि आदि ने शब्द और अर्थ के इसी तादात्म्य को मान कर शब्द और उसके अर्थ का एक ही विभक्ति में प्रयोग किया है। मंजूषा, पृ० ३६ तथा महा० आ० १।

शब्द और अर्थ में जो तादात्म्य कहा गया है, उसका ठीक अर्थ जानने के लिए तादात्म्य क्या है, इसको नागेश ने स्पष्ट किया है। तादात्म्य का अर्थ है उससे भिन्न होते हुए उससे अभिन्न की प्रतीति। अर्थात् भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान। यह अभेद अध्यास रूप है। अतएव शब्द और अर्थ में विरोध नहीं होता है। शब्द और अर्थ में वास्तविक रूप में भेद रहता है, किन्तु अध्यास के कारण अभेद की प्रतीति होती है।

तादात्म्यं च तद्भिन्नत्वे सति तदभेदेन प्रतीयमानत्वम्। अभेदस्याध्यस्तत्वाच्च न तयोर्विरोधः। मंजूषा, पृ० ३८।

जब शब्द और अर्थ में यह अभेद विवक्षित होता है, तब दोनों में प्रथमा विभक्ति का प्रयोग किया जाता है और जब भेद की विवक्षा होती है तब षष्ठी का प्रयोग किया जाता है। यथा "अस्यार्थस्यायं वाचकः" (इस अर्थ का यह शब्द वाचक है)। 'तस्य वाचकः प्रणवः" (परमात्मा का वाचक शब्द ओम् है) मंजूषा (पृ० ३८) षष्ठी विभक्ति शब्द और अर्थ के भेद को व्यक्त करती है। और प्रथमा अभेद को।

नागेश का कथन है कि शब्द और अर्थ में अभेद की वास्तविकता विवक्षा हो जाती है अतएव अर्थ में शब्द के धर्मों का व्यवहार किया जाता है। यदि अत्यन्त भेद ही होता है तो यह तादात्म्य नहीं हो सकता था, जैसे अश्व और पुरुष में अभेद की विवक्षा करके तादात्म्य सम्बन्ध का व्यवहार नहीं हो सकता है। साथ ही अत्यन्त अभेद अर्थात् एक ही वस्तु में भी तादात्म्य का व्यवहार नहीं होता। तादात्म्य किसी अन्य वस्तु का अन्य के साथ ही होता है। घट में घट

का तादात्म्य सम्बन्ध करके व्यवहार नहीं होता, क्योंकि उनमें अभेद है। मंजूषा पृष्ठ ३८।

नागेश ने शब्द और अर्थ इस तादात्म्य सम्बन्ध के विषय में अपना मत स्पष्ट करते हुए लिखा है कि यह अध्यास (तादात्म्य) आदि व्यवहार के कर्ता परमात्मा के द्वारा किया गया है।

अयमध्यास आदिव्यवहारकृदीश्वरकृत एव। मंजूषा, पृ० ३८।

पातञ्जल भाष्य की सम्मति—नागेश ने अपने कथन के समर्थन में पातञ्जल भाष्य का उद्धरण दिया है कि शब्द का अर्थ के साथ जो सम्बन्ध है, वह पहले से विद्यमान है, जो यह कहा जाता है कि संकेत के द्वारा अर्थज्ञान होता है, उसका अर्थ यह है कि परमात्मा शब्द अर्थ में जो सम्बन्ध पहले से विद्यमान था, उसको प्रकट कर देता है। उदाहरण के लिए पिता और पुत्र में जन्यजनक सम्बन्ध पहले से विद्यमान है, परतु जब संकेत के द्वारा बताया जाता है, तब ज्ञात होता है कि यह पिता है और यह पुत्र है। इसी प्रकार शब्द और अर्थ का वाच्य वाचक सम्बन्ध पहले से विद्यमान होने पर भी संकेत के द्वारा गृहीत होता है। मंजूषा, पृष्ठ ३८।

शब्द और अर्थ में विद्यमान इस तादात्म्य सम्बन्ध के कारण ही शब्द और अर्थ में साधारणतया भेद नहीं समझा जाता। कैयट ने इसका उल्लेख करते हुए लिखा है कि पतञ्जलि के "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" अर्थात् गाय शब्द के द्वारा जो ज्ञान होता है उसमें शब्द क्या है, इस प्रश्न के मूल में शब्द और अर्थ का अभेद रूप से लोक में व्यवहार देखना ही कारण है। यह गाय है यह शुक्ल है, इस प्रकार के प्रयोगों में "गाय" शब्द और "गाय" नामक पशु में भेद नहीं समझा जाता है। लोक व्यवहार में शब्द और अर्थ का अभेद व्यवहार ही चलता है। (प्रदीप, महा० आ० १)। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध की नित्यता पर विचार करने से पूर्व शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति किस प्रकार होती है आदि कुछ प्रश्नों पर भर्तृहरि ने विचार किया है। उसका संक्षिप्त विवरण यहाँ देना उचित है।

वाचक शब्द में द्विशब्दता पर मतभेद—वाचक शब्द के अन्दर जो दो शब्दों (स्फोट और ध्वनि) का समावेश शब्दशास्त्री मानते हैं, उसके सम्बन्ध में प्राचीन आचार्यों में भी कुछ मतभेद था। जो कार्य और कारण में भेद मानते हैं वे स्फोट और ध्वनि को दो विभिन्न तत्त्व मानते हैं। उनके मतानुसार प्रकाश्य और प्रकाशक या व्यङ्ग्य और व्यञ्जक में भेद मानना उचित है। अन्य आचार्य कार्य और कारण में अभेद मानते हैं, अतएव स्फोट और ध्वनि को एक और अभिन्न मानते हैं। इनमें जो भेद किया जाता है, वह बौद्ध है। स्फोट का

ग्रहण मन से होता है और ध्वनि का श्रोत्रेन्द्रिय से। इस प्रकार बुद्धिकृत भेद से दोनों में भेद है। वाक्य० १, ४५।

शब्द का बुद्धि से सम्बन्ध—भर्तृहरि ने शब्द की अरणिस्थ ज्योति से उपमा देकर बताया है कि जिस प्रकार अरणि नामक काष्ठ में आग रहती है, परन्तु वह दृश्य नहीं है। जब अरणि से संघर्षण किया जाता है, तब उसमें से अग्नि प्रकाशित होती है। इस प्रकार से अरणि में सूक्ष्म रूप से विद्यमान अग्नि स्थूल और दृश्य अग्नि का कारण है। इसी प्रकार शब्द की भी सत्ता है। शब्द (स्फोट) भी सूक्ष्म और कारण रूप से बुद्धि में रहता है। जब अर्थ बोधन की इच्छा होती है तब कंठ तालु आदि के संघर्षण से ध्वनि रूप में परिणत होता है, और सूक्ष्म अवस्था से स्थूल अवस्था को प्राप्त होता है और इसमें पौर्वापर्य की उपलब्धि होने लगती है। बुद्धि में बीजरूप में विद्यमान स्फोट रूपी शब्द विभिन्न रूप से सुनाई पड़ने वाले ध्वनि रूपी शब्द का कारण है।

अरणिस्थं यथा ज्योतिः प्रकाशान्तर कारणम्।
तद्वच्छब्दोऽपि बुद्धिस्थः श्रुतीनां कारणं पृथक्॥
वाक्य० १, ४६।

शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति—भर्तृहरि ने शब्द का सम्बन्ध बुद्धि और प्राण से बताया है। शब्द सूक्ष्म रूप में बुद्धि और प्राण में रहता है। प्रत्येक शब्द में दो तत्त्व विद्यमान रहते हैं, एक ज्ञानतत्त्व और दूसरा ध्वनितत्त्व। शब्द का बुद्धि और प्राण में निवास का अभिप्राय यह है कि शब्द बुद्धिगत भावों को प्रकट करता है। जो भाव बुद्धि में पहले से विद्यमान हैं, उनको शब्द स्थूलरूप देता है। मन के भावों को व्यक्त करने के लिए अतएव शब्द का आश्रय लिया जाता है। शब्द जो भाव बुद्धि में हैं, उन्हीं का प्रकाशन करता है, अतएव शब्द का निवासस्थान बुद्धि है। प्राणों में शब्द के निवास का अभिप्राय यह है कि शब्द को अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए न केवल बुद्धिस्थ विचारों की आवश्यकता होती है, अपितु प्राणवायु की सहायता भी अपेक्षित होती है। प्राणवायु की सहायता से ही शब्द स्थूलरूप ध्वनि होकर अर्थ का बोध कराता है। अतएव शब्द में बुद्धि और प्राणशक्ति के सम्बन्ध होने के कारण शब्द एक ओर वक्ता के हृदय में विद्यमान अर्थ को प्रकट करता है, दूसरी ओर ध्वनि रूप में श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा सुना जाता है।

तस्य प्राणे च या शक्ति र्या च बुद्धौ व्यवस्थिता।
विवर्तमाना स्थानेषु सैषा भेदं प्रपद्यते॥
वाक्य० १, ११८।

हरिवृषभ ने इसकी व्याख्या में अर्थ की अभिव्यक्ति में शब्द के प्राण और बुद्धि में निवास के इस महत्त्व पर ध्यान आकृष्ट किया है।

शब्दः प्राणाधिष्ठानो बुद्ध्यधिष्ठानश्च । द्वाभ्यां प्राणबुद्धिशक्तिभ्यामभिव्यक्तोऽर्थं प्रत्याययति। वाक्य० १, ११८।

घट शब्द से घट का बोध क्यों नहीं होता—स्फोटरूप शब्द को बुद्धिस्थ और ध्वनि के द्वारा व्यङ्ग्य मानने पर यह एक प्रश्न उपस्थित होता है कि यदि स्फोट एक है तो किसी भी ध्वनि का उच्चारण करें, उस शब्द से अन्य अर्थ का भी बोध होना चाहिये, क्योंकि स्फोटरूप शब्द एक है, उसमें विभिन्नता नहीं है, "घट" शब्द कहने पर पट शब्द का अर्थ प्रतीत होना चाहिये। भर्तृहरि ने इस प्रश्न का उत्तर दिया है कि यह प्रश्न तब उठता है जब कि शब्दों का प्रयोग बिना बिचारे किया जाता। शब्दों के उच्चारण से पूर्व बुद्धि का यह कार्य होता है कि वह शब्द से अर्थ को युक्त करती है। यह शब्द है, यह अर्थ है, इनके तादात्म्य को बुद्धि में रख कर उसका अन्यों से पृथक्करण किया जाता है। इसके बाद इस स्फोट का इस अर्थ से सम्बन्ध है, यह सब बुद्धि में होने पर सूक्ष्मरूप कंठ तालु आदि के प्रयत्न से स्थूल रूप को प्राप्त करता है, तब विभिन्न अर्थों की अभिव्यक्ति होती है। 'घट" रूप ध्वनि से जो स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, वह पट ध्वनि से व्यक्त करने वाले स्फोट से भिन्न है, अतएव वह भिन्न ध्वनि उस अर्थ का बोध नहीं करा पाती है।

वितर्कितः पुरा बुद्ध्या क्वचिदर्थे निवेशितः।
कारणेभ्यो विवृत्तेन ध्वनिना सोऽनुगृह्यते ॥

वाक्य० १, ४७।

हरिवृषभ का कथन है कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध बुद्धि में ही होता है, तब शब्द अर्थ विशेष के बोध के लिए प्रयुक्त होता है। अतएव शब्द और अर्थ का यह प्रकार देखा जाता है कि जो शब्द का स्वरूप जिस अर्थ में प्रयुक्त होता है, उसमें परिवर्तन कर देने पर उस अर्थ का बोध नहीं होता है, अपितु अन्य अर्थ का बोध होता है। वाक्य० १, ४७।

अर्थाभिव्यक्ति के विषय में दुर्गाचार्य का मत—भर्तृहरि ने शब्द और अर्थ का उक्त रूप से बुद्धि में ही वाक्य वाचक सम्बन्ध रूपी तादात्म्य का प्रतिपादन किया है। दुर्गाचार्य ने "व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्य०" (निरुक्त० १, १, २) की व्याख्या में इस विषय पर अच्छा प्रकाश डाला है। दुर्गाचार्य का कथन है कि बुद्धि के ही दो रूप हैं। एक अभिधान (वाचक) और दूसरा अभिधेय (वाच्य)। वक्ता जब हृदय आकाश में विद्यमान बुद्धि को, अन्य व्यक्ति को अपना भाव व्यक्त करने के लिए प्रेरित करता है तो वह बुद्धि कंठ तालु आदि के साथ संघर्ष को प्राप्त कर वर्णों के स्वरूप में आती है और बाह्य आकाश में विद्यमान शब्द के साथ अपने स्वरूप को एक कर लेती है। वह फिर श्रोता की बुद्धि को उसके श्रोत्र के द्वारा प्रविष्ट होती है और उसके हृदय में जो वाच्यवाचक रूप

वाली बुद्धि है उसमें व्याप्त हो जाती है। पुरुष के प्रयत्न से उत्पन्न जो कंठ तालु आदि की ध्वनियाँ हैं, वे नष्ट हो जाती हैं, शब्द (स्फोट) नष्ट नहीं होता है। शब्द ध्वनि के गुणों से युक्त होकर अर्थ का बोध कराता है। स्फोटरूप शब्द में जो पदता या वाक्यता है, उसका ध्वनि में आरोप किया जाता है। ध्वनि पद या वाक्यरूप नहीं है, परन्तु उसके आरोप के कारण ध्वनि को पद या वाक्य समझ लेते हैं। इस प्रकार ध्वनि में जो नश्वरता का गुण है, उसका स्फोट रूपी शब्द में आरोप करते हैं। अतएव नित्य शब्द (स्फोट) को नश्वर समझ बैठते हैं। शब्द पुरुष की बुद्धि में विद्यमान अर्थ का ही बोध कराता है, क्योंकि उसी के साथ शब्द का सम्बन्ध है। निरुक्त १, १, २, तथा मंजूषा, पृष्ठ ३६५ से ३६६।

ध्वनि के गुणों की स्फोट में उपलब्धि— बुद्धिस्थ शब्द से अर्थ की अभिव्यक्ति का उपर्युक्त प्रकार मानने में एक यह आक्षेप उपस्थित होता है कि ध्वनि की विभिन्नता के कारण स्फोट रूपी शब्द को भी अनेक और क्रमयुक्त मानना पड़ेगा। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि स्फोट नित्य है, उसमें क्रम नहीं है। पूर्वापर की सत्ता उसमें नहीं है। क्रमशीलता नाद (ध्वनि) में ही है। ध्वनि में पौर्वापर्य की सत्ता है। ध्वनि के पौर्वापर्य के कारण स्फोट भी क्रमयुक्त और विभिन्न प्रतीत होता है। वस्तुतः उसमें न क्रम है और न भेद। हरिवृषभ।

नादस्य क्रमजातत्वान्न पूर्वो नापरश्च सः।
अक्रमः क्रमरूपेण भेदवानिव गृह्यते ॥
वाक्य० १, ४८।

स्फोट नित्य और अक्रम है– एक उदाहरण द्वारा भर्तृहरि ने अपने कथन को स्पष्ट किया है। जैसे चन्द्रमा में चंचलता नहीं है, परन्तु जब उसका प्रतिबिम्ब जल में पड़ता है तो जल की चंचलता आदि क्रिया के अनुसार ही जल का प्रतिबिम्ब चन्द्रमा का प्रतिबिम्ब चंचल दीखता है। जल की चंचलता का चन्द्रमा में आरोप किया जाता है। इसी प्रकार स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध है। स्फोट नित्य और अक्रम होने पर भी ध्वनि की क्रमशीलता आदि के कारण विभिन्न प्रतीत होता है।

प्रतिबिम्बं यथाऽन्यत्र स्थितं तोयक्रियावशात्।
तत्प्रवृत्तिमिवान्वेति स धर्मः स्फोटनादयोः॥
वाक्य० १, ४९।

अतएव नागेश मंजूषा में कहते हैं कि शब्द वस्तुतः एक है। परन्तु विभिन्न वर्णों के संस्कारों से प्रतिबिम्ब होने के कारण अनन्त पदों के रूप में प्रतीत होता है। इसी स्फोटरूप शब्द की एकता के कारण उसको सर्वपदात्मक और समस्त अर्थों का बोधक कहते हैं। शब्द की इस सर्वार्थवाचकता का ज्ञान तो योगियों को

होता है, मनुष्यमात्र को नहीं। व्यवहार आदि के द्वारा जिस शब्द से जिस अर्थ का ज्ञान ग्रहण किया जाता है, उसी अर्थ का उस शब्द से जनसाधारण को बोध होता है। मंजूषा, पृ० ३६६ से ३६७।

शब्द से शब्द और अर्थ दोनों का बोध—भर्तृहरि ने शब्द की ज्ञान से सदृशता बताते हुए इस बात को स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार ज्ञान अर्थ का बोध कराता है उसी प्रकार अपने स्वरूप का भी बोध कराता है। प्रत्येक ज्ञान में दो तत्त्वों का समावेश रहता है, एक ज्ञान और दूसरा ज्ञेय। उदाहरण के लिए घट के ज्ञान से एक तो ज्ञेय घट वस्तु का समावेश होता है और दूसरा ज्ञान का अर्थात् "ज्ञानो घटः" (मुझे घट का ज्ञान हो गया है)। इसी प्रकार शब्द के स्वरूप और अर्थ का ग्रहण होता है "गो शब्द कहने पर एक गाय वस्तु का ग्रहण होता है और दूसरे "गौ" शब्द का।

आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयरूपं च गृह्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥

वाक्य० १, ५०।

शब्द में ग्राह्यता और ग्राहकता—शब्द की समानता प्रकाश से भी की जाती है। जिस प्रकार दीपक अन्य वस्तुओं को प्रकाशित करता हुआ अपने आप को भी प्रकाशित करता है, उसी प्रकार समस्त शब्दों में यह शक्ति है कि वह ग्राह्य भी है और ग्राहक भी। बोध्य और बोधक दोनों गुणों का उनमें समावेश है।

ग्राह्यत्वं ग्राहकत्वं च द्वे शक्ती तेजसो यथा।
तथैव सर्वशब्दानामेते पृथगवस्थिते॥

वाक्य० १, ५५।

प्रकाशत्रयी—हेलाराज वाक्य० (का० ३ पृ० ६८) और नागेश मंजूषा (पृ० ३३३ से ३३५) ने अतएव यह वर्णन किया है कि ज्ञान, शब्द और प्रदीप ये तीन प्रकाश हैं। जो अन्य को प्रकाशित करते हुए अपने आप को भी प्रकाशित करते हैं।

ज्ञानशब्दप्रदीपाख्रयो हि प्रकाशा येनैव प्रकारेण परं प्रकाशयन्ति तेनैवात्मानमपि। हेलाराज, वाक्य० का० ३, पृ० ६८।

ज्ञान ज्ञेय के साथ ही ज्ञान का भी प्रकाश होता है, अतएव नागेश का यह कथन उचित है कि ज्ञान होने पर 'जानामि न वा" (जानता हूँ या नहीं), या 'न जानामि" (मैं नहीं जानता हूँ), इन दोनों प्रकार के संदेह और विरुद्ध-ज्ञान का अनुभव नहीं होता है। जब तक ज्ञान नहीं होता, तब तक संदेह और विपर्यय होते हैं। परन्तु ज्ञान होने पर सन्देह और विपर्यय नहीं होता है, क्योंकि ज्ञान अपने स्वरूप का भी प्रकाश करता है। मंजूषा, पृ० ३३४ से ३३५।

चित्सुखाचार्य की सम्मति—अतएव चित्सुखाचार्य ने कहा है कि यदि अर्थप्रकाश के समय अनुभूति (ज्ञान) न हो तो ज्ञान के अगले क्षण में ही जिज्ञासु को उस विषय में सन्देह, विपर्यय या विपरीत ज्ञान उत्पन्न होना चाहिए। सामने उपस्थित व्यक्ति को देखने पर जब उससे यह पूछा जाता है कि "आपने इसको देखा है या नहीं" तब वह न सन्देह करता है, न उसे विपरीत ज्ञान होता है और न ज्ञान का अभाव ही समझता है, अपितु वह निश्चयात्मक ज्ञान करता है और कहता है कि "हां, मैंने इसको देखा है"। इससे ज्ञात होता है कि अनुभूति अपने आप को प्रकाशित करती हुई वस्तुओं के विषय में व्यवहार को सिद्ध करती है। वाक्य० १, ५०। सूर्यनारायण शुक्ल कृत व्याख्या० पृ० ५२ पर उद्धृत।

शब्द और अर्थ में अर्थ की मुख्यता—शब्द के द्वारा शब्द और अर्थ दोनों का बोध होता है। पतञ्जलि ने शब्द और अर्थ के अन्तर पर भी ध्यान आकृष्ट किया है। अतएव प्रश्न उठाया है कि शब्द के कारण अर्थ होता है या अर्थ के कारण शब्द। इसका स्पष्ट रूप से उत्तर देते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि अर्थ के द्वारा ही शब्द होता है।

युक्तं पुनर्यच्छब्दनिमित्तको नामार्थः स्यात्, नार्थनिमित्तकेन नाम शब्देन भवितव्यम्। अर्थ निमित्तक एव शब्दः। महा० १, १, ४५।

शब्द अर्थ का उत्पादक नहीं, अपितु ज्ञापक है—कैयट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि शब्द के कारण अर्थ की सत्ता मानने का अर्थ यह होता है कि शब्द है तो अर्थ है और शब्द नहीं है तो अर्थ नहीं है। परन्तु यह ठीक नहीं, क्योंकि शब्द अर्थ का उत्पादक नहीं है, अपितु ज्ञापक है। अर्थ पहले से रहता है। शब्द के द्वारा उसकी प्रतीति होती है। अतएव शब्द का ज्ञाप्य-ज्ञापक या प्रकाश्य-प्रकाशक रूप सम्बन्ध है। यदि शब्द को अर्थ का उत्पादक मानेंगे तो शब्दों के उच्चारण करते ही उन वस्तुओं की उत्पत्ति होनी चाहिए। नागेश ने इसका उदाहरण दिया है कि रत्न आदि शब्द कहने पर रत्न आदि वस्तुओं की उत्पत्ति होनी चाहिए। प्रदीप, महा० १, १, ४५।

नैयायिकों आदि ने शब्द और अर्थ में सम्बन्ध मानने में इसी उत्पादकता के आधार पर असन्तोष प्रकट किया है कि यदि शब्द और अर्थ में कोई सम्बन्ध मानेंगे तो उस शब्द से उस अर्थ (वस्तु) की मुख में उपस्थिति होनी चाहिए। इसका विवेचन पिछले अध्याय में किया जा चुका है। कैयट ने अतएव कहा है कि अर्थ को शब्द का कारण कहने का पतञ्जलि का भाव यह है कि अर्थ शब्द से पहले रहता है। अर्थ शब्द का प्रयोजक है। अर्थ के प्रतिपादन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाता है। जिन शब्दों का प्रयोग नहीं होता है, उसमें यही कारण समझना

चाहिए कि वे अर्थ विद्यमान नहीं हैं, जिनके बोधन के लिए शब्द का प्रयोग किया जाय। प्रदीप, महा० १, १, ४५।

पतञ्जलि ने इस भाषातत्त्व को स्पष्ट किया है कि अर्थ (वस्तुएँ) पहले से उपस्थित रहते हैं। उनके बोध कराने के लिए शब्दों की सृष्टि होती है। शब्दों की सत्ता को मानकर अर्थों की सृष्टि नहीं की जाती।

नहि शब्दकृतेन नामार्थेन भवितव्यम्। अर्थकृतेन नाम शब्देन भवितव्यम्। महा० २, १, १।

शब्द और अर्थ में अर्थ की मुख्यता का प्रतिपादन करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि लोकव्यवहार में अर्थ की ही प्रधानता रहती है।

किं कृतं पुनः प्राधान्यम्? अर्थकृतम्। लोकेऽर्थकृतं प्राधान्यम्॥
महा० ३, १, १।

भर्तृहरि और पुण्यराज ने (वाक्य०२, १३२) तथा दुर्गाचार्य ने अर्थ की प्रधानता को स्वीकार किया है। अर्थ की प्रधानता का भाव यह है कि जब शब्द से अर्थ का ज्ञान होता है, तब शब्द और अर्थ दोनों की उपस्थिति होने पर भी अर्थ को ही ग्रहण किया जाता है। "गाय" कहने से मुख्य रूप से गाय पशु का ग्रहण होता और गौण रूप से गाय शब्द का। क्योंकि शब्द अर्थबोधन का साधन है, अर्थ बोध का विषय है।

लोकेऽर्थांशस्यैव प्राधान्यम्। पुण्यराज. वाक्य० २, १३२।
अर्थो हि प्रधानं तद्गुणभूतः शब्दः। दुर्गाचार्य, निरुक्त० २, १।

अर्थ की मुख्यता इस रूप में भी है कि अर्थबोध के लिए शब्द है। शब्द साधन है और अर्थ साध्य।

भर्तृहरि ने शब्द को लोकव्यहार का साधन बताया है। जब वक्ता किसी अर्थ को दूसरे को बताना चाहता है तो सर्वप्रथम उसकी बुद्धि शब्दों का आश्रय लेती है। वह अपनी बुद्धि में जिन अर्थों को व्यक्त करना चाहता है, उन अर्थों के बोधक शब्दों को स्थान देता है। श्रोता भी यह समझते हुए कि शब्द के ज्ञान से ही अर्थ का ज्ञान होगा, शब्दों को ध्यान पूर्वक सुनता है। शब्द ही वक्ता के भाव को श्रोता के हृदय में निर्धारित करता है।

यथा प्रयोक्तुः प्राग् बुद्धिः शब्देष्वेव प्रवर्तते।
व्यवसायो ग्रहीतॄणामेवं तेष्वेव जायते॥
वाक्य० १, ५३।

अर्थ का क्रियाओं में उपयोग, शब्द का नहीं—शाब्दबोध में शब्द और

अर्थ दोनों का ज्ञान होता है। अतः जिस प्रकार अर्थ का क्रियाओं में उपयोग होता है, उसी प्रकार शब्द का भी उपयोग क्यों नहीं होता। इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि शब्द का उपयोग अर्थ का बोध कराता है, अतः अर्थ मुख्य और शब्द गौण हो कर रहता है। जिस प्रकार विशेषण का कार्य विशेष्य की गुणबोधकता है, उसी प्रकार शब्द भी अर्थ का विशेषण है। कतिपय स्थलों पर जहाँ कि शब्द का ही ग्रहण होता है, यथा व्याकरण में 'अग्नेर्ढक्'' (अग्नि से ढक् प्रत्यय होता है), आदि स्थलों में शब्द का ग्रहण हो जाने से शब्द की स्वरूप ग्राह्यता सफल हो जाती है। अतः लोकव्यवहार में अर्थ का ही क्रियाओं में सम्बन्ध किया जाता है। गाय लाओ कहने पर गाय नामक पशु को लाते हैं, गाय शब्द को नहीं।

अर्थोपसर्जनीभूतानभिधेयेषु केषुचित् ।
चरितार्थान् परार्थत्वान्न लोकः प्रतिपद्यते ।

वाक्य० १, ५४।

शब्द दो प्रकार का है, एक प्रत्याय्य (बोध्य) और दूसरा प्रत्यायक (बोधक)। भर्तृहरि ने अतएव इस बात पर बल दिया है कि यह आवश्यक नहीं है कि जिस शब्द का उच्चारण किया जाय, उसका कार्य में भी उपयोग किया जाय। शब्द में प्रत्याय्य और प्रत्यायक शक्ति होने के कारण यदि वह शब्द कार्य में उपयोग नहीं किया गया तो उसकी प्रत्यायकता अर्थात् अन्य अर्थ (वस्तु) को बोधित करने की शक्ति को नहीं रोका जा सकता है, अतएव लोक व्यवहार में शब्द के उच्चारण करने पर उसके अर्थों को कार्य में लाया जाता है। वाक्य० १, ६१, से ६२।

यो य उच्चायते शब्दो नियतं न स कार्यभाक्।
अन्यप्रत्यायने शक्तिर्न तस्य प्रतिबध्यते ॥

वाक्य० १, ६१।

तीन वृत्तियां—शब्द के द्वारा अर्थ का ज्ञान वृत्ति के ज्ञान से ही होता है। नागेश ने वृत्ति को तीन भागों में विभक्त किया है, शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना।

सा च वृत्तिस्त्रिधा । शक्तिर्लक्षणा व्यञ्जना च ॥

मंजूषा, पृ० १६।

शक्ति का ही दूसरा नाम अभिधा है। यहाँ पर यह स्मरण रखना चाहिए कि वैयाकरणों ने शब्द की अर्थ में प्रवृत्ति को वृत्ति नाम दिया है, अतएव भर्तृहरि ने तृतीय काण्ड के अन्तिम परिच्छेद का नाम वृत्तिनिरूपण रक्खा है। उन्होंने वृत्ति के तीन विभाग शक्ति, लक्षणा और व्यञ्जना किए हैं। विश्वनाथ ने साहित्य दर्पण में वृत्ति शब्द के स्थान पर शक्ति शब्द का प्रयोग किया है और इसको शब्दशक्ति नाम दिया है। विश्वनाथ ने वृत्ति के स्थान पर शक्ति के तीन विभाग अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जना किए हैं। साहित्यदर्पण, २, ३।

अभिधा-शक्ति का विवेचन

भर्तृहरि का मत—भर्तृहरि ने अभिधा शक्ति का विवेचन बहुत उत्तम रीति से किया है। भर्तृहरि और उनके व्याख्याकार पुण्यराज ने इस विषय में कई महत्त्वपूर्ण बातों पर ध्यान आकृष्ट किया है। वे कहते हैं कि शब्द एक ही है उसके ही अनेकों अर्थ हैं। वक्ता जब उस शब्द को किसी निश्चित अर्थ में प्रयुक्त करता है तब वह शब्द उसी अर्थ को प्रकाशित करता है। विनियोग के बिना शब्द अपने अर्थ का बोध नहीं कराता है शब्द का अर्थ के साथ सम्बन्ध उक्ति (भाषण) के द्वारा ही होता है। पुण्यराज कहते हैं कि शब्द में अर्थ के प्रतिपादन की योग्यता उक्ति के द्वारा ही होती है।

विनियोगादृते शब्दो न स्वार्थस्य प्रकाशकः।
अर्थाभिधानसम्बन्धमुक्तिद्वारं प्रचक्षते॥
वाक्य० २, ४०६।

पुण्यराज ने भर्तृहरि के इस कथन पर प्रश्नकर्ता की ओर से एक बहुत गम्भीर सैद्धान्तिक प्रश्न किया है कि शब्द और अर्थ में जो स्वाभाविक सम्बन्ध है, क्या वह इस अवस्था को प्राप्त होता है कि ये सब शब्द अर्थबोधन में वक्ता के द्वारा विनियोग रूप सम्बन्ध के मुखापेक्षी होते हैं, यदि उक्त कथन का यही भाव है तो वैयाकरणों के सिद्धान्त का नाश हो जाएगा। पुण्यराज, वाक्य० २, ४०७।

भर्तृहरि एवं पुण्यराज ने इस प्रश्न का उत्तर निम्नरूप से दिया है :--

आँख में जैसे यह स्वाभाविक योग्यता है कि वह वस्तु का दर्शन कराती है परन्तु उसमें भी यह आवश्यकता होती है कि मन का आँख के साथ सम्बन्ध हो। देखने के लिए देखने वाले की आँख का मन से सम्बन्ध होना (प्रणिधान, एकाग्रता) आवश्यक है, अन्यथा सर्वदा ही आँख से वस्तु दीखनी चाहिए। इसी प्रकार शब्द में स्वाभाविक योग्यता यह है कि वह अर्थ का बोधक है, परन्तु उसके लिए भी वक्ता के द्वारा सम्बन्ध करने की आवश्यकता होती है वक्ता जब शब्द का विशेष अर्थ से सम्बन्ध करता है, तभी वह उस अर्थ का बोध कराता है। पुण्यराज इसके भाव को और स्पष्ट करते हुए लिखते हैं कि वाक्य जब अपनी शक्ति के द्वारा विशेष अर्थ से युक्त होकर, वाच्य अर्थ को प्रकाशित करना चाहता है तब वह अभिधा नामक शक्ति का आश्रय लेकर अर्थ को प्रकाशित करता है। वह अभिधा नामक शक्ति वक्ता के द्वारा सम्बन्ध के आश्रित रहती है, अतएव उसे गौण रूप से सम्बन्ध (शक्ति) कहते । यह उत्तर शब्द में भेद पक्ष को मानने पर है। जब शब्द में अभेद माना जाता है अर्थात् शब्द एक ही है, उसमें कोई अन्तर नहीं आता है, तब वक्ता के अन्दर विद्यमान प्रतिभा ही सम्बन्ध रूप होकर शब्द का स्वरूप ग्रहण करती है। उस अवस्था में सम्बन्ध और उक्ति दोनों में भिन्नता नहीं होती है। अतएव जैसे प्रणिधान (एकाग्रता) से आँख में शक्ति

का समन्वय होता है, उसी प्रकार उक्ति (भाषण) अर्थात् कंठ, तालु आदि के द्वारा शब्दोच्चारण शब्द की भावना (अन्तरात्मा में संस्कार) के बिना नहीं होता है। यह जो सम्बन्ध को उत्पन्न करने वाला शब्द का अपना व्यापार है, इसी को अभिधा शक्ति का सम्बन्ध कहते हैं। यही उच्चारण के द्वारा शब्द का रूप पाकर अभिधा कहलाता है। पुण्यराज।

यथा प्रणिहितं चक्षुर्दर्शनायोपकल्पते।
तथाऽभिसंहितः शब्दो भवत्यर्थस्य वाचकः॥
वाक्य० २, ४०७।

अभिधा में चार तत्त्व— भर्तृहरि के कथन पर एक और आक्षेप यह उठाया गया है कि अभिधान (वाचक) अभिधेय (वाच्य) और उन दोनों का सम्बन्ध यह तीन बातें ही सुप्रसिद्ध हैं और आप विनियोग (नियुक्ति) उक्ति (भाषण) अभिसंधान (सम्बन्ध करना) और अभिधा (शक्ति) इन चार तत्त्वों के उपयोग का प्रतिपादन करते हैं, यह अप्रसिद्ध ही है। इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि तीन के स्थान पर चार तत्त्वों का उपयोग बताया गया है, यह कोई विचित्र बात नहीं कही गई है, यहाँ पर यही बात कही गई है कि अभिधान और अभिधेय (शब्द और अर्थ) में जो वाच्यवाचक नामक सम्बन्ध है, वह अभिधा नामक शब्दशक्ति के द्वारा नियम में रक्खा जाता है। कारक (कर्म करण आदि) लोहे की छड़ों के तुल्य हैं, इनमें परस्पर कोई सम्बन्ध नहीं है, इनमें क्रिया का व्यवधान अर्थात् प्रक्रिया का आश्रय लेकर सम्बन्ध देखा जाता है, वैसे ही शब्द और अर्थ में अभिधा शक्ति के द्वारा नियम होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४०८।

क्रियाव्यवेतः सम्बन्धो दृष्टः करणकर्मणोः।
अभिधा नियमस्तस्मादभिधानाभिधेययोः॥
वाक्य० २, ४०८।

अभिधा में वक्ता का स्थान—इसी को भर्तृहरि और पुण्यराज ने और स्पष्ट करते हुए कहा है कि एक ही शब्द (शब्दतत्त्व) के द्वारा गाय आदि बहुत सी वस्तुएँ प्रतिपाद्य हैं और समस्त वस्तुएँ सजातीय (अर्थात् एक शब्दतत्त्व रूपी जाति से सम्बद्ध) होने के कारण एक ही अर्थ (अर्थतत्त्व) को बतलाने वाली है। अतएव प्रयोक्ता जिस शब्द से जिस अर्थ का अभिधा शक्ति के द्वारा सम्बन्ध करता है उसी अर्थ का वह शब्द वाचक होता है, अन्य का नहीं।

बहुष्वेकाभिधानेषु सर्वेष्वेकार्थकारिषु।
यत् प्रयोक्ताभिसंधत्ते शब्दस्तत्रावतिष्ठते॥
वाक्य० २, ४०९।

अभिधा शक्ति की स्वतन्त्र सत्ता—भर्तृहरि और पुण्यराज ने एक अन्य उदाहरण द्वारा इस बात को स्पष्ट किया है कि अभिधा शक्ति की अर्थ से पृथक् सत्ता है, उसका अपलाप नहीं किया जा सकता है। यह कहते हैं कि वेद के शब्दों को जब अभ्यास अर्थात् केवल पारायण के समय पढ़ा जाता है, तब उनका कोई अर्थ नहीं होता है, अतः उन्हें अनर्थक कह दिया जाता है। जब वे ही शब्द अध्यापन के समय स्वरूप के ज्ञान के लिए बताये जाते हैं, तब उनका अर्थ शब्दों का स्वरूप होता है। किन्तु जब वे ही शब्द यज्ञ सम्बन्धी विभिन्न कर्मों में विभिन्न विनियोग के अनुसार विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होते हैं, तब वे ही अभिधा शक्ति का समन्वय हो जाने से उन विभिन्न अर्थों के प्रतिपादक होकर उन अर्थों में नियमित हो जाते हैं। अतः यह स्पष्ट है कि अभिधाशक्ति अर्थ से पृथक् है, उसके आश्रय से ही अर्थ का बोध होता है।

आम्नायशब्दानभ्यासे केचिदाहुरनर्थकान्।
स्वरूपमात्रवृत्तींश्च परेषां प्रतिपादने॥
अभिधानक्रियाभेदादर्थस्य प्रतिपादकात्।
नियोगभेदान्मन्यन्ते तानेवैकत्वदर्शिनः॥

वाक्य० २, ४१० से ४११।

शब्दभेदवादियों का मत ऊपर एक शब्दतत्त्व को ही मानने वालों के मत का प्रतिपादन किया गया है कि अभिधाशक्ति के द्वारा उन-उन अर्थों की सिद्धि होती है। भर्तृहरि ने उक्त विवेचन के पश्चात् जो शब्द को अनेक मानने वाले हैं, उनके मत का भी प्रतिपादन किया है। भर्तृहरि कहते हैं कि जो शब्द को अनेक मानने वाले हैं, वे विभिन्न शब्दों में एकता को नहीं मानते हैं। केवल सादृश्य के आधार पर उनके एक जाति का समन्वय मानते हैं, वस्तुत एकता नहीं है। जैसे अक्ष माष आदि प्रत्येक शब्द अर्थों की अनेकता के कारण भिन्न-भिन्न शब्द हैं, इनमें रूप की समानता के कारण अभिन्नता प्रतीत होती है। शब्द भेदवादियों के उक्त कथन का परिणाम यह होता है कि शब्द में प्रयोग अर्थात् उच्चारण के अतिरिक्त अभिसंधान, उक्ति, अभिधा इन तीनों की स्थिति नहीं रहती है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४१२ से ४१३।

यहाँ एक प्रश्न स्वाभाविक रूप से उठता है कि यदि अभिधा आदि को न मानकर केवल प्रयोग को ही मानेंगे तो अर्थ का नियंत्रण कैसे होगा। इस पक्ष की ओर से भर्तृहरि उत्तर देते हैं कि इस मत में शब्दों की युक्तियाँ नियमित मानी गई हैं, अर्थात् प्रत्येक शब्द प्रत्येक अर्थ का बोध नहीं कराता है, अपितु वह विशेष अर्थ में नियमित है। उनकी शक्तियाँ भी भिन्न हैं अतः वे अपने-अपने अर्थ में नियमित रहते हैं।

विषये यतशक्तित्वात् स तु तत्र व्यवस्थितः।

वाक्य० २, ४१३।

प्रकरण आदि से अर्थ की प्रतीति—अक्षवाद आदि शब्द जो अनेकार्थ हैं, उनमें यद्यपि स्वरूप को देखते हुए सादृश्य है, परंतु वस्तुतः भिन्नता है। यहाँ पर यह प्रश्न उठता है कि यदि शब्द को अनेकार्थक न मानकर अर्थभेद के अनुसार ही शब्दभेद भी मानते हैं, तो अक्षवाद आदि शब्दों का कहाँ पर कौन सा अर्थ है, इसका निर्णय कैसे होगा ? इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि अर्थ (प्रयोजन) और प्रकरण आदि से उनके अर्थ का ज्ञान होता है कि कहाँ पर कौन सा अर्थ है। नाना अर्थों को देख कर यह भी ज्ञात होता है कि ये विभिन्न शब्द हैं, अर्थात् स्वरूप एक होने पर भी एक शब्द के जितने अर्थ हैं, उस शब्द के उतने ही विभिन्न शब्द मानने चाहिए। भर्तृहरि और पुण्यराज ने इस बात को स्पष्ट किया है कि एक शब्द का एक स्थान पर जो अर्थ माना गया है, दूसरे स्थान पर उसी शब्द का दूसरे अर्थ में प्रयोग नहीं हो सकता है। अन्यार्थक शब्द की अन्यार्थ में वृत्ति नहीं हो सकती है। अतः अर्थभेद से शब्दभेद मानना चाहिए। पुण्यराज।

नानात्वस्यैव संज्ञानमर्थप्रकरणादिभिः।
न जात्वर्थान्तरे वृत्तिरन्यार्थानां कथंचन ॥

वाक्य० २, ४१४।

अर्थभेद से शब्दभेद—नागेश ने मंजूषा में (पृष्ठ ५४ से ५७) अर्थभेद से शब्दभेद का प्रतिपादन करते हुए लिखा है कि शब्द और अर्थ में तादात्म्य सम्बन्ध होने पर अर्थभेद से तादात्म्य वाले शब्दों में अर्थात् नानार्थक शब्दों में भिन्नता मानना उचित है, अतएव अर्थभेद से शब्दभेद की सिद्धि होती है। शब्दों का आकार एक होने से उनको "एकोयं शब्दो नानार्थः" (इस एक शब्द के अनेक अर्थ हैं), नानार्थक कहते हैं। जो भेद मानने वाले हैं वे ऐसे शब्दों को एक शब्द ही नहीं मानते हैं, अपितु नाना शब्द और नाना अर्थ मानते हैं।

शक्ति का स्वरूप

नैयायिकों का मत--गदाधरभट्ट ने व्युत्पत्तिवाद में और गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दखण्ड में शक्ति के विषय में बहुत विस्तार से विवेचन किया है। गदाधर ने शक्तिवाद में वृत्ति दो प्रकार की मानी है, संकेत और लक्षणा। अर्थ में पद की वृत्ति ही संकेत और लक्षणा है। वृत्ति के द्वारा पद का जो प्रतिपाद्य विषय होता है, उसे ही पदार्थ या शब्दार्थ कहते हैं। वृत्ति या शक्ति का लक्षण किया है कि "इदं पदमिममर्थं बोधयत" (यह पद इस अर्थ का बोध कराए), "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्यः" (इस शब्द से यह अर्थ जानना चाहिए) इस प्रकार की इच्छा को, जिसको कि संकेत कहते हैं, वृत्ति कहते हैं। "ईश्वरसंकेतः शक्तिः (ईश्वर के संकेत को शक्ति कहते हैं)। ईश्वर नित्य है, अतएव नित्य संकेत शक्ति है। उस शक्ति के द्वारा अर्थ का बोधक पद वाचक कहलाता है, जैसे

गाय आदि शब्द गोत्वविशिष्ट गाय आदि का वाचक है। उसके द्वारा जिस अर्थ का बोध कराया जाता है, जैसे गाय आदि, उसको वाच्य कहते हैं। वही मुख्य अर्थ है। शक्तिवाद पृष्ठ १ से ६।

ईश्वर संकेत में शक्ति का खण्डन - गदाधर ने शक्तिवाद में आगे जाकर ईश्वर के संकेत को शक्ति मानने का खण्डन किया है। गदाधर का कथन है कि यदि ईश्वर के संकेत को ही शक्ति मानेंगे तो हमारे उच्चारण किए हुए शब्दों में शक्ति नहीं होगी। देवदत्त आदि नामों में, जो कि बारहवें दिन माता-पिता आदि के द्वारा रक्खे जाते हैं, शक्ति नहीं होनी चाहिए, क्योंकि इनमें संकेत ईश्वर के द्वारा किया हुआ नहीं है। एक अन्य आक्षेप यह भी किया है कि ईश्वर संकेत को शक्ति मानने पर जो कि ईश्वर को मानते ही नहीं हैं, उनको शब्द से अर्थ का ज्ञान ही नहीं होगा। अतएव गदाधर अपना निर्णय देते हैं कि शाब्दबोध की उपयोगिता में ईश्वर को कारण रूप से रखना ही नहीं चाहिए। ऐसा मानने से आधुनिक संकेतों के ज्ञान से भी शाब्दबोध होगा। और आधुनिक संकेतों में शक्ति की भी सिद्धि हो जायगी।। शक्तिवाद, पृ० ६ से १३।

शाब्दबोध में अभेद और भेद संसर्ग—गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद में कहा है कि शाब्दबोध में एक पद के अर्थ में अन्य पद के अर्थ का संसर्ग संसर्ग की मर्यादा से प्रतीत होता है, वह संसर्ग कहीं तो अभेद रूप है और कहीं भेद रूप है, जैसे आधार आधेय, प्रतियोगी अनुयोगी, विषय विषयी भाव आदि संसर्ग। अभेद का अर्थ है तादात्म्य। अभेद को उदाहरण द्वारा समझाया है कि जैसे "नीलोघटः" (नीला घड़ा), "नीलघटमानय" (नीले घोड़े को लाओ), में घड़े आदि में नील आदि का संसर्ग अभेद रूप है, नीलेपन और घड़े को पृथक् नहीं समझा जाता है, अतएव कहते हैं कि अभेद संसर्ग शब्द के अर्थ में समान विभक्ति वाले, अपने से अव्यवहितपूर्ववर्ती पद के द्वारा उपस्थापित संसर्ग की मर्यादा से प्रतीत होता है। भेद सम्बन्ध जैसे "भूतले घटः" (पृथ्वी पर घड़ा), में पृथ्वी आधार है और घड़ा आधेय है। "मोक्षे इच्छास्ति" (मोक्ष विषयक इच्छा है), में मोक्ष विषय है. इच्छा विषयी है। "घटो नास्ति भूतले" (पृथ्वी पर घड़ा नहीं है), में घटाभाव प्रतियोगी है और भूतल अनुयोगी। व्युत्पत्तिवाद पृ० १ से २२ तथा ८७।

नैयायिकों के मत का खण्डन—नागेश ने मंजूषा (पृ० १६) में शक्ति के विषय में नैयायिकों के मत का प्रतिपादन किया है कि ईश्वरेच्छा शक्ति है। यद्यपि उसका विषयरूप सम्बन्ध पद, अर्थ, जन्यजनकभाव और बोध से है, तथापि बोध में जो जन्यता है, उसका जनक होने से एक ओर विषय वाचक है दूसरी ओर बोध का विषय होने से विषय वाच्य है। यद्यपि सर्वप्रथम शक्ति का ग्रहण वाक्य में होता है, तथापि शास्त्रीय आवाप और उद्वाप के द्वारा विभिन्न पदों में शक्ति का ग्रहण होता है। इस प्रकार से नैयायिक शब्द और अर्थ में

कोई सम्बन्ध न मानकर केवल ईश्वरेच्छा या संकेत से काम चलाते हैं, अथवा शब्दजन्य अर्थ बोध विषयक ईश्वर ज्ञान शक्ति है ऐसा मानते हैं।

नागेश ने उक्त नैयायिकों के मत का खण्डन करते हुए कहा है कि बालक जब प्रयोज्य और प्रयोजक वृद्ध के व्यवहार को देखता है तब प्रयोज्य वृद्ध की काम में प्रवृत्ति को देखकर यह अनुमान करता है कि प्रयोज्य वृद्ध को शब्द के अर्थ का ज्ञान हुआ है। ज्ञान वहाँ पर उपस्थित है, अतः वह शब्द को उस ज्ञान का कारण समझता है, साथ ही यह भी समझता है कि जिनमें सम्बन्ध नहीं होता है, उनमें कार्य और कारण का सम्बन्ध नहीं रहता है। यहाँ कार्य कारण भाव को देखकर वह शब्द और अर्थ में सम्बन्ध का अनुमान करता है, वह सम्बन्ध स्वयं उत्पन्न नहीं होता है। जनक में रहने वाले उस सम्बन्ध को ग्रहण नहीं किया जा सकता है अतः यह कहना कि पद और पदार्थ में बोधजनकता सम्बन्ध है, यह उचित नहीं है। ईश्वरेच्छा और ज्ञान दोनों में किसी एक में ही शक्ति मानने के पक्ष में कोई विशेष युक्ति नहीं है और दोनों में ही शक्ति की कल्पना करने में गौरव होगा। साथ ही यदि "इदमस्माद् भवतु" (इस शब्द का यह अर्थ होवे), इस इच्छा के विषय को ही अर्थ का जनक मानेंगे तो बहुत अव्यवस्था हो जायगी। साथ ही प्रमाणों का प्रमेय के साथ जो सम्बन्ध है, वह जन्यजनकभाव न होकर अन्य ही सम्बन्ध है, उसी पृथक् सम्बन्ध के द्वारा प्रमाण ज्ञान के जनक देखे जाते हैं, अतएव ईश्वरेच्छा और बोध (ज्ञान) दोनों को सम्बन्ध नहीं माना जा सकता है। यदि इनको सम्बन्ध माना जायगा तो "धूमाद् वह्निज्ञानं जायताम्" (धूएँ से आग का ज्ञान हो), आदि में इच्छा का विषय होना ही हेतु और साध्य का सम्बन्ध होगा। ऐसा करने से नैयायिकों के मतानुसार अनुमान के लिए व्याप्ति का ज्ञान जो कि अनिवार्य माना गया है, उसका नाश ही हो जाएगा। क्योंकि व्याप्ति के जानने के स्थान पर अब ईश्वरेच्छा का जानना ही आवश्यक होगा।

एक आपत्ति यह भी है कि इच्छा या जनकता को शक्ति मानने पर वह शब्द और अर्थ दोनों में नहीं रह सकता । इच्छा का विषय ज्ञान है। उसकी विषयता का इच्छा की आश्रयता नियामक नहीं हो सकती है। इसका भाव यह है कि न पद और न पदार्थ इच्छा का विषय है, अपितु ज्ञान ही इच्छा का विषय है। जो बोध का विषय है (अर्थात् पदार्थ) वही इच्छा का आश्रय है, यह नैयायिकों के कथन का भाव निकलता है, वह सम्भव नहीं है। यह शब्द या यह अर्थ इच्छायुक्त है ऐसी प्रतीति कभी नहीं होती है । यदि नैयायिकों के कथनानुसार जनकता अर्थात् अर्थ को उत्पन्न करने की शक्ति को शक्ति मान लें तो ज्ञान के उत्पन्न करने की शक्ति पद और अर्थ में होने पर भी उन दोनों का परस्पर सम्बन्ध, सम्बन्ध की उससे पृथक् सत्ता मानें बिना, सिद्ध नहीं हो सकता है। किसी भी ज्ञान में यह आवश्यक है कि पद और अर्थ का परस्पर सम्बन्ध हो। तभी पद से

पदार्थ का ज्ञान होता है। नैयायिकों के मत में यह सिद्ध नहीं किया जा सकता है कि पद और पदार्थ में सम्बन्ध कैसे हो गया। मंजूषा०, पृ० २१ से २२।

वैयाकरणों का मत

पद और पदार्थ दोनों में शक्ति है, सम्बन्ध की पृथक् सत्ता है—पद और पदार्थ दोनों में शक्ति है, इसका निरूपण करते हुए नागेश ने भर्तृहरि आदि प्राचीन आचार्यों के मत को उद्धृत करके कहा है कि सम्बन्ध पद और पदार्थ (शब्द और अर्थ) दोनों में रहता है, परन्तु इसकी सत्ता पृथक् है। यह दोनों से पृथक् है। यह विशिष्ट बुद्धि का नियामक है अर्थात् सम्बन्ध वह शक्ति है, जो कि शब्द और अर्थ से पृथक् रहते हुए, दोनों में नियम को स्थापित किये हुए है। इसका ही परिणाम है कि शब्द किसी विशेष अर्थ का ही बोध कराता है।

"सम्बन्धो हि सम्बन्धिभ्यां भिन्न उभयाश्रितः" इति, "द्विष्ठः सम्बन्धः" इति च, "विशिष्टबुद्धिनियामकः" इति चाभियुक्तव्यवहारात्। मंजूषा, पृ० २२।

शक्ति का लक्षण—नागेश अतएव कहते हैं कि पद और पदार्थ में जो विशेष सम्बन्ध है, उसी को शक्ति कहते हैं। इसी का दूसरा नाम वाच्य-वाचक भाव है। इस शक्ति का ज्ञान पद और पदार्थ में तादात्म्य के द्वारा होता है। अर्थात् शब्द और अर्थ में अभिन्नता को जानना। संकेत ही शक्ति का ज्ञान कराता है। पद में जो शक्ति है, उसका बोध संकेत कराता है, अतएव व्यावहारिक दृष्टिकोण से संकेत को भी शक्ति कह देते हैं। संकेत वस्तुतः सम्बन्ध (शक्ति) नहीं हो सकता है। वह शब्द और अर्थ में न भिन्न रूप से रह सकता है और न अभिन्न रूप से। मंजूषा, पृष्ठ २६।

चार प्रकार का शब्दार्थ- पतञ्जलि ने इस विषय पर गम्भीरता से विचार किया है कि शब्द के द्वारा जो संकेत किया जाता है, वह किन अर्थों का बोध कराता है। पतञ्जलि का कथन है कि शब्द की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है वह चार प्रकार की होती है। १, जातिवाचकशब्द २, गुणवाचकशब्द, ३, क्रियावाचकशब्द, ४, यदृच्छाशब्द, अर्थात् ऐच्छिक शब्द।

चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति, जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा यदृच्छा-शब्दाश्चतुर्थाः। महा० आ० २ 'ऋलृक् सूत्र'॥

नागेश ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुये लिखा है कि शब्दों की अर्थ में जो प्रवृत्ति होती है, वह प्रवृत्तिनिमित्त (प्रवृत्ति का कारण) के भेद से चार प्रकार की है। कैयट और नागेश ने यदृच्छा शब्द की व्याख्या की है कि यदृच्छा शब्द उसे कहते हैं, जिसको वक्ता अपनी ही इच्छा से किसी अर्थ में प्रयुक्त करता

है। इसमें अर्थ के प्रवृत्तिनिमित्त पर ध्यान न देकर केवल प्रयोक्ता के अभिप्राय पर ही मुख्यता रहती है। इस प्रकार के शब्दों को ऐच्छिक शब्द समझना चाहिए। जैसे एक व्यक्ति ने एक वस्तु का नाम डित्थ या डवित्थ रख दिया, एक ने उसका नाम हरि या हर रख दिया, ये शब्द व्यक्ति विशेष के बोधक हैं; इनमें व्यक्ति के अतिरिक्त और कोई प्रवृत्ति का कारण नहीं है, अतः इनमें अनन्तता और अव्यवस्था नहीं होती। कैयट और नागेश।

यदृच्छाशब्द और व्यक्ति का महत्व—नागेश ने यदृच्छा शब्द की व्याख्या में भाषा विज्ञान के एक महत्त्वपूर्ण विषय पर ध्यान आकृष्ट किया है। नागेश के शब्द निम्न हैं :—

स चानेकविध.— एक व्यक्ति सन्निवेशितो डित्थादिरेकः, तत्र न किंचिदतिरिक्तं प्रवृत्तिनिमित्तमानन्त्यव्यभिचारयोरभावात्। अनेकत्वमते तत्तज्जात्युपलक्षिते सा। टिघुभादीनां तु तत्तच्छक्यानामानन्त्यात् तत्पदमेव प्रवृत्तिनिमित्तम्।

उद्योत, महा० आ० २ 'ऋलृक् सूत्र'॥

यदृच्छाशब्द अनेक प्रकार का है। एक व्यक्ति के द्वारा रक्खे गए नाम डित्थ आदि एक वस्तु है। व्यक्ति के अतिरिक्त व्यक्तिवाची शब्दों का और कोई प्रवृत्ति-निमित्त नहीं है। अनेकत्ववादी अर्थात् जातिवादी के मत में वह शब्द व्यक्ति के लिए संकेत न रहकर व्यक्ति के द्वारा संकेतित जाति का बोध कराते हैं। शब्द के द्वारा बोध्य व्यक्ति अनन्त हैं, अत वह शब्द जाति का बोधक है, जैसे टि घु भ आदि संज्ञाएं।

नागेश ने जिस बात पर ध्यान दिया है, वह यह है कि ऐच्छिक शब्द के दो स्वरूप हो सकते हैं, एक व्यक्ति विशेष और दूसरा जाति। व्यक्तिवाचक नाम को रखने वाला व्यक्ति विशेष ही होता है। जाति वाचक नाम को रखने वाले भी व्यक्ति विशेष होते हैं। व्यक्ति या द्रव्य वाचक शब्दों के नाम प्रत्येक व्यक्ति स्वयं ऐच्छिक रूप से रखता है, जैसे प्रत्येक व्यक्ति के देवदत्त, यज्ञदत्त आदि नाम। जातिवाचक शब्दों के नाम भी व्यक्ति विशेष ही रखते हैं, जैसे टि घु भ आदि संज्ञाओं के नाम पाणिनि ने रक्खे हैं। संसार में दो ही प्रकार के शब्द हैं, जाति-वाची या व्यक्तिवाची। सूक्ष्म दृष्टि से सब शब्द जाति के वाचक हैं और अत्यन्त स्थूल दृष्टि से व्यक्ति अर्थात् स्थूल दृश्य पदार्थों के वाचक हैं। दोनों प्रकार के अर्थों को नाम देनेवाले स्थूल बुद्धि वाले या सूक्ष्म बुद्धिवाले व्यक्ति विशेष ही होते हैं। नागेश ने 'एकव्यक्तिसन्निवेशित' शब्द के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि नाम रखने वाले व्यक्ति विशेष ही होते हैं, समुदाय नहीं।

शब्दसृष्टि का कर्त्ता व्यक्ति - पाश्चात्य विद्वान् हर्मनपाउल ने 'प्रिन्सिपल्स आव् लैंग्वेज', भूमिका (पृ० ४३) भाषाविज्ञान के इस तथ्य पर बहुत बल देकर

लिखा है कि एक अत्यन्त महत्त्व का विषय है निम्न है। भाषा विषयक प्रत्येक उत्पत्ति (अर्थात् शब्दों का जन्म) केवल एक व्यक्ति का ही कार्य होता है। इसमें सन्देह नहीं है कि विभिन्न व्यक्ति एक ही जैसी उत्पत्ति कर सकते हैं। (अर्थात् अनेकों व्यक्ति एक ही पदार्थ के विभिन्न अवस्था आदि में एक ही नाम सोच कर रख सकते हैं), किन्तु इससे न तो व्यक्तियों के निर्माण और न निर्मित वस्तु (शब्द) पर ही कोई प्रभाव पड़ता है। ऐसा कभी नहीं होता है कि अनेकों व्यक्ति अपने सम्मिलित प्रयत्न से कोई वस्तु (शब्द या नाम) उत्पन्न करते हैं। भाषा शास्त्र में अर्थशास्त्र और राजनीति शास्त्र से यह मुख्य विशेषता है। अर्थशास्त्र और राजनीति में कितने ही कार्य सामूहिक प्रयत्न से किए जाते हैं।

यदृच्छा शब्दों का खण्डन कात्यायन और पतञ्जलि ने भाषातत्त्व के मूल पर गम्भीर विचार करके यदृच्छा शब्दों का तात्त्विक दृष्टि से खण्डन कर दिया है। पतञ्जलि ने यदृच्छा शब्दों के अस्तित्व को अस्वीकृत करते हुए कहा है कि शब्दों के प्रवृत्ति निमित्त तीन ही होते हैं। जाति, गुण और क्रिया। अत. शब्द तीन ही प्रकार का है, जातिवाचक, गुणवाचक और क्रियावाचक। यदृच्छा शब्द है ही नहीं।

त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः, जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति। न सन्ति यदृच्छाशब्दाः। महाभाष्य आ० २। 'ऋलृक् सूत्र'।

कैयट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि आज भी जब कोई नाम रक्खा जाता है, तब प्रशस्त क्रिया या गुण का उसमें आरोप किया जाता है। यहाँ पर यह जान लेना चाहिए कि यदृच्छा शब्दों का अर्थ है द्रव्यवाची शब्द। कात्यायन और पतञ्जलि ने जातिवाद का आश्रय लेकर द्रव्यवाचक शब्दों के अस्तित्व को ही नहीं माना है, क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से स्थूल द्रव्यमय जगत् वास्तविक नहीं है, अपितु विनाशी या मायाशबलितरूप है। नागेश ने कैयट के भाव की व्याख्या करते हुए लिखा है कि कात्यायन और पतञ्जलि का यहां भाव यह है कि सारे ही शब्द व्युत्पत्ति वाले हैं अर्थात् यौगिक हैं। प्रत्येक शब्द में क्रिया और गुण दो ही अंश रहते हैं। वे या तो क्रिया का बोध कराते हैं या गुण का। नागेश की व्याख्या से स्पष्ट होता है कि कात्यायन और पतञ्जलि दोनों यौगिक शब्दों के अतिरिक्त अन्य शब्दों का अस्तित्व नहीं स्वीकार करते हैं।

पतञ्जलि का अत्यन्त तात्त्विक और महत्त्वपूर्ण निर्णय

पतञ्जलि के इस निर्णय का स्पष्ट भाव यह है कि द्रव्यवाची कोई शब्द नहीं है। द्रव्य का भाव यहां पर स्थूल दृश्य जगत् है। तात्त्विक दृष्टिकोण से संसार का कोई पदार्थ नित्य या वाच्य नहीं है, जो कुछ कहा जाता है वह उसके अन्दर विद्यमान नित्य क्रिया या गुण को लक्ष्य में रखकर कहा जाता है। जिस प्रकार जाति के अतिरिक्त व्यक्ति की कोई सत्ता नहीं है, इसी प्रकार यहां पतञ्जलि

यदृच्छा शब्दों के खण्डन से यह स्पष्ट करना चाहते हैं कि संसार का जितना जो कुछ भी भाषाशास्त्र या शब्दशास्त्र है वह सब कुछ नहीं है, केवल यदृच्छा शब्द है। संसार में क्रिया और गुण दो को ही हम नाम दे सकते हैं। वह दोनों अदृश्य और नित्य हैं। उन अदृश्य और नित्य तत्त्वों को नाम देने के लिए संसार की सारी विभिन्न भाषाएं, सारे विभिन्न भाषाओं के शब्द हैं। तात्त्विक दृष्टि से देखा जाय तो न तो क्रिया को किसी शब्द के द्वारा बता सकते हैं और न गुण का किसी शब्द के द्वारा बोध कराया जा सकता है। क्रिया के विषय में पतञ्जलि का वक्तव्य है कि क्रिया अत्यन्त अदृश्य है, उसको मूर्त रूप में नहीं दिखा सकते। जिस प्रकार 'भूवादयो धातवः' (अष्टा० १, ३,१) की व्याख्या में पतञ्जलि ने क्रिया की दार्शनिक व्याख्या की है। उसी प्रकार 'तस्य भावस्त्वतलौ' (अष्टा० ५, १, ११९) की व्याख्या में पतञ्जलि द्रव्य और गुण की व्याखया में अत्यन्त गम्भीर दार्शनिक विवेचन में चले गए हैं। द्रव्य की मौलिक व्याख्या, आचार्य व्याडि के द्रव्य के विवरण में सप्तम अध्याय में दी गई है कि द्रव्य मूल रूप में परब्रह्म है, वह अनिर्वचनीय अव्यवहार्य और सर्वथा स्वानुभूतिगम्य है। गुण की व्याख्या करते हुए पतञ्जलि कहते हैं कि शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये गुण हैं इनसे जो पृथक् है, उसे द्रव्य कहते हैं।

किं पुनर्द्रव्यं के गुणाः ? शब्दस्पर्शरूपरसगन्धा गुणास्ततोऽन्यद् द्रव्यम्।
महा० ५, १, ११९।

इन पाँच गुणों में से किसी का स्वरूप मूर्त रूप में "यह है", नहीं दिखाया जा सकता है। जो कुछ दीखता है या दिखाया जाता है, वह द्रव्य के सम्बन्ध से अतिस्थूल स्वरूप है, जो कि क्षणभंगुर है, सर्वथा अनित्य है। एक उदाहरण से बात स्पष्ट हो जाती है, पतञ्जलि ने 'अन्नेन व्यंजनम्' (महा० २, १, ३४) की व्याख्या में तथा नागेश ने मंजूषा में (पृ० १२) "गुडो मधुरः" (गुड़ मीठा है) उदाहरण दिया है, गुड़ का मीठापन क्या है, कैसा है इसको संसार का कोई शब्द स्पष्ट नहीं कर सकता। या तो अनुमानगम्य है या स्वानुभव गम्य है। साहित्यिकों के शब्दों में युवती की रूपमाधुरी क्या है, यह शब्दों द्वारा अनिर्वाच्य है। रूप और रस के उक्त दो उदाहरणों से स्पष्ट है कि गुण भी क्रिया और द्रव्य के तुल्य अनिर्वचनीय है। अतः पतञ्जलि का भाव स्पष्ट हो जाता है कि संसार की जितनी भी भावनाएँ और जितने भी शब्द हैं, वे तात्विक दृष्टि से यदृच्छा शब्द हैं। गुण और क्रियाओं का बोध कराने के लिए जिसको जो शब्द प्रतिभा में आया, उसने उसको रख लिया, जैसे घर में उत्पन्न हुए बालक का जो नाम चाहते हैं रख लेते हैं। जिस प्रकार बालकों के ऐच्छिक नाम हैं, उनमें वास्तविकता नहीं है, ठीक उसी प्रकार गुण और क्रियाओं के लिए जो शब्द प्रत्येक भाषा में रक्खे गए हैं, वह सभी ऐच्छिक हैं। अतएव भाषा भेद और शब्दभेद की सृष्टि होती है। पारमार्थिक दृष्टि से न कोई लौकिक भाषा सत्य है और न कोई शब्द

सत्य है। सब अनित्य और क्षणभंगुर हैं। व्यावहारिक उपयोगिता के लिए सारा भाषा शास्त्र और शब्द शास्त्र है, यदि गुण और क्रिया को किसी भ। शब्द के द्वारा ठीक-ठीक बताया जा सकता है तो न संसार में भाषाभेद हो सकता है और न शब्दभेद। संसार भर में एक ही भाषा होती, एक ही शब्द होते, और वह भी नित्य, अजर, अमर और अक्षर। पतञ्जलि भर्तृहरि आदि ने बार-बार जिस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है वह यह है कि शब्दतत्त्व या शब्दब्रह्म (स्फोट) नित्य है, वही वाच्य और वही वाचक है, वह अनिर्वचनीय है, लौकिक भाषाशास्त्र सारा का सारा ही ध्वनि है, क्षणभंगुर है। सर्वथा अपूर्ण है, इसमें ही सारे विकार आदि होते हैं। (देखो महाभाष्य ४, १, ३ 'स्त्रियाम्' सूत्र तथा वाक्यपदीय का० ३ पृष्ठ ३१)।

तीन प्रकार के शब्दों को चार प्रकार का क्यों लिखा—यहां एक बात बहुत स्पष्ट रीति से समझ लेनी चाहिये। उसको निम्न रूप में रखा जा सकता है कि यदि वस्तुतः शब्द तीन प्रकार के ही हैं, यदृच्छा शब्द है ही नहीं, तो एक बार चार लिखने की आवश्यकता ही क्या थी। पहले लिखा जा चुका है कि पाणिनि ने जाति और व्यक्ति या आकृति और द्रव्य दोनों को माना है, यह क्यों? वह इस लिए, कि हम मूलतत्त्व द्रव्य अर्थात् परब्रह्म और मूलरूप जाति अर्थात् महासत्ता, जिससे संसार की सृष्टि हुई है, वह सूक्ष्मतम तत्त्व, यह दोनों ही अव्यवहारी हैं, अनिर्वचनीय हैं। इनको ठीक-ठीक जानने के लिए जब तक स्थूल रूप द्रव्य का आश्रय नहीं लेंगे तब तक उस परमार्थ तत्त्व को समझ ही कैसे सकते हैं। व्यावहारिक दृष्टि से स्थूल द्रव्य की सत्ता मानना और स्वीकार करना उतना ही आवश्यक है जितना कि तात्त्विक दृष्टि से सूक्ष्म द्रव्य परब्रह्म की सत्ता को मानना। पाणिनि और पतञ्जलि ने इसीलिए स्थूल दृष्टि से ज्ञेय और दृश्य व्यावहारिक द्रव्य (जगत्) की पारमार्थिक दृष्टि से ज्ञेय सूक्ष्मतम द्रव्य (परब्रह्म) और जाति (महासत्ता) के साथ स्वीकार किया है। स्थूल भौतिक द्रव्यों के बोध कराने के लिए यदृच्छा शब्दों के अतिरिक्त मानव जाति के पास है ही क्या? व्यावहारिक दृष्टिकोण से भाषाशास्त्र का सर्वस्व एकमात्र यदृच्छा शब्द हैं। इन्हीं के द्वारा सूक्ष्म तत्त्व की ओर संकेत करते हैं। पतञ्जलि ने इस प्रकार विषय को सर्वत्र दो रूप से रखकर यह स्पष्ट किया है कि व्यावहारिक दृष्टिकोण से प्रथम मन्तव्य है और अन्त में उसका खण्डन करके इस बात की ओर ध्यान आकृष्ट किया है कि पारमार्थिक और तात्त्विक दृष्टि से अन्तिम मन्तव्य सत्य है। बालक को भाषाशास्त्र के ज्ञान कराने के लिए वर्णमाला और अंकों को सत्य बताकर ही प्रारम्भ करना पड़ता है, उसकी बुद्धि परिपक्व होने पर उसे वर्णमाला और अंकों की असत्यता ज्ञात हो जाती है, पाणिनि ने जाति और व्यक्ति दोनों को व्यावहारिक दृष्टि से मानकर कितने ही सूत्र बनाए हैं। पतञ्जलि ने महाभाष्य में अपने विवेचन में स्थूल द्रव्य और स्थूल व्यक्ति को मानकर पाणिनि ने जितने

नियम बनाए हैं उन सब का प्रत्याख्यान करना बताया है। इसका भाव यह कदापि नहीं है कि पाणिनि ने अज्ञान से वे नियम बनाए हैं या पतञ्जलि ने पाणिनि की त्रुटि निकाली है। इसका केवल एकमात्र भाव यह है कि पाणिनि ने जहाँ-जहाँ व्यावहारिक दृष्टिकोण से बात लिखी है, पतञ्जलि ने वहाँ-वहाँ पारमार्थिक दृष्टिकोण से बात स्पष्ट की है, जिससे जिज्ञासु को वास्तविक वक्तव्य या दूसरे शब्दों में वास्तविक व्यंग्यार्थ का ज्ञान हो जाय। यही नहीं स्वयं पाणिनि ने "तदशिष्यं संज्ञाप्रमाणत्वात्।" (अष्टा० १, २, ५३ से ५६) आदि चार सूत्रों में अपना मन्तव्य स्पष्ट किया है कि व्याकरण के नियम केवल व्यावहारिक दृष्टिकोण से बनाए गए हैं। उनका तात्विक दृष्टि से कोई अस्तित्व नहीं है। स्वाभाविक नियमों को बताने के लिए व्याकरण है। व्याकरण में स्वयं कोई शक्ति नहीं है कि किसी नियम को बढ़ा सके या घटा सके, या उनमें परिवर्तन कर सके या उनको अस्वाभाविक रूप से नियमित कर सके।

शक्ति के तीन भेद

रूढिशक्ति – नागेश ने व्यावहारिक दृष्टिकोण को सम्मुख रखते हुए अभिधा शक्ति के तीन भेद बताए हैं, १—रूढि, २—यौगिक, योगशक्ति, ३—योगरूढि।

शक्तिस्त्रिधा, रूढिर्योगो योगरूढिश्च। मंजूषा०, पृ० १०६।

नागेश ने रूढि का लक्षण किया है कि जहां पर शास्त्रकारों के कल्पित अवयवों (प्रकृति प्रत्यय) के अर्थ की प्रतीति नहीं होती है और जिसके कारण प्रकृति प्रत्यय के समुदायमात्र में बोध्यता रहती है, उस शक्ति को रूढि कहते हैं। जैसे मणि, नूपुर आदि शब्दों में धातु और प्रत्यय का अर्थ प्रवृत्ति निमित्त नहीं है। पतञ्जलि ने 'आर्हादू०' (अष्टा० ५, १, १९) तथा 'आढ्य सुभग०' (अष्टा० ३, २, ५६) में रूढि शक्ति पर विचार किया है। कैयट ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि रूढि शब्दों में केवल व्युत्पत्ति के लिए क्रिया का आश्रय लिया जाता है, जैसे गो शब्द का निर्वचन किया जाता है "गच्छतीति गौः" (गमन के कारण गौ)। गो शब्द गाय के लिए रूढ हो जाने के कारण गमनक्रिया से रहित होने पर भी गाय को गाय कहते हैं, और गाय के अतिरिक्त अन्य को गमनक्रिया से युक्त देखने पर भी गाय नहीं कहते हैं और न वह गाय शब्द का वाच्य होता है। प्रदीप, महा० ३, २, ५६।

भर्तृहरि ने रूढि शब्दों के विषय में कई स्थलों पर विस्तार से विचार किया है। भर्तृहरि और हेलाराज का कथन है कि रूढि शब्दों में अवयवार्थ का ज्ञान नहीं होता है, यद्यपि प्रवृत्ति निमित्त अन्तरंग क्रिया वहां रहती है, परन्तु उसका अनादर करके रूढि शब्द पदवाच्य द्रव्य के तुल्य हो जाते हैं। व्युत्पत्ति के लिये क्रिया का आश्रय लिया जाता है परन्तु उसका अर्थ में उपयोग नहीं होता है।

(वाक्य० ३ पृ० ६६१)। एक यह प्रश्न उठाया गया है कि यदि प्रकृति और प्रत्यय का विभाग वास्तविक नहीं है तो रूढि और यौगिक का विभाग कैसे किया जा सकता है। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि वृत्ति और वाक्य में जो सादृश्य देखा जाता है, वह शास्त्रकारों द्वारा कल्पित है। वाक्य में अर्थात् विग्रह अवस्था में और वृत्ति (समास) अवस्था में अन्य अर्थ की प्रतीति होने से कितने शब्दों को रूढि शब्द स्वीकार किया जाता है। जैसे अश्वकर्ण शब्द घोड़े के कान का वाचक न रहकर समास होने पर वृक्ष विशेष का वाचक है। (वाक्य० २, ३७) । (देखो वाक्य० १, १२६, १, १३६, २, १२७ से १२८, २, १७६)।

यौगिक या योगशक्ति—यौगिक का लक्षण नागेश ने किया है कि शास्त्रकारों के द्वारा कल्पित प्रकृति और प्रत्यय के ही अर्थ का जहां पर बोध होता रहता है, उसे यौगिक कहते हैं जैसे पाचक (पकाने वाला)। मंजूषा, पृ० १८७।

नागेश ने इसी सम्बन्ध में यौगिकरूढ शब्दों का भी उदाहरण दिया है। जैसे "अश्वगन्धा" शब्द ओषधि विशेष का अर्थ बताता है, तब यह रूढ है। और जब अश्व के सम्बन्ध के कारण अश्वशाला का बोध कराता है, तब यह यौगिक है। ऐसे शब्दों को यौगिक रूढ कहते हैं। नागेश ने इस विषय में एक विशेष नियम का उल्लेख किया है कि "रूढिर्योगापहारिणी" (रूढ़ि यौगिक से बलवान् होती है) जहाँ पर यौगिक और रूढ दोनों अर्थ सम्भव होंगे, वहाँ पर साधारणतया रूढ अर्थ ही लिया जायगा। मण्डप शब्द के दो अर्थ हैं, १—मण्डप जैसे विवाहमण्डप, लतामण्डप, २ - मण्ड अर्थात् मांड को पीने वाला। इन दोनों अर्थों में मण्डप अर्थ रूढ अर्थ है मांड का पीने वाला अर्थ यौगिक है। जब प्रकरण आदि के आधार पर मण्डप शब्द का अर्थ रूढ़ अर्थ मण्डप न लेकर मांड का पीने वाला लिया जाएगा, तब मुख्यार्थ के त्याग के कारण यौगिक अर्थ का ज्ञान लक्षणा से ही होगा। मंजूषा, पृ० १०७।

योगरूढि—नागेश ने योगरूढि की व्याख्या की है कि जहाँ पर शास्त्रकारों के कल्पित अवयवार्थ अर्थात् प्रकृति प्रत्यय के अर्थ का भी बोध है, परन्तु विशेष रूप से समुदाय की बोधकता होती है वह योगरूढि कहाती है। योगरूढि से यौगिक अर्थ होने पर भी रूढ अर्थ मुख्य होकर रहता है, जैसे पंकज शब्द यौगिक अर्थ पंक के उत्पन्न होने वाला बताता हुआ भी कमल के लिए रूढ़ है। कहीं पर तात्पर्य या प्रकरण आदि के कारण केवल यौगिक या केवल रूढ अर्थ का भी बोध कराता है, जैसे "भूमौ पंकजमुत्पन्नम्" (पृथ्वी पर पंकज खिला है), यहाँ यौगिक अर्थ को रोक कर केवल रूढ़ अर्थ लिया जायगा। तथा "कह्लारकैरव-मुखेष्वपि पंकजेषु" (कह्लार कैरव आदि पंकजों में) यहाँ पर पंकज शब्द केवल यौगिक अर्थ पंक से उत्पन्न का बोध कराता है। मंजूषा, पृ० १०७।

नैयायिकों का विवेचन

जगदीश ने शब्दशक्ति प्रकाशिका में नैयायिकों के मत का सुन्दर प्रतिपादन किया है। जगदीश के विवेचन का सारांश निम्न है :—

साकांक्ष शब्दों से शाब्दबोध—(गाय है), (गाय को लाओ), आदि आकांक्षायुक्त शब्दों से अस्तित्व आदि अर्थ से युक्त अर्थ का ज्ञान होता है। शाब्दबोध सर्वदा विलक्षण ज्ञान होता है। शाब्दबोध अतएव न प्रत्यक्ष प्रमाण है और न अनुमान प्रमाण, अपितु शब्दप्रमाण होने से पृथक् सत्ता रखता है। शब्द० श्लोक ३।

सार्थक शब्द तीन प्रकार का— जगदीश ने इस बात को स्पष्ट किया है कि शाब्दबोध के लिए जो यह कहा गया है कि वह आकांक्षायुक्त शब्दों के द्वारा प्रतिपादन किया जाना चाहिये, उसमें भी यह आवश्यक है कि साकांक्ष शब्द सार्थक हों, निरर्थक न हों। सार्थक शब्द किसे कहते हैं और कितने प्रकार का है इसका उत्तर देते हैं कि सार्थक शब्द उसे कहते हैं जो शब्दान्तर की अपेक्षा करके अर्थात् दूसरे शब्दों के साहचर्य से अपने अर्थ का बोध कराता है। प्रकृति, प्रत्यय और निपात। शब्द० श्लोक ६।

वाक्य से ही अर्थज्ञान—सार्थक शब्द जब वाक्य की अवस्था को प्राप्त हो जाते हैं और अपने अर्थ की उपस्थिति करते हैं तभी शाब्दबोध होता है। शब्दमात्र के बोध से शाब्दबोध नहीं होता है, अर्थात् शब्द जब तक वाक्यरूप में नहीं होगा और साकांक्ष नहीं होगा, तब तक शाब्दबोध नहीं होगा। अतएव प्रत्येक स्वतन्त्र शब्द से या आकांक्षारहित शब्दों से अर्थज्ञान नहीं होता है। शब्द० श्लोक १२।

प्रकृति के दो भेद—प्रकृति का विश्लेषण करते हुए जगदीश कहते हैं कि प्रकृति का निर्वचन अर्थात् विश्लेषण किया गया है, सांख्य दर्शन के तुल्य वह संसार का उपादान कारणरूप भी नहीं है। वह दो प्रकार की है, एक नाम और दूसरी धातु। पाणिनि आदि ने जिस प्रकृति के लिए प्रातिपदिक शब्द का प्रयोग किया है, वह नाम से भिन्न कोई वस्तु नहीं है। शब्द० श्लोक १४।

नाम का लक्षण—नाम (शब्द) उन शब्दों को कहते हैं, जिनको कि अपने अर्थ के मुख्य रूप से प्रतिपादन के लिए अपने बाद में प्रथमा विभक्ति की आवश्यकता पड़ती है। जैसे घट आदि शब्द प्रथमान्त होने पर निश्चित रूप से अपने मुख्य अर्थ का बोध कराते हैं। शब्द० श्लोक १५।

शब्द चार प्रकार का है--शब्द अर्थात् नाम चार प्रकार का है। १—रूढ

शब्द किसी अर्थविशेष में रूढ हो जाता है जैसे गो शब्द गमन क्रियायुक्त अर्थ होने पर भी यह गाय के लिए रूढ हो गया है। २–लक्षक–कुछ शब्द लक्ष्यार्थ का ही बोध कराते हैं, जैसे "गंगायां घोषः" (गंगा में झोपड़ी), कहने पर गंगा शब्द लक्ष्यार्थ तीर का बोध कराता है और इसका अर्थ होता है "गंगा के तट पर झोपड़ी।" ३–योगरूढ़ कुछ शब्द यौगिक होते हुए भी किसी अर्थ में रूढ हो जाते हैं, जैसे पंकज शब्द यौगिक अर्थ पंक (कीचड़) से उत्पन्न होने पर भी कमल के लिए रूढ हो गया है। ४–यौगिक, कुछ शब्द अपने यौगिक अर्थ का ही बोध कराते हैं, जैसे पाचक शब्द पकाने वाले का बोधक है। कुछ व्यक्ति चार के अतिरिक्त पांचवा प्रकार भी मानते हैं। ५–रूढ यौगिक, कुछ शब्द ऐसे हैं जो कभी तो अपने अवयवों के अर्थ के आधार पर यौगिक अर्थ का बोध कराते हैं और कभी समुदाय शक्ति के कारण रूढ अर्थ का ही बोध कराते हैं। जैसे मण्डप शब्द रूढ अर्थ मण्डप और यौगिक अर्थ मांड पीने वाले का। महारजतशब्द का रूढ अर्थ सुवर्ण है और यौगिक अर्थ बड़ी चांदी है। शब्द० श्लोक १६।

रूढ शब्द तीन प्रकार का है—रूढ़ का लक्षण जगदीश ने किया है कि जो नाम जिस अर्थ में संकेतित ही हो, यौगिक नहीं उसे रूढ कहते हैं। रूढ़ संज्ञाएँ तीन प्रकार की हैं, १, नैमित्तिकी, २, पारिभाषिकी, ३, औपाधिकी।

जगदीश ने इस विषय में नाम के जो चार विभाग जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और द्रव्यशब्द पतञ्जलि के अनुसार आचार्य दण्डी ने किया है उसका उल्लेख करके उससे मतभेद प्रकट किया है। जगदीश का कथन है कि द्रव्यवाची शब्द को ही नाम मानने पर जड, मूक, मूर्ख, शून्य आदि शब्द जो चेष्टारहित, वाणीरहित, विद्यारहित आदि अभावात्मक ज्ञान के बोधक हैं, उनका ग्रहण नहीं होगा, अतः उपर्युक्त तीन विभाग किए गए हैं। यहाँ पर यह जान लेना उचित है कि वैयाकरण और साहित्यिक आदि अभाव को कोई पृथक् पदार्थ नहीं मानते हैं। अभाव भाव रूप नित्य सत्ता का वर्तमान काल में अप्रत्यक्ष है। इसके अतिरिक्त कोई पदार्थ नहीं है, अतएव पतञ्जलि ने यदृच्छा शब्दों में और आचार्य दण्डी ने द्रव्य शब्दों में इन शब्दों का भी ग्रहण किया है। शब्द० श्लोक १८।

नैमित्तिक संज्ञा—जगदीश ने नैमित्तिक संज्ञा का लक्षण किया है कि जो शब्द जातिविशिष्ट व्यक्ति का संकेत करते हैं, वे नैमित्तिक संज्ञा हैं। जगदीश ने इस श्लोक की व्याख्या में जातिवादी मीमांसकों के मत का बहुत विस्तार से खण्डन किया है। उनका कहना है कि यदि शब्द केवल जाति का ही बोधक माना जाएगा तो व्यक्ति का ज्ञान हो ही नहीं सकता है। अतः जातिविशिष्ट का ही ज्ञान शब्द से होता है। जैसे गाय चैत्र आदि शब्दों से गोत्वविशिष्ट गाय और चैत्रत्वविशिष्ट चैत्र का ज्ञान होता है। शब्द० श्लोक १६।

पारिभाषिक और औपाधिक संज्ञा—जो नैयायिक जातिविशिष्ट संकेत वाले चैत्र आदि शब्दों को पारिभाषिक मानते हैं, उनके अनुसार तीनों संज्ञाओं का लक्षण दिया है कि आधुनिक संकेत वाले शब्दों को पारिभाषिक कहते हैं, जैसे देवदत्त चैत्र आदि व्यक्तियों के नाम, जातिविशिष्ट व्यक्तिवाची को नैमित्तिक, जैसे गाय गवय आदि तथा उपाधिविशिष्ट पदार्थ के बोधक को औपाधिक, जैसे आकाश, पशु आदि शब्द । शब्द० श्लोक० २३ ।

गदाधर भट्ट ने व्युत्पत्तिवाद में इस बात पर विस्तार से विचार किया है कि पाणिनि ने नदी घि घु आदि जो संज्ञाएँ रखी हैं, उन्हें पारिभाषिक माना जाय या औपाधिक । अन्त में अपना निर्णय दिया है कि नदी आदि संज्ञाएँ आधुनिक संकेत वाली हैं अतः उन्हें पारिभाषिक संज्ञाएँ ही मानना चाहिये । औपाधिक नहीं । व्युत्पत्तिवाद, पृ० १७६ ।

संकेत दो प्रकार का है—नागेश ने इस विषय पर विचार किया है कि आधुनिक संकेत वाले शब्दों में शक्ति है या नहीं । इस विषय पर निर्णय दिया है कि आधुनिक संकेत वाले शब्दों में शक्ति नहीं है । अपने कथन की पुष्टि में जगदीश ने वाक्यपदीय से भर्तृहरि का उद्धरण दिया है कि संकेत दो प्रकार का है, आजानिक और आधुनिक । नित्य संकेतों को आजानिक कहते हैं । आजानिक की टीका व्याख्याकार ने की है "नास्ति जनिरुत्पत्तिर्यस्यासौ अजनिः, अजनिरेवाजानिकः" उत्पत्ति रहित को अजनि कहते हैं, अजनि का ही रूप आजानिक है । आजानिक शब्दों में ही शक्ति रहती है । आधुनिक उन संकेतों को कहते हैं जिनको शास्त्रकारों आदि ने किया है । शब्द० श्लोक २३ ।

लक्षणा के विषय में जगदीश ने जो विवेचन किया है, वह प्रायः वैयाकरणों के ही तुल्य है । वैयाकरणों के मत से ही उसका स्पष्टीकरण हो जाता है ।

मम्मट का विवेचन

मम्मट ने काव्यप्रकाश के द्वितीय उल्लास में शब्द और अर्थ के स्वरूप का विवेचन निम्नरूप से किया है :—

शब्द और अर्थ तीन प्रकार का है—शब्द तीन प्रकार है, वाचक, लाक्षणिक और व्यंजक । अर्थ भी तीन प्रकार का है, क्रमशः वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य काव्यप्रकाश (सूत्र ५—६) । वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य ये तीनों अर्थ प्रायः व्यंजक भी होते हैं । सूत्र ८ ।

वाचक का लक्षण—संकेत ज्ञान के बिना शब्द से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है । संकेत की सहायता से ही शब्द अर्थ विशेष का प्रतिपादन करता है । अतएव जिस शब्द का जिस अर्थ में अव्यवहित रूप से संकेत का ज्ञान होता है, वह

शब्द उस अर्थ का वाचक होता है। साक्षात् संकेतित अर्थ का जो बोध कराता है, उसे वाचक शब्द कहते हैं। सूत्र ८।

संकेतित अर्थ चार प्रकार का है—संकेतित अर्थ जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य चार प्रकार का होता है। अथवा जाति ही संकेतित अर्थ है। मम्मट कहते हैं कि यद्यपि अर्थ (दूध आदि) के लिए जो क्रिया (गायलाना आदि) की जाती है, उसका निर्वाहक होने के कारण प्रवृत्ति निमित्त के योग्य व्यक्ति ही है, फिर भी अनन्तता और व्यभिचार (अव्यवस्था) के कारण व्यक्ति में संकेत करना युक्तियुक्त नहीं है। यदि व्यक्ति में संकेत करेंगे तो जाति, गुण, क्रिया और द्रव्य का विषय विभाग नहीं हो सकेगा। जैसे गौः शुक्लः चलः डित्थः। (गाय, शुक्लरूप, चलनेवाली डित्थ) नामक एक गाय के ही जाति आदि चारों अर्थों को लेकर चार शब्द हैं, व्यक्ति मानने पर चारों का विभाग नहीं होगा। अतएव उपाधि अर्थात् व्यक्ति के उपाधि (धर्म, जाति, गुण आदि) में ही संकेत होता है। सूत्र १०।

उपाधि का विवरण—उपाधि दो प्रकार की हैं, एक वस्तु-धर्म और दूसरा वक्ता की इच्छा के द्वारा प्रवेशित। वस्तुधर्म दो प्रकार का है, सिद्ध और साध्य। सिद्ध दो प्रकार का है, एक पदार्थ में प्राणशक्ति का आधान करने वाला, इसको जाति कहते हैं। जैसा कि वाक्यपदीय में कहा है कि "गाय अपने स्वरूप से न गाय है न गाय नहीं है। गोत्व जाति के सम्बन्ध के कारण उसे गाय कहते हैं"। दूसरा सिद्ध पदार्थ वह है जो कि विशेषता को ला देता है, इसे गुण कहते हैं। शुक्ल आदि गुण सत्ता युक्त पदार्थ में विशेषता उत्पन्न करते हैं।

साध्य क्रिया को कहते हैं, डित्थ आदि नाम जो वक्ता संज्ञा रूप से रख देता है, वह यदृच्छा रूप पदार्थ है। (सूत्र १०) महाभाष्यकार पतञ्जलि ने अतएव कहा है कि शब्दों की प्रवृत्ति चार प्रकार से होती है, जाति, गुण, क्रिया और यदृच्छा शब्दों को लेकर।

गुण आदि जाति हैं—परमाणु, द्व्यणुक आदि का गुणों में परिगणन होने के कारण उनको पारिभाषिक रूप से गुण नाम दिया गया है। वस्तुतः गुण क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) एक ही तत्त्व है तथापि आश्रयों के भेद से भिन्न प्रतीत होते हैं। जैसे एक ही मुँह तलवार, शीशा और तेल आदि आधारों की भिन्नता से भिन्न-भिन्न रूप में इनमें दृष्टिगोचर होता है। भाव यह है कि गुण क्रिया और यदृच्छा (द्रव्य) भी जाति ही हैं। इसको उदाहरण द्वारा समझाया है कि हिम, जल, शंख आदि आश्रयों में जो वस्तुत भिन्न-भिन्न शुक्लता आदि हैं, उनमें सबसे यह शुक्ल है, यह शुक्ल है, इस इस प्रकार के अभिन्न ज्ञान होने के कारण शुक्लता आदि गुण भी जाति है। इस प्रकार विभिन्न गुड़ चावल आदि में पाक होने के कारण पाक आदि क्रिया भी जाति है। डित्थ आदि द्रव्यवाची

यदृच्छा शब्दों में भी जाति है, क्योंकि द्रव्यों में प्रतिक्षण भिन्नता आती रहती है फिर भी बालक वृद्ध आदि के द्वारा कहे गए डित्थ आदि शब्दों में डित्थत्त्व आदि संज्ञा रूप जाति है। इसीलिए अन्यों (मीमांसकों) का मत है कि सारे शब्दों की प्रवृत्ति का निमित्ति जाति ही है। सूत्र १०।

इस साक्षात् संकेतित अर्थ को मुख्यार्थ कहते हैं। इसका जिस शक्ति से ज्ञान होता है, उसे अभिधा कहते हैं। सूत्र ११।

लक्षणा का विवेचन

पतञ्जलि ने "पुंयोगादाख्यायाम्" (अष्टा० ४, १, ४८) के भाष्य में तथा भर्तृहरि ने (वाक्य० २, २५२ से २८०) जो विवेचन किया है उसके आधार पर नागेश ने मंजूषा में (पृ० ११६ से १५६), लक्षणा का बहुत विस्तार से निरूपण किया है। उसका सारांश निम्न है :—

लक्षणा का लक्षण—अन्वय आदि की सिद्धि न होने के कारण शब्दार्थ रूप में जिस अर्थ का ग्रहण होता है, उससे सम्बन्ध के ज्ञान के द्वारा जो शक्ति विषयक संस्कार उद्बुद्ध होता है, उससे जो बोध होता है उसको लक्षणा कहते हैं। शक्ति विषय संस्कार का उद्बोधन ऐसे स्थलों पर पूर्व जन्म के संस्कारों के कारण भी होता है।

उपर्युक्त लक्षणा में संशोधन करते हुए नागेश का कथन है कि अन्वय की अनुपपत्ति के स्थान पर तात्पर्य की अनुपपत्ति अर्थात् जो वक्ता का तात्पर्य है, उसका बोध होने को ही लक्षणा का कारण कहना चाहिए। नहीं तो "गंगायांघोषः" (गंगा में कुटी) में शब्दार्थ के अन्वय न होने की जो कठिनाई है, उसका निवारण तो दूसरे प्रकार से भी हो सकता है। यहाँ पर गंगा शब्द की गंगा के तीर में लक्षणा के घोष शब्द की मकर (नाका आदि) में लक्षणा के द्वारा भी अन्वय ठीक हो जाता है। गंगा में कुटी नहीं हो सकती है, अतः उसके निवारणार्थ गंगा शब्द में लक्षणा के द्वारा "गंगा के तट पर कुटी" अर्थ लिया जाता है, परन्तु घोष शब्द में लक्षणा के द्वारा इसका अर्थ यह भी ठीक हो सकता है कि "गंगा में मगर है"। वक्ता के तात्पर्य की सिद्धि न होने को कारण मानने पर घोष शब्द में लक्षणा नहीं की जायगी, क्योंकि वक्ता का वैसा तात्पर्य नहीं है। नागेश आगे कहते हैं कि तात्पर्य के अनुपपत्ति के साथ रूढ़ि या प्रयोजन इनको भी कारण मानना चाहिए, क्योंकि अनुभव में ऐसा ही देखा जाता है कि लक्षणा रूढ़ि के आधार पर होती है, या किसी प्रयोजनविशेष के आधार पर। अतः संक्षेप में लक्षणा के तीन कारण समझने चाहिए। १, मुख्य अर्थ की बाधा होनी चाहिए, २, मुख्य अर्थ से उसका सम्बन्ध होना चाहिए, ३, रूढ़ि या कोई प्रयोजन होना चाहिए। मंजूषा०, पृ० ११६ से ११७।

लक्षणा के भेद—लक्षणा दो प्रकार की होती है, गौणी और शुद्धा। सादृश्य रूपी सम्बन्ध के कारण जो तत्सम्बद्ध अर्थ का प्रतिपादन करती है, उसे गौणी लक्षणा कहते हैं और सादृश्य से भिन्न कोई सम्बन्ध हो तो उसे शुद्धा लक्षणा कहते हैं। मंजूषा०, पृ० १२३।

लक्षणा अन्य प्रकार से भी दो प्रकार की है, अजहत्स्वार्था और जहत्स्वार्था। अजहत्स्वार्था लक्षणा उसे कहते हैं जो कि अपने अर्थ को छोड़े बिना ही अन्य अर्थ का बोध कराती है। अपने अर्थ को न छोड़ने का अर्थ यह है कि शब्द का अर्थ किसी न किसी रूप में लक्ष्यार्थ में विद्यमान रहे। अतएव ''छत्रिणो यान्ति'' (छाते वाले जाते हैं) कुन्तान् प्रवेशय (भालों को अन्दर भेज दो), काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम् (कौओं से दही बचाना) इन उदाहरणों में असङ्गति नहीं होगी। इन वाक्यों में छाता, भाले और कौए इन शब्दों का अपने के भिन्न पर भी आरोप किया गया है। इनका लक्ष्यार्थ है, व्यक्तियों का समूह, जिनमें कुछ के पास छाते हैं, कुछ के पास नहीं। जिन पर छाते नहीं हैं, उनपर छाते वालों का आरोप करके कहते हैं कि "ये छाते वाले जा रहे हैं", वस्तुतः सब के पास छाते नहीं हैं। भाला लिए हुए व्यक्तियों पर भाले का आरोप करके कहते हैं कि "भालों को अन्दर भेज दो", वस्तुतः कहना चाहते हैं कि "भाले वाले व्यक्तियों को अन्दर भेज दो" "कौओं से दही की रक्षा करना" इसका भाव यह कदापि नहीं है कि कौओं से दही बचाना और बिल्ली आदि को खिला देना, अपितु इसका भाव यह है कि दही जो भी खा जाने वाले हों उन सबसे दही की रक्षा करना। यहाँ दही खा जाने वाले सब पर ही काकत्व का आरोप करके कौआ कहा गया है। जहत्स्वार्था लक्षणा उसे कहते हैं, जो कि अपने अर्थ को छोड़कर अन्य लक्ष्य अर्थ का बोध कराती है। यहाँ अर्थ को छोड़ने का अर्थ यह है कि शब्दार्थ की लक्ष्यार्थ में सर्वथा उपस्थिति ही न हो। "गां वाहीकं पश्य" का अतएव अर्थ हो जाता है कि (मूर्ख वाहीक देशवासी को देखो)"। यहाँ गाय शब्द अपने अर्थ को सर्वथा छोड़ कर मूर्ख अर्थ का ही बोध कराता है। नागेश ने अन्य लक्षणा के भेदों का उल्लेख न करके यह कहकर छोड़ दिया है कि अन्य भेद इसी प्रकार से और समझने चाहिए। मंजूषा, पृ० १२३।

नागेश ने निरूढलक्षणा के विषय में कहा है कि "त्वचा ज्ञातम्" (त्वचा से जाना), आदि में त्वचा शब्द की त्वगिन्द्रिय में निरूढ लक्षणा है। त्वचा स्वयं चेतना रहित है, उससे ज्ञान नहीं हो सकता है, रूढि के कारण त्वगिन्द्रिय को ही त्वचा कहा जाता है। निरूढ लक्षणा का लक्षण किया है कि प्रयोजन न होने पर भी मुख्य अर्थ को बाधा होने पर तत्सम्बन्धी अन्य अर्थ के बोध को निरूढ लक्षणा कहते हैं, अन्यथा इसको रूढि शक्ति ही समझना चाहिए। प्रयोजनवती लक्षणा उसे कहते हैं, जहाँ पर कोई विशेष प्रयोजन होने पर ही मुख्य अर्थ की

बाधा होने से अन्य सम्बद्ध अर्थ का बोध होता है। जैसे (भाले अन्दर आ रहे हैं) में भाले वालों को भाला कहने का प्रयोजन है, भालों की तीक्ष्णता का बोध कराना। भाले वालों को अन्दर आता देखकर भय से भागते हुए व्यक्ति का कथन है तीक्ष्ण भाले वाले व्यक्तियों के बोध के लिए भाला शब्द प्रयोजन है, "(गंगा में कुटी)" गंगा शब्द की गंगा तट में लक्षणा होती है। यहाँ गङ्गा की शीतलता पवित्रता आदि का बोध कराना प्रयोजन है। "गौर्वाहीकः" (वाहीक देशवासी पशु), यहाँ पर गाय शब्द का लक्ष्यार्थ मूर्खता है। वाहीक देशवासी की मूर्खता और गाय तथा उसमें अभिन्नता का बोध करना प्रयोजन है, लक्षणा से जो ज्ञान होता है, उसमें बाधा का ज्ञान प्रतिबन्धक होता है, परन्तु व्यंजना के द्वारा जो ज्ञान होता है, उसमें मुख्य अर्थ की बाधा का ज्ञान प्रतिबन्धक नहीं होता है।

एक अपकार करने वाले को कोई सम्बोधित करके कहता है कि "आपने मेरे साथ बहुत उपकार किया है, उसका मैं क्या वर्णन कर सकता हूँ, इससे आपने अपने सौजन्य को प्रसिद्ध कर दिया है। हे मित्र, आप इसी प्रकार सदा किया करें और सुख पूर्वक सौ वर्ष जीवें।"

उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते सुजनता प्रथिता भवता परम्।
विदधदीदृशमेव सदा सखे सुखितमास्व ततः शरदां शतम्॥

यहाँ पर लक्ष्यार्थ सर्वथा विपरीत है। लक्ष्य अपकार में उपकार के साथ अभेद की प्रतीति द्वारा ही यहाँ पर लक्ष्यार्थ की सिद्धि होती है। मंजूषा, पृष्ठ १२३ से १२४।

लक्षणा के कारण, पतञ्जलि का मत—पतञ्जलि ने लक्षणा के कारणों की व्याख्या के लिए एक मौलिक प्रश्न उठाया है। कैयट और नागेश ने इसको स्पष्ट किया है। "पुंयोगादाख्यायाम्" (अष्टा० ४, १, ४८) सूत्र में यह प्रश्न उठाया है कि ब्राह्मण की स्त्री ब्राह्मणी, गोप की स्त्री गोपी आदि में पुलिंग शब्द स्त्रीलिंग कैसे हो सकता है। पतञ्जलि का प्रश्न है कि कोई भी शब्द जो पुलिंग है, वह स्त्रीलिंग नहीं हो सकता है। अतः पाणिनि का यह कथन है कि "पुलिंग के सम्बन्ध होने के कारण जो शब्द स्त्रीलिंग में होते हैं, उनसे ङीष् होता है" ठीक नहीं होगा। सम्बन्ध का अर्थ पाणिनि के अनुसार होता है, 'तस्येदम्' (अष्टा० ४, ३, १२०) ("उसका यह है")। पुरुष की आत्मा स्वतन्त्र। स्त्री की आत्मा भी स्वतन्त्र है, उन दोनों में "उसका यह है" यह सम्बन्ध कैसे हो सकता है। अतः पतञ्जलि ने सम्बन्ध के मूल में अन्य प्रकार भी है, जिसको पाणिनि ने दो सूत्रों में रखा है, 'तदर्हति' (अष्टा० ५, १, ६३), 'तदर्हम्' (अष्टा० ५, १, ११७)। इनका भाव है कि दो पदार्थों का योग्यता सम्बन्ध भी होता है। (यह योग्य है) (ऐसा हो सकता है)। पाणिनि के यह दो सूत्र हैं, जिनके ऊपर पतञ्जलि, भर्तृहरि, नागेश आदि ने शब्द और अर्थ का योग्यता सम्बन्ध सिद्ध किया है। अतएव पतञ्जलि

कहते हैं कि "अयमप्यभिसम्बन्धो भवति" "सोऽयम्" इति, यह भी सम्बन्ध होता है, वह यह है अर्थात् तादात्म्य सम्बन्ध। पतञ्जलि ने पुनः प्रश्न उठाया है कि दो भिन्न पदार्थों में अभिन्नता या तादात्म्य सम्बन्ध कैसे हो सकता है इसका स्पष्टीकरण करते हुए पतञ्जलि ने लक्षणा की स्थिति बताई है। लक्षणा क्या है? भिन्न में अभिन्नता का ज्ञान, अतत् में तत् का ज्ञान, अन्य में अन्य का आरोप-शब्द के गुणों का अर्थ में आरोप और अर्थ के गुणों का शब्द में आरोप। जाति में व्यक्ति का आरोप, आकृति में द्रव्य का आरोप और द्रव्य में आकृति का आरोप, यह सब लक्षणा के कारण ही होता है। पतञ्जलि कहते हैं कि चार प्रकार से अन्य में अन्य का ज्ञान अर्थात् लक्षणा होती है, १ - तत्स्थता, २ – तद्धर्मता, ३ – तत्समीपता और ४ – तत्साहचर्य।

चतुर्भिः प्रकारैस्तस्मिन् 'स' इत्येतद् भवति, तात्स्थ्यात्, ताद्धर्म्यात् तत्सामीप्यात्, तत्साहचर्यादिति।

१—तत्स्थता, जो वस्तु जिस पर रहती है, अर्थात् आधार और आधेय से लक्षणा होती है। आधार और आधेय में अन्य के गुणों का अन्य में आरोप किया जाता है। जैसे मंचा हसन्ति (मचान हंसते हैं) गिरिर्दह्यते (पहाड़ जलाया जाता है), में मचान पर बैठे हुए बालकों में मचान का आरोप किया जाता है। क्योंकि मचान हंस नहीं सकता। पहाड़ जल नहीं सकता है, जिसको तात्त्विक दृष्टि से पर्वत कहते हैं, वह जलने वाला पदार्थ नहीं है, अतः यहाँ पर अर्थ होता है, पहाड़ के ऊपर के वृक्ष आदि जलाये जाते हैं।

२—तद्धर्मता, गुणों या क्रिया की समानता से अन्य में अन्य का आरोप किया जाता है। भिन्न में गुण या क्रिया के सादृश्य के कारण अभिन्नता का आरोप लक्षणा है। जैसे "गौर्वाहीकः सिंहोमाणवकः" (बालक सिंह है), बालक में सिंह के तुल्य शूरता-वीरता आदि देखकर उसे सिंह कह दिया जाता है। जिसका नाम ब्रह्मदत्त नहीं है, उसको भी ब्रह्मदत्त के सदृश गुणों से युक्त देखने पर "एष ब्रह्मदत्त." (यह ब्रह्मदत्त है), कह देते हैं। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय में अतएव कहा है कि प्रयोजनविशेष के कारण ही वाहीक में गोत्व का आरोप किया जाता है। यहां पर यह स्पष्ट जान लेना चाहिए कि पतञ्जलि और भर्तृहरि के मतानुसार अर्थ में परिवर्तन आता है, शब्द में परिवर्तन नहीं आता है, शब्द अपने अर्थ में व्यवस्थित है। इसका भाव स्पष्ट किया जा चुका है, कि शब्दतत्त्व में कभी कोई परिवर्तन नहीं होता है, वह नित्य स्फोटरूप है। उसमें अर्थतत्त्व नित्य और मियमित रूप से रहता है। यह अर्थ जो कि बदलता रहता है, और जिसमें सब परिवर्तन आदि होते हैं, वह ध्वनि रूप अर्थ है। ध्वनि की अनित्यता के कारण ध्वन्यात्मक अर्थ में परिवर्तन होते रहते हैं। इससे शब्द के अपने पारमार्थिक अर्थ में कोई अन्तर नहीं पड़ता है।

गोत्वानुषंगो वाहीके निमित्तात् कैश्चिदिष्यते।
अर्थमात्रं विपर्यस्तं शब्दः स्वार्थे व्यवस्थितः ॥

वाक्य० २, २५७।

३—तत्समीपता, सामीप्य के कारण भी अन्य अर्थ का अन्य में आरोप किया जाता है, जैसे "गंगायां घोषः" समीपता के कारण तट में गंगा का आरोप। "कूपे गर्गकुलम्" (कुएँ में गर्ग का कुल), में कुएँ के किनारे में कुएँ का आरोप किया गया है। इसका अर्थ है कुएं के किनारे पर या कुएं के समीप गर्ग का कुल है।

४—तत्साहचर्य, साहचर्य के कारण भी आरोप होता है। जो व्यक्ति जिस वस्तु को धारण किए रहता है, उस नाम से उसको लक्षित किया जाता है जैसे "कुन्तान् प्रवेशय" (भालों को अन्दर भेजो), यष्टीः प्रवेशय" (लाठियों को अंदर भेजो), में भाले और लाठीधारियों को भाला और लाठी कहा गया है।

गौतममुनि का मत—गौतम मुनि ने न्यायसूत्रों में लक्षणा के कारणों पर और विस्तार से विचार किया है। उन्होंने अन्य में अन्य के आरोप के १० कारण बताए हैं।

सहचरणस्थानतादर्थ्यवृत्तमानधारणसामीप्ययोगसाधनाधिपत्येभ्यो ब्राह्मण बालवटराजसक्तुचन्दनगंगाशकटान्नपुरुषेष्वतद्भावेऽपि तदुपचारः । न्याय० २, २, ५९।

वात्स्यायन ने गौतम के सूत्र की निम्नरूप से व्याख्या की है। अतद्भाव का अर्थ है भाव अर्थात् धर्म, जिसमें जो धर्म नहीं है, उसमें उस धर्म का उपचार अर्थात् उस शब्द का व्यवहार करना। यह उपचार उस धर्म के आरोप से होता है। आरोप के निमित्त साहचर्य आदि हैं।

१—साहचर्य, जैसे 'यष्टीः प्रवेशय" (लाठियों को अन्दर भेज दो), इसमें लाठी के साहचर्य अर्थात् साथ रखने के कारण यष्टिधारी ब्राह्मण में भी यष्टित्व का आरोप किया गया है।

२—तात्स्थ्य, "मंचाः क्रोशन्ति" इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है।

३ तादर्थ्य, जिस कार्य के लिए जो वस्तु होती है, उसमें कार्य का आरोप, अर्थात् कारण में कार्य का आरोप। जैसे "वीरणेष्वास्ते"। (घास विशेष पर बैठता है), वीरण उस घास को कहते हैं, जिससे चटाई बनती है। यहाँ पर चटाई में वीरणत्व का आरोप तादर्थ्य के कारण है।

४—वृत्त, आचरण के आधार पर आरोप। जैसे, "अयं राजा यमः" (यह राजा यम है)। यम के तुल्य आचरण के कारण राजा में यमत्व का आरोप हुआ है।

५—मान, परिमाण के आधार पर आरोप। जैसे "प्रस्थः सक्तुः" (एक प्रस्थ

सत्तू), एक प्रस्थ ३२ पल का होता है, प्रस्थ भर सत्तू के स्थान पर परिमाण के आधार पर सत्तू में प्रस्थत्व का आरोप हुआ है। जैसे हिन्दी में १ सेर भर सत्तू को एक सेर सत्तू कहते हैं।

६—धारण, जैसे "चन्दनं तुला" (चन्दन तराजू) में चन्दन को धारण करने के कारण चन्दन में तराजू का आरोप किया गया है।

७—सामीप्य, "गंगायां घोषः" इसकी व्याख्या हो चुकी है।

८—योग, जिस गुण का योग होता है, उस गुण का गुणी में आरोप। जैसे कृष्णः शकटः (काली गाड़ी), में गाड़ी में कृष्णता का आरोप किया गया है।

९—साधन, जो वस्तु जिस कार्य का साधन होता है, उस साधन में साध्य का आरोप। जैसे, "अन्नं प्राणाः" (अन्न प्राण है), अन्न प्राण का साधन है, साधन अन्न में प्राणत्व का आरोप किया गया है।

१०—आधिपत्य, "अयं कुलस्य राजा" यह कुल का राजा है, कुल के आधिपत्य के कारण पुरुष में राजत्व का आरोप किया गया है।

उद्योतकर ने उक्त सूत्र की व्याख्या में न्यायवार्तिक में कहा है कि "साहचर्य का अर्थ है, लाठी से सम्बन्ध, उस सम्बन्ध के कारण तो यष्टिका के स्थान पर यष्टिकावान्" (लाठी वाला) होना चाहिए। यदि लाठी वाला ही कह देंगे तो यह मुख्यार्थ हो जायगा। अतएव उपचार का कारण और कुछ होना चाहिए। इसका उत्तर देते हुए कहते हैं कि लाठी में लाठी शब्द यष्टिकात्व जाति के कारण है। वहाँ पर यष्टिका से संयुक्त ब्राह्मण में समवाय से सम्बन्ध रहने वाली ब्राह्मणत्व जाति का समवाय सम्बन्ध से ब्राह्मण में आरोप करके ब्राह्मण को यष्टिका कहा गया है। मंजूषा, पृ० १११।

साहित्यशास्त्रियों के मत का वर्णन मम्मट ने काव्यप्रकाश (द्वितीय उल्लास) तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण (द्वितीयपरिच्छेद) में विस्तार से किया है। साहित्यकारों का मत वैयाकरणों के समान ही है। मम्मट और विश्वनाथ ने लक्षणा के भेदों का और विस्तार किया है। विश्वनाथ ने पहले लक्षणा के चालीस भेद किए हैं, और वे भी पद और वाक्य में होने के कारण दो प्रकार के होकर ८० प्रकार के हो जाते हैं।

व्यञ्जना का निरूपण

नागेश का मत—भर्तृहरि ने स्फोट और ध्वनि में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का सम्बन्ध माना है। भर्तृहरि के इस विषय पर विस्तृत विचारों का उल्लेख स्फोट के प्रकरण में किया गया है। नागेश ने मंजूषा में व्यञ्जना का संक्षिप्त वर्णन किया है। व्यञ्जना का लक्षण किया है कि व्यञ्जना मुख्यार्थ की बाधा के ज्ञान की अपेक्षा

न करके ज्ञान को उत्पन्न करती है, मुख्यार्थ से सम्बद्ध और असम्बद्ध, प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध सभी प्रकार का अर्थ इसका विषय है, मुख आदि की विलक्षणता के ज्ञान तथा प्रतिभा से उद्बुद्ध संस्कार विशेष को व्यञ्जना कहते हैं। नागेश कहते हैं कि अतएव भर्तृहरि आदि ने निपातों को द्योतक और स्फोट को व्यङ्ग्य कहा है। द्योतक का लक्षण यह है कि कहीं विशेष स्थल पर कही गई पद सम्बन्धी शक्ति का व्यञ्जक होना। अतएव वैयाकरणों को भी व्यञ्जना शक्ति पृथक् स्वीकार करनी चाहिए। व्यञ्जना का अनुभव शब्द शब्दार्थ पद, पद के एक भाग वर्ण, रचना चेष्टा आदि में सर्वत्र ही होता है। मुख आदि की विलक्षणता आदि का ज्ञान व्यङ्ग्य विशेष के बोध में सहायक होता है, अतः सर्वत्र उसकी आवश्यकता नहीं होती। मंजूषा, पृ० १५६।

भर्तृहरि तथा हेलाराज आदि ने स्फोट और ध्वनि में व्यङ्ग्य और व्यञ्जक का जो सम्बन्ध माना है इससे यह स्पष्ट है कि वैयाकरण व्यञ्जना शक्ति को पृथक् और स्फोट रूप में स्वतंत्र शक्ति मानते हैं। अभिधा और लक्षणा के अतिरिक्त व्यञ्जना शक्ति के द्वारा ही वाक्यस्फोट की सिद्धि होती है।

साहित्यशास्त्रियों में से मम्मट ने काव्यप्रकाश के (द्वितीय उल्लास) में तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के (द्वितीय परिच्छेद) में साहित्यिकों के अनुसार इसकी विस्तार से व्याख्या की है। मीमांसकों ने जिनमें व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट आदि मुख्य हैं, जिन्होंने व्यञ्जना को अनुमान में ही सिद्ध करने का प्रयत्न किया है, और व्यञ्जना शक्ति का खण्डन किया है, उनका दोनों ने बड़े ऊहापोह के साथ काव्यप्रकाश के (पंचम उल्लास) और साहित्यदर्पण के (पंचम परिच्छेद) में खण्डन किया है। मम्मट और विश्वनाथ ने तथा आनन्दवर्द्धन और अभिनव गुप्त ने ध्वन्यालोकलोचन पुस्तक में व्यञ्जना शक्ति का मीमांसकों का खण्डन करके इसकी स्वतंत्र सत्ता सिद्ध की है।

अध्याय ७

पद और पदार्थ

वैयाकरणों के मत का उल्लेख किया जा चुका है कि वे शब्द और अर्थ दोनों को तात्त्विक दृष्टि से नित्य मानते हैं। उनके मतानुसार वाक्य ही मुख्य है। पद और पदार्थ दोनों गौण हैं। वाक्य और स्फोट के अध्याय में अन्य मतों का उल्लेख किया जाएगा। इस अध्याय में पद और पदार्थ के स्वरूप का निरूपण किया जाएगा।

पदविभाग – भर्तृहरि ने पदविभाग के विषय में उल्लेख किया है कि इस विषय में प्राचीन आचार्यों में मतभेद था। कोई नाम और आख्यात इन दो को ही पद मानते थे। कोई पद को चार भागों में विभक्त करते थे, नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात। एक अन्य मत और भी था जो कि कर्मप्रवचनीय की पृथक् सत्ता को स्वीकार कर इनकी संख्या ५ मानता था।

> द्विधा, केश्चित् पदं भिन्नं चतुर्धा पंचधाऽपि वा।
> अपोद्धृत्यैव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥
>
> वाक्य० ३, १।

पद दो प्रकार का है – भर्तृहरि ने दो वार्तात्त और औदुम्बरायण आचार्यों का उल्लेख किया है कि वे पद को दो प्रकार का ही मानते थे। उनका मत था कि अखण्ड वाक्य बुद्धि में सर्वदा रहता है, उसी का प्रतिभा रूपी अर्थ से संयोग होता है। अतः नाम अर्थात् अखण्ड वाक्य रूपी शब्द और आख्यात अर्थात् प्रतिभा रूपी अर्थ ये दोनों हीं पद के विभाग हैं, चार नहीं। वाक्य० २, ३४७।

तात्त्विक दृष्टि से नाम और आख्यात ये ही दो पद के मुख्य विभाग हैं, अतएव पाणिनि ने "सुप्तिङन्तं पदम्" (अष्टा० १, ४, १४), सूत्र में पद को सुबन्त (नाम) और तिङन्त (आख्यात) इन दो भागों में ही विभक्त किया है।

पद चार प्रकार का है—तात्त्विक दृष्टि से पद दो प्रकार का होने पर भी व्यावहारिक दृष्टि से चार प्रकार का है। पद का चार भागों में विभाग सबसे प्राचीन है। पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में ऋग्वेद के दो मन्त्र

अर्थात् "चत्वारिश्शृंगा" (ऋग्० ४, ५८, ३) और "चत्वारि वाक्परिमिता पदानि" (ऋग्० १, १६४, ४५), उद्धृत किए हैं, और इनका भाव स्पष्ट करते हुए उन्होंने नाम आख्यात, उपसर्ग, और निपात ये पद के चार भाग वैदिक ऋषियों के अभीष्ट बताए हैं। यास्क ने निरुक्त के प्रारम्भ में पद को इन्हीं चार भागों में विभक्त किया है और उपर्युक्त दोनों मन्त्रों को निरुक्त (१३, ७ से ६), उद्धृत करके प्राचीन वैयाकरणों के मत का उल्लेख किया है कि वे पद को उक्त चार भागों में विभक्त करते थे।

नामाख्याते चोपसर्गनिपाताश्चेति वैयाकरणाः।

निरुक्त० १३, ६।

पाणिनि के मतानुसार निपात व्यापक शब्द है और प्रपरा आदि उपसर्ग। उसी का एक भाग है जो कि क्रिया में विशेषता का आधायक है। क्रिया के योग में प्रपरा आदि को दूसरा नाम गति भी दिया गया है। उपसर्ग की अपेक्षा गति व्यापक शब्द है। पाणिनि ने "प्रागरीश्वरान्निपाताः" (अष्टा० १, ४, ५६) सूत्र में स्पष्ट लिखा है कि उक्त सूत्र से प्रारम्भ करके "अधिरीश्वरे" (अष्टा० १, ४, ६७) सूत्र तक जिनका उल्लेख किया गया है वे सब निपात कहे जाते हैं। इन सूत्रों के अध्ययन से स्पष्ट होता है कि पाणिनि ने अद्रव्यवाची च वा आदि अव्यय, उपसर्ग, गति और कर्मप्रवचनीय इन चारों का निपात में ही समावेश किया है। ये चारों निपातों के ही उपभेद हैं। व्यावहारिक दृष्टि से इन चारों भेदों का उपसर्ग और निपात इन दोनों नामों से ही उल्लेख किया जाता है। जो पद को पांच भागों में विभक्त करते हैं वे कर्मप्रवचनीय की उपसर्ग और निपात से पृथक् सत्ता स्वीकार करते हैं। पाणिनि ने इन सब को अव्ययसंज्ञा के अन्तर्गत माना है। (अष्टा० १, १, ३७)।

वेद निरुक्त और महाभाष्य के अतिरिक्त ऋक्प्रातिशाख्य (पटल १२ सूत्र १७) अथर्व प्रातिशाख्य (१,१), शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य (८, ४४), अमरेशकृत वर्णरत्न-दीपिकाशिक्षा (पृ० १३६), प्रातिशाख्यप्रदीपशिक्षा (पृ० २७०), कौटिल्य अर्थशास्त्र (२, १०), सर्वदर्शनसंग्रह, (पृ० १४०), वेंकटमाधवकृत ऋग्वेद-भाष्य (अष्टक २, १), सायणकृत ऋगुपोद्घात (पृ० २१) आदि में पदों को इन्हीं चारों भागों में विभक्त किया गया है।

अरस्तू तथा उसके उस समय के अन्य दार्शनिक पदों को नाम, आख्यात और संयोजक इन तीन भागों में विभक्त करते थे। परन्तु उनके परवर्ती दार्शनिकों ने मुख्यतः स्टोइक स्कूल के नेताओं ने, संयोजकों को दो भागों (संयोजक तथा आर्टिकिल्) में विभक्त करके पदों की संख्या चार कर दी। (निरुक्त, डा० लक्ष्मण-स्वरूप संपादित पृ० २८ टिप्पणी)।

चारों पद विभागों का स्वरूप, नाम और आख्यात

यास्क ने परम्परागत इन चारों पद विभागों का लक्षण बहुत संक्षेप में किन्तु

सुन्दर रूप में दिया है। आख्यात में क्रिया प्रधान रहती है और नाम में द्रव्य की प्रधानता। जहां पर नाम और आख्यात (द्रव्य और क्रिया) दोनों में से क्रिया की प्रधानता रहती है वहां पर पूर्वापर रूप क्रिया का आख्यात के द्वारा बोध कराया है। जैसे वह जाता है, वह पकाता है। जहां पर प्रारम्भ से लेकर समाप्ति तक की क्रिया मूर्त्त द्रव्य का रूप धारण करती है, तब वह द्रव्य के नामों से सम्बोधित की जाती है, जैसे भाववाची संज्ञाएं जाना, पकाना आदि। संकेत वाचक सर्वनाम के द्वारा द्रव्य का बोध कराया जाता है, जैसे गाय, घोड़ा, पुरुष आदि। क्रिया वाचक शब्द के द्वारा क्रिया का बोध कराया जाता है, जैसे जाता है, खाता है, सोता है। निरुक्त० १, १।

यास्क ने नाम और आख्यात के विषय में जो विवरण दिया है, उसमें "उभे" पद विशेष अर्थ को लेकर प्रयुक्त हुआ है। यास्क ने उभे पद के द्वारा यह स्पष्ट किया है कि क्रिया और द्रव्य कभी पृथक् नहीं होते हैं। क्रिया में भी द्रव्य रहता है और द्रव्य में भी क्रिया। दोनो में अन्तर केवल इतना है कि जब दोनों में से क्रिया की प्रधानता होती है तब क्रिया को आख्यात अर्थात् तिङ् प्रत्ययों के द्वारा बोधित किया जाता है। उसे ही तिङन्त पद कह देते हैं। जब द्रव्य और क्रिया में से द्रव्य को मुख्यता दे दी जाती है तब क्रिया का अंश गौण पड़ जाता है, और द्रव्य अंश की मुख्यता का बोध सुप् प्रत्ययों के द्वारा कराया जाता है, उसे सुबन्त पद कहते हैं। पतञ्जलि ने इसको और स्पष्ट किया है। कृत् प्रत्ययों का क्या कर्तव्य है? कृत्, प्रत्यय भाव अर्थात् क्रिया का कार्य पूरा करते हैं, अतएव किसी भी धातु से जब कृत् प्रत्यय लगा दिया जाता है तब वह शब्द क्रिया शब्द न रहकर द्रव्य शब्द हो जाता है, अतएव उससे तिङ् प्रत्यय न होकर सुप् प्रत्यय होते हैं।

कृदभिहितो भावो द्रव्यवद् भवति। महा० २, २, १९।

पतञ्जलि ने "सार्वधातुके यक्" (महा० ३, १, ६७), की व्याख्या में इसको विस्तार पूर्वक स्पष्ट किया है। भाव वाचक शब्द द्रव्य वाचक इसीलिए हो जाते हैं कि उनके भाव अंश का बोध कृत् प्रत्यय करा देता है। भर्तृहरि ने महासत्ता-रूपी जाति का प्रतिपादन करते हुए इसको स्पष्ट किया है कि महासत्ता में जब क्रम अर्थात् प्रारम्भ आदि का वर्णन किया जाता है, तब वही क्रिया कहलाती है, और जब उसमें क्रम का वर्णन करके उसका संहार बताया जाता है, तब वही सत्ता द्रव्य या सत्त्व कही जाती है।

प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाभिधीयते।
क्रमरूपस्य संहारे तत् सत्वमिति कथ्यते॥

वाक्य० ३,पृ० ३०।

उपसर्ग—यास्क ने उपसर्ग के विषय में दो प्राचीन आचार्यों (शाकटायन

और गार्ग्य) के मत का उल्लेख किया है। शाकटायन का मत था कि उपसर्ग पृथक् रहते हुए किसी अर्थ का बोध नहीं कराते हैं । वे नाम (संज्ञा-शब्द) और आख्यात (क्रिया) के साथ सम्बद्ध होकर उनके विशिष्ट अर्थों के द्योतक होते हैं। परन्तु इसके विपरीत गार्ग्य का मत था कि उपसर्गों के भी विभिन्न अर्थ होते हैं। इनका स्वयं चाहे जो कुछ भी अर्थ रहे, जब यह नाम और आख्यात के साथ सम्बद्ध होते हैं तो उनके अर्थों में विशेषता लाने वाले अर्थों के बोधक होते हैं। निरुक्त १, ३।

पतञ्जलि ने उपसर्ग को क्रिया में विशेषता उत्पन्न करने वाला माना है।

क्रियाविशेषक उपसर्गः। महा० १, ३, १।

निपात—यास्क ने निपात शब्द की निरुक्ति की है कि ये विभिन्न अर्थों को बताते हैं (नि-पत्=गिरना) अतः इन्हें निपात कहा जाता है। यास्क ने इनको तीन भागों में विभक्त किया है, १, उपमार्थक, २, कर्मोपसंग्रहार्थक, ३, पादपूरक। इव, न, चित् और नु ये चारों निपात साधारणतया उपमा का अर्थ बताते हैं। कर्मोपसंग्रह अर्थात् कर्म (अर्थ) के उपसंग्राहक, जिनके कारण दो या अधिक अर्थों का एकत्र संग्रह होता है, समुच्चय वाचक या संयोजक निपात। यास्क ने इसका लक्षण किया है कि जिसके रखने से अर्थ की पृथकता ज्ञात होती है, किन्तु ऐसी नहीं जैसी कि औद्देशिक (केवल गणना), क्योंकि वे शब्द केवल विग्रह के द्वारा पृथक् किए गए हैं। च, आ, वा आदि मुख्यतया ऐसे ही संयोजक निपात हैं। पादपूरक निपात उन्हें कहते हैं जो कि अर्थ के पूर्ण होने पर भी गद्यात्मक ग्रंथों में वाक्य पूर्ति के लिए और पद्यात्मक ग्रन्थों में पद पूर्ति के लिए आते हैं, ऐसे निपात निरर्थक होते हैं। अर्थात् किसी अर्थ विशेष का बोध नहीं कराते हैं, जैसे कम्, ईम्, इत् और उ ये चारों निपात। निरुक्त १, ४ से ६।

ऋक्प्रातिशाख्य (१२, २५), शुक्ल यजुः प्रातिशाख्य (८, ४६) तथा प्रातिशाख्य प्रदीपशिक्षा (पृ० २३७) ने एक श्लोक में ही पद के चारों भागों का लक्षण संगृहीत किया है।

क्रियावाचकमाख्यातमुपसर्गो विशेषकृत्।
सत्त्वाभिधायकं नाम निपातः पादपूरणः॥

क्रियावाचक को आख्यात कहते हैं, सत्त्व (द्रव्य) वाचक को नाम, क्रिया के विशेषक को उपसर्ग और पादपूरक को निपात। भर्तृहरि ने (वाक्य० २, ३४६) आख्यात और नाम का लक्षण किया है कि आख्यात में क्रिया की प्रधानता रहती है और नाम में सत्त्व की।

दुर्गाचार्य ने निरुक्त १, १ यास्क के भाव को स्पष्ट करते हुए लिखा है कि नाम और आख्यात का पहले उल्लेख इसलिए किया गया है क्योंकि वे मुख्य

हैं। साथ ही यह भी स्पष्ट किया है कि चार प्रकार के पद में नाम और आख्यात इन्हीं दो के अर्थ का निर्णय इसलिए किया जाता है, क्योंकि इनके विषय में ही सन्देह होता है। उपसर्ग और निपात के अर्थ के विषय में सन्देह नहीं होता है, क्योंकि उनमें साक्षात् अर्थ के बोधन की शक्ति नहीं है। वेंकटमाधव ने अपने ऋग्वेद के भाष्य में (अष्टक २, १, ३, १, ३, ३, ३, ६, ३, ७) भी इस पर विचार किया है। वेंकटमाधव का कथन है कि आख्यात और नाम के सम्बन्ध अर्थ के बोधक होते हैं। उपसर्ग और निपातों की कोई स्वतन्त्र स्थिति नहीं है।

आख्यातस्य च नाम्नश्च सम्बन्धाः स्वार्थदर्शिनः।
उपसर्गा निपाताश्च न स्वतन्त्रा इति स्थितिः॥

अष्टक २, १।

पदार्थ विचार

भर्तृहरि तथा उनके टीकाकार पुण्यराज ने वाक्यपदीय के द्वितीय कांड में वाक्यार्थ के निरूपण के प्रसंग में पदार्थ का संक्षिप्त, किन्तु सार रूप, (वाक्य २, १५५ से २०६) निरूपण किया है। पद और पदार्थ का बिस्तृत और विशेष ऊहा-पोह के साथ विवेचन समस्त तृतीय कांड पृष्ठ १ से ७४३ में किया है। द्वितीय अध्याय में पदार्थ के स्वरूप के विषय में १२ विभिन्न मतों का उल्लेख किया जा चुका है। पद के पांचों विभागों के अर्थ का संक्षेप में विवरण निम्न है:—

संज्ञा शब्दों का अर्थ, सामान्यमात्र का बोधक

वाजप्यायन आचार्य के मतानुसार शब्द का अर्थ "जाति" है और आचार्य व्याडि के मतानुसार "व्यक्ति" अर्थ है। शब्द का अर्थ जाति हो या व्यक्ति, व्यक्ति के विशेष गुणों का ज्ञान व्यक्ति के साथ अविनाभाव से रहने के कारण होता है। शब्द विशेष गुणों का नहीं अपितु सामान्य अर्थ का बोध कराता है जो कि जाति के समस्त व्यक्तियों में समान रूप से पाया जाता है। जिस प्रकार गाय के रंग आदि का बोध गौण रूप से गाय शब्द से ज्ञात होता है, परन्तु वह गाय शब्द का अर्थ नहीं है। गाय शब्द उसी सामान्य अर्थ का बोध कराता है जिससे सभी गायों का ग्रहण होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १५५।

अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि यद्यपि शब्द आकार रंग अवयव से युक्त गाय आदि वस्तुओं के लिए प्रयुक्त होता है, तथापि वह उनका बोध नहीं कराता है। वाक्य० २, १५६।

विशेष वाचकों का विशेष अर्थ—यहाँ पर एक प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि शब्द आकार आदि का बोधक नहीं है तो स्थूल, ह्रस्व, काला, नीला, पीला आदि शब्दों का, जिनका अर्थ ही आकार आदि है, क्या अर्थ होगा? भर्तृहरि ने इसका उत्तर दिया है कि ऐसे शब्द जो कि आकार रंग अवयव से बिशिष्ट वस्तु

के लिए प्रयुक्त होते हैं, उनकी उसके अवयव मात्र के लिए प्रवृत्ति नहीं हो सकती है। (वाक्य० २, १५७,) । पुण्यराज ने इसको स्पष्ट किया है कि जो शब्द आकार आदि के ही बोधक हैं, वे उस अर्थ को बताते हैं। उक्त कथन का अभिप्राय यह नहीं है कि कोई भी शब्द आकार आदि का बोध नहीं कराता है। शब्द का जो प्रवृत्ति निमित्त होता है, वही उसका अर्थ होता है, अन्य उससे सम्बद्ध नहीं। आकार आदि के वाचकशब्द आकार आदि का ही बोध कराएंगे। उसके अवयव मात्र का नहीं। अतः शब्दों के द्वारा कहीं पर अर्थ के विशेष अंश आकार आदि का निरूपण होता है और कहीं जाति मात्र का। पुण्यराज, वाक्य० २, १५७।

भर्तृहरि इस विषय पर विचार करके इस निर्णय पर पहुँचे हैं कि शब्द संख्या प्रमाण आकार की अपेक्षा न करके वस्तुमात्र में प्रवृत्त होता है। अतएव जल की एक बूँद को भी जल कहते हैं और उसके समुदाय स्रोत नदी समुद्र के जल को भी जल कहते हैं। एक छोटे से श्वेत पत्थर के कण को भी श्वेत कहते हैं और हिमालय को भी श्वेत कहते हैं। वाक्य० २, १६०।

पुण्यराज का कथन है कि शब्द प्रवृत्तिनिमित्त जाति आदि को अपना अर्थ बनाकर प्रवृत्ति होता है, आकार आदि विशेष का ज्ञान अविनाभाव सम्बन्ध के कारण होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १६०।

नामार्थ के विषय में पांच मत

भट्टोजिदीक्षित तथा कौण्डभट्ट ने वैयाकरणभूषण में (कारिका २५) नामार्थ के विषय में प्राचीन पांच मतों का उल्लेख किया है। १—संज्ञाशब्दों का एक अर्थ होता है. कुछ आचार्य केवल जाति को ही शब्दार्थ मानते हैं, दूसरे केवल व्यक्ति को। २—जाति और व्यक्ति दोनों ही शब्दार्थ हैं। ३ – जाति, व्यक्ति और लिंग ये तीन शब्दार्थ हैं। ४—जाति, व्यक्ति, लिंग और संख्या ये चार शब्दार्थ हैं। ५—जाति, द्रव्य, लिंग, संख्या और कारक (कर्त्ता, कर्म आदि) ये पांचों ही शब्द के अर्थ हैं।

एकं द्विकं त्रिकं चाऽथ चतुष्कं पंचकं तथा।
नामार्थ इति सर्वेऽमी पक्षाः शास्त्रे निरूपिताः॥

भूषण का० २५।

इनमें से जाति और व्यक्ति के विषय में आगे लिखा जाएगा। पुलिंग, स्त्रीलिंग और नपुंसकलिंग यह तीनों शब्द के आश्रित रहते हैं। शब्द का कोई न कोई लिंग अवश्य होता है और वह शब्द के द्वारा ही बोध्य होता है. अत. लिंग का भी शब्दार्थ माना गया है। शब्द पुलिंग, स्त्रीलिंग आदि किस प्रकार होते हैं इसका विवेचन पतञ्जलि ने 'स्त्रियाम्' (महा० ४, १, ३) सूत्र की व्याख्या में तथा भर्तृहरि ने लिंगसमुद्देश में (वाक्य० ३, पृ० ४२९ से ४४६) विशेष विस्तार से

किया है। पतञ्जलि ने इस विषय में अपना निर्णय दिया है कि लिंग का निर्णय लोकव्यवहार के अधीन है। अर्थ एक होने पर भी शब्दभेद होने से लिंग हो जाता है। कहीं पर शब्द में थोड़ा अन्तर कर देने से लिंगभेद हो जाता है और कहीं पर विवक्षा से ही लिंग भेद होता है। महा० ४, १, ३।

अर्थ एक होने पर भी पदार्थ शब्द पुलिंग है, व्यक्ति स्त्रीलिंग और वस्तु नपुंसक लिंग। इसी प्रकार स्त्री अर्थ होने पर भी दारा शब्द पुलिंग है, स्त्री स्त्रीलिंग, और कलत्र नपुंसक लिंग। थोड़े अन्तर से कुटी शब्द स्त्रीलिंग है परन्तु कुटीर पुलिंग है। (वाक्य० ३, पृ० ४४२) विवक्षा के कारण तट शब्द तीनों लिंग है। वाक्य० ३, पृ० ४४०।

जाति द्रव्य और लिंग के अतिरिक्त संख्या और कारकों को भी शब्द का अर्थ मानने वालों का कथन है कि शब्द से ही इनका भी बोध होता है, यदि संख्या और कारक को प्रत्यय का ही अर्थ माना जाएगा तो जहाँ पर प्रत्यय का लोप हो गया है, वहाँ संख्या और कारक के अर्थ का ज्ञान नहीं होना चाहिए जैसे "दधि" "पश्य" इन दोनों में प्रत्यय का लोप हो गया है, परन्तु जो प्रत्यय को नहीं जानते हैं उन्हें भी इससे संख्या और कारक का ज्ञान होता है, अतः दोनों को शब्द का ही अर्थ मानना चाहिए। पाणिनि ने (अष्टा० १, २, ५३ से ५६) लिंग और वचन के विषय में लोकव्यवहार को ही प्रमाण माना है। शब्दों के लिंग और वचन का निर्णय लोकव्यवहार को देख कर करना चाहिए। भर्तृहरि ने इसका कारण विवक्षा और लोकव्यवहार को बताया है। वाक्य० ३ पृ० ४४० से ४४४।

प्रत्ययों का अर्थ—पाणिनि ने 'कर्मणि द्वितीया' (अष्टा० २, ३, २) आदि सूत्रों के द्वारा सुप् प्रत्ययों का अर्थ कर्म, करण, सम्प्रदान आदि बताया है। पतञ्जलि का कथन है कि सुप् प्रत्यय कर्म, करण आदि के अतिरिक्त एक वचन। द्विवचन, बहुवचन संख्या का भी बोध कराते हैं। तिङ् प्रत्यय भी वर्तमान परोक्ष आदि अर्थ के अतिरिक्त संख्या का भी बोध कराते हैं।

सुपां कर्मादयोऽप्यर्थाः संख्या चैव तथा तिङाम्।
प्रसिद्धो नियमस्तत्र नियमः प्रकृतेषु वा ॥ महा०

चार प्रकार के प्रत्यय—जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में प्रत्ययों को चार भागों में विभक्त किया है। १,विभक्ति, सुप्, और तिङ् २, धातु के अंश णिच्, सन्, यङ् आदि जो कि धातु के एक भाग बन कर रहते हैं। ३, तद्धित, अपत्य, शैषिक, मत्वर्थक आदि प्रत्यय। ४, कृत्, तव्य, अनीयर्, तृच् आदि। यदि स्वार्थिक प्रत्यय के आदि की भी पृथक् गणना की जाय तो इनकी संख्या चार के स्थान पर पाँच हो जाती है। शब्दशक्ति० का० ६०।

दो प्रकार की विभक्तियाँ—पाणिनि ने विभक्ति दो प्रकार की बताई हैं,

सुप् और तिङ्। (अष्टा० १, ४, १०४) पतञ्जलि ने 'सहयुक्तेऽप्रधाने' (अष्टा० २, ३, १६) में सुप् विभक्ति दो प्रकार की बताई है, १, कारक विभक्ति जो कि कारक अर्थात् कर्ता आदि का अर्थ बताती है। २, उपपदविभक्ति, जो कि किसी पद को मानकर विभक्ति होती है, जैसे नमः स्वाहा आदि शब्दों के साथ चतुर्थी विभक्ति, हरये नमः, अग्नये स्वाहा। पतञ्जलि का निर्णय है कि जहाँ पर दोनों प्रकार की विभक्तियाँ प्राप्त होती हैं वहाँ कारक विभक्ति बलवान् होती है। अतएव "नमस्करोति देवान्" प्रयोग में चतुर्थी न होकर द्वितीया विभक्ति होती है। कैयट ने (महा० ५, १, ६६) तथा नागेश ने परिभाषेन्दु शेखर (परिभाषा १०३) में तथा जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका (कारिका ६७) में विभक्ति के इन दो प्रकारों का विवेचन किया है। देखो, महा० २, ३, १६।

भर्तृहरि ने इन विभक्तियों की संख्या ७ निर्धारित की है जिनमें कर्म करण आदि ६ हैं, तथा सम्बन्ध को लेकर इनकी संख्या ७ होती है। (वाक्य० ३ पृ० २०२)। इनमें भी कर्म ७ प्रकार का है, करण तीन प्रकार का, सम्प्रदान ३ प्रकार का, अपादान ३ प्रकार का, अधिकरण ३ प्रकार का है। भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के साधन समुद्देश कांड ३ (पृ० २०२ से २६७), तथा कौण्ड भट्ट ने वैयाकरण भूषण के सुबर्थनिर्णय में इसका बहुत विस्तार से विवेचन किया है, भट्टोजिदीक्षित और कौण्डभट्ट ने संक्षेप में सुप् प्रत्ययों का अर्थ किया है कि द्वितीया (कर्म) तृतीया (करण) और सप्तमी (अधिकरण) का अर्थ है आश्रय, पंचमी, (अपादान) का अर्थ है अवधि, चतुर्थी (सम्प्रदान) का अर्थ है, उद्देश्य और षष्ठी का अर्थ है सम्बन्ध। अथवा कर्म आदि ६ विभक्तियों का अर्थ शक्ति है तथा कारक षष्ठी का भी अर्थ शक्ति ही है। 'षष्ठी शेषे' (अष्टा० २, ३, ५०), से जो षष्ठी की जाती है, केवल उसका अर्थ सम्बन्ध होता है। भूषण कारिका २४ की व्याख्या।

आश्रयोऽवधिरुद्देश्यः सम्बन्धःशक्तिरेव वा।
यथायथं विभक्त्यर्थाः सुपां कर्मेति भाष्यतः॥

भूषण का० २४।

प्रत्यय वाचक और द्योतक—भर्तृहरि ने इस विषय में एक यह भी विचार उठाया है कि विभक्तियाँ वाचक हैं या द्योतक। यदि शब्द ही उपर्युक्त विवरण के अनुसार, पाँचों अर्थों, जाति, व्यक्ति, लिंग, संख्या और कारक का बोधक है तो उस अवस्था में सुप् प्रत्यय केवल कर्म करण आदि कारकों तथा एक वचन, द्विवचन आदि संख्याओं के द्योतक (व्यंजक) माने जायेंगे, और यदि शब्द पूर्वोक्त तीन अर्थात् जाति, द्रव्य और लिंग का ही बोधक है तो सुप् प्रत्ययों को कारक और संख्याओं का वाचक माना जाएगा। भर्तृहरि के लेख से ज्ञात होता है कि प्राचीन आचार्यों में इस विषय पर मतभेद था। कुछ सुप् प्रत्ययों को वाचक मानते थे,

और कुछ द्योतक। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि विभक्तियाँ संख्या और कारक की वाचक या द्योतक हैं। वाक्य० २, १६६।

भर्तृहरि ने इस विषय में दो प्रकारों का उल्लेख किया है, जब यह माना जाता है कि प्रकृति में ही प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ है, तब प्रकृति के अर्थ को बताने के लिए प्रकृति प्रत्यय के समुदाय का प्रयोग किया जाता है। वह समुदाय संख्या आदि से युक्त अर्थ का बोधक होता है। पुण्यराज। अतः भर्तृहरि कहते हैं कि प्रकृति प्रत्यय समुदाय संख्या से युक्त अर्थ का बोधक है। वाक्य० २,१६६

दूसरा प्रकार यह है कि शब्द संख्या आदि का बोधक नहीं है, किन्तु प्रकृति-प्रत्यय-समुदाय द्विवचन आदि के रूप में अपने स्वरूप के भेद से संख्या आदि से युक्त अर्थों का बोध कराता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १६७।

अन्वयव्यतिरेक से अर्थ निर्णय—यहां पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयाकरणों का सिद्धांत है कि "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या नापि केवलः प्रत्ययः" "अपदं न प्रयुञ्जीत" न केवल प्रकृति का ही प्रयोग करना चाहिए और न केवल प्रत्यय का सुप् या लिंग प्रत्यय लगाए बिना किसी पद का प्रयोग नहीं करना चाहिए। भर्तृहरि ने एक प्रश्न उठाया है कि वैयाकरणों के मत से शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य है। पद या वाक्य को ही वे सार्थक मानते हैं। प्रकृति और प्रत्यय को पृथक् करते हैं, तभी उन दोनों की शक्ति का पृथक् पृथक् ज्ञान होता है। विभाजन करने पर यह किस आधार पर कहा जाता है कि यह प्रकृति का अर्थ है और यह प्रत्यय का। इसका उत्तर पतञ्जलि ने दिया है कि अन्वय और व्यतिरेक से यह निर्णय किया जाता है कि कितना प्रकृति का अर्थ है और कितना प्रत्यय का। जितने अंश को घटाने बढ़ाने से जितना अर्थ का अंश घटता बढ़ता है, उतना उसका अर्थ समझा जाता है। सुबन्त और तिङन्त दोनों प्रकार के पदों का इसी अन्वय व्यतिरेक के आधार पर पतञ्जलि ने अर्थ निर्णय किया है। महा० १, २, ४५ तथा १, ३, १।

भर्तृहरि ने भी पतञ्जलि का ही अनुसरण किया है—

ये शब्दा नित्यसम्बन्धा विवेके ज्ञातशक्तयः।
अन्वयव्यतिरेकाभ्यां तेषामर्थो विभज्यते॥

वाक्य० २, १६८।

एक शब्द में वर्णों का अर्थ नहीं होता—प्रकृति और प्रत्यय के अर्थ का अपोद्धार के आश्रय से निर्णय किया जाता है, परन्तु यहाँ यह भी भर्तृहरि ने स्पष्ट कर दिया है कि जहाँ अन्वय व्यतिरेक से अर्थ पृथक उपलब्ध नहीं होता, वहाँ अपोद्धार का आश्रय नहीं लेना चाहिए। जैसे, कूप, सूप, यूप आदि शब्दों में क, स, य और ऊप का पृथक् पृथक् अर्थ नहीं है। ये शब्द ही पृथक् हैं। अतएव

समूह को ही अर्थान्तरवाची मानना चाहिए। भर्तृहरि का अभिप्राय यह है कि शब्द में प्रत्येक वर्ण का अर्थ नहीं होता है, अपितु समुदाय ही सार्थक होता है। वाक्य० २, १७१।

धातु का अर्थ—धातु के अर्थ के विषय में भट्टोजिदीक्षित ने और कौण्डभट्ट ने वैयाकरण भूषण में लिखा है कि धातु के दो अर्थ होते हैं, १—क्रिया का फल, २—व्यापार। तिङ् प्रत्ययों का अर्थ है, १—फल का आश्रय, अर्थात् कर्म, और २—व्यापार का आश्रय अर्थात् कर्त्ता।

फलव्यापारयोर्धातुराश्रये तु तिङः स्मृताः।

भूषण का० २।

फल व्यापार का विशेषण है। व्यापार विशेष्य है। अतएव फल में व्यापार की प्रधानता रहती है। जैसे चावल पकाता है, कथन में चावल का गीला होना फल है, उसमें क्रिया की प्रधानता रहती है। कौण्डभट्ट का कथन है कि कर्त्ता, कर्म, संख्या और काल ये चारों तिङ् प्रत्ययों के अर्थ हैं। इनमें कर्त्ता व्यापार का विशेषण है, और कर्म फल का। संख्या कर्त्ता में प्रत्यय होने पर कर्त्ता में और कर्म में प्रत्यय होने पर कर्म में रहती है, अतः संख्या फल और व्यापार दोनों का विशेषण है। काल व्यापार का विशेषण होता है। भूषणकारिका २ की व्याख्या।

नागेश ने मंजूषा में धात्वर्थ निरूपण में धातु का अर्थ किया है कि फल के अनुकूल यत्नसंयुक्त व्यापार धातु का अर्थ है। फल के अर्थ का स्पष्टीकरण किया है कि फल उसे कहते हैं जो कि व्यापार से उत्पन्न होने वाला हो और कर्तृवाच्य में व्यापार का विशेषण बन कर रहता है, व्यापार विशेष्य होता है। कर्मवाच्य में फल विशेष्य होता है। व्यापार का अर्थ है, धातु के अर्थ रूप फल का जनक होते हुए धातु का वाच्य होना। फल के अनुकूल कथन का अभिप्राय यह है कि फल में जो जन्यता है, उसका जनक होना।

नागेश ने फल और व्यापार दोनों को पृथक् धातु का अर्थ मानने में यह आपत्ति की है कि दोनों का उद्देश्य और विधेय रूप में अन्वय होने लगेगा। फल को विशेषण और व्यापार को विशेष्य ऐसे अर्थज्ञान में कर्तृवाच्य व्यापार को कारण मानना होगा और इसके विपरीत फल को विशेष्य और व्यापार को विशेषण ऐसे अर्थ में कर्मवाच्य फल की उपस्थिति को कारण मानना होगा। इस प्रकार से दो कार्य कारण भाव की कल्पना करनी पड़ेगी। धातु के दो अर्थों के लिए दो शक्तियों की कल्पना, धात्वर्थ के बोध जनक दो सम्बन्धों की कल्पना में बहुत गौरव है। अतः नागेश की सम्मति है कि फल युक्त व्यापार या व्यापार युक्त फल धातु का अर्थ है। कहाँ पर कौन सा अर्थ है, इसका निर्णय कर्तृप्रत्यय या कर्मवाच्यप्रत्यय करेंगे। मंजूषा, धात्वर्थनिरूपण।

फलानुकूलो यत्नसंहितो व्यापारो धात्वर्थः।

मंजूषा ।

क्रिया का स्वरूप—पतञ्जलि ने क्रिया के स्वरूप पर 'भूवादयो धातवः' (अष्टा० १, ३, १) सूत्र के भाष्य में संक्षेप में बहुत अच्छा प्रकाश डाला है। पतञ्जलि का कथन है कि धातु का लक्षण किया जाता है कि जो क्रियावाची हो। परन्तु क्रिया किसे कहते हैं ? ईहा को क्रिया कहते हैं। ईहा किसे कहते हैं? चेष्टा को। चेष्टा किसे कहते हैं? व्यापार को। पतञ्जलि कहते हैं कि यह तो क्रिया के पर्यायवाची शब्द बता दिए हैं, कोई वस्तु उपस्थित करके नहीं बताया कि इसे क्रिया कहते हैं। इसका उत्तर देते हैं कि क्रिया अत्यन्त अदृश्य है, यह सम्भव नहीं कि उसे मूर्त रूप में दिखाया जा सके, जैसे कि गर्भस्थ बालक को प्रत्यक्ष नहीं दिखाया जा सकता है। क्रिया का ज्ञान केवल अनुमान से होता है। कौन सा अनुमान ? समस्त साधनों के उपस्थित होने पर कभी "पचति" (पकाता है) यह कहा जाता है और कभी सब साधनों के होने पर भी पकाता है यह प्रयोग नहीं होता है। अतः यह अनुमान किया जाता है कि जिस साधन के होने से "पकाता है" प्रयोग होने लगता है, वह साधन क्रिया है। अथवा जिस क्रिया से देवदत्त यहाँ से पटना पहुँच जाता है, उसे क्रिया कहते हैं। पतञ्जलि का यह विवरण स्पष्ट करता है कि क्रिया का वही अर्थ है जो कि ईहा, चेष्टा और व्यापार शब्द से प्रकट किया जाता है।

यह कैसे ज्ञात होता है कि पच् आदि धातुएँ क्रियावाची हैं ? इसका स्पष्टीकरण पतञ्जलि ने किया है कि इनकी करोति अर्थात् कृ धातु के साथ समानाधिकरणता है। कृ धातु का अर्थ है करना। पच् आदि धातु और कृ धातु एक साथ रहती हैं। जब यह पूछा जाता है कि "क्या करता है ?" उत्तर मिलता है कि पकाता है, क्या किया ? पकाया, क्या करेगा ? पकाएगा । कृ धातु के प्रश्न का उत्तर पच् धातु से देने से कृ के सदृश पच् आदि भी क्रियावाची ज्ञात होती हैं। महा० १, ३, १।

भर्तृहरि ने पतञ्जलि के भाव को लेकर क्रिया की व्याख्या की है कि जो कुछ भी सिद्ध या असिद्ध (पूर्ण या अपूर्ण) जब साध्य रूप में वर्णन किया जाता है, तब वह क्रम के संचार होने से क्रिया कहा जाता है।

यावत् सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाभिधीयते ।
आश्रितक्रमरूपत्वात् सा क्रियेति प्रतीयते ॥

वाक्य० ३, पृ० २९६।

हेलाराज ने एक प्रश्न उठाया है कि क्रिया का लक्षण यह किया गया है कि जो साध्य रूप में वर्णित हो और जिसमें क्रम का संचार हो और पौर्वापर्य युक्त अर्थ हो। उदाहरण रूप में पकाना क्रिया में आग के जलाने से प्रारम्भ करके

पात्र रखना, अन्न डालना आदि सारे कार्य एक साथ एक बार में नहीं हो सकते हैं सब कार्य क्रमशः ही होंगे, ऐसी स्थिति में पकाता है यह क्रिया का प्रयोग कैसे किया जा सकता है।

भर्तृहरि तथा उनकी व्याख्या में हेलाराज ने स्पष्ट किया है कि क्रिया में कितने ही अवयव गौण रूप से रहते हैं। उनका क्रम से प्रादुर्भाव होता है। संकलनात्मिका बुद्धि के द्वारा क्रमिक क्रिया-समूह में एकत्व की कल्पना करके उसको क्रिया कहा जाता है। वाक्य० ३ पृ० ३०६।

सकर्मक और अकर्मक धातु—धातु को सकर्मक और अकर्मक किस आधार पर कहा जाता है, इसका भट्टोजिदीक्षित और कौण्डभट्ट ने भूषण में स्पष्टीकरण किया है कि फल और व्यापार को धातु का अर्थ बताया गया है। जब फल और व्यापार दोनों एक में ही रहते हैं, तब धातु अकर्मक होती है और जब फल और व्यापार दो पृथक् आश्रयों में रहते हैं, तब धातु सकर्मक होती है।

फलव्यापारयोरेकनिष्ठतायामकर्मकः ।
धातुस्तयोर्धर्मिभेदे सकर्मक उदाहृतः ॥
भूषण, कारिका, १३।

प्रत्येक धातु में फल और व्यापार रहता है। उदाहरणार्थ, गम् धातु में एक गमन का व्यापार है और दूसरा उसका फल। स्थानान्तर की प्राप्ति है। जाने का व्यापार कर्त्ता में रहता है और उसका फल ग्राम आदि कर्म में रहता है। दोनों की पृथक् स्थिति होने से धातु सकर्मक है। परन्तु भू (होना) स्था (रहना) आदि धातुओं का व्यापार और फल एक में रहता है, अतः वे अकर्मक हैं।

सकर्मक का अकर्मक होना—भर्तृहरि ने धातु की अकर्मकता पर एक और महत्त्वपूर्ण बात कही है। वह यह है कि कर्म के पृथक् रहने पर भी चार प्रकार से सकर्मक धातु अकमर्क हो जाती है। १—धातु अपने प्रसिद्ध अर्थ को छोड़कर अन्य अर्थ में प्रयुक्त हो, जैसे वह धातु सकर्मक है, इसका अर्थ है, ढोना, ले जाना; "भारं वहति" (भार को ले जाता है)। परन्तु जब वह धातु बहने के अर्थ में आती है, तब अकर्मक हो जाती है, जैसे "नदी वहति" (नदी बहती है)। २-धातु के अर्थ में ही कर्म का अन्तर्भाव होने से, जैसे 'प्राणान् धारयति" (प्राणों को धारण करता है) "प्राणान् जहाति" (प्राणों को छोड़ता है सकर्मक प्रयोग हैं, परन्तु इनके स्थान पर क्रमशः जीव् (जीना) और मृ (मरना) धातु का प्रयोग करने से उनके अर्थ में कर्म प्राण का समावेश हो जाता है और दोनों धातुएँ अकर्मक हो जाती हैं, वह जीता है, वह मरता है। ३ प्रसिद्धि से, वृष (बरसना) धातु सकर्मक है, 'देवो जलं वर्षति,' (मेघ जल को वर्षाता है), परन्तु प्रसिद्धि के कारण "वर्षति" (बरस रहा है), ही कहा जाता है। कर्म का प्रसिद्धि के कारण प्रयोग नहीं होता है, अतः धातु अकर्मक हो जाती है। ४—कर्म

की अविवक्षा से, धातु सकर्मक होने पर भी जब उसके कर्म को न कहना अभीष्ट होता है, तब धातु अकर्मक हो जाती है। दा (देना) धातु सकर्मक है, परन्तु "दीक्षितो न ददाति, न पचति, न जुहोति" (संन्यासी की दीक्षा को प्राप्त व्यक्ति न देता है, न पकाता है और न हवन करता है) प्रयोगों में देना, पकाना, यज्ञ करना धातुएँ सकर्मक होते हुए भी कर्म की अविवक्षा से अकर्मक हैं।

धातोरर्थान्तरे वृत्तेर्धात्वर्थेनोपसंग्रहात् ।
प्रसिद्धेरविवक्षातः कर्मणोऽकर्मिका क्रिया ॥

वाक्य० ३, पृ० २३४।

भर्तृहरि का कथन है कि यह चार प्रकार जो सामान्य रूप से बताए गए हैं, इनके अतिरिक्त उपसर्ग काल आदि के भेद से भी सकर्मक धातु अकर्मक हो जाती हैं। यह भेद कई प्रकार के हैं जैसे, चर् (जाना) धातु सकर्मक है, परन्तु उत् उपसर्ग लगाने से चर् धातु 'वाष्प उच्चरति' (भाप उठती है) "धूम उच्चरति" (धुआँ उठता है) प्रयोगों में अकर्मक है। वाक्य० ३, पृ० २३५।

इसके विपरीत कितने ही धातु जो अकर्मक हैं, उपसर्ग लगने से सकर्मक हो जाते हैं। भू (होना) अकर्मक है, परन्तु अनुभू(अनुभव करना) जैसे "सुखम् अनुभवति" (सुख का अनुभव करता है) सकर्मक हो जाती है।

अकर्मका अपि वै सोपसर्गाः सकर्मका भवन्ति। महा० १, १, ४३।

मीमांसकों और नैयायिकों का मत – नागेश ने मंजूषा के धात्वर्थ निरूपण में, कौण्डभट्ट ने भूषण के धात्वर्थ निर्णय प्रकरण में तथा गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि के धातुवाद एवं गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद में मीमांसकों के मत का विस्तारपूर्वक खण्डन किया है। नागेश ने मंजूषा में मीमांसकों के मत का उल्लेख किया है कि वे फल को ही धातु का अर्थ मानते हैं और व्यापार को प्रत्यय का अर्थ।

मीमांसकाः फलं धात्वर्थो, व्यापारः प्रत्ययार्थ इति वदन्ति। मंजूषा।

गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि शब्द खण्ड (पृ० ८४७) में मीमांसकों के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि मण्डनाचार्य का कथन है कि धातु का अर्थ फल है। पच् धातु का अर्थ गीला होना ही लाघव के कारण मानना चाहिए। उसके लिए अलग आग जलाना आदि व्यापार को धातु का अर्थ मानने में गौरव होगा। इसी प्रकार गम् धातु का अर्थ है, अन्य स्थान से संयोग, पत् का नीचे के स्थान से संयोग, त्यज का विभाग। इन फलों का जनक व्यापार धातु का अर्थ नहीं है। धात्वर्थः फलमिति मण्डनाचार्याः। तत्त्व० पृ० ८४७।

नागेश ने (मंजूषा, धात्वर्थ-निरूपण) मीमांसकों के मत का खण्डन करते हुए लिखा है कि पाणिनि ने 'लः कर्मणि' (अष्टा० ३, ४, ६९) सूत्र में तिङ् प्रत्ययों का

अर्थ कर्त्ता, कर्म और भाव बताया है। इस कथन से विरोध पड़ेगा। तिङ् प्रत्ययों से व्यापार अर्थ नहीं निकलता है। पचति (पकाता है) आदि प्रयोगों में व्यापार को तिङ् का अर्थ मानने पर विभिन्न व्यापारों जैसे फू फू करना, आग जलाना आदि के ज्ञान के लिए अनेकों प्रत्ययों में शक्ति की कल्पना करनी पड़ेगी। अतः व्यापार को धातु का अर्थ मानना चाहिए। व्यापार को धात्वर्थ मानने पर सकर्मक और अकर्मक का विभाजन नहीं हो सकेगा। देखो, भूषण, कारिका ५।

गंगेश ने इस विषय में रत्नकोशकार के मत का उल्लेख किया है कि वे धातु का अर्थ व्यापार मानते हैं और तिङ् का अर्थ उत्पादन। उनके मतानुसार पचति का अर्थ है "पाकमुत्पादयति" (पाक को उत्पन्न करता है)। तत्त्व० पृ० ८३०।

गदाधर ने व्युत्पत्तिवाद के द्वितीय कारक में धातु का अर्थ केवल व्यापार मानने पर यह आक्षेप किया है कि "त्यजति" (छोड़ता है) "गच्छति" (जाता है), त्याग, गमन आदि वाक्य से किसी विलक्षण अर्थ का बोध नहीं होगा। नैयायिकों का मत है कि पदों की अपेक्षा वाक्य में कुछ विलक्षणता अवश्य रहती है। व्युत्पत्तिवाद, पृ० २०८।

कौण्डभट्ट ने केवल व्यापार को अर्थ मानने पर यह आक्षेप किया है कि कोई धातु सकर्मक नहीं हो सकेगी। क्योंकि सकर्मक का लक्षण यह किया गया है कि धात्वर्थ फल और व्यापार जब विभिन्न अधिकरणों में रहते हैं, तब धातु सकर्मक होती है। केवल व्यापार अर्थ मानने पर यह व्यवस्था न हो सकेगी। भूषण (कारिका ५) की व्याख्या।

वैयाकरणों के तुल्य नैयायिक भी धातु का अर्थ फल और व्यापार मानते हैं। अतएव गदाधर ने कहा है कि गम् आदि धातुओं का अर्थ है संयोग आदि फल विशेष से युक्त व्यापार। व्युत्पत्तिवाद, पृ० २०९।

नैयायिकों के मत में मुख्य अन्तर यह है कि वे तिङ् प्रत्ययों का अर्थ कर्त्ता या कर्म न मानकर कृति या प्रयत्न मानते हैं। नागेश ने (मंजूषा, धात्वर्थनिरूपण) तथा कौण्डभट्ट (भूषण, धात्वर्थनिर्णय) ने नैयायिकों से इस मत का बहुत विस्तार से खण्डन किया है। भट्टोजिदीक्षित ने यत्न अर्थ मानने पर यह आक्षेप किया है कि सब धातुओं को अकर्मक मानना पड़ेगा।

कृञोऽकर्मकताऽऽपत्तेर्नहि यत्नोऽर्थ इष्यते। भूषण, कारिका ५।

उपसर्ग सहित क्रिया धातु है—भर्तृहरि ने धातु के स्वरूप का प्रतिपादन करते हुए यह स्पष्ट किया है कि अट् आदि की व्यवस्था के लिए धातु और उपसर्ग को पृथक् किया जाता है, वस्तुतः धातु और उपसर्ग मिलकर ही क्रियावाची हैं, अतः उपसर्ग सहित क्रिया को ही धातु समझना चाहिए। पुण्यराज, वाक्य० २, १८२।

पतञ्जलि ने 'गतिर्गतौ' (अष्टा० ८, १, ७०) सूत्र की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि धातु और उपसर्ग का सम्बन्ध अन्तरंग है और साधनों के साथ उसका सम्बन्ध बहिरंग है (महा० ८, १, ७०) उपसर्ग विशिष्ट क्रिया का ही कारकों के साथ सम्बन्ध होता है। वाक्य० २, १८४।

उपसर्गों का अर्थ—पतञ्जलि ने 'गतिर्गतौ' (अष्टा० ८, १, ७०) के भाष्य में ही यह भी स्पष्ट किया है कि धातु में ही उपसर्गों का अर्थ भी अन्तर्निहित रहता है, उपसर्ग उस अर्थ को द्योतित करता है। महा० ८, १, ७०।

भर्तृहरि ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट किया है कि कहीं पर जैसे पचति (पकाता है) आदि में प्रपचति (विशेष रूप से पकाता है) का अर्थ सम्भव है, परन्तु केवल धातु से उस अर्थ की स्पष्ट प्रतीति नहीं होती है। प्र परा आदि उपसर्ग के लग जाने से उसकी अभिव्यक्ति हो जाती है अतः उपसर्गों को द्योतक कहा जाता है। वाक्य० २, १८६।

उपसर्गों के अर्थ के विषय में एक यह प्रश्न उठता है कि क्या यही मत था कि उपसर्ग द्योतक हैं या अन्य मत भी थे। भर्तृहरि ने इस विषय में प्राचीन आचार्यों के तीन विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। १, उपसर्ग केवल द्योतक ही नहीं, अपितु विशेष अर्थ के वाचक हैं, जैसे स्था धातु का अर्थ है रुकना, परन्तु प्र उपसर्ग लगाने से 'प्रस्थान" चलना अर्थ प्र उपसर्ग के कारण हो जाता है। अतः उपसर्ग गति आदि अर्थ का वाचक है। २, उपसर्ग द्योतक भी हैं। ३, धातु और उपसर्ग मिलकर अर्थ का बोध कराते हैं, उपसर्ग धातु में केवल शक्ति का आधान करता है, अतः उपसर्गों को सहकारी समझना चाहिये।

स वाचको विशेषाणां सम्भवाद् द्योतकोऽपि वा।
शक्त्याधानाय धातोर्वा सहकारी प्रयुज्यते ॥
वाक्य० २, १९०।

भर्तृहरि ने इस विषय में वैयाकरणों के मत का उल्लेख किया है कि उपसर्ग द्योतक ही हैं। वाचक नहीं। स्था धातु प्रसिद्धि के कारण रुकना अर्थ बताती है अतः केवल धातु से चलना अर्थ ज्ञात नहीं होता है। वस्तुतः धातुएं अनेकार्थक हैं। स्था धातु गतिवाची भी है। उपसर्ग उस अर्थ का द्योतक है। पुण्यराज, वाक्य० २, १९१।

उपसर्गों की अनर्थकता का स्पष्टीकरण– पाणिनि ने 'अधिपरी अनर्थकौ' (अष्टा० १, ४, ९३) सूत्र में अधि और परि उपसर्गों को अनर्थक कहा है। पतञ्जलि ने इसको स्पष्ट किया है कि अनर्थक का अर्थ यह नहीं है कि अधि और परि उपसर्गों का 'अध्यागच्छति, पर्यागच्छति" (आता है) आदि में वस्तुतः कोई अर्थ नहीं है अपितु इसका भाव यह है कि धातु से जो अर्थ कहा गया है, वही अर्थ यह भी बताते हैं, इनके लगाने से कोई अर्थ में विशेषता नहीं आती है अर्थ

में अन्तर न लाने के कारण इन्हें अनर्थक कहा गया है। यदि इनके कारण कोई विशेषता नहीं आती तो इनका प्रयोग ही क्यों उक्त स्थलों में किया गया है। इसका उत्तर पतञ्जलि ने दिया है कि अर्थ उक्त होने पर भी स्पष्टीकरण के लिए कुछ शब्दों का प्रयोग कर दिया जाता है, वैसे बिना उनके प्रयोग के भी वही अर्थ होता है। जैसे "ब्राह्मणावानय" (दो ब्राह्मणों को लाओ) और "ब्राह्मणौ द्वावानय" में अर्थ में कोई अन्तर नहीं है, परन्तु द्वि शब्द के लगाने से दो का अर्थ और स्पष्ट हो जाता है अतः पाणिनि का यह भाव कदापि नहीं समझना चाहिए कि वे इन उपसर्गों को निरर्थक समझते थे। महा० १, ४, ९३।

भर्तृहरि ने इसी भाव को स्पष्ट किया है कि अधि और परि के बिना जितना धातु का अर्थ होता है, अधि और परि के लगाने पर भी वही अर्थ रहता है। दोनों का प्रयोग अर्थ की स्पष्टता के लिए होता है। वाक्य० २, १९१।

नैयायिकों का मत—गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि में नैयायिकों के मत का उल्लेख किया है है कि उपसर्ग द्योतक हैं, वाचक नहीं। द्योतकता का अर्थ है उपसर्ग के लगाने से धातु की अर्थ विशेष में तात्पर्यग्राहकता या अर्थ विशेष की शक्ति। स्था धातु का ही अर्थ गमन भी है, प्र उपसर्ग उस तात्पर्य का ग्राहक है। शब्दखण्ड, पृ० ८५४ से ८५६।

उपसर्गास्तु द्योतकाः, न वाचकाः। तत्त्व० पृ० ८५४।

निपातों का अर्थ—हेलाराज ने (वाक्यपदीय ३ पृ० २ से ३) उपसर्ग निपात और कर्मप्रवचनीय को पृथक् क्यों नहीं माना जाता है और क्यों पृथक् माना जाता है, इसपर प्रकाश डालते हुए इनका स्वरूप स्पष्ट किया है। हेलाराज का कथन है कि निपात उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय नाम और आख्यात की ही विशेषता बताते हैं, अतः उनका इन्हीं में अन्तर्भाव हो जाता है। नाम (सुबन्तपद) सिद्ध अर्थ का बोध कराते हैं निपात उनके अर्थ की विशेषता बताते हैं, अतः वे नाम के अन्दर आ जाते हैं। सिद्ध अर्थ को साक्षात् करे या तद्गत विशेषता को प्रकाशित करे, इससे कोई अन्तर नहीं पड़ता। स्वः आदि निपात, जो कि द्रव्यवाची है, वस्तुतः नाम पद ही हैं। जो क्रिया प्रधान निपात हैं, जैसे हिरुक् (बिना) आदि, उनका आख्यात में अन्तर्भाव हो जाता है यह नहीं समझना चाहिए कि तिङन्त ही आख्यात होता है, अपितु सभी कुछ, जिसमें क्रिया प्रधान है, आख्यात कहा जाता है। (भाव-प्रधानमाख्यातम्)। अतएव उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय भी आख्यात ही समझने चाहिए। क्योंकि वे क्रिया की विशेषता को द्योतित करते हैं। इसी प्रकार क्रिया विशेषक निपात भी आख्यात ही हैं।

निपात और उपसर्ग में अन्तर—जो आचार्य संज्ञा और क्रिया के भेदों को पृथक् करना चाहते हैं वे उपसर्ग और निपात को पृथक् करते हैं। ये दोनों

साक्षात् अर्थयुक्त नहीं हैं, अपितु नाम और आख्यात की विशेषता के द्योतक हैं। निपात और उपसर्ग में अन्तर यह है कि निपात नाम और आख्यात दोनों के अर्थ-विषयक विशेषताओं का द्योतक है, किन्तु उपसर्ग केवल क्रिया की ही विशेषता का द्योतक है, यही इन दोनों में भेद है।

उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में भेद—कर्मप्रवचनीय क्रिया विशेष से उत्पन्न सम्बन्ध के विशेषक हैं सम्बन्ध विशेष्य के द्योतक होने के कारण ये क्रियाविशेष के प्रकाशक हैं, अतः उपसर्गों में इनका अन्तर्भाव होने से पद को चार प्रकार का माना गया है। परन्तु जो इनको पृथक् मानते हैं, उनका कथन है कि कर्मप्रवचनीय साक्षात् क्रियाविशेष के प्रकाशक नहीं है, अतः इनको पृथक् मानना चाहिए। उपसर्ग और कर्मप्रवचनीय में भेद यह है कि उपसर्ग वर्तमान क्रिया की विशेषता को द्योतित करता है और कर्मप्रवचनीय व्यतीत क्रिया के वाचक हैं। इनमें व्यतीत क्रिया के व्यापार का समन्वय हो सकता है, वर्तमान क्रिया का नहीं, यही दोनों में भेद है। हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० २ से ३।

निपात द्योतक और वाचक दोनों हैं—पतञ्जलि ने "अव्ययं विभक्ति" (अष्टा० २, १, ६) की व्याख्या में इस बात को स्पष्ट किया है कि उपसर्ग के अतिरिक्त निपात द्योतक और वाचक दोनों हैं। विभक्ति, समीप, समृद्धि आदि अर्थ, जो कि अव्ययीभाव समास के द्वारा बताए जाते हैं, अव्ययों के ही अर्थ हैं। इन अर्थों में जो अव्यय है उनका समास होने पर वह समास अव्ययीभाव कहा जाता है।

कैयट और नागेश इस भाष्य के विवरण में यह स्पष्ट रूप से प्रतिपादित करते हैं कि लक्ष्य के अनुसार ही निपात कहीं द्योतक होते हैं और कहीं वाचक। उद्योत, महा० २, १, ६।

भर्तृहरि ने निपातों के इस स्वरूप का उल्लेख करते हुए लिखा है कि कुछ निपात द्योतक हैं जैसे, वृक्षश्च प्लक्षश्च (वृक्ष और प्लक्ष)। द्वन्द्व समास के द्वारा जो समुच्चय का भाव बताया जाता है, उसको यहाँ च शब्द द्योतित करते हैं। च आदि कहीं पर पृथक् रहते हुए वाचक भी हैं कहीं पर ये आगम के तुल्य रहते हैं और शब्द के साथ मिलकर अर्थ के वाचक होते हैं। वाक्य० २, १९४।

भर्तृहरि ने निपातों के विषय में भी तात्त्विक विवेचन के आधार पर यह निर्णय दिया है कि निपात भी द्योतक ही हैं। भर्तृहरि कहते हैं कि निपातों को चाहे पहले प्रयोग किया जाय या बाद में, वे द्योतक ही रहते हैं। विकल्प समुच्चय आदि विभिन्न अर्थों में प्रयुक्त होने पर वे अर्थ के द्योतक ही होते हैं। पुण्यराज वाक्य० २, १९५।

यहाँ यह प्रश्न उठता है कि द्योतक के स्थान पर निपातों को वाचक ही क्यों नहीं मान लेते। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि च आदि निपातों का स्वतन्त्र

प्रयोग नहीं होता है, अपितु किसी वाक्य में ही होता है, अतः इनको वाचक नहीं माना जाता है जिस प्रकार पद में प्रत्ययों की वाचकता अपोद्धार दृष्टि से होने पर भी उनका स्वतन्त्र रूप से प्रयोग नहीं होता है। वाक्य० २, १६६।

च आदि निपात नाना अर्थों के वाचक होते हुए भी परतन्त्र हैं, अतः उनको द्योतक ही कहना चाहिए। वाक्य २, १६८।

नैयायिकों का खण्डन—भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट (भूषण, निपातार्थ-निर्णय) तथा नागेश ने (मंजूषा, निपातार्थ-निरूपण) में नैयायिकों के मत का विस्तार से खण्डन किया है। नैयायिकों का कथन है कि उपसर्ग द्योतक हैं, किन्तु उपसर्ग से भिन्न निपात च आदि वाचक हैं। इसके खण्डन में भट्टोजि आदि ने विशेष बात यह रक्खी है कि कोई कारण ऐसा नहीं है, जिसके आधार पर उपसर्गों और निपातों में यह अन्तर किया जाय। जिस आधार पर उपसर्ग को द्योतक कहा जाता है, उसी आधार पर निपात भी द्योतक है। जैसे अनुभूयते (अनुभव किया जाता है), में अनु उपसर्ग द्योतक है, उसी प्रकार साक्षात् क्रियते (साक्षात्कार किया जाता है) साक्षात् निपात द्योतक है।

द्योतकाः प्रादयो येन निपाताश्चादयस्तथा। भूषण, कारिका ४२।

कर्मप्रवचनीय का अर्थ—पतञ्जलि ने कर्मप्रवचनीय को सार्थक शब्द बताते हुए इसकी व्याख्या की है कि "कर्म प्रोक्तवन्तः कर्मप्रवचनीयाः" जो कर्म अर्थात् क्रिया को कह चुके हैं वे कर्मप्रवचनीय कहलाते हैं। जो वर्तमान अवस्था में क्रिया को नहीं कहते हैं। कौन वर्तमान अवस्था को नहीं कहते हैं? जो अप्रयुक्त धातु की क्रिया को कहते हैं, वे कर्मप्रवचनीय हैं।

ये अप्रयुज्यमानस्य क्रियामाहुस्ते कर्मप्रवचनीयाः।

महा० १, ४, ८३।

पुण्यराज ने अतएव लिखा है कि 'कर्म प्रोक्तवन्तः" का भाव है कि जो क्रियाकृत विशेष सम्बन्ध को द्योतित करते हैं, वे कर्मप्रवचनीय हैं। वाक्य० २, २०१।

भर्तृहरि ने कर्मप्रवचनीय का विस्तार से वर्णन किया है (वाक्य० २, १६६ से २०६)। भर्तृहरि का कथन है कि कर्मप्रवचनीय उपसर्गों के तुल्य क्रिया का द्योतक नहीं है। यह सम्बन्ध का वाचक भी नहीं हैं; क्योंकि षष्ठी के स्थान पर द्वितीया विभक्ति से सम्बन्ध का बोध होता है। क्रिया पद का इसके द्वारा आक्षेप नहीं होता है। कर्मप्रवचनीय केवल सम्बन्ध का द्योतक है। वाक्य० २, २०६।

पदार्थ जाति है या व्यक्ति

पाणिनि का मत—पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रथम आह्निक में ही इस प्रश्न को उठाया है कि पदार्थ जाति है या व्यक्ति। गाय आदि सभी शब्दों का अर्थ

गाय जाति है या गाय व्यक्ति। इस विषय पर पतञ्जलि ने पाणिनि के मत का उल्लेख किया है कि पाणिनि जाति और व्यक्ति को ही पदार्थ मानते थे, उन्होंने दोनों को पदार्थ मानते हुए सूत्र बनाए हैं। जाति को पदार्थ मानकर 'जात्याख्यायाम्०' (अष्टा० १, २, ५८) तथा व्यक्ति को पदार्थ मान कर 'सरूपाणाम्०' (अष्टा० १, २, ६४) सूत्र बनाया है।

किं पुनराकृतिः पदार्थः आहोस्विद् द्रव्यम् ? उभयमित्याह। उभयथा ह्याचार्येण सूत्राणि पठितानि। महा० आ० १।

कैयट ने इसकी व्याख्या करते हुए दोनों पक्षों का भाव स्पष्ट किया है। कैयट का कथन है कि इनमें से एक मत को मानने से सम्पूर्ण शास्त्र की व्यवस्था नहीं हो सकती है, अतः पाणिनि ने दोनों पक्षों का आश्रय लिया है। जातिवादियों का कथन है कि शब्द, जैसे गाय आदि, जाति का ही प्रतिपादन करता है। व्यक्ति अनन्त हैं प्रत्येक के सम्बन्ध का ग्रहण असम्भव है। सब व्यक्ति के देखने से एक प्रकार का ज्ञान होता है। अतः यह ज्ञात होता है कि यह जाति कोई सत्ता है जो कि विभिन्न व्यक्तियों में रहती है। गाय आदि शब्द विभिन्न द्रव्यों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जाति का बोध कराते हैं। जब गाय आदि शब्द से गाय आदि का बोध हो जाता है, तब जातिविशिष्ट व्यक्ति का ज्ञान होता है। जिस प्रकार जातिवाची शब्द जाति का बोध कराकर जातिविशिष्ट व्यक्ति का बोध कराते हैं, उसी प्रकार गुणवाची शुक्ल आदि शब्द भी गुणों में समवाय सम्बन्ध से रहने वाली जो सत का बोध कराते हैं। गुणत्वजाति के सम्बन्ध से गुण का ज्ञान होता है। द्रव्य में गुण का ज्ञान परम्परा से होता है, गुण द्रव्य में रहता है अतः गुण का ज्ञान होने पर गुण सम्बद्ध द्रव्य का ज्ञान होता है। संज्ञावाचक शब्दों के द्वारा भी जाति का ही बोध होता है। एक ही शरीर उत्पत्ति से लेकर मृत्यु तक बाल्य यौवन वृद्धत्त्व आदि अवस्थाओं के भेद होने पर भी "यह वही है" इस अभिन्नता के ज्ञान से डित्थत्त्व, देवदत्तत्व आदि जाति का ज्ञान होता है। जाति गुण और द्रव्य के तुल्य क्रिया शब्दों में भी जाति रहती है, वही धातु का मुख्य अर्थ है। पठति,पठतः, पठन्ति आदि उदाहरणों में एक पठ् धातु को देखकर एकता के कारणभूत जाति का ज्ञान क्रियाओं में भी होता है इसके विपरीत व्यक्तिवादियों का कथन है कि गाय आदि शब्द का अर्थ गाय आदि व्यक्ति है। व्यक्ति में जाति रहती है, अतः गौण रूप से जाति का भी ज्ञान होता है। इसीलिए अनन्तता आदि जो दोष व्यक्तिपक्ष पर उठाए जाते हैं, वे ठीक नहीं हैं। प्रदीप, महा० आ० १।

जातिवादी वाजप्यायन—कात्यायन और पतञ्जलि ने वाजप्यायन और व्याडि दो आचार्यों के मत का विशेष रूप से उल्लेख किया है। वाजप्यायन का मत था कि शब्द का अर्थ आकृति अर्थात् जाति है और व्याडि का मत था कि शब्द का

अर्थ द्रव्य अर्थात् व्यक्ति है। वाजप्यायन ने आकृति या जाति को शब्दार्थ मानने में निम्न युक्तियां मुख्य रूप से दी हैं।

शब्द का अर्थ जाति है। शब्द के द्वारा जाति का बोध कराया जाता है। गाय कहने पर शुक्ल, नीली, पीली आदि विशेषता का ज्ञान नहीं होता अपितु गाय सामान्य का ज्ञान होता है। जाति एक होने पर भी यह कैसे कह सकते हैं कि उसी का बोध होता है? गाय कहने पर अभिन्न का ज्ञान होता है, शुक्ल, नीली, पीली का ज्ञान नहीं होता। एक गाय को बताने से गायमात्र का ज्ञान होता है। एक गाय को गाय समझ लेने पर अन्य देश में अन्य रूप रंग वाली भिन्न आयु वाली गाय को देखकर जान लेता है कि यह गाय है। अतः ज्ञात होता है कि गाय शब्द से गाय जाति का ज्ञान होता है। धर्मशास्त्र आदि की विधि जाति को ही पदार्थ बताती है। "ब्राह्मण का वध नहीं करना चाहिए" "मदिरा नहीं पीनी चाहिए" आदि आदेशों से ब्राह्मणमात्र की हत्या वर्जित है, मदिरामात्र का पान निषिद्ध है। यदि द्रव्य को पदार्थ मानते तो एक ब्राह्मण की हत्या न करने और कुछ मदिरा न पीने से धर्मशास्त्र की आज्ञा पूरी समझी जानी चाहिए। महा० १, २, ६४।

एक ही वस्तु एक ही समय में अनेक स्थलों पर उपलब्ध होती है जैसे सूर्य एक ही अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है। यह युक्ति ठीक नहीं है, क्योंकि एक देखने वाला सूर्य को अनेक स्थलों पर सहसा नहीं देखता है। जाति को इन्द्र की तरह समझना चाहिए। जैसे एक ही इन्द्र सैकड़ों यज्ञों में एक ही समय पर आह्वान होने पर सब स्थलों पर एक ही समय उपस्थित होता है, इसी प्रकार जाति भी अनेक स्थलों पर एक ही समय में प्राप्त होती है। यदि केवल द्रव्य का ही बोध कराया जाएगा तो जाति का ज्ञान नहीं होगा इसमें दोष यह आयेगा कि एक शब्द से समस्त द्रव्यों का ज्ञान नहीं होगा। शास्त्रीय आदेशों में एक शब्द की उसके उपाधियों (उपकरणों) में प्रवृत्ति से ज्ञात होता है कि शब्द का अर्थ जाति है।

अस्ति चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत्। आदित्यः। इतीन्द्रवद्विषयः द्रव्याभिधाने ह्याकृत्यसंप्रत्ययः। चोदनायां चैकस्योपाधिवृत्तेः। महा० १, २, ६४।

व्यक्तिवादी व्याडि—संग्रह नामक महाग्रन्थ के प्रणेता आचार्य व्याडि का मत है कि शब्द जाति का नहीं अपितु द्रव्य (व्यक्ति) का बोध कराता है। व्यक्ति को ही शब्दार्थ मानने पर विभिन्न लिंगों और वचनों की सिद्धि होती है। व्यक्ति के अनुसार पुलिंग या स्त्रीलिंग होगा। जितने व्यक्ति होंगे उसी के अनुसार एक वचन, द्विवचन या बहुवचन होंगे। आदेशों में भी द्रव्य में ही कार्य किया जाता है। गाय लाओ कहने पर जाति नहीं अपितु गाय व्यक्ति लाई जाती है। एक जाति एक समय में अनेक स्थानों पर नहीं रह सकती, जैसे एक ही देवदत्त एक ही समय में आगरा और मथुरा दोनों स्थानों पर नहीं हो सकता है। यदि शब्द का अर्थ जाति माना

जायगा तो एक गाय के मरने से सारी गाएँ मर जानी चाहिये और एक गाय के उत्पन्न होने से सारी गाएँ उत्पन्न हो जानी चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति में विभिन्नता होती है। शब्दार्थ जाति होने पर यह विभिन्नता और अभिन्नता दो विरोधी गुण साथ नहीं रह सकते। व्यक्तियों की विभिन्नता को मानकर विग्रह किया जाता है कि "गाश्च गौश्च" (गाएँ और गाय)। नानार्थक शब्दों में द्रव्य की पृथकता को मानकर एक शेष हो जाता है। जैसे अक्षाः, पादाः, माशाः शब्दों में नाना शब्द मानकर एक शेष करके बहुवचन हो जाता है।

द्रव्याभिधानं व्याडिः। तथा च लिंगवचनसिद्धिः। चोदनासु च तस्यारम्भात्। न चैकमनेकाधिकरणस्थं युगपत्। विनाशे प्रादुर्भावे च सर्वं तथा स्यात्। अस्ति च वैरूप्यम्। तथा च विग्रहः। व्यर्थेषु च मुक्तसंशयम्। महा० १, २, ६४।

समन्वयवादी कात्यायन और पतञ्जलि—पाणिनि के मत का उल्लेख ऊपर हो चुका है, कि जाति और द्रव्य दोनों को पदार्थ मानते हैं। कात्यायन और पतञ्जलि ने इस पर कई स्थानों पर विचार किया है और जाति तथा व्यक्ति दोनों का शब्द से बोध स्वीकार किया है। कात्यायन और पतञ्जलि ने जाति की जो व्याख्या की है, वह सारे प्रश्न का समाधान कर देती है। वे कहते हैं कि जाति-वाचक शब्द से द्रव्य का भी बोध होता है और जाति का भी। इसको पतञ्जलि उदाहरण द्वारा स्पष्ट करते हैं। जातिवाचक शब्द से द्रव्य का भी बोध होता है। गायों के एक बहुत बड़े झुंड में बैठे हुए ग्वाले से कोई पूछता है कि 'किसी गाय को देख रहे हो?' ग्वाला सोचता है कि यह आँख से गायों को देख रहा है और पूछ रहा है कि क्या किसी गाय को देख रहे हो। अतः ज्ञात होता है कि यह किसी विशेष गाय को लक्ष्य में रखकर कह रहा है।

जातिशब्देन हि द्रव्याभिधानम्। जातिशब्देन हि द्रव्यमप्यभिधीयते, जातिरपि......नूनमस्य द्रव्यं विवक्षितम्। महा० १, २, ५८।

कैयट और नागेश ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि कभी जाति की प्रधानता रहती है और कभी द्रव्य की। जिस समय जैसा अभीष्ट होता है वैसा ही प्रयोग किया जाता है। जाति और व्यक्ति में कहाँ पर कौन सा मुख्य है, इसका निर्णय वक्ता की इच्छा ही करती है। जब वक्ता को जाति अभीष्ट होती है, तब जाति का बोध होता है और जब व्यक्ति, तब व्यक्ति का बोध होता है. प्रदीप, उद्योत। महा० १, २, ५८।

पतञ्जलि ने यह भी स्पष्ट किया है कि आकृति और द्रव्य जाति और व्यक्ति कभी पृथक् नहीं किए जा सकते हैं। दोनों अभिन्न हैं।

अव्यतिरेकाद् द्रव्याकृत्योः। महा० २, १, ५१।

जातिवादी और व्यक्तिवादियों में जो विवाद है उसको भी पतञ्जलि ने बहुत

चतुरता से सुलझाया है। पतञ्जलि कहते हैं कि यह नहीं समझना चाहिये कि जाति को पदार्थ मानने वाले व्यक्ति को पदार्थ नहीं मानते हैं और व्यक्ति को पदार्थ मानने वाले जाति को पदार्थ नहीं मानते। दोनों के मत में दोनों ही पदार्थ हैं। दोनों में अन्तर इतना ही है कि कोई किसी को मुख्य समझता है और किसी को गौण। जाति को पदार्थ मानने वाले जाति को मुख्य मानते हैं और द्रव्य (व्यक्ति) को गौण। व्यक्तिवादी व्यक्ति को प्रधान मानते है और जाति को गौण।

न ह्याकृतिपदार्थिकस्य द्रव्यं न पदार्थो, द्रव्यपदार्थिकस्य वा आकृतिर्न, पदार्थः। उभयोरुभयं पदार्थः। कस्यचित्तु किंचित् प्रधानभूतं किंचिद् गुणभूतम्। आकृतिपदार्थिकस्याकृतिः प्रधानभूता, द्रव्यं गुणभूतम्। द्रव्यपदार्थिकस्य द्रव्यं प्रधानभूतमाकृतिर्गुणभूता॥ महा० १, २, ६४।

आक्षेपों का समाधान—कात्यायन और पतञ्जलि दोनों दोनों वादों की उपयोगिता स्वीकार करते हुए भी जाति पक्ष को मुख्य मानते हैं। अतएव व्यक्तिवाद को मानने में जो आक्षेप किए गए हैं, उनका समाधान उन्होंने सर्वत्र आकृतिवाद को मानकर किया है।

आकृतिग्रहणात् सिद्धम्। महा० आ० २, 'अइउण्'।

आकृतिवाद पर व्याडि ने जो प्रश्न उठाए हैं, उनका उत्तर दोनों ने निम्न रूप में दिया है। गुण अनित्य है, अतः लिंग और वचन तदनुसार हो जाएँगे। यह उत्तर अपूर्ण है, क्योंकि यदि वचन को अनित्य मानेंगे तो जाति की एकता, जो कि सिद्धान्त है, नष्ट हो जाएगी। अतः दूसरा उत्तर देते हैं कि गुणों की विवक्षा अनित्य है, अतः लिंग और वचन हो जाएँगे। जब शब्द में स्त्रीत्व की विवक्षा होगी स्त्रीलिंग होगा, पुंस्त्व की विवक्षा में पुलिंग और दोनों की अविवक्षा में नपुंसक। वचन के विषय में भी जैसे व्यक्तिवादी के मत में वचन वाचनिक हैं, उसी प्रकार एकत्व में एकवचन, द्वित्व में द्विवचन और बहुत्व में बहुवचन होगा। अथवा जिस प्रकार गुणवाची शब्दों के आश्रय के अनुसार लिंग और वचन होते हैं, उसी प्रकार यहाँ पर भी द्रव्य में जो आकृति है, उसके जो लिंग और वचन हैं, वही जाति के भी लिंग वचन हो जाते हैं।

लिंगवचनसिद्धिर्गुणविवक्षाऽनित्यत्वात्। विवक्षातः। गुणवचनवद्वा।
महा० १, २, ६४।

दूसरा यह आक्षेप कि जाति में लाना आदि सम्भव नहीं है। उसका उत्तर यह है कि जाति का लाना आदि सम्भव नहीं है, अतः जाति के साहचर्य वाली व्यक्ति का लाना आदि होगा। ऐसे स्थलों पर सर्वत्र व्यक्ति में ही कार्य होगा।

अधिकरणगतिः साहचर्यात्। महा० १, २, ६४। असम्भवात्।
महा० १, २, ५१।

तीसरा यह आक्षेप कि एक जाति नाना स्थलों पर एक समय में नहीं रह सकती, जैसे देवदत्त। इसका उत्तर इन्द्र के उदाहरण द्वारा दिया जा चुका है। इन्द्र के तुल्य ही जाति भी एक समय में अनेकों स्थानों पर रह सकती है।

चतुर्थ यह आक्षेप कि व्यक्ति के नाश और जन्म से जाति का नाश और जन्म होना चाहिए। इसका उत्तर यह है कि द्रव्य के नाश या उत्पत्ति से जाति का नाश आदि नहीं होता, क्योंकि जाति की आत्मा और व्यक्ति की आत्मा भिन्न है। जैसे वृक्ष के ऊपर लगी लता आदि वृक्ष के कट जाने पर भी नष्ट नहीं होती उसी प्रकार आत्मा की भिन्नता के कारण द्रव्य के नष्ट होने पर भी जाति नष्ट नहीं होती।

अविनाशोऽनैकात्म्यात्। अनेक आत्मा आकृतेर्द्रव्यस्य च।

महा० १, २, ६४।

पंचम यह आक्षेप कि द्रव्यों में विरूपता और भिन्नता रहती है तथा वैसा ही विग्रह होता है। इसका उत्तर यह है कि आकृति मानने पर भी द्रव्य भेद से विरूपता और विग्रह होते हैं।

वैरूप्यविग्रहौ द्रव्यभेदात्। महा० १, २, ६४।

षष्ठ यह आक्षेप कि नानार्थकों में एक शेष करना पड़ेगा। इसका उत्तर यह है कि नानार्थकों में क्रिया की समानता या संख्या की समानता के कारण जाति का बोध होगा।

व्यर्थेषु च सामान्यात् सिद्धम्। महा० १, २, ६४।

भर्तृहरि का मत—भर्तृहरि ने (वाक्य० १, ६८ से ६९) पतञ्जलि के अनुसार ही जाति और व्यक्ति दोनों मतों का निर्देश करते हुए लिखा है कि व्यक्ति वादी व्यक्ति में कार्य की सत्ता मानकर व्यक्ति में रहने वाली जाति को स्वीकार करते हैं और जातिवादी शब्द के द्वारा जाति का ग्रहण करके जाति के द्वारा बोधित व्यक्ति में कार्यों को करते हैं।

पतञ्जलि ने आकृति और द्रव्य की, जो पारमार्थिक व्याख्या की है, उसका उल्लेख पंचम अध्याय में किया जा चुका है। भर्तृहरि ने तृतीय काण्ड के जाति-समुद्देश और द्रव्य-समुद्देश (पृ० १ से ६५) में पतञ्जलि के अनुसार ही जाति और द्रव्य की तात्त्विक व्याख्या बहुत विस्तार से की है। तात्त्विक दृष्टि से जाति और व्यक्ति दोनों ही नित्य हैं। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि समस्त शब्दों के अर्थ जाति या द्रव्य हैं। दोनों ही नित्य हैं।

पदार्थानामयोद्धारे जातिर्वा द्रव्यमेव वा।
पदार्थौ सर्वशब्दानां नित्यावेवोपवर्णितौ॥

वाक्य० ३ पृ० ५।

भर्तृहरि ने अपने विवेचन में इस बात को सिद्ध किया है कि जाति का वास्तविक रूप सत्ता और आगे चलकर महासत्ता है, जिसको परब्रह्म कहते हैं। उसी से संसार का प्रादुर्भाव आदि होता है। इसी प्रकार द्रव्य को तात्विक दृष्टि से परब्रह्म का पर्याय बताते हुए द्रव्य को नित्य और उसे सारे शब्दों का अर्थ बताया है। भर्तृहरि का यह भी मत है कि पतञ्जलि ने जाति और द्रव्य की जो ऐसी व्याख्या की है, वाजप्यायन व्याडि दोनों आचार्यों का भी तात्त्विक दृष्टि से वही मत है। भर्तृहरि ने जाति और व्यक्ति का जो वर्णन किया है, उसका सारांश निम्न है:—

जाति का स्वरूप—प्रत्येक शब्द सर्व प्रथम अपनी विशेष जाति का बोध कराता है, समस्त शब्दों में साधारण रूप से रहने वाली शब्दत्व आदि जाति का नहीं। शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध होने के कारण अर्थ के साथ तादात्म्य की कल्पना से अर्थ का ज्ञान होता है।

स्वा जातिः प्रथमं शब्दैः सर्वैरेवाभिधीयते।
ततोऽर्थजातिरूपेषु तदध्यारोपकल्पना ॥

वाक्य० ३, पृ० १२।

जाति को पदार्थ मानने पर शब्द से या तो जाति का ही बोध होता है या जातियुक्त व्यक्ति का बोध होता है। सब शब्द जाति के ही वाचक होते हैं।

जातौ पदार्थे जातिर्वा विशेषो वापि जातिवत्।
शब्दैरपेक्ष्यते यस्मादतस्ते जातिवाचिनः ॥

वाक्य० ३, पृ० १८।

जाति द्रव्य में प्राणशक्ति है—यहाँ पर एक यह प्रश्न उठता है कि वस्तुओं में देश काल आदि के कारण भेद होता है। उसकी उपेक्षा कर देने से उन सब में अभिन्नता ज्ञात होती है। इतने से काम चल जाने से व्यक्तियों से भिन्न जाति की कल्पना करने की क्या आवश्यकता है। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि बिना जाति के वस्तु का व्यवहार ही नहीं हो सकता है। सब कुछ व्यवहार जाति के आश्रय से ही होता है। ये भिन्न वस्तुएँ हैं। या ये वस्तुएँ अभिन्न हैं, इस प्रकार का संसार में जो कुछ व्यवहार है वह जाति के संसर्ग के होने पर ही होता है। हेलाराज, वाक्य० ३, पृ० २३।

भिन्ना इति परोपाधिरभिन्ना इति वा पुनः।
भावात्मसु प्रपंचोऽयं संसृष्टेष्वेव जायते ॥

वाक्य० ३, पृष्ठ २३।

यदि जाति या सामान्य का वस्तु से सम्बन्ध न मानेंगे तो यह एक है, ये अनेक हैं, यह है, यह नहीं है, यह व्यवहार नहीं हो सकता है। जाति का सम्बन्ध होने पर ही एक संख्या को मानकर एक, विभिन्नता को मानकर अनेक,

अस्तित्व को मानकर "है" और बाह्य रूप में अभाव को मानकर "नहीं" का व्यवहार होता है। हेलाराज।

नैकत्वं नापि नानात्वं न सत्त्वं न च नास्तिता।
आत्मतत्त्वेषु भावानामसंसृष्टेषु विद्यते॥

वाक्य० ३, पृ० २३।

इसी भाव को अन्यत्र व्यक्त करते हुए हेलाराज ने कहा है कि गाय को जाति के सम्बन्ध के बिना न गाय कह सकते हैं और न यही कह सकते हैं कि गाय नहीं है। जाति का सम्बन्ध होने पर उसको गाय कहा जाता है, क्योंकि तात्त्विक दृष्टि से सब कुछ ब्रह्म है, वह साक्षात् कभी व्यवहार का विषय नहीं है। वह मूलतत्त्व द्रव्य है। जब उसमें जाति का समावेश होता है, तब वह व्यवहार के योग्य होता है।

संसर्गदर्शने स्वतो गौर्न गौः गोत्वाभिसम्बन्धाद् गौरिति, ब्रह्मकल्पं साक्षाद-व्यवहार्यमेव द्रव्यं परोपाधीयमानरूपविशेषं व्यवहारमनुपतति। हेलाराज वाक्य० ३ पृ० १२३।

मम्मट का कथन—मम्मट ने काव्यप्रकाश (द्वितीय उल्लास, सूत्र १०) में वाक्यपदीय के इस कथन को उद्धृत करते हुए जाति को पदार्थ में प्राणदायक कहा है। मम्मट ने हेलाराज के वचन का भाव सुरक्षित रखते हुए उसको थोड़ा सा शाब्दिक अन्तर के साथ रखा है कि गाय स्वरूप से न गाय है और न गाय नहीं ही है, गोत्व जाति के सम्बन्ध से वह गाय कहाती है।

पदार्थस्य प्राणप्रदः, जातिः। उक्तं हि वाक्यपदीये नहि गौः स्वरूपेण गौर्नाप्यगौः गोत्वाभिसम्बन्धात्तु गौः॥ काव्य० २, १०।

जाति ब्रह्मरूप है—भर्तृहरि ने अद्वैत दर्शन का आश्रय लेकर जाति को द्रव्य से पृथक् न मानकर उसे ब्रह्म का माया रूप माना है। भर्तृहरि कहते हैं कि इस संसार में एक ब्रह्म ही है, वह सर्वशक्तिमान् है, वही सब की आत्मा है। यह निश्चित मत है। भाव पदार्थों में जो भेद होता है, वह अविद्या (माया) के कारण ही होता है। वस्तुतः भावों में भेद असत्य और काल्पनिक है। उस एक ब्रह्म की ही शक्तियों के भेद से नानात्व होता है, वस्तुतः नानात्व नहीं है, उसके स्वरूप में भेद नहीं होता है। हेलाराज।

सर्वशक्त्यात्मभूतत्वमेकस्यैवेति निर्णयः।
भावानामात्मभेदस्य कल्पना स्यादनर्थिका॥

वाक्य० ३, पृ० २३।

द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष, समवाय ये सब पदार्थ पृथक् नहीं हैं, अपितु एक ब्रह्म की विभिन्न शक्तियां हैं। विलक्षण व्यापारों से उसको विभिन्न शक्तियों

का अनुमान किया जाता है। इनका जब यथायोग्य सम्बन्ध होता है तब वे व्यवहार के योग्य होते हैं, पृथक् पृथक् व्यवहार के योग्य नहीं हैं। अतएव जाति और व्यक्ति का जो विभाग किया है, वह काल्पनिक ही है। हेलाराज।

तस्माद् द्रव्यादयः सर्वाः शक्तयो भिन्नलक्षणाः।
संसृष्टाः पुरुषार्थस्य साधिका न तु केवलाः॥
वाक्य० ३, पृष्ठ २४।

जाति सत्य है और व्यक्ति असत्य—जाति को ब्रह्म की शक्तिरूप मानने पर यह प्रश्न होता है कि इस मत में जाति और व्यक्ति का विभाग किस प्रकार किया जाएगा। भर्तृहरि इसका उत्तर देते हैं कि प्रत्येक भावपदार्थ में दो भावतत्व नियम से रहते हैं, एक सत्यांश और दूसरा असत्यांश, दूसरे शब्दों में एक मूलतत्त्व या सूक्ष्मतत्त्व और दूसरा दृश्वतत्त्व या स्थूलतत्त्व। जैसे स्वर्ण के आभूषणों में मूलतत्त्व या सत्यांश सुवर्ण है और दृश्यतत्त्व या असत्य अंश उनके भिन्न-भिन्न कुंडल आदि आकार हैं। इनमें जो सत्य अंश है उसको जाति कहते हैं और जो असत्य अंश है उसको व्यक्ति कहते हैं। हेलाराज।

सत्यासत्यौ तु यौ भावौ प्रतिभावं व्यवस्थितौ।
सत्यं यत्तत्र सा जातिरसत्या व्यक्तयः स्मृताः॥
वाक्य० ३, पृष्ठ २८।

जाति महासत्ता है—इस प्रकार अद्वैतवाद के मानने पर परमार्थ सत्य परब्रह्म ही जाति है, उसी का दूसरा नाम महासत्ता है। गाय आदि विभिन्न जातियां उसी के विवर्त हैं। आश्रय आदि अपने सम्बन्धियों के भेद से वह सत्ता गाय आदि के रूप में भिन्न होती है उसी महासत्ता को जाति कहते हैं। उसी महासत्ता के वाचक सारे शब्द हैं। हेलाराज।

संबन्धिभेदात् सत्तैव भिद्यमाना गवादिषु।
जातिरित्युच्यते तस्यां सर्वे शब्दा व्यवस्थिताः॥
वाक्य० ३, पृष्ठ २९।

संज्ञा और धातु का अर्थ महासत्ता - समस्त शब्दों और समस्त धातुओं का अर्थ वही महासत्ता नामक जाति है। वह नित्य है, वह महान् आत्मा है। भाववाचक त्व और त प्रत्यय के द्वारा उसी महासत्ता का बोध कराया जाता है। वाक्य० ३, पृ० २९।

वह महासत्ता ही क्रिया और द्रव्य है—वह महासत्ता या जाति किस प्रकार से क्रिया और द्रव्य (नाम और आख्यात) हो जाती है, इसको स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि उस महासत्ता में जब क्रम का समावेश होता है तब क्रिया के रहने से उसे धातु या क्रिया कहते हैं। जब उसमें क्रम की समाप्ति हो जाती है, तब उसे ही सत्व या द्रव्य कहते हैं।

प्राप्तक्रमा विशेषेषु क्रिया सैवाऽभिधीयते ।
क्रमरूपस्य संहारे तत्सत्वमिति कथ्यते ॥

वाक्य० ३, पृ० ३० ।

भर्तृहरि ने इस प्रकार से बढ़ते हुए संसार में जो कुछ क्रियाकलाप है, उसको जातिरूपी महासत्ता का ही विवर्त बताया है। यास्क ने निरुक्त में महर्षि वार्ष्यायणि का वचन उद्धृत किया है कि ६ भावतत्त्व के विकार हैं। उत्पन्न होता है, है, परिणत होता है, बढ़ता है, घटता है और नष्ट होता है। निरुक्त १, २ ।

भर्तृहरि का कथन है कि वह महासत्ता नामक जाति ही सत्ता में विकार के कारण उपर्युक्त ६ अवस्थाओं को प्राप्त होती है। उसका क्रमशः जिस-जिस शक्ति से सम्बन्ध होता है, उसी के अनुसार वह प्रतीत होती है।

सैव भावविकारेषु षडवस्थाः प्रपद्यते ।
क्रमेण शक्तिभिस्ताभिरेवं प्रत्यवभासते ॥

वाक्य० ३, पृ० ३१ ।

भर्तृहरि के इस विवेचन से स्पष्ट है कि वैयाकरण जाति या आकृति का क्या अर्थ लेते हैं, जाति रूप अर्थ नित्य कैसे है और उसका शब्द (शब्दब्रह्म) के साथ नित्य सम्बन्ध कैसे है, यह जाति के स्वरूप को समझने से स्पष्ट हो जाता है।

व्यक्ति या द्रव्य का स्वरूप

व्याडि के द्रव्यवाद का स्पष्टीकरण—भर्तृहरि और उनके व्याख्याकार हेलाराज ने आचार्य व्याडि के मत को बहुत सुन्दरता से स्पष्ट किया है। आचार्य व्याडि ने जो शब्द का अर्थ द्रव्य बताया है वह व्यवहारिक और पारमार्थिक, स्थूल और सूक्ष्म दोनों दृष्टि से ही अत्यन्त श्लाघनीय है। हेलाराज का कथन है कि पतञ्जलि ने महाभाष्य में जो यह कहा है कि द्रव्य नित्य और आकृति अनित्य है। आकृति बदलती रहती है, द्रव्य वही रहता है, यह पतञ्जलि का कथन संग्रह ग्रन्थ में कहे गए आचार्य व्याडि के मत का अनुवाद मात्र है। हेलाराज वाक्य० ३, पृ० ८६ ।

हेलाराज कहते हैं कि द्रव्य दो प्रकार का है, एक पारमार्थिक और दूसरा व्यावहारिक। द्रव्यं च द्विविधं, पारमार्थिकं सांव्यवहारिकं च (हेलाराज, वाक्य० ३ पृ० ८५)।

इसमें से व्यावहारिक को लेकर शब्द और अर्थ विषयक सब लौकिक व्यवहार चलता है। व्यावहारिक अवस्था में स्थूल रूप से व्यक्ति में ही शक्ति का ग्रहण होता है।

व्यावहारिक पक्ष—भर्तृहरि ने द्रव्य के इस व्यावहारिक दृष्टिकोण का पृथक् द्रव्य समुद्देश (वाक्य० ३ पृ० १३६ से १४४) में वर्णन किया है और द्रव्य

का लक्षण किया है कि जिसको लक्ष्य में रखकर, "यह है" इस प्रकार वस्तुसंकेतक सर्वनाम का प्रयोग होता है, उस अर्थ को द्रव्य कहते हैं। वह विशेषण रूप में विवक्षित रहता है। हेलाराज ने इसको संक्षेप में दिया है कि "इदं तत्" (यह है) इस प्रकार सर्वनाम के द्वारा बोधन के योग्य को द्रव्य कहते हैं। (हेलाराज वाक्य० ३, पृ० १४१)।

इदं तदिति सर्वनामप्रत्यवमर्शयोग्यं द्रव्यम्। हेलाराज।

परमार्थिक पक्ष—हेलाराज का कथन है कि भर्तृहरि ने जाति समुद्देश में जो आचार्य वाजप्यायन के दर्शन के अनुसार जाति की पारमार्थिक व्याख्या की है, वह जाति रूप पदार्थ विशेषण रूप है और व्याडि ने जो पदार्थ द्रव्य को बताया है, वह द्रव्य उसका विशेष्य है। भर्तृहरि द्रव्य की पारमार्थिक व्याख्या करते हुए कहते हैं कि आत्मा, वस्तु, स्वभाव, शरीर और तत्त्व, ये द्रव्य के पर्यायवाची शब्द हैं। वह द्रव्य नित्य है।

आत्मा वस्तु स्वभावश्च शरीरं तत्त्वमित्यपि।
द्रव्यमित्यस्य पर्यायास्तच्च नित्यमिति स्मृतम्॥
वाक्य० ३, पृ० ८५।

हेलाराज ने इसकी व्याख्या में लिखा है कि अद्वैतवादी आत्मा शब्द के द्वारा उस द्रव्य का ही बोध कराते हैं। आत्मा ही असत्योपाधि से पृथक् होकर तेजोमय-प्रकाशमान् द्रव्य है वही शब्दों का अर्थ है। बौद्ध दार्शनिक वस्तु (स्वलक्षणात्मक) को द्वैतवादी स्वभाव को प्रकृतिवादी शरीर को और चार्वाक चार भूत तत्त्व को द्रव्य कहते हैं। इन सब शब्दों के द्वारा पारमार्थिक रूप में एक ही वस्तु कही जाती है।

असत्य आकार केवल बोध का साधन—सारे शब्दों का जो पारमार्थिक तत्त्व है, उसका साक्षात् स्पर्श नहीं किया जा सकता है। सत्य वस्तु का असत्य आकारों से निश्चय होता है। असत्य उपाधि से युक्त सारे शब्दों से सत्य द्रव्य (ब्रह्म) का बोध कराया जाता है। जिस प्रकार सुवर्ण के आभूषणों का आकार अनित्य है, किन्तु शुद्धतत्त्व सुवर्ण ही विभिन्न आकार युक्त आभूषणों के द्वारा कहा जाता है। वाक्य० ३, पृ० ८६ से ८७।

दो तत्त्व नहीं हैं—भर्तृहरि कहते हैं कि प्राचीन ऋषियों का मत है कि तत्त्व और अतत्त्व में कोई भेद नहीं है। तत्त्व को ही अविचारशीलता से अतत्त्व समझ लेते हैं। हेलाराज ने इसको स्पष्ट करते हुए लिखा है कि अद्वैत मत में सत्य और असत्य दो पदार्थ नहीं हैं। इनको पृथक् मानने पर अद्वैत की हानि होती है। पारमार्थिक दृष्टि से एक और अद्वितीय ब्रह्म ही है।

न तत्त्वातत्त्वयोर्भेद इति वृद्धेभ्य आगमः ।
अतत्त्वमिति मन्यन्ते तत्त्वमेवाऽविचारितम् ॥
वाक्य० ३, पृ० ८६ ।

ब्रह्म से अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है । जो यह प्रकाश है, वह विद्या है और जो अप्रकाश है, वह अन्धकार और अविद्या है।

तत्रयोऽयं प्रकाशः स विद्या । अप्रकाशस्तु तमोऽविद्या । हेलाराज,पूर्ववत् ।

पतञ्जलि ने लिखा है कि "अकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवाऽवशिष्यते" आकृति (जाति) के नष्ट होने पर भी केवल द्रव्य शेष रहता है । इसी भाव को भर्तृहरि ने कहा है कि आकृति (जाति) के भी नष्ट होने पर जो अन्त में शेष रहता है, वह सत्य है, वह नित्य है, वही शब्द का वाच्य है, उसी को शब्दतत्त्व अर्थात् शब्द-ब्रह्म कहते हैं । उसमें कभी कोई अन्तर नहीं होता है । इसी को पतञ्जलि ने ध्रुव-कूटस्थ आदि विशेषण लगाकर नित्य बताया है ।

सत्यमाकृतिसंहारे यदन्ते व्यवतिष्ठते ।
तन्नित्यं शब्दवाच्यं तच्छब्दतत्वं न भिद्यते ॥
वाक्य० ३, पृष्ठ ६० ।

द्रव्य अनिर्वचनीय है—भर्तृहरि ने व्याडि के अनुसार द्रव्य को वेदान्त की चरम सीमा पर पहुँचा दिया है और उसे सर्वथा अनिर्वचनीय और अव्यवहार्य परब्रह्म बताते हुए लिखते हैं कि न वह है, और न वह नहीं है । न वह एक है और न अनेक है । न वह संयुक्त है और न वह विभक्त है । न वह विकारयुक्त है और न वह विकार से रहित है ।

न तदस्ति न तन्नास्ति न तदेकं न तत्पृथक् ।
न संसृष्टं विभक्तं वा विकृतं न च नान्यथा ॥
वाक्य० ३, पृ० ६१ ।

हेलाराज कहते हैं कि अत्यन्त अद्भुत वृत्ति से अनेक भाव पदार्थों के रूप में विवर्त होने से उसको अविकृत भी नहीं कहा जा सकता है । अतः वह परब्रह्म रूपी तत्त्व सर्वथा अनिर्वचनीय है । भर्तृहरि उसी को पारमार्थिक और स्थूल दो बिभिन्न दृष्टिकोण से देखने से दो विरुद्ध गुणों से युक्त ज्ञात होने का वर्णन करते हैं कि वह नहीं है, वह है, वह एक है, वही अनेक है । वह संयुक्त है और वही विभक्त है । वह विकारयुक्त है और वह विकार रहित है ।

तन्नास्ति विद्यते तच्च तदेकं तत् पृथक् पृथक् ।
संसृष्टं च बिभक्तं च विकृतं तत्तदन्यथा ॥
वाक्य० ३, पृ० ६२ ।

द्रव्यपक्ष का उपसंहार करते हुए लिखते हैं कि वह परब्रह्म रूपी द्रव्य जो कि

पदार्थ और परमार्थ दोनों है, वही सारे शब्दों का वाच्य है। सारे शब्दों की विद्या (तत्त्व, सार) वही है। शब्द उससे पृथक् नहीं है। अपृथक् होने पर भी शब्दों का उस परब्रह्म से ऐसा ही सम्बन्ध है, जैसे दो आत्माओं का सम्बन्ध होता है। हेलाराज।

विद्या सा सर्वशब्दानां शब्दाश्च न पृथक् ततः।
अपृथक्त्वे च सम्बन्धस्तयोर्ननात्मनोरिव ॥
वाक्य० ३, पृ० ६३।

भर्तृहरि ने जो व्याडि के द्रव्य की अनिर्वचनीयता की व्याख्या की है, उसकी तुलना मांडूक्योपनिषद् तथा ईशोपनिषद् की अत्यन्त गूढ़ और रहस्यात्मक श्रुतियों से की जा सकती है। वेद का मन्त्र कहता है कि वह गतिशील है, वह गतिशील नहीं है। वह दूर है, वह समीप है। वह सबके अन्दर है, वह सबके बाहर है।

तदेजति तन्नैजति तद्दूरे तद्वन्तिके।
तदन्तरस्य सर्वस्य तदु सर्वस्यास्य बाह्यतः ॥
यजु० ४०, ५।

मांडूक्य उपनिषद् ने परब्रह्म की पारमार्थिक अनिर्वचनीय अवस्था का वर्णन करते हुए कहा है कि वह अन्तःप्रज्ञ अर्थात् अन्दर की ओर बुद्धिवाला नहीं है, वह बहिः प्रज्ञ नहीं है, अन्दर और बाहर दोनों ओर प्रज्ञ वाला नहीं है, न उत्कृष्ट प्रज्ञा वाला है, न प्रज्ञा वाला है और न प्रज्ञा रहित है। वह अदृष्ट है, अव्यवहार्य है। अग्राह्य है, उसका कोई लक्षण (चिह्न) नहीं है, वह अचिंत्य है, अवर्णनीय है। वह केवल आत्मा है, यही प्रतीति जिसका सार है। जहाँ प्रपंच शान्त हो जाते हैं। शान्त शिव अद्वैत वह आत्मा है, वह जानने योग्य है। मांडूक्य० ७।

मीमांसकों का मत

जातिवादी जैमिनि का मत—जैमिनि ने मीमांसादर्शन में मीमांसासूत्र (१, ३, ३० से ३५) आकृतिवाद का समर्थन किया है और व्यक्तिवाद का खण्डन किया है। जैमिनि का कथन है कि प्रयोग और क्रिया को देखकर अर्थ की एकता को मानना पड़ता है। अर्थात् शब्द का अर्थ जाति है, क्योंकि विभिन्न व्यक्तियों में भी जाति अविभक्त रूप से रहती है, द्रव्य को मानकर शब्द का प्रयोग नहीं होता है। एक ही शब्द अन्य व्यक्ति के लिए भी देखा जाता है। शब्द का अर्थ जाति ही है, क्योंकि आकृति को मानकर ही क्रियाएँ होती हैं। यदि यह प्रश्न किया जाय कि जाति को मानने पर भी काम तो द्रव्य में ही होते हैं, अतः द्रव्य को ही पदार्थ मानना चाहिए और यह तुम्हारे मत में है नहीं। इसका उत्तर जैमिनि देते हैं कि

क्रिया का प्रयोजन द्रव्य ही है। द्रव्य जाति से पृथक् नहीं है, अपितु अविभक्त है। मीमांसा० १, ३, ३० से ३५।

जैमिनि के उक्त कथन से स्पष्ट है कि उनके मतानुसार शब्द व्यक्ति का ही बोध नहीं कराता है, अपितु द्रव्य में विद्यमान जाति का भी बोध कराता है। जाति में शक्ति मानने पर भी वे व्यक्ति की सत्ता को अस्वीकार नहीं करते हैं। जाति और व्यक्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। व्यक्तियों में जाति रहती है और जाति में व्यक्ति।

जातिशक्तिवादी कुमारिलभट्ट—कुमारिलभट्ट ने श्लोकवार्तिक के आकृतिवाद प्रकरण में जाति पक्ष का बहुत विस्तारसे प्रतिपादन किया है। जयन्त ने न्यायमंजरी के पंचम आह्निक में (पृष्ठ २७१ से २६८) कुमारिल के मत की आलोचना की है और मीमांसकों के अभिमत जातिवाद का खण्डन किया है। गंगेश ने तत्त्वचिन्तामणि के शब्दखण्ड के जातिशक्तिवाद प्रकरण में (पृष्ठ ५५६ से ५६१) तथा गदाधर भट्ट ने शक्तिवाद के परिशिष्ट काण्ड में (पृष्ठ १७१ से १६६) कुमारिलभट्ट, प्रभाकर, मण्डनाचार्य, श्रीकर आदि के मतों का निरूपण करके उनके मत का खण्डन करके नैयायिकों के मत की स्थापना की है। उनके मतों का संक्षेप में वर्णन निम्न है :

कुमारिलभट्ट के मत का गंगेश ने उल्लेख किया है कि जाति में ही शक्ति है, ऐसा मानने में ही लाघव है। व्यक्ति का ज्ञान आक्षेप से हो जाता है।

भट्टमते तु जातिरेव शक्या लाघवात्, व्यक्तिस्त्वाक्षेपलभ्या।
तत्त्व० पृ० ५७८।

गदाधर ने शक्तिवाद में कुमारिल के मत का वर्णन करते हुए लिखा है कि पद से व्यक्ति का स्मरण यह अनुभव नहीं होता है, किन्तु आक्षेप से ही व्यक्ति का ज्ञान होता है। आक्षेप करने वाली जाति ही है। आक्षेप अनुमान या अर्थापत्ति का विषय है। शक्तिवाद, पृ० १८३।

यहाँ पर जानना उचित है कि कुमारिल के मतानुसार अर्थापत्ति भी एक पृथक् प्रमाण है। हरिहरनाथ ने शक्तिवाद की व्याख्या में अर्थापत्ति का प्रसिद्ध उदाहरण देकर उसको स्पष्ट किया है। "पीनो देवदत्तो दिवा न भुंक्ते" (मोटा देवदत्त दिन में नहीं खाता है) इसका पहले शाब्दबोध यह होता है कि दिन में भोजन न करने वाला मोटा देवदत्त, किन्तु बाद में यह विचार उठता है कि दिन में भोजन न करने वाला देवदत्त यदि रात्रि में भी भोजन नहीं करता है तो वह मोटा नहीं हो सकता है। इससे अर्थापत्ति अर्थ (अर्थात् औचित्य के आधार पर आपत्ति अर्थात् भाव का समझना) के द्वारा यह जाना जाता है कि मोटा देवदत्त रात्रि में भोजन करता है। इसी प्रकार शब्द से जाति का बोध होता है और अर्थापत्ति से व्यक्ति का ज्ञान होता है।

अर्थापत्ति से अर्थज्ञान का खण्डन—यहाँ यह भी जान लेना उचित है कि सुने हुए शब्द से अर्थापत्ति के द्वारा अर्थज्ञान का जो प्रकार मीमांसकों ने बताया है, उसको भर्तृहरि ने वैयाकरणों के मतानुसार अनुचित बताकर उसका खण्डन किया है। भर्तृहरि ने श्रुतार्थापत्तिवाद के समर्थकों का मत वर्णन किया है कि शब्द (आख्यात या नाम) केवल अपने अर्थ को प्रकाशित कर के आकांक्षायुक्त अवस्था में ही निवृत्त हो जाता है। उस निवृत्त हुए शब्द का सम्बन्धी अर्थ अर्थापत्ति के द्वारा अर्थान्तर की उपस्थिति करता है उससे वाक्यार्थ का ज्ञान पूर्ण होता है।

स्वार्थमात्रं प्रकाश्यासौ साकांक्षो विनिवर्तते।
अर्थस्तु तस्य सम्बन्धी प्रकाशयति सन्निधिम्॥
वाक्य० २, ३४०।

भर्तृहरि और पुण्यराज ने इसका खण्डन करते हुए कहा है कि मोटे देवदत्त का जो उदाहरण अर्थापत्ति के रूप में दिया गया है, उसकी सिद्धि के चार प्रकार हो सकते थे। परन्तु वह सम्भव नहीं है, अतः श्रुतार्थापत्तिवाद युक्त नहीं है। वे चार प्रकार यह हो सकते हैं, शब्द के द्वारा शब्द का आक्षेप, अर्थ के द्वारा शब्द का आक्षेप, शब्द के द्वारा अर्थ का आक्षेप और अर्थ के द्वारा अर्थ का आक्षेप। शब्द के द्वारा शब्द का आक्षेप युक्तिसंगत नहीं है, क्योंकि अपने अर्थ के प्रतिपादन के लिए ही शब्द का आक्षेप हो सकता है, अन्य अर्थ के प्रतिपादन के लिए शब्द का आक्षेप नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि अर्थ के द्वारा शब्द का आक्षेप किया जाएगा तो यह भी युक्तिसंगत नहीं है। अन्य शब्द के अर्थ की शब्दान्तर के साथ वाच्यवाचकता नहीं है, अतः अर्थ से अन्य शब्द का आक्षेप नहीं किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि उच्चारित शब्द के द्वारा श्रुतार्थापत्ति के अनुसार कल्पित शब्द के वाच्य अर्थ का आक्षेप किया जाएगा तो यह भी ठीक नहीं है क्योंकि एक शब्द के द्वारा शब्दान्तर के वाच्य अर्थ का साहचर्य नहीं हो सकता है। उन दोनों में वाच्य वाचक भाव सम्बन्ध नहीं है। अतः शब्द से भी अर्थ का आक्षेप नहीं हो सकता है। यदि यह कहा जाय कि अर्थ के द्वारा अर्थ का आक्षेप किया जाएगा तो यह स्पष्ट रूप से अनुमान ही है। यह अर्थ शब्द का अर्थ नहीं होगा; अतः शब्द की एकता को छोड़ना पड़ेगा। चतुर्थ-पक्ष युक्ति के द्वारा असंगत नहीं है, अतः भर्तृहरि ने इसका खण्डन नहीं किया है। अतएव एक पद में श्रुतार्थापत्ति से शब्दान्तर का आक्षेप करके वाक्यार्थ का ज्ञान, यह मीमांसकों का प्रकार आदरणीय नहीं है। वैयाकरणों का मत है कि एक पद ही शब्दान्तर के साथ सम्बन्ध के बिना ही प्रकरण आदि के अनुसार उन उन विशेष अर्थों का बोध कराने में समर्थ है, यही मत उपादेय है। पुण्यराज।

पारार्थ्यस्याविशिष्टत्वान्न शब्दाच्छब्दसन्निधिः।
नार्थाच्छब्दस्य सान्निध्यं न शब्दादर्थसन्निधिः॥
वाक्य० २, ३४१।

एकपदमेव शब्दान्तराभिसम्बन्धमन्तरेण प्रकरणादिवशात् तत्तदर्थप्रत्यायन-निपुणमित्येव मन्तव्यम्। पुण्यराज।

प्रत्येक ज्ञान व्यावृत्ति और अनुवृत्यात्मक - कुमारिल भट्ट ने श्लोकवार्तिक के आकृतिवाद में इस बात का निरूपण किया है कि प्रत्येक ज्ञान व्यावृत्ति और अनुवृत्त्यात्मक होता है। जब तक एक ही के दो स्वरूप नहीं माने जाएँ गे, तब तक व्यावृत्ति और अनुवृत्ति साथ नहीं हो सकती है।

वस्तुबुद्धिर्हि सर्वत्र व्यावृत्त्यनुगमात्मिका।
जायते द्वयात्मकत्वेन विना सा च न सिध्यति॥
श्लोक० आकृति० ५।

कुमारिल का भाव यह है कि यदि बौद्धों के अनुसार ज्ञान को स्वलक्षण (ज्ञानरूप) मानेंगे तो जाति की सिद्धि नहीं हो सकती और यदि वेदान्तियों के तुल्य केवल सामान्य (जाति) को ही मानेंगे तो अन्य की व्यावृत्ति उससे नहीं हो सकती है। प्रत्येक ज्ञान में एक अंश रहता है अनुवृत्ति का, जैसे गाय के ज्ञान में अनुवृत्ति का अंश है कि प्रत्येक गाय अर्थात् गाय जातिमात्र में उस ज्ञान की अनुवृत्ति। व्यावृत्ति का अंश है, उस ज्ञान की जैसे गाय के ज्ञान की अश्व के ज्ञान से व्यावृत्ति। अनुवृत्ति के लिए आवश्यक है कि जाति को माना जाय। और अन्य की व्यावृत्ति के लिए आवश्यक है कि व्यक्ति को भी माना जाय। अतएव जयन्त ने कुमारिल का भाव स्पष्ट करते हुए कहा है कि केवल व्यक्ति को पदार्थ मानने पर जाति का ज्ञान नहीं होगा और केवल जाति को मानने पर व्यक्ति का ज्ञान नहीं होगा, अतः जाति और व्यक्ति दोनों रूपों से युक्त ज्ञान होता है। न्यायमंजरी, पृ० २७४।

इस पर यह प्रश्न उठ सकता है कि एक ही ज्ञान जाति और व्यक्ति दोनों रूप से कैसे हो सकता है। इनमें से एक को सत्य और दूसरे को असत्य मानना चाहिये। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है कि जाति और व्यक्ति दोनों में से एक का भी ज्ञान भ्रमपूर्ण नहीं है। और नहीं गौण रूप से होता है। दोनों ही ज्ञान सत्य और दृढ़ हैं। भ्रमज्ञान भ्रान्तिवादियों को ही होता है। मीमांसकों को नहीं।

न चाप्यन्यतरा भ्रान्तिरुपचारेण गम्यते।
दृढत्वात् सर्वदा बुद्धेर्भ्रान्तिस्तत्तद् भ्रान्तिवादिनाम्।
श्लोक० आकृति० ७।

अतः कुमारिल का मत है कि न तो व्यक्ति को नष्ट करके जाति का ज्ञान होता

जातिशक्तिवादी श्रीकर का मत—गंगेश और गदाधर ने श्रीकर के मत का उल्लेख किया है कि शब्द की शक्ति जाति में है, अतएव जातिवाचक पद से जाति का बोध तो शाब्दबोध है और व्यक्ति का बोध उपादान रूप से होता है, क्योंकि जाति व्यक्ति रूपी उपादान के बिना नहीं रह सकती।

श्रीकरस्तु, जातिशक्तिपदात् जातेरनुभवः शाब्दो व्यक्तेरौपादानिकः अशक्यत्वादिति, तत्त्व० शब्द० पृ० ५६६।

एतेन जातिवाचकपदाज्जातिबोधः शाब्दः व्यक्तिबोधस्त्वौपा दानिक एवेति श्रीकरमतमनुपादेयम। शक्तिवाद, पृ० १८६।

गदाधर ने यह कहकर श्रीकर के मत का खण्डन किया है कि जाति के द्वारा व्यक्ति की उपादान रूप से कल्पना भी अर्थापत्ति ही है। अतः इसमें कुमारिल के मत से कोई विशेषता नहीं है। जो युक्तियाँ कुमारिल के खण्डन में दी गई हैं, वही यहाँ भी लागू होती हैं। शक्तिवाद, पृ० १८६।

जातिशक्तिवादी मंडनाचार्य का मत—गंगेश और गदाधर ने मण्डनाचार्य के मत का उल्लेख करते हुए लिखा है कि शब्द से ही व्यक्ति का भी बोध होता है, आक्षेप आदि के द्वारा नहीं। व्यक्ति का शब्द से बोध होने में व्यक्ति में शक्ति का अभाव कोई विघ्नरूप कारण नहीं होता है, क्योंकि लक्षणा शक्ति के द्वारा व्यक्ति में भी शाब्दबोध की सिद्धि हो जाती है। अतएव मंडनाचार्य ने कहा है कि शब्द के द्वारा जाति की सत्ता और अभाव का कोई भी बोध नहीं करना चाहता हैं, क्योंकि जाति नित्य है। लक्षणा के द्वारा व्यक्ति का बोध होता है। सत्ता और अभाव व्यक्ति के ही विशेषण होते हैं। तत्त्वचिन्तामणि, शब्द० पृ० ५८७।

जातेरस्तित्वनास्तित्वे न हि कश्चिद् विवक्षति।
नित्यत्वाल्लक्ष्यमाणाया व्यक्तेस्ते हि विशेषणे॥
शक्तिवाद, पृ० १८७।

नैयायिकों का मत

गौतम मुनि से न्याय दर्शन में (२, २, ५६ से ६६) जाति, आकृति और व्यक्ति तीनों को पद का अर्थ मानने पर विशेष विचार करके तीनों के ही पद का अर्थ स्वीकार किया है। इन तीनों में से किसी एक में भी शक्ति का तिरस्कार नहीं किया जा सकता है।

व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थाः। न्यायसूत्र, २, २, ६३।

गदाधर भट्ट—गदाधर ने तीनों में शक्ति की सिद्धि करते हुए लिखा है कि

गाय आदि शब्दों से उसके आकार विशेष का ज्ञान अनुभवसिद्ध है। आकार भी जाति के सदृश ही शब्द का वाच्य है। यद्यपि आकार वाच्य है, परन्तु शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त नहीं है, क्योंकि साक्षात् सम्बन्ध से वाच्य रूप वृत्ति का उसमें अभाव है। आकार अवयव संयोग रूप है उसकी जाति में समानाधिकरणता के सम्बन्ध से सत्ता है। जाति और आकृति दोनों में से एक को छोड़कर दूसरे का ज्ञान नहीं हो सकता है, अतः लाघव मानकर जाति और आकृति दोनों में ही गाय आदि शब्दों की एक ही शक्ति स्वीकार की जाती है। जिस प्रकार एक पुष्पवन्त शब्द सूर्य और चन्द्रमा दोनों का बोधक है, उसी प्रकार शब्द जाति और आकार दोनों का बोधक होगा।

एक को विशेष्य और दूसरे को विशेषण मानकर एक में शक्ति को मानना ठीक नहीं है। विशेष्य विशेषण भाव मानने पर किसको विशेषण और किसको विशेष्य मानें, इसका निश्चय नहीं किया जा सकता है। गाय आदि कहने पर गाय आदि के ज्ञान में साक्षात् जाति और आकृति दोनों प्रकार का ज्ञान अनुभव सिद्ध है। जाति और आकार से युक्त व्यक्ति में शक्ति एक ही रहती है, अतः गौतम मुनि ने उपर्युक्त सूत्र में पदार्थ शब्द का एकवचनान्त ही प्रयोग किया है बहुवचनान्त नहीं। शक्तिवाद पृ० १७१ से १७२।

जयन्त भट्ट – जयन्त ने उपर्युक्त सूत्र को स्पष्ट करते हुए इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि सूत्र में "तु" शब्द विशेषण रूप अर्थ को बताता है। गुण और प्रधान भाव नियम से शब्दार्थ होता है। जाति और आकृति से विशिष्ट व्यक्ति पदार्थ होने पर भी कहीं पर प्रयोग में जाति की प्रधानता रहती है और व्यक्ति गौण रहता है। जैसे "गौर्न पदा स्प्रष्टव्या" (गाय को पैर से नहीं छूना चाहिए), में गाय जाति मात्र में निषेध जाना जाता है। कहीं पर व्यक्ति की प्रधानता रहती है और जाति गौण हो जाती है। जैसे "गां मुंच" (गाय को छोड़ दो) "गां बधान" (गाय को बांध दो) प्रयोग किसी निश्चित व्यक्ति को लक्ष्य में रखकर किया गया है। कहीं पर आकार की प्रधानता रहती है और व्यक्ति गौण रूप से रहता है, जाति रहती ही नहीं है। जैसे "पिष्टकमय्यो गावः क्रियन्तामिति" (पीठी की गाय बनाओ) में जाति सर्वत्र विद्यमान होने पर भी पीठी की गाय में शक्ति नहीं है। इसी प्रकार अश्व आदि शब्दों में कहीं जाति, कहीं व्यक्ति और कहीं आकार ही मुख्य रहता है, अन्य गौण। न्यायमंजरी, पंचम आह्निक, पृष्ठ २६७।

वैयाकरणों का इस विषय में मत पहले दिया जा चुका है कि वे जाति और व्यक्ति दोनों को पद का अर्थ मानते हैं। इस विषय में उनका मत कोई विरोधात्मक नहीं है, अपितु जाति और व्यक्ति का क्या स्वरूप है और उनका किस

प्रकार समन्वय है, यह उन्होंने सिद्ध एवं प्रतिपादित किया है। जाति और व्यक्ति को पदार्थ मानने का अभिप्राय भर्तृहरि द्वारा वाजप्यायन के आकृतिवाद तथा व्याडि के द्रव्यवाद के स्पष्टीकरण में जैसा दिया गया है, वही वैयाकरणों का मत है और वही उनका अभीष्ट है।

अध्याय ८

वाक्य और वाक्यार्थ

शब्द और अर्थ तथा पद और पदार्थ के विषय में इससे पूर्व लिखा जा चुका है। वाक्य वाक्यार्थ के विषय में दार्शनिकों और वैयाकरणों में पर्याप्त मतभेद है। भर्तृहरि ने वाक्य और वाक्यार्थ का जो दार्शनिक रूप रखा है, उसके विवेचन से पूर्व भर्तृहरि का क्या अभीष्ट है यह जान लेना आवश्यक है।

भर्तृहरि का अभीष्ट यह है कि पाणिनि और पतञ्जलि शब्द को नित्य मानते थे। शब्द ही एक नित्य अखण्ड और अद्वितीय मौलिक तत्त्व है। लौकिक व्यवहार में जिसको ध्वनि कहते हैं, वह उस शब्द का ही विवर्त या परिणाम है। ध्वनि का ही दूसरा नाम अर्थ है। अर्थ शब्द का विवर्त या परिणाम है। प्रचलित शब्दों में उसको यह कह सकते हैं शब्दार्थ शब्द का ही विकास, विस्तार या विवरण है। इस नित्यवाद की सिद्धि के लिए स्फोटवाद की सृष्टि हुई। इसको सिद्ध करने के दो प्रकार हो सकते थे। एक यह कि मौलिक बात को बताकर उसका विस्तार सिद्ध करना, दूसरा यह कि उसका विस्तृत रूप बताकर उसके मूल में निहित वास्तविक तत्त्व को सिद्ध करना। प्रथम प्रकार का विस्तृत विवरण अग्रिम अध्याय में किया जाएगा। यहाँ पर वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में अन्य दर्शनों ने वाक्य को अखण्ड मानने में जो मतभेद प्रकट किया है, उसका खण्डन करने से विषय स्पष्ट होता है।

आठ प्रकार के सार्थक शब्द—वाक्य और वाक्यार्थ के मूल में प्रश्न यह है कि सार्थक क्या है और उसका क्या स्वरूप है। वह नित्य है या अनित्य, वह अखण्ड है या खण्डनीय, वह एक है या अनेक। एक ओर नित्यवादी हैं और दूसरी ओर अनित्यवादी। नित्यवादियों में भी कई मतभेद हैं, एक त्रैतवादी हैं, दूसरे द्वैतवादी और तीसरे अद्वैतवादी। इसको आठ रूप में रक्खा जा सकता है, १, प्रत्येक वर्ण सार्थक है, २, प्रत्येक वर्ण नहीं अपितु पद सार्थक होता है, ३, प्रत्येक वर्ण और पद नहीं, अपितु वाक्य ही सार्थक होता है, ४, पद का विभाजन सार्थक नहीं है, अपितु अखण्ड पद ही सार्थक होता है,५, वाक्य के विभाग सार्थक नहीं होते हैं, अपितु वाक्य अखण्ड होता है, अखण्ड वाक्य ही सार्थक है। प्रथम तीन विभाग भी दो प्रकार के हैं, एक नित्यवादी और दूसरे अनित्य-

वादी। ६, अनित्यवर्ण सार्थक नहीं होते हैं, अपितु नित्यवर्ण सार्थक होते हैं। ७, अनित्यपद सार्थक नहीं होते हैं, अपितु नित्यपद सार्थक होते हैं। ८, अनित्य-वाक्य सार्थक नहीं होते हैं, अपितु नित्यवाक्य सार्थक होते हैं।

विषय का स्पष्टीकरण– उपर्युक्त आठ विभागों में वैयाकरण समस्त दर्शनों को विभाजित कर देते हैं। इन आठ विभागों के पारिभाषिक नाम निम्न हैं। १, वर्णस्फोट २, पदस्फोट, ३, वाक्यस्फोट, ४, अखण्डपदस्फोट, ५, अखण्डवाक्य—स्फोट, ६, वर्णजातिस्फोट, ७, पदजातिस्फोट, ८, वाक्यजातिस्फोट।

भर्तृहरि का भाव स्पष्ट समझने के लिए उक्त शब्दों के स्थान पर दार्शनिक शब्द रख देने से बात ज्ञात हो जाती है। वर्ण के स्थान पर प्रकृति, पद के स्थान पर जीव या जीवात्मा, वाक्य के स्थान पर ईश्वर, परमात्मा या ब्रह्म शब्द रख देने से उक्त कथन का भाव निम्न होता है:—१, प्रकृतिवाद और (भौतिकवाद)—प्रकृति सार्थक है। २, प्रकृति नहीं, अपितु जीव सार्थक है। ३, प्रकृति और जीव नहीं अपितु ईश्वर या ब्रह्म सार्थक है। ४, जीवात्मा एक है, अखण्ड है, वही सार्थक है। ५, ईश्वर या ब्रह्म एक है, अखण्ड है, वही सार्थक है। ६, अनित्य प्रकृति नहीं, अपितु नित्यकारणभूत मूल प्रकृति सार्थक है। ७, अनित्य जीव नहीं, अपितु नित्यकारणभूत जीवात्मा सार्थक है। ८, निर्वचनीय ब्रह्म नहीं, अपितु अनिर्वचनीय नित्य अखण्ड एक ब्रह्म ही सार्थक है।

वाक्य का लक्षण

कात्यायन और पतञ्जलि— कात्यायन और पतञ्जलि ने प्राचीन आचार्यों के विभिन्न लक्षणों का संग्रह करते हुए वाक्य के चार लक्षण लिखे हैं। (महा० २, १, १)।

१, "आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं वाक्यम्" वाक्य का लक्षण यह है कि उसमें क्रिया हो, उसके साथ अव्यय, कारक और विशेषण में से एक या सभी रह सकते हैं। जैसे "उच्चैः पठति" (ऊँची ध्वनि से पढ़ता है) यह एक वाक्य है, इसमें एक क्रिया और एक अव्यय है। "ओदनं पचति" (चावल पकाता है) एक वाक्य है, इसमें एक क्रिया और एक कारक कर्म है। "ओदनं मृदु विशदं पचति" (चावल को मृदु और स्वच्छता से पकाता है) में एक वाक्य में क्रिया, कारक, अव्यय और विशेषण सभी हैं।

२, "सक्रियाविशेषणं च" उपर्युक्त लक्षण में क्रिया विशेषण को और सम्मिलित करना चाहिए। जैसे:—"सुष्ठु पचति" (अच्छे प्रकार से पकाता है) में "सुष्ठु" क्रियाविशेषण है।

३, "आख्यातं सविशेषणम्" उक्त लक्षण को संक्षिप्त करके इतना ही लक्षण करना चाहिए कि क्रिया को वाक्य कहते हैं, उसके साथ कोई विशेषण हो। ऊपर

जो अव्यय, कारक और विशेषण कहे गये हैं, वे सब क्रिया के विशेषण ही हैं। कैयट इसकी व्याख्या में कहते हैं कि यहाँ पर आख्यात शब्द का अर्थ क्रिया प्रधान है, अतः तिङन्त के स्थान पर कृदन्त क्रिया जो कि क्रियाप्रधान होती है, उसके होने पर ही उसे वाक्य कहते हैं, जैसे "देवदत्तेन शयितव्यम्" (देवदत्त को सोना चाहिये) में क्रिया तिङन्त न होकर कृदन्त होने पर भी इसको वाक्य माना जाता है।

४, "एकतिङ्" एक तिङन्त को वाक्य कहते हैं। जैसेः—'ब्रूहि-ब्रूहि" (बोलो, बोलो) कैयट का कथन है कि यहाँ पर एक शब्द एक संख्या का नहीं, अपितु समान (सदृश) अर्थ का वाचक है अतः एकार्थक तिङन्त वाक्य होता है। इस कथन के कारण एक वाक्य में एकार्थक दो तिङन्त भी हो सकते हैं। कैयट ने उक्त लक्षण में बहुव्रीहि समास बताया है, अतः इसका अर्थ होगा कि एकार्थक तिङन्त पद जिस समुदाय में होता है उसे वाक्य कहते हैं।

पाणिनि का मत—नागेश ने एकतिङ् की व्याख्या में विचार किया है कि उक्त लक्षणों में से आचार्य पाणिनि का क्या मत है। नागेश कहते हैं कि कुछ का मन्तव्य है कि पाणिनि को "आख्यातं सविशेषणम्" लक्षण ही स्वीकृत है, क्योंकि उन्होंने "तिङ्ङतिङः" (अष्टा० ८, १, २८) सूत्र में अतिङ् पद को रक्खा है। सूत्र का अर्थ है कि अतिङन्त के बाद तिङन्त पद का अनुदात्त होता है। कात्यायन ने इस सूत्र में से अतिङ् पद को अनर्थक बताया है और कहा है कि यहाँ पर नियम एक वाक्य के लिए बनाए गए हैं, एक वाक्य में एक ही तिङन्त पद होता है, दो नहीं, अत. जब दो तिङन्त एक वाक्य में नहीं होंगे तो उक्त सूत्र में अतिङ् पद रखना निरर्थक है।

न च समानवाक्ये द्वे तिङन्ते स्तः। महा० ८, १, २८।

पाणिनि के अतिङ् पद के रखने से ज्ञात होता है कि वह एक वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद का होना स्वीकार करते हैं। जैसे :—"पचति भवति' (पाक होता है)। लौकिक प्रयोग में पाकोभवति के स्थान पर "पचति" का भी प्रयोग पहले होता था, अतः नागेश कहते हैं कि पाणिनि को वही अभीष्ट है। "आख्यातं सविशेषम्" में सविशेषण को पृथक् कहने का भाव यह है कि वाक्य में आकांक्षा होनी चाहिए। आख्यात पद रखने का भाव यह है कि वाक्य में क्रिया की प्रधानता होनी चाहिए। अतः कृदन्त पद से युक्त "त्वया शयितव्यम्" (तुझे सोना चाहिए) को भी वाक्य स्वीकार किया जाएगा। सविशेषणम् का अर्थ यह है कि साक्षात् या परम्परा से जो विशेषण होता है उसके सहित (क्रियाप्रधान) को वाक्य कहते हैं। नागेश, महा० ८, १, २८।

पतञ्जलि का मत—पहले लिखा जा चुका है कि पाणिनि और पतञ्जलि वाक्यस्फोट के समर्थक हैं। पतञ्जलि ने 'समर्थः पदविधिः' (महा० २, १, १) सूत्र में पाणिनि

का और अपना मन्तव्य निम्नरूप से स्पष्ट किया है। मौलिकरूप से दो पक्ष हैं एक वृत्तिपक्ष और दूसरा अवृत्तिपक्ष। ये दोनों स्वाभाविक हैं:—वाक्य और समास। जो वृत्ति को स्वाभाविक मानते हैं, अवृत्तिपक्ष (नित्य शब्दवाद) को मानते हैं, वे समास को नित्य मानते हैं। इस पक्ष के निरूपण को एकार्थीभाव समास कहते हैं। जो वृत्तिपक्ष को अर्थात् शब्द को अनित्य मानते हैं, वे वृत्ति का लक्षण करते हैं कि जिससे दूसरे अर्थ का बोध कराया जाय, उसे वृत्ति कहते हैं। वृत्तिपक्ष को दो प्रकार से रक्खा जा सकता है। जहत्स्वार्थावृत्ति और अजहत्स्वार्थावृत्ति। जहत्स्वार्था का अर्थ है जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को छोड़ देता है। अजहत्स्वार्था वृत्ति वह है, जहाँ पर शब्द अपने अर्थ को नहीं छोड़ता है। वृत्ति पक्ष में जहत्स्वार्था पक्ष का कथन है कि "संघातस्यैकत्वमर्थः" समूह का अर्थ है एकता, अतएव समास करने पर शब्द से एकवचन होता है, जैसे राजपुरुष शब्द का प्रयोग एकवचन में किया जाता है। अन्यों का मत है कि परस्पर व्यपेक्षा को सामर्थ्य कहते हैं। दो शब्दों को परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा नहीं होती है अतः व्यपेक्षा का अर्थ है दो अर्थों की परस्पर आकांक्षा। जैसे :—'राज्ञः पुरुषः' (राजा का पुरुष) कहने पर राजा पुरुष की अपेक्षा करता है कि यह मेरा है। पुरुष भी राजा की अपेक्षा करता है कि मैं इसका हूँ। दोनों के इस अपेक्षा रूपी सम्बन्ध का बोध षष्ठी विभक्ति कराती है। इस पक्ष को व्यपेक्षासामर्थ्य कहते हैं। महा० २, १, १।

पतञ्जलि ने दोनों पक्षों पर विचार करके वाक्य की व्याख्या की है, तथा वाक्य, संज्ञा और समान वाक्य का अधिकार दोनों को स्वीकार करने की आवश्यकता बताई है। इस पर पतञ्जलि ने यह लिखा है कि आज यह अपूर्व बात की जा रही है, वाक्य संज्ञा और समानवाक्य का अधिकार। यह अनुचित प्रतीत होता है, क्योंकि ऐसा करने से सारे नियम ही वैकल्पिक हो जाएंगे। उनको आचार्य (कात्यायन) मित्रता के भाव से कहते हैं कि वाक्य को भी मानना चाहिए और समानवाक्य को भी। भाव यह है कि एक वाक्य को भी मानना चाहिये और उसमें आगे महावाक्य को भी। वाक्य भी महावाक्य का अंग है।

स चावश्यं वाक्यसंज्ञा वक्तव्या, समानतावाक्याधिकारश्च।

महा० २, १, १।

भर्तृहरि तथा पुण्यराज ने (वाक्य० २, ६) में उल्लेख किया है कि पाणिनि ने जो अतिङ् पद (अष्टा० ८, १, २८) रक्खा है, उससे पाणिनि का सिद्धान्त ज्ञात होता है कि वे एक अखण्ड वाक्य को मानते थे। पुण्यराज ने पतञ्जलि का वाक्य उद्धृत किया है कि वेद पदकारों के पीछे नहीं चलते हैं, पदकारों को वेद के अनुसार चलना चाहिए।

न लक्षणेन पदकारा अनुवर्त्याः पदकारैर्नामलक्षणमनुवर्त्यम्।

वाक्य० २, ५८।

इस पर पुण्यराज का यह कथन है कि पदकार का अर्थ है जो पदों को करते हैं जैसे प्रातिशाख्य, और, व्याकरण आदि के कर्ता। यदि पद सत्य होते तो वह स्वयं सिद्ध होते, उनके लिए पदकारों की क्या आवश्यकता। अतः पतञ्जलि का पदकार शब्द रखना असंगत होता। पतञ्जलि ने अतएव कहा है कि हम मानते हैं कि पद असत्य हैं, एक अखण्ड वाक्य हैं। पदों का विभाग अविद्वानों को ज्ञान कराने के लिए है, वह कल्पित है।

आह चैवं भाष्यकारः। तदस्मान्मन्यामहे पदान्यसत्यानि एकमभिन्नस्वभावकं वाक्यम्। तदबुधबोधनाय पदविभागः कल्पित इति। पुण्यराज।

वाक्य० २, ५८।

पुण्यराज ने अतएव लिखा है कि पाणिनि और पतञ्जलि का अखण्डवाक्यस्फोट पक्ष स्वीकृत है। भर्तृहरि का कथन है कि वाक्यवादियों अर्थात् स्फोटवादियों का मत है कि वाक्य अखण्ड और विभिन्न होता है, उसमें से पदभेद किए जाते हैं, किन्तु ये भेद वस्तुतः काल्पनिक ही होते हैं। अतएव पदवाद भी काल्पनिक है।

अभेदपूर्वका भेदाः कल्पिता वाक्यवादिभिः। वाक्य० २, ५८।
सूत्रकारस्य भाष्यकारस्य चाखण्डपक्षोऽभिरुचितः। पुण्यराज॥

कात्यायन का मत—जैसा कि ऊपर लिखा गया है कि कात्यायन वाक्य और समान वाक्य दो सत्ताओं को मानते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि वे पदस्फोट और वाक्यस्फोट, अपरब्रह्म और परब्रह्म, दो सत्ताओं को स्वीकार करते हैं। अतएव भर्तृहरि और पुण्यराज ने उल्लेख किया है कि कात्यायन को भेदपक्ष ही रुचिकर है।

शब्दानां भेदपक्ष एवं वार्तिककारस्याभिरुचित इति। पुण्यराज।
वाक्य० २, १०४

नैयायिकों का मत—न्यायभाष्यकार वात्स्यायन ने नैयायिकों के मतानुसार वाक्य में अर्थबोधकता को सिद्ध करते हुए लिखा है कि साकांक्ष पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, क्योंकि वही अर्थ का बोध कराने में समर्थ होता है। यहाँ पर पद शब्द से सुबन्त और तिङन्त दोनों का ही ग्रहण है। नागेश ने वात्स्यायन के उक्त कथन के द्वारा नैयायिकों को भी वाक्यस्फोट स्वीकार होना सिद्ध किया है। मंजूषा०, पृ० १।

पदसमूहो वाक्यमर्थसमाप्तौ (समर्थम्)। मंजूषा, पृ० १।

नागेश ने (मंजूषा पृ० ३४) न्यायभाष्यकार का उद्धरण दिया है कि व्याकरण संकेत के ज्ञान के लिए, यह पदरूप वाणी का स्पष्टीकरण करता है और वाक्यात्मकवाणी (वाक्यस्फोट) अर्थबोध की जनक है, इस बात का बोधक है।

जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में वाक्य का लक्षण किया है कि आकांक्षा-युक्त शब्दों के समूह को वाक्य कहते हैं।

मिथः साकांक्षशब्दस्य व्यूहो वाक्यं चतुर्विधम्। शब्दशक्ति०,
श्लोक १३।

साहित्यिकों का मत—विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण में वाक्य का लक्षण किया है कि योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

वाक्यं स्याद् योग्यताकांक्षासक्तियुक्तः पदोच्चयः। सा० २, १।

योग्यता आकांक्षा आदि वाक्य के अर्थज्ञान में साधन होते हैं। इनका नागेश ने (मंजूषा पृ० ४८८—५३४) विस्तार से वर्णन किया है। संक्षेप में विश्वनाथ ने वाक्य की व्याख्या में इनको निम्नरूप से स्पष्ट किया है :—

१, योग्यता का अर्थ है कि पदार्थों के परस्पर सम्बन्ध में कोई बाधा नहीं होनी चाहिये। भाव यह है कि शब्द ऐसे ही शब्दों से बनता है जिनमें यह परस्पर योग्यता हो कि उनमें परस्पर अर्थ का अन्वय हो सके। यदि केवल पदों के समूह को ही वाक्य मानेंगे तो "वह्निना सिञ्चति" (आग से सींचता है) को भी वाक्य मानना पड़ेगा। आग में वह योग्यता नहीं है कि वह सींच सके, अतः परस्पर अन्वय में बाधा होने से वाक्य नहीं होगा।

२, आकांक्षा का अर्थ है कि पदों में परस्पर यह आकांक्षा इच्छा होनी चाहिए कि वे एक समन्वय युक्त अर्थ को बता सकें। श्रोता की जिज्ञासा को शान्त करना आकांक्षा का फल है। श्रोता की जिज्ञासा उससे शान्त न हो तो वे शब्द एक वाक्य नहीं कहे जा सकते हैं। केवल गाय, अश्व, पुरुष व हाथी कहने से श्रोता की जिज्ञासा शान्त नहीं होती है, क्योंकि इन शब्दों में परस्पर कोई आकांक्षा नहीं है कि वे किसी एक अर्थ को बतावें।

३, आसक्ति का भाव है कि वाक्य में शब्दों और अर्थ की बिना व्यवधान के उपस्थिति। पदार्थ की उपस्थिति में व्यवधान न होने पर भी वाक्य माना जाए तो "देवदत्त" शब्द कहा गया और कल जाता है, कहने पर दोनों पदों की संगति हो जाती और "देवदत्त जाता है" यह अर्थ ज्ञान होता है।

इनमें से आकांक्षा और योग्यता ये दोनों अर्थ के धर्म हैं, गौणरूप से उनको पदसमूह का धर्म कहा जाता है।

विश्वनाथ ने योग्यता, आकांक्षा और आसक्ति से युक्त वाक्यों के समूह को महा-वाक्य नाम दिया है। इस प्रकार से वाक्य के दो विभाग किए हैं, एक वाक्य और दूसरा महावाक्य। कुमारिल के तन्त्रवार्तिक का उद्धरण दिया है कि ऐसे

वाक्यों का, जो कि अपने अर्थ का बोध कराकर सफल हो चुके हैं, अङ्गाङ्गीभाव की अपेक्षा से फिर समन्वय होने पर एकवाक्यता हो जाती है, अर्थात् ऐसे वाक्यों का एक महावाक्य बनता है। एक वाक्य जैसे कोई एक श्लोक और एक महा-वाक्य जैसे रामायण, महाभारत, रघुवंश आदि पुस्तकें। साहित्यदर्पण, २, १।

नैयायिक शब्दबोध में तात्पर्य ज्ञान को भी कारण मानते हैं। नागेश ने उनके मत का प्रतिपादन करते हुए कहा है कि यह वाक्य इस अर्थ का बोध कराने के लिए वक्ता ने कहा है, इस प्रकार तात्पर्यज्ञान कारण होता है। तात्पर्य का ज्ञान प्रकरण आदि से होता है। अतएव जहाँ पर प्रकरण आदि का ज्ञान नहीं होता है, वहाँ यह सन्देह होता है कि इस शब्द का यह अर्थ है या वह। नागेश ने वैया-करणों के सिद्धान्त के अनुसार तात्पर्य को पृथक् मानने का खण्डन किया है। मंजूषा, पृ० ५२६—५२८।

अमरसिंह का मत—अमरसिंह ने अमरकोश में वाक्य का लक्षण किया है कि सुबन्त या तिङन्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, या कारक से युक्त क्रिया को वाक्य कहते हैं। जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में अमरसिंह के उक्त लक्षण को यह कह कर अस्वीकृत किया है कि इसके मानने में अतिव्याप्ति और अव्याप्ति दोष आते हैं।

सुप्तिङन्तचयो वाक्यं क्रिया वा कारकान्विता। अमरकोश।
सुप्तिङन्तचयो नैवमतिव्याप्त्यादिदोषातः। शब्द० श्लोक १३।

नागेश ने (उद्योत, महाभाष्य २, १, १) अमरसिंह के उक्त लक्षण में "वा" शब्द का "यदि" के अर्थ में प्रयोग बताया है, और अमरसिंह का भाव बताया है कि यदि क्रियावाचक शब्द (तिङन्त या कृदन्त) कारक से युक्त हो तो सुबन्त का समूह, या तिङन्त का समूह या सुबन्त और तिङन्त का समूह वाक्य कह-लाता है। कारक तिङन्त का वाच्य हो या उससे अन्य का इसमें कोई अन्तर नहीं पड़ता। यहाँ पर समूह शब्द रखने का अभिप्राय यह है कि एक से अधिक होना चाहिए। पाणिनि ने जो एक से अधिक तिङन्त का एक वाक्य में होना सम्भव माना है, उसको लक्ष्य में रखकर यह अमरसिंह का कथन है... उद्योत, महा० २, १, १।

जयन्तभट्ट का वाक्यार्थ-विवेचन

जयन्तभट्ट ने न्यायमंजरी के पंचम आह्निक में (पृ० ३००—३३६) वाक्य के अर्थ पर दार्शनिक दृष्टिकोण से विस्तृत और गम्भीर विवेचन किया है। जयन्त ने वाक्यार्थ के विषय में जिन दार्शनिक सिद्धान्तों का विवेचन किया है, उनका संक्षेप में भाव निम्न है:—

वाक्यार्थ के विषय में विभिन्न मत—(१)वाक्य का अर्थ ज्ञान है (२)वाक्य में क्रिया मुख्य होती है अतः क्रिया वाक्य का अर्थ है (३) क्रिया की अपेक्षा भी फल मुख्य होता है, क्योंकि क्रिया किसी फल के लिए की जाती है, अतः फल वाक्य का अर्थ है। (४) फल की अपेक्षा पुरुष (ईश्वर) मुख्य है, क्योंकि क्रिया का फल भी पुरुष के लिए होता है, अतः वाक्य का अर्थ पुरुष है। (५) वाक्य का अर्थ भावना है। भावना का अर्थ है, भाव्य अर्थात् इष्ट स्वर्ग आदि विषयक भावक (कर्ता) का व्यापार। (६) वाक्य का अर्थ शब्द भावना अर्थात् विधि है। यह शब्द का व्यापार है। शब्दभावना शब्द का कार्य और शब्द का वाच्य है। (७) वाक्य का अर्थ नियोग है। नियोग का अभिप्राय है प्रेरणा। पाणिनि ने लिङ् के निमन्त्रण आमन्त्रण आदि जो अर्थ बताए हैं, वे प्रेरणा के ही अवान्तर भेद हैं। समान, हीन या उत्कृष्ट जैसे के लिए उसका प्रयोग किया जाता है, उसी के अनुसार निमन्त्रण आमन्त्रण आदि में भेद करके व्यवहार किया जाता है। प्रेषणा या प्रेरणा सब में विद्यमान रहती है। अतः कहा गया है कि प्रवर्तकता (प्रेरणा) शब्द का अर्थ है। क्योंकि उसे कहीं पर नहीं छोड़ा जा सकता है। (८) वाक्य का अर्थ उद्योग है। यजेत (यज्ञ करना चाहिए) आदि विधिलिङ् वाले शब्दों के सुनने पर जो आत्मा में स्पन्द विशेष होता है, उसे उद्योग कहते हैं। जयन्त ने इस पर विचार करते हुए कहा है कि आत्मा के स्पन्दन का वाक्यार्थ मानने वालों का क्या अभिप्राय है, ठीक ज्ञात नहीं होता है। यदि आत्मस्पन्दन का अर्थ बुद्धि है, तो इसका अर्थ है कि प्रतिभा वाक्य का अर्थ है, और कोई नई बात नहीं हैं। यदि आत्मस्पन्दन का अर्थ प्रयत्न है तो यह भावना का ही दूसरा नाम उद्योग हुआ। यदि इच्छा या द्वेष में से कोई एक है तो सुख की इच्छा या दुख के छोड़ने की इच्छा यह इसका अर्थ होगा। उस अवस्था में जो नैयायिकों का मत है कि फल वाक्य का अर्थ है, वही इसका अर्थ होगा। यदि आत्मस्पन्दन का अर्थ व्यापार, जैसा कि कुमारिल भट्ट मानते हैं, अर्थ है तो वह भी भावना ही हुई। यदि उद्योग है अनुष्ठान के योग्य प्रेरक कोई अर्थ, तो यह नियोग ही होता है। इसमें केवल नि के स्थान पर उपसर्ग बदल दिया गया है। वस्तु में कोई अन्तर नहीं पड़ता है। अन्त में जयन्त का कथन है कि वाक्य का उद्योग यह सर्वथा अश्रुतपूर्व बात है। (९) वाक्य का अर्थ प्रतिभा है। (१०) जयन्त ने अन्य मतों का खण्डन करके नैयायिकों के मतानुसार वाक्य का अर्थ फल को सिद्ध किया है।

जयन्त ने उक्त विवेचन के मध्य में ही निम्न मतों का भी उल्लेख किया है। (१) वाक्य का अर्थ बाह्य वस्तु नहीं हो सकती है. अतः पदार्थ के साथ संसर्ग का जिसमें आभास होता है, ऐसा ज्ञान वाक्यार्थ है। (२) पदार्थों का परस्पर सम्बन्ध वास्तविक है, अतः वाक्य का अर्थ बाह्य वस्तु ही है। (३) वाक्य का अर्थ व्यवच्छेद अर्थात् अन्य की आवृत्ति है जैसे शुक्ल शब्द के उच्चारण करने पर कृष्ण आदि की निवृत्ति हो जाती है।

जयन्त के विवेचन का कुछ आवश्यक अंश आगे भर्तृहरि के वाक्यार्थ के विवेचन के बीच में यथास्थान दिया जायगा।

वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में भर्तृहरि का मत

वाक्य के आठ लक्षण—वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में जितने भी मत हैं, उनका बहुत विस्तार से विवेचन भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के पूरे द्वितीय काण्ड में किया है। उन्होंने वाक्य के जितने लक्षण किये हैं, उनको आठ भागों में विभक्त किया है। वाक्य के विषय में प्राचीन आचार्यों के आठ मत थे, वे निम्न हैं :—

आख्यातशब्दः संघातो जातिः संघातवर्तिनी।
एकोऽनवयवः शब्दः क्रमो बुद्ध्यनुसंहृतिः॥
पदमाद्यं पृथक्सर्वपदं साकांक्षमित्यपि।
वाक्यं प्रति मतिर्भिन्ना बहुधा न्यायवादिनाम्॥
(वाक्य० २, १—२)।

(१) क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं। (२) क्रिया तथा उसके साथ कारक आदि के समूह को वाक्य कहते हैं। (३) क्रिया कारक आदि के समूह में रहने वाली जाति अर्थात् अखण्ड और नित्य अंश है, उसको वाक्य कहते हैं। (४) क्रिया आदि के एक अखण्ड (नित्य) समूह शब्द अर्थात् स्फोट को वाक्य कहते हैं। (५) क्रिया आदि के एक विशेष क्रम को वाक्य कहते हैं। (६) क्रिया आदि के अखण्डनीय बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं। (७) आकांक्षा से युक्त पहले ही पद शब्द को वाक्य कहते हैं। (८) आकांक्षा से युक्त पृथक्-पृथक् सारे पदों को ही वाक्य कहते हैं।

अव्याप्ति का निराकरण—पुण्यराज ने उक्त श्लोकों की व्याख्या में यह प्रश्न उठाया है कि भर्तृहरि ने जो आठ वाक्य के लक्षण दिये हैं, इनमें वार्तिककार कात्यायन और जैमिनि के वाक्य के लक्षणों का समावेश नहीं होता है। कात्यायन ने वाक्य का जो लक्षण किया है वह पहले दिया जा चुका है कि आख्यात अर्थात् क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं, उसके साथ अव्यय, कारक और विशेषण में से एक या सभी रह सकते हैं। दूसरा लक्षण यह दिया है कि एक तिङन्त पद अर्थात् एकार्थक तिङन्त पद को वाक्य कहते हैं।

वाक्य के विषय में मीमांसकों का मत—जैमिनि ने मीमांसा सूत्रों में वाक्य का लक्षण किया है कि एकार्थक पदों के समूह को वाक्य कहते हैं, किन्तु जब उनका विभाग किया जाए तो उनके अन्तर्गत पद आकांक्षा युक्त होने चाहिए। शबर स्वामी ने भी वाक्य का लक्षण किया है कि एकार्थक पदों के समूह को वाक्य कहते हैं।

अर्थैकत्वादेकं वाक्यं साकांक्षं चेद् विभागेस्यात्।

मीमांसा सूत्र २, १, ४६।

एकार्थः पदसमूहो वाक्यम्। शबरभाष्य, पूर्ववत्।

भर्तृहरि ने मीमांसकों के लक्षण को स्पष्ट करते हुए निम्न रूप से रखा है, एकार्थक अर्थात् एक प्रयोजन (उद्देश्य) वाले पदों को वाक्यसमूह कहते हैं। गुणवाचक पद अर्थात् विशेषण या क्रियाविशेषण भी होने चाहिए। क्रियाबाचक पद की मुख्यता होनी चाहिए। वाक्य में क्रिया का अर्थ ही मुख्यरूप से कहा जाता है, अतः वाक्य को कर्मप्रधान अर्थात् क्रियापद प्रधान कहते हैं। वाक्य अखण्ड अवस्था में किसी अन्य शब्द पद की आकांक्षा न करते हों, किन्तु खण्ड या विभाग की अवस्था में विशेष जिज्ञासा होने पर उसके अवयव साकांक्ष होने चाहिए। पुण्यराज।

साकांक्षावयवं भेदे परानाकांक्षशब्दकम्।
कर्मप्रधानं गुणवदेकार्थं वाक्यमिष्यते॥

वाक्य० २, ४।

मीमांसकों ने वाक्य के लक्षण को अन्य प्रकार से भी उपस्थित किया है कि आकांक्षा योग्यता और सन्निधि (आसक्ति) के कारण परस्पर समन्वय से युक्त पदों के समूह को वाक्य कहते हैं। इस संसर्ग (मेल) को ही वाक्यार्थ कहते हैं।

पदसंघात एवाकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् परस्परसमन्वितो वाक्यं, संसर्गश्च वाक्यार्थः। पुण्यराज, वाक्य० २, १५।

पुण्यराज ने कात्यायन और जैमिनि के लक्षणों के विषय में कहा है कि इनका संघातपक्ष अर्थात् भर्तृहरि के द्वितीय लक्षण में समावेश हो जाता है, अतः भर्तृहरि ने इनका पृथक् उल्लेख नहीं किया है।

अखण्डपक्ष और खण्डपक्ष

आठ लक्षणों का विभाजन—पतञ्जलि के विवेचन का उल्लेख करते हुए यह लिखा गया है कि दो पक्ष हैं. एक आवृत्तिपक्ष अर्थात् अखण्डपक्ष और दूसरा वृत्तिपक्ष अर्थात् खण्डपक्ष। वृत्तिपक्ष भी दो प्रकार का है, जहत्स्वार्था और अजहत्स्वार्था। पुण्यराज ने भर्तृहरि के भाव को स्पष्ट करने के लिए वाक्य के आठ लक्षणों को पहले दो भागों में विभक्त किया है, एक अखण्ड और दूसरा खण्ड। खण्डपक्ष को भी दो भागों में विभक्त किया है, (१) अभिहितान्वय, (२) अन्विताभिधान। पुण्यराज ने आगे लक्षणों को निम्नप्रकार से रक्खा है। पुण्यराज, वाक्य० २, १।

१—अखण्डपक्षः—(क) संघातवर्तिनीजाति (ख) अनवयव शब्द (ग) बुद्धि में अनुसंहृति।

२—अभिहितान्वयः—(घ) संघात, (ङ), क्रम।

३—अन्विताभिधानः—(च) आख्यातशब्द, (छ) प्रथम पद, (ज) साकांक्ष सारे पद।

उक्त विभाजन के अनुसार ३ लक्षण अखण्ड पक्ष में हैं, और पांच खण्ड-पक्ष में हैं।

वाक्य छः प्रकार का है

छः प्रकार का वाक्यार्थ—भर्तृहरि ने आठ प्रकार के वाक्यों के छः प्रकार के वाक्यार्थ लिखे हैं। विवेचन से पूर्व यहाँ पर उनका संक्षेप में उल्लेख पुण्यराज के अनुसार निम्न है:—

अखण्डपक्ष के तीनों लक्षणों में वाक्यार्थ प्रतिभा है, संघात और क्रम दोनों पक्षों में वाक्यार्थ संसर्ग है। संघात पक्ष में प्रकारान्तर से अभिहितान्वय पक्ष का प्रतिपादन करने पर संसर्ग के कारण विशेष अर्थ में अवस्थित किन्तु निराकांक्ष पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। अन्विताभिधान के दो पक्षों अर्थात् प्रथम पद और साकांक्ष सारे पद का संसृष्ट अर्थ अर्थात् पदों का समन्वित अर्थ वाक्यार्थ होता है। आख्यात, प्रयोजन, तात्पर्य, उद्देश्य। प्रयोजन के विषय में पुण्यराज का कथन है कि कुछ आचार्यों का मत है कि प्रयोजन सारे ही वाक्यार्थों में रहता है, अतः इसको पृथक् वाक्यार्थ नहीं गिनना चाहिए। इस प्रकार से वाक्यार्थ निम्न हैं:—

(१) प्रतिभा (२) संसर्ग (३) संसर्ग के कारण विशेषार्थक किन्तु निराकांक्ष पदार्थ (४) संसृष्ट अर्थ (५) क्रिया (६) प्रयोजन।

संसर्ग और संसर्ग के कारण विशेषार्थक पदार्थ को वाक्यार्थ मानने पर अभिहितान्वय पक्ष होता है। संसृष्ट अर्थ क्रिया का वाक्यार्थ मानने में अन्विता-भिधानपक्ष होता है। प्रतिभा वाक्यार्थ मानने पर एक प्रकार का ही ज्ञान होता है, अतः वहाँ पर अभिहितान्वय और अन्विताभिधान का काम नहीं पड़ता। प्रयो-जन में अभिहितान्वयपक्ष होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १ - २।

वाक्यार्थ की संख्या में न्यूनता का परिहार—पुण्यराज ने इस विषय पर विचार किया है कि भर्तृहरि ने वाक्यार्थ केवल छः प्रकार का लिखा है, परन्तु वाक्यार्थ के विषय में अन्य आचार्यों के और भी मत हैं उनका उल्लेख भर्तृहरि ने नहीं किया है, इसका क्या कारण है। इस प्रश्न का पुण्यराज ने निम्न रूप से उत्तर दिया है :—

भर्तृहरि ने विधि, नियोग और भावना इन तीन वाक्यार्थों का निरूपण नहीं किया है। इनमें से भावना के विषय में उत्तर यह है कि भर्तृहरि ने क्रिया की वाक्यार्थता का निरूपण किया है। भावना और क्रिया में प्रायः समानार्थकता

ही देखी जाती है। (देखें, भूषणकारिका १ तथा ५)। इस विषय में वैयाकरणों और मीमांसकों में विवाद केवल इस बात पर है कि वे क्रिया को प्रकृति अर्थात् धातु का अर्थ मानते हैं और मीमांसक उसे प्रत्यय का अर्थ मानते हैं। दूसरा दोनों मतों में अन्तर यह है कि भावना सकर्मक ही होती है किन्तु क्रिया अकर्मक और सकर्मक दोनों होती है। यद्यपि उक्त रूप से दोनों मतों में क्रिया और भावना के विषय में भेद है तथापि दोनों मतों के अनुसार साध्य क्रिया ही है, अतः दोनों में अभिन्नता है। जैसे धातु की अर्थरूप क्रिया साध्य है, वैसे ही भावना भी साध्य है अतः अवान्तर भेद से दोनों में भेद कैसे किया जा सकता है। विधि और नियोग के विषय में यह उत्तर है कि विधि या नियोग केवल ऐसे ही वाक्यों के अर्थ होते हैं, जिनमें लिङ् (विधिलिङ्) लोट् या कृत्य प्रत्ययान्त क्रिया होती है। इनका विषय व्यापक नहीं है, अतः इन दोनों का उल्लेख नहीं किया गया है। (पुण्यराज) वाक्य० २, १—२।

वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में बौद्धों का मत—पुण्यराज ने वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में बौद्धों के मत का भी उल्लेख किया है और कहा है कि बौद्धों का वाक्य का लक्षण बुद्धि में अनुसंहृत लक्षण में आ जाता है तथा उनके मत के अनुसार जो वाक्यार्थ होता है, उसका प्रतिभा में समावेश हो जाता है। पुण्यराज ने दोनों का स्वरूप निम्नरूप से दिया है :—

विशिष्ट अनादि वाक्यार्थ विषयक विकल्पों के द्वारा निहित वासना के प्रबोध से उत्पन्न होने वाला, क्रमहीन किन्तु क्रमयुक्त सा प्रतीत होने वाले, बाह्यरूप में अध्यासयुक्त (अतथ्यरूप से दृश्य) पदार्थों से चित्रित किया हुआ सा, विकल्प विशेष के कारण जिसका उल्लेख किया जाता है, ऐसा विभाग रहित बाह्यरूप में अध्यासयुक्त प्रतीत होने वाला वाक्य कहाता है। (पुण्यराज, वाक्य २, १—२।

नैयायिकों का मत - नैयायिकों के मत को भी पुण्यराज ने वैयाकरणों के दृष्टिकोण से उपस्थित किया है कि उनका वाक्य और वाक्यार्थ का लक्षण प्रायः उपर्युक्त संसर्ग पक्ष के अन्तर्गत ही आ जाता है। पुण्यराज ने उनका मत निम्न रूप से दिया है : -

पूर्व-पूर्व वर्ण की स्मृति के सहयोग से अन्तिम वर्ण, जिसमें कि विनाश की अवस्था का अनुभव किया जाता है, पद होता है। इसी प्रकार पूर्व-पूर्व पद की स्मृति के सहयोग से अन्तिम पद, जिसमें कि विनाश की अवस्था का अनुभव किया जाता है, वाक्य होता है।

पूर्व-पूर्व पदार्थ के स्मरण के सहयोग से अन्तिम पद के द्वारा उत्पन्न होने वाली प्रतीति को वाक्यार्थ कहते हैं।

पुण्यराज का कथन है कि भर्तृहरि के ८ वाक्य के लक्षणों तथा ६ वाक्य के अर्थों में प्रायः सभी सिद्धान्तों का समावेश हो जाता है। पुण्यराज। वाक्य० २,१–२।

वाक्य और वाक्यार्थ का सम्बन्ध

वाक्य और वाक्यार्थ का सम्बन्ध, विभिन्न मत—जिस प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में मतभेद है, उसी प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ के सम्बन्ध के विषय में भी पर्याप्त मतभेद हैं। पुण्यराज ने उनको संक्षेप में निम्न रूप से रक्खा है :—

१, वाक्यस्फोटवादी वैयाकरणों के मत में, जो कि वाक्य को अखण्ड एक नित्य और स्फोट रूप मानते हैं तथा वाक्य का अर्थ प्रतिभा मानते हैं, वाक्य और वाक्य के अर्थ का अध्यासरूप (तादात्म्य) सम्बन्ध है। अतएव उनके मतानुसार कहा है कि वाक्य के स्वरूप का वाक्यार्थ में ज्ञान अन्य की अपेक्षा किए बिना ही होता है।

२, अन्य पक्षों में मीमांसकों के दृष्टिकोण से शब्द और अर्थ में योग्यता नामक सम्बन्ध है। इस योग्यता का स्वरूप है वाच्य-वाचक भाव।

३, बौद्ध दर्शन के अनुसार विज्ञानवाद सिद्धान्त मानने पर शब्द और अर्थ दोनों बुद्धि में रहते हैं, अतः दोनों में सर्वत्र कार्य कारण का सम्बन्ध होता है। जो कि वाक्यार्थवादी (बाह्यसत्तावादी) हैं, उनके मतानुसार वाक्य और वाक्यार्थवाद में सांकेतिक सम्बन्ध है।

४, नैयायिकों आदि के अनुसार वाक्य और वाक्यार्थ में सांकेतिक ही सम्बन्ध है।

पुण्यराज ने इस विषय में वैयाकरणों के मत का स्पष्ट उल्लेख किया है कि वे अखण्ड एक नित्य स्फोटरूपी शब्द को वाक्य मानते हैं। प्रतिभा ही वाक्य का अर्थ है, और अध्यास (तादात्म्य) सम्बन्ध है। वाक्य० २, १–२।

वाक्यस्फोट और पदस्फोट के प्रश्न का मूल

तैत्तिरीयसंहिता और ऋक्प्रातिशाख्य के वचन—भर्तृहरि ने इस प्रश्न के मूल पर विचार किया है कि यह प्रश्न कहाँ से और क्यों उठा है। तैत्तिरीय संहिता में एक वचन आता है कि वाणी सर्वप्रथम अव्याकृत अर्थात अखण्ड रूप में थी।

वाग्वै पराच्यव्याकृता। तैत्तिरीय, ६, ४, ७।

सर्वप्रथम वेद संहिता अर्थात् अखण्ड वाक्य के रूप में थे, उनका बाद में विभाजन किया गया है। ऋक्प्रातिशाख्य ने इस बात को निम्नरूप में रक्खा है।

पदप्रकृतिः संहिता । ऋक् प्राति० २, १ ।

भर्तृहरि ने उल्लेख किया है कि ऋक्प्रातिशाख्य के इस वचन के आधार पर दो मतों का प्रादुर्भाव हुआ । एक अखण्डवादी अर्थात् वाक्यवादी या दूसरे शब्दों में वाक्यस्फोटवादी तथा दूसरे खण्डवादी अर्थात् पदवादी या पदस्फोटवादी। इन दोनों पक्षों के मतभेद का आधार यह था कि प्रातिशाख्य के इस वचन का क्या भाव है, पदप्रकृति को संहिता अर्थात् वेद (वाक्य) कहते हैं 'पदप्रकृति" शब्द के दो अर्थ हो सकते हैं, एक षष्ठी तत्पुरुष समास से और दूसरा बहुव्रीहि से। वाक्यवादियों का कथन है कि पहले अभेद (एकता) होता है, फिर भेद (अनेकता, पद) होता है, पहले वाक्य होते हैं, फिर पद होते हैं । अतः उन्होंने पदप्रकृति में षष्ठी तत्पुरुष समास बताया है और कहा है कि 'पदानां प्रकृतिः' पदों के प्रकृति (मूल) को संहिता (वेद-वाक्य) कहते हैं । वैयाकरणों का यही मत है । मूल रूप से स्फोटवादी वैयाकरणों को भी कहते हैं, क्योंकि स्फोटवाद का अर्थ है वाक्यवाद या अखण्डवाद । मीमांसक पदवाद अर्थात् पदों को मौलिक मानते हैं, उनका मत है कि पहले भिन्नता रहती है, फिर एकता होती है । पहले पद होते हैं, उनसे वाक्य बनते हैं । उन्होंने पदप्रकृति में बहुव्रीहि समास करके इसका अर्थ किया है कि "पदानिप्रकृतिर्यस्याः संहितायाः" (जिसके मूल कारण पद हैं, उसको संहिता अर्थात् वाक्य कहते हैं) इस पर भर्तृहरि ने ध्यान आकृष्ट किया है कि पतञ्जलि ने वैयाकरणों को पदकार शब्द से सम्बोधित किया है, उसका अर्थ यह है कि वैयाकरण वाक्यों में से पदों का विभाजन करते हैं। वे वेद की संहिताओं का पदपाठ बनाते हैं । यदि पद मौलिक हो तो वैयाकरणों को पदकार न कहकर पतञ्जलि वाक्यकार नाम से सम्बोधित करते । वाक्य० २, ५८—६० ।

पदानां संहिता योनिः संहिता वा पदाश्रया । वाक्य० २, ५९ ।

दुर्गाचार्य ने भी (निरुक्त १, १७) की व्याख्या में इस पर विचार किया है और कहा है कि संहिता अर्थात् वाक्य को मूल मानना अधिक उचित है । मन्त्र की जब अभिव्यक्ति होती है, तब वह मन्त्रद्रष्टा ऋषि को संहिता अर्थात् वाक्य रूप में ही अभिव्यक्त होते हैं, पदों के रूप में नहीं । अतएव वेद विद्वान् सर्वप्रथम संहिता को ही पढ़ाते हैं और उसी प्रकार पढ़ने वाले पढ़ते हैं। यज्ञ सम्बन्धी कार्यों में मन्त्रों का संहिता रूप में विनियोग होता है, पदों के रूप में नहीं ।

पाणिनि का मत—यास्क (निरुक्त, १, १७) तथा पाणिनि ने संहिता का दूसरा लक्षण दिया है कि अत्यन्त सामीप्य अर्थात् अव्यवधान को संहिता (वाक्य) कहते हैं ।

परः संनिकर्षः संहिता । अष्टा० १, ४, १०९ ।

अत्यन्त अव्यवधान वाक्य में ही होता है, पद में नहीं । अतः वाक्य को पद का कारण माना जाता है ।

अखण्डपक्ष और वाक्य के लक्षण

स्फोट का अर्थ भट्टोजिदीक्षित ने स्फोट शब्द को सार्थक बताते हुए शब्द कौस्तुभ में इसका अर्थ किया है कि जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है अर्थात् अर्थ-बोधक को स्फोट कहते हैं।

स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति व्युत्पत्त्या स्फोट इति स्थितम्। कौस्तुभ पृ० १२।

स्फोट के तीन भेद—पतञ्जलि ने महाभाष्य के प्रारम्भ में शब्द का लक्षण करते हुए कहा है कि जिसके उच्चारण से सींग पूँछ आदि से युक्त वस्तु का ज्ञान होता है, उसे शब्द कहते हैं। पुण्यराज ने अखण्ड पक्ष का विवेचन करते हुए कहा है कि स्फोट शब्द है, और ध्वनि शब्द का गुण है। स्फोट भी दो प्रकार का है, एक बाह्य और दूसरा आभ्यन्तर। इनमें से बाह्य दो प्रकार का है एक जाति और दूसरा व्यक्ति। अखण्ड पक्ष में वाक्य के तीन लक्षण बताए गए हैं। उनमें से जातिस्फोट का प्रतिपादन 'संघातवर्तिनीजाति" करता है। व्यक्ति स्फोट का प्रतिपादन "एक अखण्डशब्द" करता है, और आभ्यन्तर स्फोट का निरूपण 'बुद्धि में अनुसंहृति" करता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १—२।

अखण्ड पक्ष का भाव, (वाक्य एक और अखण्ड है)

अखण्डपक्ष या स्फोटवाद के आधार पर भर्तृहरि वाक्य का जो स्वरूप बताना चाहते हैं, वह भर्तृहरि तथा उनके व्याख्याकार पुण्यराज के शब्दों में निम्न है :—

चित्र ज्ञान अखण्ड है—भर्तृहरि ने चित्र के ज्ञान का उदाहरण देकर इसको स्पष्ट किया है कि चित्र का ज्ञान सारे आकारों से युक्त होते हुए भी एक ही होता है। उस एक चित्र ज्ञान का दृश्य वस्तु में भेद के कारण भेद किया जाता है। नीला, पीला आदि अनेक आकारों से युक्त चित्र का ज्ञान होता है। वस्तुतः देखा जाए तो ज्ञान में आकारों का भेद नहीं होता है। इसी प्रकार वाक्य और वाक्यार्थ का स्वरूप है। वाक्य और वाक्यार्थ दो पदार्थ नहीं हैं, अपितु वे अखण्ड हैं, जैसे पेय पदार्थ का रस, मोर के अंडे का तरल भाग, चित्रका रूप, नरसिंह वा गाय के चित्र का ज्ञान अखण्ड है, इसी प्रकार अखण्ड स्फोटरूप वाक्य वाचक है और उससे अभिन्न वाक्यार्थ वाच्य है। वाक्य० १, ७।

चित्र एक है—जिस प्रकार चित्र-ज्ञान अखण्ड है उसी प्रकार बाह्य चित्र भी अखण्ड है। चित्र एक होता है, उसमें वस्तुतः खण्ड नहीं होते हैं, किन्तु उसके अवयवों के भेद नीले पीले आदि के आधार पर उसे पृथक्-पृथक् रूप से नीला पीला आदि कहा जाता है। इसी प्रकार वाक्य भी अखण्ड और एक होता है,

उसमें किसी प्रकार का भेद नहीं रहता है। अन्य वाक्यों में जो पदों को देखते हैं, उसके आधार पर वाक्य में पदों की सत्ता मानते हैं। वाक्य० २,८–९।

वाक्य में पद कल्पित हैं—जिस प्रकार अखण्ड पद में प्रवृत्ति और प्रत्यय की कल्पना करते हैं, वस्तुतः वह असत्य है और केवल बालकों को बोध कराने के लिए होती है, उसी प्रकार वाक्य में पदों की कल्पना की जाती है। उसमें से पदों का अपोद्धार (विश्लेषण पृथक्करण) करते हैं, जिससे वाक्य में वाक्य के अर्थ का बोध कराया जाए।

यथा पदे विभज्यन्ते प्रकृतिप्रत्ययादयः।
अपोद्धारस्था वाक्ये पदानामुपवर्ण्यते ॥

वाक्य० २, १०।

भर्तृहरि ने इसका स्पष्ट करने के लिए उदाहरण दिया है कि जिस प्रकार सन्ध्यक्षरों अर्थात् ऐ औ में अ इ और अ उ स्वरों की सत्ता ज्ञात होती है, वस्तुतः ऐ और औ स्वर इन विभागों से पृथक् स्वतन्त्र स्वर वर्ण है। इसी प्रकार वाक्य में अन्य पदों के सदृश पदरूढ़ विभाग ज्ञात होते हैं। वस्तुतः वाक्य की सत्ता पदों से पृथक् और स्वतन्त्र है। वृषभ (बैल) यावक (जौ का बना हुआ पदार्थ) शब्दों में प्रत्येक वर्ण वृ ष और भ आदि का कोई अर्थ नहीं है। जिसके संयोग से ये सार्थक शब्द बनते हैं, अपितु इनके विभाग वर्ण आदि अनर्थक हैं, तो प्रकृति और प्रत्यय का विभाजन कैसे होता है। इसका उत्तर दिया है कि अन्वय और व्यतिरेक के आधार पर प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना की जाती है। अन्वय और व्यतिरेक ही समस्त व्यवहारों के मूल हैं। वस्तुतः वाक्य में से पद की और पद से प्रकृति-प्रत्यय की पृथक् सत्ता नहीं है। वाक्य० २, ११—१२।

भागैरनर्थकैर्युक्ता वृषभोदकयावकाः।
अन्वयव्यतिरेकौ तु व्यवहार निबन्धनम् ॥

वाक्य० २, १२।

वाक्यार्थ अखण्ड है—स्फोटात्मक शब्द का कोई विभाग नहीं है, वह अखण्ड है उसका वाच्य अर्थ प्रतिभा है, उसका विभाजन कैसे हो सकता है। जिस प्रकार अविद्वान् को समझाने के लिए वाक्य में से पदों को पृथक् करके उनका अर्थ बताया जाता है, उसी प्रकार पदों के अनुरोध से पदार्थ और विभिन्न वाक्यों के अनुरोध से वाक्यार्थ में विभाग की कल्पना की जाती है। अविद्वान् व्यक्ति उनके विभाग से प्रक्रिया भेद और प्रक्रिया भेद से अर्थभेद को सत्य समझ लेता है, वस्तुतः विभाग प्रक्रिया भेद और अर्थभेद असत्य और काल्पनिक है। लोक व्यवहार के लिए इस प्रकार का काल्पनिक विभाजन किया जाता है। पुण्यराज।

शब्दस्य न विभागोऽस्ति कुतोऽर्थस्य भविष्यति ।
विभागैः प्रक्रियाभेदमविद्वान् प्रतिपद्यते ॥
वाक्य० २, १३।

वाक्यार्थ में पदार्थ का अभाव—जिस प्रकार ब्राह्मणकम्बल (ब्राह्मण के लिए कम्बल) इस समास हुए पद में समस्त पद का एक अर्थ है । ब्राह्मण शब्द का कोई पृथक् अर्थ नहीं है, क्योंकि उसका समस्त पद में पृथक् अस्तित्व नहीं है, इसी प्रकार "देवदत्त गामभ्याजं शुक्लां दण्डेन" (हे देवदत्त, सफेद गाय को डंडे से हांक दो) आदि वाक्यों में देवदत्त आदि पदों का कोई पृथक् अर्थ नहीं है । अतएव वाक्य में पदों को अनर्थक माना जाता है

ब्राह्मणार्थे यथा नास्ति कश्चित् ब्राह्मणकम्बले ।
देवदत्तादयो वाक्ये तथैव स्युरनर्थकाः ॥
वाक्य० २, १४ ।

अखण्ड वाक्यवादियों में भी तीन मत हैं । इस विभिन्नता का कारण प्रतिभा की विभिन्नता है । एक अखण्ड वाक्य स्फोट विभिन्न आचार्यों ने तीन विभिन्न दृष्टिकोण से देखा है, अतः विभिन्नता है । इनमें से दो वाक्य को वाह्य सत्ता मानते हैं, एक नित्यजातिवादी और दूसरे व्यक्तिवादी । उन दोनों का मत संक्षेप में निम्न है :–

(१) वाक्य एक और अखण्ड शब्द है ।

(२) पद-समूह में रहने वाली जाति को वाक्य कहते हैं ।

१—वाक्य एक अखण्ड शब्द है—व्यक्ति स्फोट को मानकर वाक्य को अखण्ड मानने वाले वैयाकरणों का कथन है कि वाक्य ((शब्द और अर्थ वाक्य और वाक्यार्थ) में कोई अवयव और अंश नहीं होते हैं । वह निरंश और अभिन्न वाक्य ही वाचक है । उसमें जो भेद का आभास होता है, वह उपाधि (भ्रम) के कारण है । उपांशु (मौन उच्चारण) परम उपांशु (अत्यन्त मौन शब्दोच्चारण) व्यक्त, व्यक्ततर (स्पष्ट, स्पष्टतर) विलम्बयुक्त, अधिक विलम्बयुक्त, शीघ्र अतिशीघ्र आदि का शब्द में जो आभास होता है, वह शब्द को अभिव्यक्त करने वाली ध्वनि के कारण होता है वस्तुतः शब्द (स्फोट) में कोई क्रम नहीं है, वह अक्रम है । शीघ्र विलम्ब आदि आभास उपाधि के कारण होता है, अतएव बुद्धि (प्रतिभा) विस्तृत और व्यापक हुई सी प्रतीत होती है । पुण्यराज, वाक्य० २, १६ ।

२—पदसमूहगत जाति वाक्य है—पदसमूह में रहने वाली जाति को वाक्य मानने वालों का कथन है कि शब्द जाति रूप है, नित्य है, वह पदसमूह में

रहता है, उदाहरण के लिए भ्रमण एक क्रिया है, विशेष प्रयत्न के द्वारा उत्पन्न पादसंचालन से उसकी अभिव्यक्ति होती है। क्रिया प्रत्येक पैर के रखने के साथ समाप्त हो जाती है। उस समाप्ति को पास बैठा हुआ व्यक्ति नहीं जान पाता। वस्तुतः प्रत्येक पैर के रखने के साथ समाप्त होने वाली क्रिया जाति रूप भ्रमण क्रिया का अंग है। कई बार भ्रमण करने पर भ्रमण करने वाले को, भ्रमण एक क्रियात्मक जाति है, यह ज्ञात होता है। इसी प्रकार वर्ण, पद और वाक्यों में वर्ण पद और वाक्यात्मक स्फोट की अभिव्यक्ति करने वाली श्रवण क्रिया अर्थात् ध्वनि है। ध्वनि स्फोट से अत्यन्त भिन्न है तथापि ध्वनि एक ही कंठ, तालु आदि स्थान और करणों के संघर्ष से उत्पन्न होती है, अत. उसमें स्फोट से अत्यन्त विभिन्नता होते हुए भी समानता प्रतीत होती है। भिन्न प्रयत्न से उच्चारित ध्वनि से व्यक्त होने वाला जातिस्फोट (नित्य वाक्य) विलक्षण ही जानना चाहिए। अतएव पुण्यराज कहते हैं कि ऐसा मानना ठीक है। अखण्डस्फोट में पौर्वापर्य क्रम व्यक्ति स्फोट में रहने वाली जातिस्फोट रूपी उपाधि के कारण ही हो सकता है, अन्यथा नहीं, क्योंकि वाक्य रूपी अखण्डव्यक्ति स्फोट नित्य है। पुण्यराज, वाक्य० २, २०—२१।

शक्तिभेद से पदभेद—नित्य पदार्थ में पहले या बाद में इस प्रकार का पौर्वापर्य वस्तुतः असम्भव है। उपाधि भेद से यह क्रम प्रतीत होता है। इस पर यह प्रश्न हो सकता है कि सर्वदा वह एक जैसा ही क्यों प्रतीत नहीं होता है, क्योंकि नित्य में स्वभावभेद नहीं हो सकता है। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि एक स्वभाव वाले में भी अनेक शक्तियों के रहने के कारण ऐसा होता है। शब्द का यह स्वभाव है कि उसमें ध्वनि रूप शक्ति जो कि नाना रूप है, रहती है। वाक्य २, २२।

इसको स्पष्ट करने के लिए भर्तृहरि ने उदाहरण दिया है कि काल एक है, उसमें भेद नहीं है तथापि ज्ञेय वस्तु के आधार पर शीघ्र या विलम्ब ऐसा भिन्न काल का सूचक ज्ञात होता है। इसी प्रकार शब्द (स्फोट) ना ह्रस्व है और न दीर्घ, उसमें ध्वनि के आधार पर ह्रस्व और दीर्घ का भेद कर दिया जाता है। शब्द (वाक्य, स्फोट) में न भेद है और न ध्वनि के आधार पर वस्तुतः उसमें भेद होता है। वाक्य० २, २३।

नित्य और उपाधिभेद से भेद—इसपर यह प्रश्न उठाया गया है कि नित्य पदार्थ को उपाधिभेद से भिन्न नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि ऐसा कहने से उसमें स्वभावभेद मानना पड़ेगा। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि काल को नित्य माना गया है। वह एक और अखण्ड है। यदि उपाधिभेद से नामभेद नहीं माना जाएगा तो एक काल को ही क्षण, लव, (दो क्षण) निमेष, मास, वर्ष आदि का व्यवहार कैसे बन सकता है, यदि परमाणु आदि के धर्मभेद से काल

भेद को गौण रूप से स्वीकार किया जाता है तो अखण्ड वाक्य में भी उपाधिभेद से भेद की कल्पना स्वीकार करनी चाहिए। पुण्यराज, वाक्य० २, २४।

यदि कहा जाए कि हम काल को नित्य एक आदि गुणों से युक्त पृथक् नहीं मानते हैं। स्वभाव से ही भिन्न पदार्थों की मात्राएँ जो कि आगे पीछे रहती हैं, काल कहाती हैं। उसको मानकर क्रम का व्यवहार होता है। नित्य काल को मानकर नहीं। इसका उत्तर देते हैं कि आगे पीछे होने वाले पदार्थों की मात्राएँ (क्रियाएँ) उत्पत्ति और नाश होने वाली होती हैं उनमें कोई भी स्थिर या नित्य नहीं है। एक के बाद दूसरी क्रियाएँ नष्ट हो जाती हैं। उन नष्ट हुई क्रियाओं में न कोई क्रम हो सकता है और न उसके आधार पर काल का व्यवहार ही हो सकता है। पुण्यराज।

व्यावर्तिनीनां मात्राणामभावे कीदृशः क्रमः। वाक्य० २, २४।

अनित्य में क्रम नहीं हो सकता—यदि यह कहा जाए कि जैसा जो भी पदार्थ है, उसको ही मान कर जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह काल के व्यवहार (क्षण, लव) आदि को सिद्ध कर देगी। इसका उत्तर दिया है कि उन पदार्थों की क्रियाओं से जो बुद्धि उत्पन्न होती है, वह भी काल का व्यवहार नहीं कर सकती है, क्योंकि बुद्धि एक है। उसमें विभाग नहीं है। वह पौर्वापर्य व्यवहार को कैसे कर सकती है। वाक्य० २, २५।

वासना बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न—यदि यह कहा जाए कि बुद्धि विभिन्न सी होकर अपनी शक्ति के क्रम का ज्ञान करा देगी, क्योंकि वह अनुभव और वासना के कारण पदार्थों के क्रमशः उल्लेख के आधार पर उत्पन्न होती है अतएव काल व्यवहार भी हो जाएगा। भर्तृहरि ने इसका खण्डन किया है कि पदार्थों की मात्राओं से बुद्धि में अनुभव के कारण जो बीज रक्खा गया है, जिसको वासना कहते हैं, और जिसके स्वभाव को संस्कार कहते हैं, वह बुद्धि से भिन्न है या अभिन्न, यही दो मार्ग ही हो सकते हैं। यदि वह वासना उससे (बुद्धि से) भिन्न है, तो उसका बुद्धि से कोई सम्बन्ध नहीं होगा और उसके कारण क्रम आदि व्यवहार नहीं हो सकता है। यदि वासना बुद्धि से अभिन्न है तो वह एक और विभाग से रहित ही हो जाती है, अतः वह पदार्थ की मात्रा के तुल्य काल का व्यवहार कैसे करा सकती है। इस प्रकार से बुद्धि से वासना का अभिन्न या भिन्न मानने पर दोनों अवस्थाओं में बुद्धि का विभाजन नहीं किया जा सकता है अतः क्रम की सिद्धि नहीं हो सकती है। पुण्यराज, वाक्य० २, २५–२६।

वाक्य का वाक्यार्थ रूप में विवर्त—अतएव वाक्य (शब्दब्रह्म, परब्रह्म) क्रमरहित है, स्फोटरूपी नित्य है, वही अकेला वाचक है। वह पदार्थों की भावना

(सृष्टि की उत्पत्ति, पदार्थ की उत्पत्ति) के समय अपनी शक्ति के कारण क्रमयुक्त होकर पदार्थों को उत्पन्न करता है, क्योंकि उसमें यह शक्ति है कि वह क्रमयुक्त हो सके। अतएव वाक्यार्थ वाच्य रूप में परिणत होकर भेदरहित और अखण्ड ही रहता है। पदार्थों की उपाधि धर्म के कारण वह भिन्न सा प्रतीत होता है, वस्तुतः भिन्न नहीं है। पुण्यराज, वाक्य० २, २७।

३—बुद्धिगत समन्वय को वाक्य कहते हैं।

ज्ञानरूप शब्द का प्रकाश वाक्य—वाक्य को बाह्य मानकर उपर्युक्त व्यक्तिस्फोट या जातिस्फोट के रूप में वर्णन किया गया है। इस लक्षण का भाव यह है कि वाक्य आभ्यन्तरस्फोट है। अन्दर रहता है, अवयव रहित है, अखण्ड शब्दार्थमय है, ज्ञानरूप है, इसको ही ज्ञानतत्त्व या शब्दब्रह्म कहते हैं। इस एक आभ्यन्तर शब्दतत्त्व को जब ध्वनि के द्वारा बाहर प्रकाशित किया जाता है, तब उसे वाक्य कहा जाता है। इस पक्ष को मानने वालों का भाव यह है कि बुद्धिगत जो शब्दतत्त्व ब्रह्म) है, उसी की एकता को मानना चाहिए। वाक्य भी उसी को मानना चाहिए, उसके अतिरिक्त अन्य असत्य वाक्य जीव, प्रकृति, पद और वर्ण को मानने की क्या आवश्यकता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ३०।

वाक्यार्थ बुद्धि में रहता है—वाक्य बुद्धिगत मानने वाले आचार्यों का मत है कि न केवल वाक्य अपितु वाक्यार्थ भी अखण्ड है। वाक्यार्थ ही प्रतिभा है। उस वाक्यार्थ (प्रतिभा) की पदार्थों के द्वारा अभिव्यक्ति होती है। जिस प्रकार वाक्य बुद्धि में रहता है, उसी प्रकार वाक्यार्थ भी बुद्धि में रहता है। वाक्य और वाक्यार्थ दोनों को अन्दर ही मानने के कारण इन्हें "आन्तरवाक्यवादी" कहा जाता है। पुण्यराज।

अर्थभागैस्तथा तेषामान्तरोऽर्थः प्रकाश्यते।
वाक्य० २, ३१।

वाक्य और वाक्यार्थ में अभिन्नता—शब्द और अर्थ (वाक्य और वाक्यार्थ) वस्तुतः पृथक् नहीं हैं। ये दोनों एक आभ्यन्तर तत्त्व (शब्दब्रह्म परब्रह्म) के सम्बन्धी हैं। बाह्य जगत् में विद्यमान भिन्न से प्रतीत होते हैं। (पुण्यराज)। अतएव भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो अभिन्न अंश हैं।

एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक्स्थितौ।
वाक्य० २, ३१।

इस पक्ष पर एक प्रश्न उठाया गया है कि शब्द और अर्थ में वाच्य-वाचक भाव प्रसिद्ध है। वाच्य और वाचक का सम्बन्ध दो पृथक् पदार्थों में ही होता है,

अतः दोनों में अभिन्नता कैसे है। इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि एक शब्दतत्त्व जो कि अन्तरात्मा के रूप में सर्वदा विद्यमान है, उसकी शक्ति के भेद से उसके सम्बन्ध में भिन्नता प्रतीत होती है, वस्तुतः भिन्नता नहीं है। उसी सम्बन्ध में प्रकाश्यप्रकाशकभाव, कार्य कारण भाव, वाच्य वाचक भाव आदि नाम दिए गए हैं। उसकी शक्ति अनेकों हैं उस परमतत्त्व का आश्रय लेकर संसार का सारा व्यवहार चलता है। उसमें दो विरोधी तत्त्व अस्तित्त्व और नास्तित्त्व व्यवस्थित रूप से रहते हैं। उनमें क्रम नहीं है, परन्तु क्रम का आभास होता है। वाक्य० २, ३२—३३।

४—पदसमूह को वाक्य कहते हैं।

कात्यायन और मीमांसकों के लक्षण में अन्तर—कात्यायन और मीमांसकों के द्वारा प्रस्तावित वाक्य के लक्षण दिए जा चुके हैं। कात्यायन का मत है कि आख्यात (क्रिया शब्द) अव्यय, कारक और विशेषण के साथ या अकेला वाक्य रहता है। दूसरा लक्षण दिया है कि एक तिङन्त पद वाक्य होता है। मीमांसकों का मत है कि अर्थ की एकता होने पर वाक्य होता है, विभाग करने पर उसमें परस्पर आकांक्षा होनी चाहिए।

एक वाक्य में एक तिङन्त पद—भर्तृहरि ने विचार किया है कि दोनों लक्षणों में कुछ अन्तर है, या भेद भी है। भर्तृहरि ने दोनों लक्षणों में कुछ समानता होते हुए भी अन्तर होना बताया है। कात्यायन ने अनुदात्त आदि की व्यवस्था के लिए एक वाक्य में एक ही तिङन्त पद का होना बताया है। इसका परिणाम यह होता है कि कात्यायन के मत से जहाँ एक से अधिक तिङन्तपद होंगे, वहाँ उतने ही विभिन्न वाक्य माने जायँगे। मीमांसकों के मत से अर्थ अर्थात् प्रयोजन की एकता पर विशेष बल दिया गया है। उसके मतानुसार यदि अर्थ की एकता है तो एक से अधिक तिङन्त पद से युक्त को भी एक ही वाक्य कहेंगे। शास्त्रीय दृष्टि से कात्यायन का लक्षण भर्तृहरि ने अधिक अच्छा बताया है। दोनों लक्षणों की कितने ही वाक्यों में समानता है। दोनों के दृष्टिकोण से "शालीनां ते ओदनं दास्यामि' (तुझको चावलों का भात दूंगा), एक वाक्य है, क्योंकि एक क्रिया है, और एकार्थता है। परन्तु ओदनं पच, तव भविष्यति (भात पका, तेरा होगा), यह मीमांसकों के अनुसार दो क्रियापदों के होने पर भी एक वाक्य है, क्योंकि यहाँ प्रयोजन एक है। कात्यायन के मत से वहाँ दो वाक्य हैं, क्योंकि दो तिङन्त पद हैं। वाक्य० २, ३।

सम्बोधन भी वाक्य का अंग होता है—कात्यायन के वाक्य के लक्षण में एक त्रुटि यह आती है कि सम्बोधन पद की वाक्य में गणना नहीं हो सकती है, क्योंकि वह न अव्यय है, न कारक और न विशेषण। वैयाकरणों के मता-

नुसार सम्बोधन की गणना कारक से बाहर है, अतः सम्बोधन का वाक्य में समावेश नहीं होगा। जैसे व्रजानि देवदत्तः (क्या मैं जाऊँ देवदत्त) यह वाक्य नहीं होगा। भर्तृहरि ने इस शंका का समाधान किया है कि कात्यायन के लक्षण में त्रुटि नहीं है। कात्यायन ने विशेषण शब्द दिया है, वह विशेषण और क्रिया विशेषण दोनों के ग्रहण के लिए है। क्रिया विशेषण से युक्त क्रिया पद को भी वाक्य माना जाएगा। सम्बोधन को क्रिया विशेषण माना जाता है अतः उक्त वाक्य में एक वाक्यता हो जाएगी। वाक्य० २, ५।

एक वाक्य में अनेकों क्रियाएँ भी रहती हैं—भर्तृहरि ने कात्यायन के लक्षण में एक और सम्भावित त्रुटि का उल्लेख करके उसका समाधान किया है। प्रश्न यह है कि "पूर्वस्नाति पचति ततो व्रजति" (पहले स्नान करता है, खाना पकाता है, फिर जाता है), यहाँ पर कात्यायन के मत से एक वाक्य नहीं हो सकता है, क्योंकि तीन तिङन्त पद हैं। मीमांसकों के अनुसार यहाँ अर्थ की एकता के कारण एक वाक्यता मानी जाती है। भर्तृहरि ने यहां पर यह समाधान दिया है कि यहां पर विभिन्न वाक्य नहीं हैं। "जाता है' यह क्रिया यहां पर मुख्य है, अन्य क्रियाएँ स्नान करता है, खाना पकाता है उसके विशेषण अर्थात् गौण क्रियाएँ हैं। कात्यायन के एक तिङ् का भाव यह नहीं है कि एक वाक्य में एक से अधिक तिङन्त पद या क्रिया नहीं रह सकते, अपितु यह भाव है कि एक वाक्य में मुख्य क्रिया एक ही रह सकती है, यदि मुख्य क्रिया एक है तो वाक्य एक होगा, चाहे तिङन्त पद एक से अधिक कितने ही हों। यदि मुख्य क्रिया एक से अधिक है तो वाक्य मुख्य तिङन्त पदों के अनुसार विभिन्न होंगे। एक वाक्य में एक मुख्य तिङन्त पद के साथ कितने ही क्त्वा प्रत्यय वाले क्रिया-पद रह सकते हैं। उक्त वाक्य का क्त्वा (करके) प्रत्यय लगाकर कहें तो यह होगा कि पहले स्नान करके, खाना पकाकर, फिर जाता है। जिस प्रकार एक क्रिया में कितने ही कृदन्त पद (क्त्वा आदि प्रत्ययान्त) उसके विशेषण के रूप में रहते हैं उसी प्रकार तिङन्त पद भी मुख्य क्रिया के विशेषण होकर रहते हैं। उक्त वाक्य में स्नान करना आदि क्रिया पद मुख्य क्रिया 'जाता है" के विशेषण हैं। पुण्यराज, वाक्य० २, ६ और २, ४५१।

भर्तृहरि का वाक्य का लक्षण—भर्तृहरि ने पाणिनि का अनुसरण किया है कि एक वाक्य में अनेक तिङन्त पद भी रह सकते हैं, अतएव पाणिनि ने 'तिङ्ङतिङः (८, १, २८) । सूत्र में अतिङ् पद रक्खा है। यदि एक वाक्य में दो तिङन्त पद सर्वथा रह ही नहीं सकते हैं तो अतिङ् पद रखना व्यर्थ था, क्योंकि वे दो विभिन्न वाक्य हो जाते हैं। वाक्य० २, ४५०।

भर्तृहरि का कथन है कि बहुत से तिङन्त पदों में भी यदि परस्पर अर्थ की आकांक्षा होती है तो उनमें एक वाक्यता होती है।

बहुष्वपि तिङन्तेषु साकांक्षेष्वेकवाक्यता। वाक्य० २, ४५०।

अतएव भर्तृहरि ने अन्यत्र कहा है कि सामान्य अपवाद वाक्य में क्रियापद की अनेकता होने पर भी वाक्य एक ही माना जाता है। देखने में वे भिन्न वाक्य ही ज्ञात होते हैं, पुण्यराज ने इसलिए इसकी व्याख्या में लिखा है कि वाक्य का लक्षण यही ठीक है कि आकांक्षा योग्यता और आसक्ति (सन्निधि) के कारण एकवाक्यता को प्राप्त हुए को वाक्य कहते हैं। वाक्य० २, ३५३।

वस्तुतस्त्वाकांक्षायोग्यतासंनिधिवशादेकवाक्यतां गतं वाक्यं बोद्धव्यम्। पुण्यराज।

बिना क्रियापद के भी वाक्य होते हैं—पतञ्जलि ने महाभाष्य में (महा० १, १, ४४) इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि प्रसिद्धि आदि के आधार पर वाक्य के स्थान पर वाक्य के एक अंश को तथा पद के स्थान पर पद के एक अंश का प्रयोग किया जाता है। जैसे प्रविश (घुसो) पिण्डीम् (एक ग्रास को), तर्पणम् (तर्पण) वाक्यांश "घर में घुसो" "ग्रास को खाओ" "तर्पण करो" वाक्यों के लिए आए हैं। इनमें यथायोग्य क्रिया और कर्म आदि का आक्षेप कर लिया जाता है। कैयट।

दृश्यन्ते हि वाक्येषु वाक्यैकदेशान् प्रयुञ्जानाः, पदेषु पदैकदेशान्। महाभाष्य।

नागेश ने मंजूषा (पृ० ४४०-४४१) में अतएव कहा है कि पद कहीं कहीं पर अपने अर्थ के साथ संबद्ध अन्य के अर्थ का भी बोध कराते हैं। उपर्युक्त उदाहरणों के विषय में कहा है कि ग्रास, तर्पण आदि पदों की वाक्यार्थ में शक्तिग्रह के कारण उन पदों से ही वाक्यार्थ का ज्ञान हो जायगा।

भर्तृहरि ने इस बात पर भी ध्यान दिलाया है कि यदि पद के अन्दर ही क्रिया का अर्थ भी छिपा हो तो वह पद भी वाक्य ही माना जायगा।

वाक्यं तदपि मन्यन्ते, यत्पदं चरितक्रियम्।
वाक्य० २, ३२७।

पाणिनि ने तद्धित प्रकरण में ऐसे बहुत से नियम दिए हैं जिनके कारण क्रिया का अर्थ पद में आ जाता है। जैसे "वैयाकरण" शब्द को व्याकरण को पढ़ने या जानने की क्रिया का अर्थ भी समाविष्ट है। अष्टा० ४, २, ५६।

व्यास ने योगसूत्रों के भाष्य में लिखा है कि वाक्य के अर्थ में पदों की भी सृष्टि होती है। जैसे "छन्दोऽधीते' (छन्द, वेद पढ़ता है) वाक्य के स्थान पर श्रोत्रिय शब्द की सृष्टि हो गई। अष्टा० ५, २, ८४।

दृष्टं च वाक्यार्थे पदरचनं श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते।
व्यासभाष्य, योग० ३, १७।

वाक्य में क्रिया-गुप्ति— कात्यायन आदि ने जो वाक्य का लक्षण किया है उससे स्पष्ट है कि वाक्य में क्रिया का रहना आवश्यक है। परन्तु पतञ्जलि के पूर्वोक्त कथन से ज्ञात होता है कि यह आवश्यक नहीं है कि क्रिया का प्रयोग अवश्य किया जाय। यदि क्रिया का अर्थ ज्ञात है या हो सकता है तो व्यावहारिक वाक्यों में उसका प्रयोग नहीं भी किया जा सकता है। अर्थज्ञान के समय उसका अध्याहार कर लिया जाता है। व्यास ने योगभाष्य में लिखा है कि पदार्थ कभी भी सत्ता को नहीं छोड़ता है, पदार्थ का अस्तित्त्व सदा बना रहता है। अतएव सारे पदों में वाक्य की शक्ति है। जैसे "वृक्षः" इतना कहने से ही वृक्ष के साथ 'है' क्रिया का ज्ञान हो जाता है।

सर्वपदेषु चास्ति वाक्यशक्तिः, वृक्ष इत्युक्ते अस्तीति गम्यते।

न हि सत्तां पदार्थो व्यभिचरति। योग० ३, १७।

जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में इस बात को दूसरे रूप में प्रस्तुत किया है। उनका कथन है कि प्राचीन आचार्यों का यह कथन है कि क्रिया के बिना वाक्य नहीं होता है, यह युक्तिसंगत न होने से अश्रद्धेय है। जैसे 'घटः' (घड़ा) पद भी वाक्य है। "कुतो भवान्" (आप कहाँ से) में क्रिया नहीं है। वैयाकरणों के मतानुसार यहाँ क्रिया गुप्त है, उसका अध्याहार से ज्ञान करते हैं। घड़ा के साथ 'है' का और आप कहाँ से के साथ 'आ रहे हैं' का अध्याहार करने से ही इनका अर्थ पूर्ण होता है, अन्यथा नहीं। शब्द० श्लोक० १३।

वाक्य भी महावाक्य का अंग—भर्तृहरि ने इस बात पर ध्यान आकृष्ट किया है कि एक वाक्य में अवान्तर वाक्य भी होते हैं, अवान्तर वाक्यों का अर्थ मुख्य वाक्य के अर्थ के जाने बिना पूर्ण नहीं होता है। भर्तृहरि का मत है कि ऐसे अवान्तर वाक्यों के अर्थ को साकांक्ष (अपूर्ण) होने के कारण वाक्यार्थ नहीं कहना चाहिये, अपितु उन्हें पदार्थ के समान ही समझना चाहिये।

सापेक्षा ये तु वाक्यार्थाः पदार्थैरेव ते समाः।

वाक्य० २, ३२६।

५—पदों के क्रमविशेष को वाक्य कहते हैं।

क्रमपक्ष का अभिप्राय वाक्य को खण्डयोग्य तथा अभिहितान्वय पक्ष की दृष्टि से विचारक आचार्यों का मत है कि यदि वाक्य को अखण्ड और क्रम रहित स्वीकार करेंगे तो क्रमरहित एवं अखण्ड वाक्य का न प्रयोग हो सकता है और न वह व्यावहारिक ही हो सकता है। वाक्य (शब्दब्रह्म, परब्रह्म) जब तक क्रमरहित अवस्था अर्थात् अवृत्ति अवस्था में रहता है, तब तक वह अव्यवहार्य रहता है, जब वह क्रमवस्था अर्थात् वृत्ति अवस्था में परिणत होता है तो वह

व्यवहार के योग्य (वाक्य और वाक्यार्थ, शब्द और अर्थ, ब्रह्म और जीव) होता है। शब्दशास्त्र वर्णों या पदों का क्रमविशेष ही है। वर्णों को किसी क्रम-विशेष से रख देने से विभिन्न पद बन जाते हैं और विभिन्न पदों को किसी विशेष क्रम से रख देने से वाक्य बनते हैं। भर्तृहरि और पुण्यराज ने क्रमपक्ष की निम्न रूप से दार्शनिक व्याख्या की है :—

पदविन्यास की उपयोगिता—प्रत्येक पदार्थ में कुछ विशेषताएँ सर्वदा विद्यमान रहती हैं, परन्तु उनका ज्ञान उनको किसी विशेष क्रम से रखने से ही ज्ञात होता है। जैसे "देवदत्त गामानय" देवदत्त गाय को लाओ वाक्य में देव-दत्त आदि पदों का पृथक्-पृथक् अर्थ देवदत्त सम्बोधन, गाय कर्म, लाना क्रिया है, इनका परस्पर वाक्य में प्रयोग किए बिना कोई विशेष सम्बन्ध नहीं होता है, परन्तु जब वाक्य में उक्त क्रम से इनका प्रयोग किया जाता है तो इनके अर्थ में एक अपूर्वता और विशेषता आ जाती है, यहाँ पर गाय को लाने की क्रिया का कर्त्ता देवदत्त ही है, अन्य नहीं। गाय ही कर्म है, अन्य कोई पदार्थ नहीं। लाना ही क्रिया है, अन्य कोई क्रिया नहीं। इस क्रम से रखने से देवदत्त गाय और लाना तीनों सम्बद्ध पदार्थ हो गये हैं। यह सम्बद्ध अर्थ पदों का क्रम विशेष युक्त ज्ञान से ही होता है। अतएव क्रम के अतिरिक्त वाक्य और कुछ नहीं है। क्रम ही वाक्य है। क्रमरहित शब्दात्मक वाक्य किसी अर्थ का वाचक नहीं हो सकता है। पुण्यराज।

सन्त एव विशेषा ये पदार्थेषु व्यवस्थिताः।
ते क्रमादनुगम्यन्ते, न वाक्यमभिधायकम्॥
वाक्य० २, ५० ।

क्रम (वृत्ति) किसी भी अन्य की अपेक्षा नहीं करता है, केवल क्रम ही वाक्य है, उसी के होने पर अर्थ का ज्ञान होता है, उसके अतिरिक्त शब्द (स्फोट आदि) को वाचक नहीं मानना चाहिए। क्रम (वृत्ति) के ज्ञान से ही अर्थ पदार्थ का ज्ञान होता है।

शब्दानां क्रममात्रे च नान्यः शब्दोऽस्ति वाचकः। वाक्य० २, ५१।

क्रम क्या है—क्रम क्या है, उसका क्या स्वरूप है, इसको स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि काल (नित्यकाल, अविनाशी ब्रह्म) का यह धर्म है अर्थात् काल की यह शक्तिविशेष है। पद और पदार्थों में क्रमरूपी उपाधि (गुण) रहता है, अतः उसे काल का धर्म (गुण) कहा जाता है अतएव वाक्य (अनित्य वाक्य, अनित्य-ज्ञान, प्राकृतिक जगत्) की सत्ता नहीं है।

क्रमो हि धर्मः कालस्य तेन वाक्यं न विद्यते। वाक्य० २,५१।

पुण्यराज का कथन है कि यह युक्ति संगत है कि क्रम ही वाक्य है। पदार्थों में

कितने ही भेद रहते हैं, वे पृथक्-पृथक् पदार्थों में प्रकट नहीं होते हैं, परन्तु जब उनको विशेष क्रम से अन्य पदार्थों के साथ रक्खा जाता है, तब उस भेद विशेषता का ज्ञान होता है। अतः क्रम को वाक्य कहते हैं। क्रम का अर्थ यहां पर क्या है, इसको स्पष्ट करते हुए पुण्यराज ने कहा है पदों के क्रम को वाक्य कहते हैं, वर्णों के क्रम को नहीं। वर्णों में यह क्रम (वृत्ति, शक्ति) नहीं है कि उनके रखने से अर्थ की अभिव्यक्ति होती है। वाक्य० २, ५२।

वाक्य और पद किसे कहते हैं– क्रमवाद के अनुसार वाक्य और पद का क्या स्वरूप है, इसके विषय में भर्तृहरि कहते हैं कि वर्णों के केवल क्रममात्र को पद कहा जाता है और उसी प्रकार पदों के केवल क्रमविशेष को वाक्य नाम दिया जाता है, क्योंकि ऐसे ही वाक्यों से अर्थ का ज्ञान होता है।

वर्णानां च पदानां च, क्रममात्रनिवेशिनां।
पदाख्या वाक्यसंज्ञा च।

वाक्य० २, ५३।

वर्ण और पद शब्द नहीं हैं—क्रमवाद जिस दार्शनिक तत्त्व पर पहुँचता है, उसका उल्लेख करते हुए भर्तृहरि ने बताया है कि केवल क्रम को ही शब्द (शब्दतत्त्व, नित्यशब्द, नित्यज्ञान ब्रह्म) कहते हैं, वर्ण और पद को नहीं। यद्यपि वर्ण और पद में श्रोत्रेन्द्रिय के द्वारा ग्रहण से शब्दता का ज्ञान होता है, तथापि वाचकता वर्ण और पद में नहीं है, अपितु क्रम (वृत्ति) ही वाचक है। पुण्यराज।

शब्दत्वं नेष्यते तयोः। वाक्य० २, ५३।
क्रम एव शब्दो न वर्णपदे। पुण्यराज।

इस पर यह प्रश्न उठाया गया है कि पद क्रम को शब्द (वाक्य) मान लिया जाता है, क्योंकि वाक्यार्थ के बोध कराने के कारण उसकी सार्थकता है। वाक्यार्थ के विभाग से पदों की सार्थकता होती है, इसी प्रकार वर्णों के क्रम को शब्द (वाचक) क्यों नहीं माना जाता। वर्ण का क्रम भी पदार्थ का बोध कराने के कारण सार्थक ही है। पदार्थ के विभाग से वर्णों की भी सार्थकता होनी चाहिये। इसके उत्तर में कहते हैं कि वर्ण और पद दोनों प्रकार के शब्दों में शब्दता समानरूप से है, परन्तु पदों के क्रम से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है, और प्रत्येक वर्ण से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है अतः पद को सार्थक मानते हैं वर्ण को नहीं। वाक्य० २, ५४।

६—क्रियावाचक शब्द को वाक्य कहते हैं।

इससे पूर्व अखण्डपक्ष तथा खण्डपक्ष में भी अभिहितान्वयपक्ष के लक्षणों का वर्णन हो चुका है। अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार जो तीन लक्षण प्राचीन

आचार्यों ने किए हैं, उनका संक्षेप में भर्तृहरि ने निम्नरूप से वर्णन किया है।

ऊपर उल्लेख किया जा चुका है कि प्रसिद्धि आदि के आधार पर वाक्य के स्थान पर वाक्य के एक अंश का भी प्रयोग किया जाता है। एक सुबन्तपद भी यदि उसके अन्दर क्रिया का अर्थ छिपा रहता है तो अन्य अर्थ की आकांक्षा न करने के कारण वाक्य माना जाता है। उस एक पद से ही जो अर्थ का बोध होता है, वह पूरे वाक्य के अर्थ का बोध करा देता है अतः व्यवहार में कठिनाई नहीं होती। अतः पुण्यराज ने कहा है कि इस दृष्टि से भर्तृहरि का अभिप्राय यह है कि सारे ही पद वाक्य समझने चाहिए। पुण्यराज २, ३२७।

पदमात्रस्यैवात्र वाक्यत्वम्। पुण्यराज।

एक क्रियापद भी वाक्य होता है- पतञ्जलि ने जिस प्रकार वाक्य के स्थान पर वाक्य के एक भाग के प्रयोग का उदाहरण देते हुए "पिण्डीम्" और "तर्पणम्" सुबन्त पदों को दिया है, उसी प्रकार "गृहं प्रविश" (घर में घुसो) वाक्य के स्थान पर केवल "प्रविश" (घुसो) एक क्रिया पद का उदाहरण दिया है। क्रियावाचक शब्द को ही वाक्य मानने वालों का अभिप्राय यह है कि केवल एक पद के सदृश केवल एक तिङन्त पद क्रियावाचक शब्द से भी पूरे वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है, अतः ऐसे क्रियापदों को एक वाक्य मानना चाहिए। "प्रविश" एक पूरा वाक्य माना जाना चाहिए।

भर्तृहरि ने अतएव इस पक्ष को प्रस्तुत किया है कि ऐसे क्रिया शब्द जो अकेले होते हुए भी पूरे वाक्य का अर्थ बताते हैं अर्थात् जिनमें कर्ता कर्म आदि का प्रसिद्धि के आधार पर आक्षेप कर लिया जाता है, उन अकेले क्रिया शब्दों को भी अर्थ की पूर्ति हो जाने के कारण वाक्य कहा जाता है। जैसे "देवो जलं वर्षति" (बादल पानी को बरसाता है) के स्थान पर "वर्षति" (वर्षा हो रही है) कहने से पूरे अर्थ का ज्ञान हो जाता है, क्योंकि प्रसिद्धि के आधार पर कर्ता बादल और कर्म जल का आक्षेप कर लिया जाता है, अतः 'वर्षति" एक क्रिया पद भी पूरे वाक्य के बराबर होने से वाक्य कहा जाता है। पुण्यराज।

आख्यातशब्दे नियतं साधनं यत्र गम्यते।
तदप्येकं समासार्थं वाक्यमित्यभिधीयते॥
वाक्य० २, ३२७—३२८।

७—आकांक्षा से युक्त पहले ही पद को वाक्य कहते हैं।

८—आकांक्षा से युक्त पृथक्-पृथक् सारे पदों को वाक्य कहते हैं।

ये दोनों लक्षण अन्विताभिधानवाद के अनुसार हैं। इन दोनों में थोड़ा ही अन्तर है, अतः भर्तृहरि ने इनकी व्याख्या एक साथ ही की है। इस मत का

अभिप्राय यह है कि प्रत्येक पद एक वाक्य के बराबर हैं, वह पूरे अर्थ का प्रतीक है। प्रत्येक पद में यह शक्ति होती है कि जब वह वाक्य में प्रयोग किया जाता है तो वह अपना ही नहीं, अपितु वाक्य के अन्तर्गत अन्य शब्दों के भी अर्थ का बोध कराता है। अन्विताभिधान के विषय में कुछ विस्तार से आगे लिखा जायगा।

प्रत्येक शब्द में वाक्य की शक्ति है—भर्तृहरि और पुण्यराज ने इन दोनों मतों को निम्नरूप से रक्खा है। इन पक्षों का मत है कि प्रत्येक शब्द विशिष्ट शब्द होते हैं। जैसे "देवदत्त गामभ्याज" (देवदत्त, गाय को हांक दो) और "देवदत्त गां बधान" (देवदत्त, गाय को बाँध दो)। इन दोनों वाक्यों में जो देवदत्त शब्दों का प्रयोग किया गया है, वह दोनों ही देवदत्त सर्वथा पृथक् हैं। दोनों में समानता के कारण भ्रम होता है कि ये एक ही नाम हैं। वक्ता ने पहले वाक्य में देवदत्त को एक अर्थ में प्रयुक्त किया है और दूसरे वाक्य में दूसरे अर्थ में। इसका ज्ञान वक्ता के कहे हुए आगे के शब्दों से होता है, पहले में देवदत्त का सम्बन्ध गाय को हाँकने से है और दूसरे में गाय को बाँधने से। अतएव पहले में देवदत्त शब्द गाय हाँकने की क्रिया से युक्त विशिष्ट अर्थ में ज्ञात होता है और दूसरे में गाय बांधने की क्रिया से युक्त विशिष्ट अर्थ में। अतः प्रथम पद को वाक्य कहने का अभिप्राय यह है कि वाक्य का पहला पद ही वाक्य का सारा अर्थ बता देता है। वह समस्त विशेषणों से युक्त होता है और उसका सर्व प्रथम प्रयोग किया जाता है। अतः ऐसे वाक्यों का अर्थ संसृष्ट (मिश्रित, समन्वित) अर्थ ही होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, १७।

पदार्थ वाक्यार्थ है—द्वितीय पक्ष का भाव यह है कि वाक्य में प्रारम्भ में ही विवक्षित अर्थ के बोध के लिए विशिष्ट पद का उच्चारण किया जाता है। अतः या तो वाक्य के प्रथम शब्द में ही वाक्यार्थ की समाप्ति समझनी चाहिये, या वाक्य के प्रत्येक पद में वाक्यार्थ की समाप्ति समझनी चाहिये। भाव यह है कि वाक्य का प्रत्येक पद भी पूरे वाक्य का अर्थ बताता है। पुण्य-राज, वाक्य० २, १८।

तेषां तु कृत्स्नो वाक्यार्थः प्रतिभेदं समाप्यते। वाक्य० २, १८।

स्पष्टीकरण के लिए अन्य पदों का प्रयोग इस पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि एक ही पद से सारे वाक्य के अर्थ का ज्ञान हो जाएगा तो अन्य पदों को व्यर्थ मानना पड़ेगा। इसका उत्तर इस मत की ओर से भर्तृहरि ने दिया है कि यद्यपि वक्ता को उसके प्रत्येक पद से प्रत्येक अर्थ का ज्ञान होता है, परन्तु श्रोता या ज्ञाता को वाक्यार्थ एक पद में पूरा होने पर भी तभी ज्ञात होगा, जब कि उसके भाव को स्पष्ट करने के लिए अन्य अभिव्यञ्जक पदों का प्रयोग स्पष्ट अर्थ को और स्पष्ट करने के लिए किया जाता है। वाक्यार्थ ज्ञान व्यक्त का

अभिव्यञ्जक है, अतः वाक्य में पदान्तर को अनर्थक नहीं कहा जा सकता है। पुण्यराज।

व्यक्तोपव्यञ्जना सिद्धिरर्थस्य प्रतिपत्तृषु। वाक्य० २, १८।

भर्तृहरि ने अन्विताभिधानवादियों की इस युक्ति का कई स्थानों पर खण्डन किया है। आगे अन्विताभिधान के खण्डन में उनका उल्लेख किया जाएगा।

वाक्यार्थ-विचार

अभिहितान्वयपक्ष और अन्विताभिधानपक्ष का स्पष्टीकरण

जिस प्रकार वाक्य में लक्षणों के विषय में कई मत हैं, उसी प्रकार वाक्यार्थ के विषय में कई मत है। वाक्य का विभाग के योग्य मानने वाले वाक्यार्थ को अभिहितान्वय और अन्विताभिधान पक्ष के आधार पर स्पष्ट करते हैं।

जयन्त ने न्यायमंजरी में दोनों पक्षों को अन्वर्थ बताते हुए इनकी यौगिक अर्थ के रूप में व्याख्या की है।

अभिहितान्वय और अन्विताभिधान—अभिहितान्वय में षष्ठी तत्पुरुष समास है, जिससे इसका अर्थ होता है कि "अभिहितानाम् पदार्थानाम् अन्वयः" जो अर्थ शब्दों के द्वारा कहे जा चुके हैं, उनका परस्पर अन्वय। इससे इस पक्ष का अर्थ होता है कि प्रत्येक पद केवल अपने अपने पदार्थ का बोध कराते हैं। पदार्थों का पद से बोध होने पर उनका आकांक्षा योग्यता आसत्ति के आधार पर परस्पर अन्वय (समन्वय) हो जाता है। उस समन्वय (संसर्ग) से अर्थ का बोध कराते हैं। न्यायमंजरी, पृष्ठ ३६४।

मम्मट ने काव्यप्रकाश में अभिहितान्वयवादियों के मत का संक्षेप में उल्लेख किया है कि उनका मत है कि पदार्थों का आकांक्षा योग्यता और सन्निधि के कारण समन्वय हो जाने से एक विलक्षण तात्पर्यार्थ निकलता है, जो कि पदार्थ से भिन्न होता है, उसको वाक्यार्थ कहते हैं।

आकांक्षायोग्यतासन्निधिवशात् पदार्थानां समन्वये तात्पर्यार्थो विशेषवपुरपदार्थोऽपि समुल्लसतीत्यभिहितान्वयवादिनां मतम्।

काव्य० सूत्र ७।

अन्विताभिधान का अर्थ है "अन्वितानां (पदार्थानाम्) अभिधानम्" प्रत्येक पद केवल अपने पदार्थ का ही बोध नहीं कराता है, अपितु समन्वय युक्त पदार्थों का बोध पद कराते हैं। अन्यथा पदों का वाक्य नहीं हो सकता है। न्यायमंजरी, पृ० ३६४।

पुण्यराज ने और मम्मट ने अन्विताभिधानवादियों के मत को संक्षेप में

रखा है कि उनका मत है कि वाच्य ही वाक्यार्थ है। पदार्थ ही वाक्यार्थ है। वाक्यार्थ में पदार्थ के अतिरिक्त और कुछ विलक्षण अर्थ नहीं होता है।

वाच्य एव वाक्यार्थ इत्यन्विताभिधानवादिनः।

मम्मट, सूत्र ७।

पदार्थ एव वाक्यार्थः। पुण्यराज, वाक्य० २, ४३।

मीमांसकों की दो शाखाएँ—यहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि मीमांसकों की दो शाखाएं हैं, एक अन्विताभिधानवादी और दूसरे अभिहितान्वयवादी। प्रभाकर (गुरु) के अनुयायी अन्विताभिधानवाद को मानते हैं और कुमारिल (भट्ट) के अनुयायी अभिहितान्वयवाद को मानते हैं। मीमांसकों के दोनों पक्षों में बहुत विवाद है। भर्तृहरि ने दोनों पक्षों का खण्डन किया है, अतः दोनों पक्ष का कुछ विस्तार से उल्लेख उचित है।

अभिहितान्वयवादियों का मत

अन्विताभिधानपक्ष मानने में कठिनाइयां—जयन्त ने न्यायमंजरी में (पृ० ३६४—३६५) में संक्षेप में उनके मत को इस प्रकार रक्खा है कि अभिहितान्वय पक्ष इसलिए मानना चाहिये, क्योंकि पदार्थ के ही ज्ञान से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है। पदार्थ को न जाने हुए को वाक्याथ का ज्ञान नहीं देखा जाता है। पदार्थ के विभाग से ही यह जाना जाता है कि इस शब्द का जाति अर्थ है, इसका द्रव्य, इसका गुण और इसका क्रिया। यह तभी हो सकता है जब कि वह अर्थ पदों का हो। यदि अन्विताभिधान के अनुसार पद-पदान्तर के अर्थ से समन्वित अर्थ का बोध कराएगा तो यह निर्णय नहीं किया जा सकता है कि कितना किस शब्द का अर्थ है, क्योंकि उनके मतानुसार समन्वित अर्थ का ज्ञान होता है। यदि अन्विताभिधानपक्ष की ओर यह समाधान दिया जाय कि आवाप और उद्वाप (अन्वय-व्यतिरेक) के द्वारा उसका निर्णय हो जाएगा तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि अन्वय-व्यतिरेक के समय भी अर्थ की सामूहिकता बनी रहेगी। ऐसा तो है नहीं कि कुछ ही वाक्यों में अन्वित अर्थ को कहने वाले पद हों और अन्यत्र वे शुद्ध अपने अर्थ को कहते हों, जिससे निर्णय हो। अपितु उनके मतानुसार सर्वत्र ही वाक्य वाक्यार्थ का सम्मिश्रित अर्थ बताता है, अतः प्रत्येक पद के अर्थ का निर्णय करना बहुत कठिन है। और यदि पदार्थ की अपेक्षा न की जाए तो "गामानय" (गाय लाओ) इस वाक्य से घोड़े को बाँधने का भी ज्ञान होगा, क्योंकि उक्त वाक्य में गाय और लाने का कोई स्वतन्त्र अर्थ नहीं होगा। अतएव अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार पदों के अर्थ की अपेक्षा करनी पड़ती है कि इतना इस शब्द का अर्थ है, यह निश्चयीकरण, पद जब शुद्ध अपने ही अर्थ को कहते हैं, तभी होगा। अतएव पद और पदार्थ का नित्य

सम्बन्ध मानना चाहिए। वृद्धव्यवहार में जो वाक्य से अर्थ का ज्ञान होता है, वहाँ पर भी उस ज्ञान को पदार्थ के ज्ञान तक मानना चाहिए, नहीं तो प्रत्येक वाक्य में शक्ति का बोध कराना पड़ेगा और ऐसा करने में अनन्तता आ जाएगी। साथ ही यह सम्भव भी नहीं है कि प्रत्येक वाक्य का अर्थ बताया जाए। अतः शब्दों के द्वारा व्यवहार ही नष्ट हो जाएगा। देखने में आता है कि शब्दों के अर्थ का जानने वाले को कवि के नए श्लोक से भी उसके वाक्यार्थ का ज्ञान हो जाता है, इसको पद और पदार्थ के ज्ञान के आधार पर ही मान सकते हैं। वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान मानने पर पहले कवि के उस वाक्य को नहीं सुना है, अतः उसके अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है। अतः अन्विताभिधान पक्ष को नहीं मानना चाहिए।

अन्य पदों का प्रयोग निरर्थक होगा—अन्विताभिधान पक्ष को मानने में अन्य कठिनाई यह है कि अन्य पदों का उच्चारण करना केवल निरर्थक हो जाएगा। एक पद से ही समन्वितरूप से अन्य पद के अर्थ का ज्ञान सिद्ध ही है, वह पद भी अन्य समन्वित अर्थ का वाचक होगा, इस प्रकार एक ही शब्द सारे शब्दों के अर्थ का वाचक हो जाएगा। उसी से व्यवहार किया जाए, परन्तु यह संभव नहीं है। "गाय" कहने पर सारे गुण और क्रिया का ज्ञान होने से यह ज्ञान नहीं हो सकता कि किस गुण या किस क्रियायुक्त गाय को लें। इस प्रकार से गाय विशेष का ज्ञान न होने से व्यवहार नहीं चल सकता है, क्योंकि सब कुछ का एक शब्द से ज्ञान होना नहीं के ज्ञान के तुल्य ही है। जैसे पानी के इच्छुक को सारा समुद्र मरुस्थल के समान ही है, क्योंकि उससे पीने का कार्य पूर्ण नहीं होता। अन्विताभिधान में ऐसा कोई कारण नहीं है, जिससे यह निर्णय किया जाए कि गाय शब्द किसी विशेष गुण या क्रिया से युक्त गाय का बोध कराता है।

पद का अर्थ मानने पर अभिहितान्वय—यदि यह कहा जाय कि अन्य पदों की समीपता निश्चय का कारण होगी, तो उसमें दो बातें हैं १—क्या वह अपने स्वरूप मात्र से अर्थ निश्चय करेगा, या २—अर्थ का बोध कराकर। दोनों ही प्रकार ठीक नहीं हैं। किसी पद के स्वरूप मात्र से अर्थात् वाक्य में रहने मात्र से अर्थ निर्णय में कोई सहायता नहीं मिलती। वाक्य में शब्द का केवल रहना या न रहना बराबर ही है, क्योंकि जब तक उसके अर्थ का ज्ञान नहीं होगा, तब तक अर्थनिर्णय में सहायक नहीं होगा। यदि यह मानते हैं कि अन्य पद अपने अर्थ के बोध के द्वारा अर्थ का निर्णय करता है, तब तो वह अभिहितान्वय ही हो जाता है, अतः यही श्रेयस्कर है कि पदों से पदों का अर्थ ज्ञात हो जाता है, फिर उनका आकांक्षा सन्निधि योग्यता के कारण परस्पर सम्बन्ध हो जाता है। जो जिसकी आकांक्षा करता है या जो जिसके समीप है और जिसका जिससे सम्बन्ध हो सकता है, उसका उससे सम्बन्ध तो हो जाता है, अन्यथा नहीं। अतएव 'अंगुल्यग्रे हस्तियूथशतमास्ते' (अंगुली की नोंक पर सौ हाथियों के झुण्ड

बैठे हैं) इस वाक्य में योग्यता नहीं है, अतः सम्बन्ध नहीं होगा, और यह वाक्य नहीं माना जाएगा। अन्विताभिधानवादियों के अनुसार यहाँ पर भी अन्वय होना चाहिए। अतः उक्तार्थक पदार्थों का ही अन्वय होना चाहिए। अतः उक्तार्थक पदार्थों का ही अन्वय मानना चाहिए। अतएव कहा है कि पद अपने अपने अर्थ को बताकर सफल हो जाते हैं, वे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। न्यायमंजरी, पृ० ३६४—३६५।

१—वाक्य का अर्थ संसर्ग (मेल) है।

अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार वाक्य के तीन अर्थ हो सकते हैं। उनका संक्षेप में स्वरूप निम्न है। संघात और क्रम दोनों वाक्य के लक्षणों का वाक्यार्थ संसर्ग ही माना जाता है।

सम्बन्ध वाक्यार्थ है—पतञ्जलि ने महाभाष्य में (१, २, ४५) एक उदाहरण द्वारा पदार्थ की अपेक्षा वाक्यार्थ की विशेषता को समझाया है, "देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन" (हे देवदत्त, सफेद गाय को डंडे से हांक दो) में यह नहीं कहा जा सकता है कि पदों के अर्थ के अतिरिक्त वाक्य का और कोई अर्थ नहीं है। उक्त वाक्य में सम्बन्ध की ओर सत्ता वाक्य में बढ़ जाती है। पृथक्-पृथक् पदों में वह सम्बन्ध नहीं रहता है, परन्तु वाक्य में वह सम्बन्ध बढ़ जाने से वाक्य सार्थक और पूर्ण हो जाता है। यहाँ पर देवदत्त ही कर्त्ता है, गाय ही कर्म है, हाँकना ही क्रिया है, और सफेद ही गुण है, यह सामान्य अर्थ में थे, इनकी विशेष अर्थ में जो सत्ता है, वही वाक्यार्थ है। अतएव पतञ्जलि कहते हैं कि "यदत्राधिक्यं वाक्यार्थः सः" (महा० २, ३, ५०) इसमें जो अधिकता आ जाती है, वह वाक्यार्थ है।

संसर्ग वाक्यार्थ है—भर्तृहरि ने इस पक्ष का उल्लेख करते हुए कहा है कि इनका मत है कि अकेला पद शब्द जितने और जिस अर्थ का वाचक है, वाक्य में भी वह उतने और उसी अर्थ का बोध कराता है। पदों के समुदाय में अर्थात् वाक्य में पदों का परस्पर समन्वय होने पर पदार्थ के आधार पर जो अधिक अर्थ निकलता है, उसको संसर्ग (मेल, मिश्रण, एकीभाव) कहते हैं। यह विलक्षण वाक्यार्थ अनेकों पदों के मेल का परिणाम है। वाक्य० २, ४१—४२।

संसर्गवाद में दो मत– संसर्गवाद के मानने वालों में भी दो मत हैं, एक जातिवादी और दूसरे व्यक्तिवादी। व्यक्तिवाद के समर्थकों का इस विषय में मत है कि वाक्यार्थ अनेक पदों में रहता हुआ भी जिस प्रकार जाति प्रत्येक व्यक्ति में समाप्त होती है, इसी प्रकार वाक्यार्थ भी प्रत्येक वाक्य के भेद में समाप्त होता है। इसका भाव यह है कि वाक्यार्थ पृथक् होने पर भी प्रत्येक पद

में रहता है। अन्य जातिवादी आचार्यों का मत है कि जैसे संख्या दस, बीस सौ आदि की समाप्ति प्रत्येक भेद में नहीं होती है, अपितु समुदाय में होती है, उसी प्रकार वाक्यार्थ की समाप्ति प्रत्येक शब्द में नहीं, अपितु समस्त वाक्य में होती है। वाक्य० २, ४३।

२—संसर्ग के कारण निराकांक्ष होते हुए भी विशेष में अवस्थित पदार्थ वाक्यार्थ है।

संसर्गवाद में निराकांक्षावाद—पहले लिखा जा चुका है कि पुण्यराज ने भर्तृहरि के मतानुसार कात्यायन और जैमिनि के लक्षणों को भी संघात पक्ष के अन्दर समाविष्ट माना है। कात्यायन और जैमिनि पद समूह को वाक्य कहते समय अभिहितान्वय पक्ष की अपेक्षा कुछ सूक्ष्म तथ्य कहते हैं। उसका भर्तृहरि और पुण्यराज ने निम्नरूप से स्पष्ट किया है।

पदार्थ ही वाक्यार्थ है—संघात पक्ष को अभिहितान्वय पक्ष की दृष्टि से मानने पर जो वाक्यार्थ होता है उसका स्वरूप ऊपर दिया गया है। संघात पक्ष को अन्विताभिधानवाद के दृष्टिकोण से समझने पर उसका अभिप्राय होता है कि पदार्थ ही वाक्यार्थ है। पदार्थ के अतिरिक्त संसर्ग और कोई तत्त्व नहीं है। वह पदार्थ क्या है, उसको स्पष्ट करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि उसे सामान्य (जाति) कहते हैं, वही संसर्गात्मक है। अर्थात् सामान्य का स्वरूप ही संसर्ग है। उसमें समस्त भेदों का समावेश है। उसका आकांक्षा योग्यता सन्निधि के कारण पदान्तर से संसर्ग होता है, अतः उसका स्वरूप स्पष्ट हो जाता है। उसी के विभिन्न पदार्थों के साथ संसर्ग होने से विभिन्न रूप हो जाते हैं। उस सामान्य (जातिरूपी तत्त्व) को वाक्यार्थ कहते हैं। वाक्य० २, ४४।

यहाँ यह प्रश्न होगा कि पदार्थ को जातिरूपी मानने पर आकांक्षा के समय उसका अर्थ स्पष्ट नहीं होगा। उसका उत्तर दिया है कि आकांक्षा के समय वाक्यार्थ में जो स्पष्टता का दोष आता है, उसको अन्य पदार्थ की समीपता दूर कर देता है, जब भेद की आकांक्षा होती है तब जातिरूपी सम्बन्ध उसमें भेद उत्पन्न कर देता है और वह पदार्थ सामान्य पदार्थ न रहकर विशिष्ट पदार्थ हो जाता है। वाक्य० २, ४५।

जातिवाद के विवरण में पहले लिखा जा चुका है कि गाय को न गाय कह सकते हैं, और न यह कह सकते हैं कि वह गाय नहीं है। उसमें गोत्व जाति का सम्बन्ध होने से उसे गाय कहते हैं। यदि गोत्व जाति का उसमें सम्बन्ध न हो तो वह गाय नहीं कही जा सकती है।

दोनों पक्षों में अन्तर—यह प्रश्न किया जा सकता है कि उक्त दोनों

वाक्यार्थों में क्या अन्तर है। इसका उत्तर पुण्यराज ने दिया है कि पहले पक्ष में वाक्य में पदों का उतना ही अर्थ होता है, जितना कि उनका अकेले का होता है। संसर्ग जो कि पदों में हो जाता है, वह संघात (समूह वाक्य) का अर्थ है। इस पक्ष में पद का अर्थ उसी प्रकार सामान्य रूप में रहता है, उसकी ही भिन्न पदों के सन्निधान से उन विशेष अर्थों में उपस्थिति होती है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४६।

वाक्यार्थ सम्बन्ध का स्वरूप—संघात पक्ष में संसर्ग को वाक्यार्थ बताया गया है। उस पक्ष में संसर्ग (सम्बन्ध) जो कि वाक्यार्थ माना गया है, पदार्थ से सर्वदा पृथक् नहीं रहता है, उसकी स्थिति पदार्थ में या तो जाति के तुल्य रहती है या संख्या की तरह। इस पक्ष में वाक्यार्थ को पदार्थ से पृथक नहीं माना जाता है। इस पक्ष में उस संसर्ग का ज्ञान कैसे होता है, उसका उत्तर दिया है कि वह सर्वथा अनुमानगम्य है, पद समुदाय का वाच्य नहीं है। किन्तु समस्त भेदों के गुणों से युक्त सामान्यरूप (जातिरूप, निर्लेप) रहता है। विशेष पदार्थ के साथ सम्बन्ध से उसकी विशेष में स्थिति हो जाती है। अतः उसे विशेष पदार्थ कह देते हैं। वही वाक्यार्थ होता है। पुण्यराज, वाक्य० २, ४७।

भर्तृहरि ने अतएव कहा है कि सम्बन्ध का उसके कार्य से ही अनुभव किया जा सकता है। उसका कोई स्वरूप नहीं दिखाया जा सकता है। उसका अर्थ है, पदार्थ की किसी विशेष अर्थ में विश्रान्ति। इस विशेष अर्थ में विश्रान्ति से अनुमान किया जाता है, कि उसके साथ उस पद का सम्बन्ध है। 'इदं तत्' (यह है) इस रूप में उसको कभी नहीं देखा जा सकता है। अतएव उसको अत्यन्त असत्वरूप (अदृश्य) माना जाता है। पदार्थ से अतिरिक्त उसकी सत्ता नहीं है। पुण्यराज।

कार्यानुमेयः सम्बन्धो रूपं तस्य न दृश्यते।
असत्त्वभूतमत्यन्तमतस्तं प्रतिजानते॥
वाक्य० २, ४७।

संघात और क्रमपक्ष का भावार्थ—संघात और क्रमपक्ष दोनों के सिद्धान्तों का निष्कर्ष लिखते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि संघातपक्ष का निष्कर्ष यह है कि जिस प्रकार प्रत्येक वर्ण का कोई अर्थ नहीं होता है, अपितु उनके समुदाय पद का अर्थ होता है, इसी प्रकार प्रत्येक पद का कोई अर्थ नहीं होता है, अपितु उन पदों के समुदाय वाक्य का ही अर्थ होता है। जिस प्रकार पदों के अवयव वर्ण निरर्थक हैं, इसी प्रकार वाक्य के अवयव वर्ण निरर्थक हैं। इसी प्रकार वाक्य के अवयव प्रत्येक पद निरर्थक होते हैं। पुण्यराज।

यथा सावयवा वर्णा विना वाच्येन केनचित्।
अर्थवन्तः समुदिता वाक्यमप्येवमिष्यते॥
वाक्य० २, ५५।

क्रम-पक्ष का निष्कर्ष यह है कि अकेले पदों का कोई अर्थ नहीं है, इस पक्ष में कुछ का मत है कि पदों का अपना क्रम कुछ अर्थ रखता है। इनको क्रम विशेष से उच्चारण करने से वाक्य बन जाता है। पद वाक्य बनाने के लिए साधन हैं, अतः निरर्थक हैं। ऐसे वाक्य से वाक्यार्थ भी दो प्रकार का होता है। जो पदों का कुछ अर्थ मानते हैं, उनके मत से वाक्यार्थ पदार्थ से भिन्न होता है, उसको संसर्गात्मक पृथक् अर्थ मानते हैं। जिनके मत में पद अनर्थक है, केवल वाक्य के उपाय हैं, उनके मत के संसर्ग के कारण निराकांक्ष होते हुए भी विशेषार्थ में व्यवस्थित पदार्थ वाक्यार्थ होता है। पुण्यराज।

अनर्थकान्युपायत्वात् पदार्थैर्नार्थवन्ति वा।
क्रमेणोच्चारितान्याहुर्वाक्यार्थं भिन्नलक्षणम्॥

वाक्य० २, ५६।

३—प्रयोजन वाक्य का अर्थ है।

पुण्यराज का कथन है कि कोई प्रयोजन को वाक्य का अर्थ मानते हुए उसको अन्य पाँच वाक्यार्थों से पृथक् करके षष्ठ वाक्यार्थ मानते हैं, परन्तु कतिपय आचार्यों का मत है कि प्रयोजन सभी वाक्यार्थों में रहता है, अतः इसको पृथक् वाक्यार्थ नहीं मानना चाहिए। पुण्यराज। वाक्य० २, १—२।

जैमिनि का मत—जयन्त ने प्रयोजन को वाक्यार्थ मानते हुए इसका बहुत विस्तार से वर्णन किया है। जयन्त ने पहले मीमांसकों के दृष्टिकोण से फल को वाक्यार्थ बताया है। जैमिनि ने मीमांसादर्शन में कहा है कि जैमिनि का कथन है कि प्रत्येक कर्म किसी विशेष फल के लिए किये जाते हैं।

कर्माण्यपि जैमिनिः फलार्थत्वात्। मीमांसा० ३, २, ४।

परन्तु जैमिनि इससे आगे चले जाते हैं और कहते हैं कि फल की अपेक्षा पुरुष मुख्य है, क्योंकि स्वर्ग आदि फल भी पुरुष के लिए होते हैं। पुरुष यत्न करता है कि फल को प्राप्त करूँ और उसको अपने उपभोग में लाऊँ। अतः फल की अपेक्षा पुरुष प्रधान है। फिर उसके पश्चात् कहते हैं कि पुरुष से भी मुख्य क्रिया है, क्योंकि पुरुष कर्म करने के लिए है। न्यायमंजरी, पृष्ठ ३०३—३०६।

फलं च पुरुषार्थत्वात्। पुरुषश्च कर्मार्थत्वात्।

मीमांसा० ३, १, ५—६।

जैमिनि ने इस प्रकार सृष्टि के क्रम को बताया है कि कर्म फल के लिए है, फल पुरुष के लिए है और पुरुष कर्म करने के लिए है। फिर क्रम चल पड़ता है कि क्रम फल के लिए और फल पुरुष के लिए। इस चक्र में कौन मुख्य है कौन गौण? यह नहीं कहा जा सकता है। सभी मुख्य हैं और सभी गौण वाक्यार्थ हैं, क्योंकि साध्य और साधन दोनों हैं। न्यायमंजरी, पृ० ३०६।

नैयायिकों का मत—जयन्त ने नैयायिकों के मत से फल ज्ञान को प्रेरक मानते हुए इस पक्ष पर जो आक्षेप किए हैं उनका विस्तार से खण्डन किया है। (पृष्ठ ३२६—३३२)। जयन्त ने गौतम को उद्धृत किया है कि मनुष्य जिस किसी अर्थ (लक्ष्य, उद्देश्य) को लक्ष्य बनाकर किसी कार्य में प्रवृत्त होता है उसे प्रयोजन कहते हैं।

यमर्थमधिकृत्य प्रवर्तते तत्प्रयोजनम्। न्याय० १, १, २४।

जयन्त ने इस पक्ष के समर्थन में कहा है कि फल वस्तुतः प्रधान (मुख्य) है, क्योंकि कोई भी ज्ञानवान् व्यक्ति कोई कार्य निष्फल या निष्प्रयोजन नहीं करता। वेद के आदेश, गुरु की आज्ञा, राजा की आज्ञा से भी कार्य को तभी करते हैं, जब कि उसका कुछ प्रयोजन या फल देख लेते हैं। किसी न किसी फल या प्रयोजन को लक्ष्य में रक्खे बिना कोई कार्य नहीं किया जाता है। न्यायमंजरी, पृ० ३०३।

प्रयोजन वाक्यार्थ है—भर्तृहरि का कथन है कि यदि प्रयोजन को वाक्य का अर्थ मानें तो उसको दो प्रकार से रख सकते हैं, एक अभिहितान्वय और दूसरा अन्विताभिधान के दृष्टिकोण से। अभिहितान्वय पक्ष के अनुसार इसका भाव होता है कि वाक्य का जो वाक्यार्थ है, वह पदों का अर्थ है। वाक्य का अर्थ वाक्य का प्रयोजन है। किस प्रयोजन या उद्देश्य से वाक्य कहा गया है, यह पदों के अर्थ नहीं बताते हैं, यह वाक्य ही बताता है, अतः यह पदार्थ नहीं अपितु वाक्यार्थ है। इसका भर्तृहरि ने खण्डन किया है कि ऐसा मानने वालों के मत में वाक्यों का परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता है। कील, लोहे की सीकों के सदृश वाक्यों का किस आधार पर सम्बन्ध हो सकता है। इनका सम्बन्ध वाच्यता के आधार पर हो सकता था, वह वाच्यार्थ वाक्यों में है ही नहीं, अतः वाच्य असम्बद्ध हो जाते हैं और उनका परस्पर सम्बन्ध नहीं हो सकता।

अतः अन्विताभिधानपक्ष के आश्रय से इसका समर्थन किया है कि क्रिया वाचक पदों में सारे साधन अन्तर्निहित रहते हैं अतः वे निराकांक्ष रहते हैं। क्रियावाचक पद ही परस्पर एक दूसरे की आकांक्षा करते हैं। अत. अन्विताभिधान के अनुसार वाक्यों में परस्पर सम्बन्ध हो जाएगा। वाक्य० २, ११५—११६।

अभिहितान्वयवाद का खण्डन

अभिहितान्वयवाद की असारता—मीमांसकों का यह कथन है कि पद समूह ही आकांक्षा योग्यता सन्निधि के कारण परस्पर समन्वित होकर वाक्य हो जाता है और संसर्ग वाक्यार्थ है। इसका खण्डन करते हुए भर्तृहरि एवं पुण्यराज कहते हैं कि 'देवदत्त शुक्ल गाय को डंडे से हांक दो'। इसमें देवदत्त

आदि पद ही वाक्य हैं। यदि इसमें देवदत्त शब्द केवल अपने अर्थ का बोध कराता है तो अगले गाय आदि शब्दों के उच्चारण के समय वह तिरोहित हो चुका है और उसकी सत्ता नहीं रही है, क्योंकि वाणी के द्वारा उच्चारण क्रमशः ही होता है। देवदत्त शब्द का अभाव हो जाने से अगले अन्य शब्दों के सुनने पर देवदत्त शब्द के अर्थ का ज्ञान नहीं होगा और न उसकी किसी विशेष अर्थ में उपस्थिति होगी। यदि यह किसी प्रकार मान भी लिया जाए कि स्मरण के द्वारा उसकी उपस्थिति हो जाएगी, फिर भी उसका विशेष अर्थ नहीं हो सकता है। इनमें सबसे बड़ा दोष यह आएगा कि मीमांसक शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य मानते हैं, वह शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अनित्य सिद्ध हो जाएगा। पहले सब शब्दों का सामान्य अर्थ स्वीकार करना फिर उसको अन्य पद के साथ सम्बन्ध होने पर छोड़ देना युक्तिसंगत नहीं है। क्या कारण है जिससे उनके अर्थों को छोड़ते हैं। यदि यह भी मान लिया जाए कि वे अपने अर्थ को छोड़ देते हैं तो फिर अपने अर्थ को छोड़ने के बाद अन्य पद के साथ सम्बन्ध होने पर किस अर्थ का बोध करायेंगे। अन्य शब्द के अर्थ के वे वाचक नहीं हैं, अत. उनके अर्थ का तो बोध वे करा ही नहीं सकते हैं। पुण्यराज, २, १५।

शब्दार्थ और वाक्यार्थ निराधार मानना पड़ेगा—यदि यह तर्क किया जाए कि उक्त वाक्य से अर्थ का ज्ञान होता है, अतः समुदाय की सार्थकता का अपलाप क्यों करते हो। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि जिस प्रकार से अभिहितान्वयवादी अर्थ का बोध बताते हैं, वह प्रकार ही ठीक नहीं है। अन्य शब्द में अन्य शब्द के अर्थ का बोध कराने की शक्ति नहीं है। अतएव उनके अनुसार वाक्यार्थ को ही निराधार मानना पड़ता है, क्योंकि वाक्य में कोई शब्द नहीं है जो उस अर्थ को किसी प्रकार बता सके। यह एक और दोष है जो अभि-हितान्वयवाद में आता है, यदि वाक्यार्थ को इस प्रकार का मान लें तो पदों का अर्थ भी निराधार मानना पड़ेगा। प्रत्येक पद में एक से अधिक वर्ण रहते हैं, क्रमशः उनका उच्चारण किया जाएगा। वह नष्ट भी होता जाएगा, अतः एक शब्द भी किसी प्रकार नहीं बन सकता है। जब पद (शब्द) नहीं होगा तो पदार्थ (शब्दार्थ) ही कैसे होगा। इस प्रकार से अभिहितान्वयवाद मानने पर मीमां-सकों को शब्द और अर्थ में जो वाच्य वाचक भाव सम्भव है, उसको भी छोड़ना पड़ेगा। पुण्यराज।

> सामान्यार्थास्तिरोभूतो न विशेषेऽवतिष्ठते।
> उपात्तस्य कुतस्त्यागो निवृत्तः क्वावतिष्ठताम्॥
> अशाब्दो यदि वाक्यार्थः पदार्थोऽपि तथा भवेत्।
> एवं च सति संबन्धः पदस्यार्थेन हीयते॥ वाक्य० २, १५—१६।

वाक्य से ही वाक्यार्थ का ज्ञान—यदि यह कहा जाए कि पदों में अर्थ

संसृष्ट (मिश्रित, समन्वित) रूप से नहीं है वह संसर्ग रूपी वाक्यार्थ के प्रतिपादन के लिए केवल उपाय है, क्योंकि वाक्य के अर्थ का ज्ञान पदों के अर्थ के ज्ञान से ही होता है। इसका खण्डन करते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि इसका अभिप्राय यह होगा कि पहले अर्थ पदों में नहीं था, किन्तु पदों के समूह में जिस क्रम से पदों की संख्या बढ़ती जाती है, उसी क्रम से अर्थ भी क्रमशः बढ़ता जाता है। जो वाक्यार्थ है, वह अत्यन्त विशिष्ट और सुदृढ़ है। इसको इस प्रकार से जाना जाता है कि पहले उसको छिन्न किया गया और बाद में उसको गूंथ दिया गया। इस प्रकार वाक्यार्थ विशिष्टतर अर्थ है। पहले अर्थ को असंसृष्ट मानकर उससे वाक्यार्थ का ज्ञान मानना ठीक नहीं है। इसका भाव यह है कि वस्तुत. वाक्यार्थ एक और अखण्ड है। वाक्य से ही अर्थ का ज्ञान करते हैं। उसमें पद और पदार्थ की सत्ता ऐसी ही है, जैसे किसी एक पदार्थ को तोड़ कर जोड़ना। वाक्य० २, २५० – २५१।

नैयायिकों का मत—जयन्त ने नैयायिकों के दृष्टिकोण से अभिहितान्वयवाद का खण्डन विस्तार से किया है। उनका कथन है कि शब्द दीपक के तुल्य नहीं है, जो कि बिना जाने हुए ही अर्थ का बोध कराए। व्युत्पत्ति वृद्ध व्यवहार से होती है। वृद्धव्यवहार वाक्य से होता है, पद से नहीं, क्योंकि अकेले पद का प्रयोग नहीं किया जाता है। अर्थ प्रकरण आदि से जहाँ पर अन्य अर्थ का ज्ञान होता है, वहाँ अकेले पद के प्रयोग को भी वाक्य के समान मानना चाहिए। वक्ता समन्वित अर्थ को बोध कराने की इच्छा से वाक्य का प्रयोग करता है, श्रोता और समीपस्थ वाक्य से ही अर्थ समझते हैं। इसको वाक्य से वाक्यार्थ का समझना कहते हैं। वाक्य किसे कहते हैं, सामूहिक रूप से अर्थ का बोध कराने वाले पदों को वाक्य कहते हैं। अतएव जैमिनि का कथन है कि एकार्थक पदसमूह को वाक्य कहते हैं। वाक्य में पदसमूह एकार्थक होता है। यदि पद पृथक्-पृथक् अर्थ का बोध कराएँगे तो यह सामूहिक कार्य नहीं होगा। जिस प्रकार एक पकाना क्रिया में बाह्य साधन लकड़ी आदि का उपयोग किया जाता है, पालकी को उठाने वाले इकट्ठे पालकी को उठाते हैं, इसी प्रकार सारे पद इकट्ठे वाक्यार्थ का बोध कराते हैं। यह सामूहिक शक्ति मानने पर अन्विताभिधानवाद होता है। अनन्वित और पृथक् स्वार्थ रखने वाले शब्द पदों को मानने पर, उनका सामूहिक कार्य वाक्यार्थ नहीं हो सकता है। न्यायमंजरी, पृ० ३६६।

अन्विताभिधान पक्ष

४—संसृष्ट अर्थ को वाक्यार्थ कहते हैं।

अन्विताभिधान का शब्दार्थ और भावार्थ दिया जा चुका है। अभिहितान्वयवाद के खण्डन से अन्विताभिधानपक्ष की स्थापना होती है, जयन्त ने न्यायमंजरी

में (पृ० ३६६ – ३६६) अन्विताभिधानपक्ष पर जो आक्षेप अभिहितान्वयवादियों की ओर से दिए गए हैं, उनका विस्तार से निराकरण किया है।

प्रभाकर तथा उनके अनुयायी मीमांसकों ने अन्विताभिधान पक्ष को युक्तिसंगत और ग्राह्य माना है। दार्शनिक दृष्टिकोण से यह पक्ष अभिहितान्वयवाद से श्रेष्ठ है। वाक्य के सप्तम और अष्टम लक्षण को मानने पर वाक्यार्थ संसृष्ट अर्थ होता है। इसका अभिप्राय यह है कि वाक्यार्थ वाक्य से पृथक् या अतिरिक्त नहीं है, वह पदों में ही रहता है, प्रत्येक पद अपने सामान्य अर्थ का ही बोध नहीं कराता है, अपितु अन्य पदों के अर्थ से समन्वित अर्थ का बोध कराता है। अतः इस पक्ष का मत है, कि पदार्थ या वाच्यार्थ ही वाक्यार्थ है। इस पक्ष को भी दो दृष्टि से रक्खा गया है एक का मत है कि संसृष्ट अर्थ वाक्यार्थ है और दूसरों का मत है कि क्रिया वाक्यार्थ है।

क्रिया और कारक का अभिन्न सम्बन्ध—भर्तृहरि और पुण्यराज ने इस मत के मौलिक सिद्धान्त को स्पष्ट किया है कि साध्य और साधन दूसरे शब्दों में क्रिया और कारक अत्यन्त समन्वित हैं। साधन और साध्य दोनों एकत्र नियम से रहते हैं। साधन अर्थात् कारक (कर्ता, कर्म, करण आदि) में क्रिया अवश्य रहती है। पतञ्जलि ने (महा० १, ४, २३) कारक की व्याख्या करते हुए अतएव कहा है कि कारक शब्द अन्वर्थ है, कारक इसलिए कहा जाता है कि "करोतीति कारकम्" (वह क्रिया करता है)। इसको स्पष्ट करते हुए कैयट ने प्रदीप में कहा है कि क्रिया साध्य है, अतएव शब्द के द्वारा क्रिया की ही प्रतीति होती है। क्रिया को सिद्ध करने वाले को कारक कहते हैं।। उसी कारक के अन्य नाम कर्म, करण, अपादान आदि है। भर्तृहरि अतएव कहते हैं कि जिस प्रकार साधन में साध्य (क्रिया) नियम से रहता है, उसी प्रकार क्रिया भी बिना साधन (कारक) के नहीं रहती है। क्रिया को करने वाला भी कोई अवश्य होता है। साध्य और साधन नियम से सर्वत्र रहते हुए भी जब आकांक्षा योग्यता आदि के द्वारा उनका अन्य पदार्थ के साथ सम्बन्ध होता है, तब वह नियम रूप में प्रकट हो जाता है। अतः भाव यह होता है कि एक पद में अन्य पदों का भाव भी रहता है। पदान्तर के भाव से युक्त पद को ही वाक्य कहते हैं। पदार्थ ही वाक्यार्थ होता है। पुण्यराज।

नियतं साधने साध्यं क्रिया नियतसाधना।
स सन्निधानमात्रेण नियमः सन् प्रकाशते ॥
वाक्य० २, ४८।

क्रिया प्रधान है और कारक गौण—इस पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि क्रिया और कारक दोनों में परस्पर अपेक्षा समान है तो कौन मुख्य है

और कौन गौण। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि नाम अर्थात् कारक क्रिया में गुण रूप से रहता है और अन्य पद की आकांक्षा करता है। क्रिया (क्रिया-वाचकशब्द) साध्य है, वह मुख्यरूप से रहता है और कारक पदों की अपेक्षा करती है। वाक्य० २, ४६।

इस मत में प्रत्येक पद में वाक्यार्थ रहता है, अतः प्रथम शब्द (पद) में ही या पृथक्-पृथक् सारे पदों में वाक्यार्थ की समाप्ति समझनी चाहिये। (वाक्य० २, १८) भर्तृहरि ने संसृष्ट अर्थ की व्याख्या करते हुए कहा है कि अभिहितान्वयवादी के मत में पहले पदों के अर्थों का अग्रिम पदों के साथ समन्वय होकर संसर्ग वाक्यार्थ होता है। किन्तु अन्विताभिधानपक्ष में इसके विपरीत, अग्रिम पदों से जो अर्थ कहा जाएगा, उन अर्थों से युक्त पहला ही पद होता है, अतः उससे संसृष्ट अर्थ निकलता है। इस पक्ष में आगे के शब्द उस संसृष्ट (समन्वित) अर्थात् अप्रकट या गुप्त अर्थ को स्पष्ट करने के लिए होते हैं। (पुण्यराज, वाक्य० २, ४१८)।

नैयायिकों का मत—जिस प्रकार मीमांसकों में दो मत है, उसी प्रकार नैयायिकों में भी दो दृष्टिकोण से विचार किया गया है। जिस प्रकार कुमारिल ने वाक्यार्थ को पदार्थ से पृथक् माना है उसी प्रकार जगदीश ने शब्दशक्तिप्रकाशिका में वाक्यार्थ को अपूर्व और विलक्षण माना है।

विलक्षणो बोधः। वाक्यार्थस्यापूर्वत्वेन। वाक्यार्थानामपूर्वत्वात्।
(श्लोक ३—५)

जयन्त ने वाक्यार्थ को अपूर्व या विलक्षण न कहकर संसृष्ट पदार्थों को वाक्यार्थ माना है। जयन्त का कथन है कि गौतम ने केवल पदार्थ का प्रतिपादन किया है कि "व्यक्त्याकृतिजातयस्तु पदार्थः" (न्याय० २, २, ६३)।

व्यक्ति आकृति और जाति तीनों पदार्थ हैं, गौतम ने पदार्थ के प्रतिपादन से ही वाक्यार्थ का भी प्रतिपादन मान लिया है। पदार्थों से अतिरिक्त जो वाक्यार्थ का प्रतिपादन नहीं किया है, उसका अभिप्राय यह है कि "पदार्थ एव वाक्यार्थः" (पदार्थ ही वाक्यार्थ) है। तो क्या इसी पक्ष का अनुमोदन करते हो कि पदार्थ वाक्यार्थ है। हाँ, यही मत है। एक पद का अर्थ वाक्यार्थ नहीं होता है, अपितु अनेक पदार्थों को वाक्यार्थ कहते हैं हमारे कथन का अभिप्राय यह है कि परस्पर संसर्गयुक्त पदार्थ समुदाय वाक्यार्थ होता है। संसर्ग ही अधिक है, इस प्रकार से जहाँ पर आधिक्य कहा जाता है, उसके विषय में यह विचार है कि विशेष के आक्षेप किए बिना संसर्ग नहीं हो सकता है, अतः विशेष वाक्यार्थ है, यह कहा जाता है। संसर्ग से वाक्यार्थ नहीं हो सकता, क्योंकि संसर्ग (सम्बन्ध) कोई पदार्थ नहीं है। "शुक्ल गाय को लाओ" इस पदार्थ समुदाय में संसर्गवाची पद है

ही नहीं। यदि रख दिया जाय तो भी उसका अन्वय नहीं होगा, जैसे "शुक्ल गाय को लाओ संसर्ग" इसमें संसर्ग का क्या अर्थ होगा। अतः संसृष्ट पदार्थ वाक्य है, संसर्ग नहीं। कहा भी गया है कि "सम्बद्ध पदार्थों से सम्बन्ध का ज्ञान होता है"। जैसे तन्तुओं से घट, घास विशेष से चटाई, पृथक् अवयवी होती है, उस प्रकार पदार्थ से पृथक् वाक्यार्थ नहीं मिलता है। जाति गुण क्रिया का ज्ञान होने पर भी अवयवी का ध्यान नहीं होता है। पदार्थ का अवयवी वाक्यार्थ नहीं है, क्योंकि आचार्य गौतम ने इस प्रकार इसका पृथक् उपदेश नहीं किया है।

यदि यह प्रश्न किया जाय कि गौण और प्रधान भाव के बिना संसर्ग नहीं होता है। एक वाक्य में बहुत से प्रधान नहीं होते हैं, ऐसा होने पर प्रधानता ही नहीं होगी। गुण बहुत हैं, अतः अनेक गुणों से रंजित एक कोई प्रधान होना चाहिए वही वाक्यार्थ हो, तद्विषयक ही होना चाहिए। इसका उत्तर है कि फिर भी वे पदार्थ संसृष्ट दिखाई देते हैं। उनसे बनाया हुआ कोई एक संसर्ग सिद्ध गुण प्रधान भाव ज्ञात नहीं होता है। गुण प्रधान भाव नियत नहीं है, जिससे यही एक प्रधान है यह व्यवस्था की जा सके; कहीं पर क्रिया प्रधान है, कारक गौण, जैसे चावल से यज्ञ करना चाहिए। कहीं पर कारक प्रधान है क्रिया गौण, क्योंकि द्रव्य अभीष्ट है, जैसे चावलों को साफ करता है। इसलिए गुण प्रधान भाव का नियम न होने से परस्पर संसृष्ट पदार्थ समुदाय वाक्यार्थ है, यही मानना श्रेयस्कर है।

आगे विचार के बाद जयन्त इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं यदि प्रतीति के आधार पर दोनों में से किसी एक को प्रधान मानना ही चाहिए तो यह मत है कि कारक साधन हैं, फल साध्य है क्रिया के द्वारा फल प्राप्त किया जाता है न कि फल से क्रिया। अतः दोनों में से फल को ही प्रधान मानना चाहिये। "फलस्यैव प्राधान्य-मिति सिद्धम्" अतएव गौतम ने फल को प्रवर्तक बताया है। (न्यायमंजरी, पृष्ठ ३३२–३३५)।

५—वाक्य का अर्थ क्रिया है।

वाक्य में क्रिया मूलतत्व है—वाक्य के ८ लक्षणों में से जिनका मत यह है कि आख्यात शब्द अर्थात् क्रिया वाचक शब्द वाक्य है, उनके मतानुसार वाक्य का अर्थ क्रिया है। (पुण्यराज २,१) भर्तृहरि ने इस मत पर विशेष विचार किया है। भर्तृहरि का कथन है कि वाक्य का प्रयोग इसलिए किया जाता है कि सत्तात्मक या निषेधात्मक अर्थ का बोध कराया जाय। वाक्य और वाक्यार्थ का व्यवहार किया जाता है। उनकी सत्यता है, अतः अर्थ के बोध कराने के लिए वाक्य का ही प्रयोग करते हैं। किन्तु व्यवहार में कोई भी सत्य

या असत्य पदार्थ ऐसा नहीं है जिसमें कि क्रिया का समावेश न हो। क्रिया का संसर्ग हुए बिना किसी पदार्थ की प्रतीति नहीं हो सकती है। अतः व्यवहार में क्रिया रहित पदार्थ नहीं हो सकता है। वाक्य० २,४३०—४३१।

क्रिया रहित वाक्य नहीं होता है—यदि यह प्रश्न किया जाय कि "सत्" (सत्ता) यह एक पद है। यह आकांक्षारहित सत्ता का प्रतिपादन करता है, इसमें क्रिया नहीं है, अतः क्रियाहीन भी पद होता है। इसका उत्तर भर्तृहरि देते हैं कि "वह था" "है" "नहीं था" 'नहीं है" इनमें से किसी न किसी क्रिया का सम्बन्ध यहाँ पर भी अवश्य मानना पड़ेगा। अन्यथा वाक्यार्थ की समाप्ति नहीं होगी है आदि क्रिया से रहित केवल पद की सार्थकता नहीं होती है। वाक्य में साध्य और साधन परस्पर अविनाभाव से रहते हैं अर्थात् एक के बिना दूसरा नहीं रह सकता। जिस प्रकार साधन क्रिया के बिना नहीं रहता है, अतः आकांक्षा के कारण आक्षेपक (लाने वाला) कहा जाता है, उसी प्रकार क्रिया भी कारक के बिना नहीं रह सकती है, अतः क्रिया शब्द के द्वारा वाच्य क्रिया अर्थ में कारक का कथन किए बिना आकांक्षा निवृत्त नहीं होती है। पुण्यराज, वाक्य० २,४३२ तथा मंजूषा, पृ० ४१३।

क्रिया की वाक्य में प्रधानता—वाक्याथ का ज्ञान क्रिया के ज्ञान से होता है, अतः वाक्य में क्रिया की प्रधानता के कारण उसी का पहले विभाजन किया जाता है कारक का नहीं। साध्य (क्रिया) की सिद्धि के लिए साधनों (कारकों) का प्रयोग किया जाता है। साधन अंग होते हैं, अतः इनकी प्रधानता न होने से उनका विभाजन नहीं किया जाता है। क्रिया का भी प्रयोजक फल है, अतः फल की अपेक्षा क्रिया गौण है। पुण्यराज, वाक्य० २,४३४।

क्रिया वाक्यार्थ है—क्रिया को अतएव वाक्यार्थ बताते हुए भर्तृहरि कहते हैं कि एक क्रिया दूसरी क्रिया से भिन्न है, क्योंकि प्रत्येक क्रिया के आधार और साधन नियत होते हैं। वाक्य में सर्वत्र विशेष क्रिया ही वाक्यार्थ रूप में सर्वप्रथम ग्रहण की जाती है। इस पर यह प्रश्न होगा कि वाक्य में फिर विशेषणों (अव्यय, कारक, विशेषण) का प्रयोग क्यों किया है, उसका उत्तर दिया है कि उन विशेषणों का प्रयोग क्रिया का वास्तविक रूप बताने के लिए है। वे केवल उपाय हैं। पुण्यराज, वाक्य० २, ४२१।

प्रतिभा का दृश्यरूप क्रिया है—वैयाकरण जिस प्रतिभा को वाक्यार्थ मानते हैं और जिसका विस्तार ही वाक्यार्थ है, वह यदि क्रिया का आश्रय न ले तो फल की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। फल की उत्पत्ति हो, अतः प्रतिभा वाक्य में क्रिया के रूप में दृष्टिगोचर होती है। पुण्यराज, वाक्य० २, १।

जयन्त ने न्यायमंजरी में मीमांसकों के अनुसार क्रिया को वाक्य का अर्थ

बताते हुए लिखा है कि वाक्य में क्रिया ही साध्यरूप से रहती है। जो साध्य है, वह साम्य होने के कारण प्रधान माना जाता है, उस साध्य का ही दूसरा नाम क्रिया है, वही वाक्य का अर्थ है। प्रत्येक दृष्टि से क्रिया की ही प्रधानता है अतः वह वाक्यार्थ है। जैमिनि ने अतएव मीमांसादर्शन में लिखा है कि द्रव्य गुण संस्कारों में क्रिया ही प्रधान है, क्योंकि ये क्रिया के लिए साधन हैं। क्रिया के आगे और कोई तत्त्व शेष नहीं रहता है। न्यायमंजरी, पृ० ३०३—३०४।

द्रव्यगुणसंस्कारेषु वादरिः। मीमांसा० ३, १, ३।

वाक्य का अर्थ भावना है।

मीमांसकों का मत—पुण्यराज का कथन है कि क्रिया और भावना में प्रायः समानता देखी जाती है, अतः भर्तृहरि ने इसका पृथक् विवेचन नहीं किया है। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में तथा जयन्त ने न्यायमंजरी में (पृ० ३०६—३१८) बहुत विस्तार से भावना को वाक्यार्थ मानने का विचार किया है। भावना का क्या अर्थ है, इसको स्पष्ट करते हुए जयन्त का कथन है कि भाव्यनिष्ठ अर्थात् भाव्य (स्वर्गादि) विषयक भावक (पुरुष) के व्यवहार को भावना कहते हैं। कुमारिल ने तन्त्रवार्तिक में कहा है कि जो वस्तु कभी भी हुई ही नहीं, जैसे आकाशकुसुम या जो कभी उत्पन्न ही नहीं होता अर्थात् सर्वथा नित्य जैसे आकाश, उसका कर्ता कोई नहीं होता है।

नित्यं न भवनं यस्य यस्य वा नित्यभूतता।
न तस्य क्रियमाणत्वं खपुष्पाकाशयोरिव॥
तन्त्रवार्तिक २, १।

स्वर्ग आदि इष्ट अर्थ आकाश और आकाशकुसुम से विलक्षण है, अतः उसको भाव्य कहते हैं, पुरुष के व्यापार को भावना कहते हैं। वह भाव्य अर्थात् स्वर्गादि में निष्ठावाला है, और स्वर्गादि का उत्पादक भी है। न्यायमंजरी, पृष्ठ ३०६–३०७।

भावना के विषय में मतभेद—भावना के स्वरूप के विषय में मतभेद हैं कोई उसका स्वरूप कुछ मानते हैं और कोई उससे भिन्न। जयन्त ने उनका उल्लेख किया है कि : (पृ० ३०८ ३०६)।

१—भावार्थक, क्रियावाचक जो शब्द हैं जो कर्म के बोधक हैं उनसे भावना का ज्ञान होता है। "यजेत" यज्ञ करना चाहिए आदि शब्दों से वह भावना का ही अर्थ किया जाता है। यज्ञ करता है, आदि शब्दों से भावना नामक अनुष्ठान करने योग्य पुरुष के व्यापार की प्रतीति होती है। यह भावना कुछ विशेष शब्दों से ही प्रतीत होती है, सबसे नहीं।

२—भावना एक क्रिया विशेष ही है जो कि पुरुष के अन्दर व्यापार रूप से है। बाहर उसका स्पन्दात्मक रूप है, वह क्रिया के लक्षण से कुछ विलक्षण है।

३—पुरुष के प्रयत्न को ही भावना कहते हैं, जिससे कि पुरुष उदासीनता की दशा के अभाव को प्राप्त करता है।

४—धातु के अर्थ को भावना कहते हैं, वह प्रत्येक धातु के अर्थ में रहती है। यज्ञ करना, दान देना आदि सभी क्रियाओं में अनुस्यूत है, जिस प्रकार गोत्व आदि जाति सब गाय आदि में रहती है।

वाक्यार्थ भावना है—कुमारिल ने अतएव श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में कहा है कि प्रत्येक वाक्य में आख्यात (क्रिया) रहती है, अतः वाक्य का अर्थ भावना ही है। पार्थसारथिमिश्र ने कुमारिल के भाव को, स्पष्ट किया है कि "शुक्ला गौः (सफेद गाय) में क्रिया नहीं है, यहाँ भावना अर्थ कैसे होगा, उसका उत्तर दिया है कि वहाँ क्रियापद का अध्याहार (आक्षेप) करना चाहिए, अन्यथा वाक्य पूर्ण नहीं होगा।

भावनैव हि वाक्यार्थः सर्वत्राख्यातवत्तया।
श्लोक० वाक्य० २३०।

कुमारिल ने भावना को अर्थ मानने में जो आक्षेप किए गए हैं, उनका आगे विस्तार से उत्तर दिया है।

अन्विताभिधान पक्ष का खण्डन

पदों को निरर्थक मानना पड़ेगा—भर्तृहरि तथा पुण्यराज ने अन्विताभिधानवाद का अर्थविज्ञान और ध्वनिविज्ञान दोनों प्रकार से खण्डन किया है, अन्विताभिधानवादियों का यह कथन कि पहले ही पद से सारे वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाता है, आगे के शब्द उस अर्थ को ही स्पष्ट करने के लिए हैं। उस पर आक्षेप किया है कि यदि एक ही पद से सारे विशेष अर्थों से युक्त सम्पूर्ण वाक्य का अर्थ ज्ञात हो जाएगा तो अगले पदों का उच्चारण करना निष्प्रयोजन होगा। जिन पदों का अर्थ पहले ही ज्ञात हो चुका है, उनके फिर कहने से उनको निरर्थक मानना पड़ेगा। इसके दो उत्तर हो सकते हैं एक यह कि ज्ञात हुए अर्थ की फिर आवृत्ति नियम करने के लिए है, अथवा उसमें नियम था उसको स्पष्ट करने के लिए है। दूसरा यह कि कहे हुए अर्थ स्पष्ट करने के लिए यह अनुवाद मात्र है, अतः अगले पदों का उच्चारण निरर्थक नहीं होगा। यह समाधान ठीक नहीं है एक पद में सारे अर्थ की प्रतीति मान लेने पर अगले पदों को अनर्थक मानना ही पड़ेगा। साथ ही यह भी है कि एक पद से सारे वाक्य के अर्थ की

प्रतीति नहीं होती है, यह भी सत्य है। अतः यह कहना कि व्यक्त की अभिव्यक्ति के लिए अन्य पद है, यह कोई समाधान नहीं है, क्योंकि एक पद से वाक्यार्थ का ज्ञान मानते हो और अन्यों को अभिव्यंजक। यदि यह कहा जाय कि सारे पदों से सामूहिक रूप से वाक्यार्थ का ज्ञान होता है तब अन्विताभिधानपक्ष ही सिद्ध नहीं होता, क्योंकि पहला पद नष्ट हो चुका, उसकी सत्ता न होने से उसका अगले पदों से अन्वय नहीं हो सकता है, अतः वाक्य के अर्थ का ज्ञान भी नहीं होगा। एक पद से सम्पूर्ण अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। अतः अगले पद जिनका कि अर्थ ज्ञात नहीं है, वह न नियम के लिए हो सकते हैं और न अनुवाद के लिए।

यदि यह माना जाय कि वाक्यार्थ सारे पदों के एकमात्र समूह में रहता है और प्रत्येक में उसकी समाप्ति होती है, तब सबको वाक्य में रखने में निरर्थकता नहीं होगी। परन्तु उस अवस्था में उसे अन्विताभिधानपक्ष कहना ठीक नहीं है, क्योंकि सार्थकता प्रत्येक पद में नहीं रही, अपितु अखण्ड समुदाय में सिद्ध होती है। पुण्यराज वाक्य० २,१८ तथा २,११७।

पद और वर्ण की सिद्धि नहीं होगी—यदि यह माना जाय कि वाक्य में विद्यमान पद के अतिरिक्त एक अखण्ड निर्विभाग वाक्य नहीं है तो उस अवस्था में पदों में भी वर्णों की सत्ता सिद्ध होती है, क्योंकि वर्ण से अतिरिक्त पद भी नहीं है, अतः अवयव से अतिरिक्त अवयवी अर्थात् पदों के अतिरिक्त वाक्य को मानना आवश्यक है। अन्यथा अवयव से पृथक् अवयवी को न मानने पर अवयवों के भी अवयव मानने पड़ेंगे। पदों के वर्ण, वर्णों के भी अवयव वर्णभाग, उनके भी अवयव, इस प्रकार परमाणु तक अवयव मानने पड़ेंगे। कुछ के मत में अणु के भी छः भाग हैं, इस प्रकार अणु के भी अवयव मानने पर कुछ भी अवयवी शेष नहीं रहता है और किसी पदार्थ का उल्लेख नहीं हो सकता है। इस प्रकार के पक्षों को मानने पर सारा संसार ही अव्यवहार्य और अनुल्लेखनीय मानना पड़ेगा।

इसका परिणाम यह होगा, कि कोई वर्ण नहीं होगा, जब वर्ण नहीं होगा तो पद भी नहीं होगा, और न पदों से वाक्य। उक्त रूप से अखण्ड वाक्य को न मानने पर पदों की सिद्धि नहीं हो सकती है। अतः अवयव से अतिरिक्त अवयवी मानकर जिस प्रकार अखण्डवर्ण को मानते हैं, उसी प्रकार अखण्ड वाक्य की सत्ता माननी चाहिये। जब तक किसी एक अखण्ड को वाचक नहीं मानेंगे तब तक अर्थज्ञान नहीं होगा। वाक्य से वाक्यार्थ का ज्ञान देखा जाता है, वह बिना कारण नहीं है, अतः एक नित्य अखण्ड वाक्य की सत्ता सिद्ध होती है। पदों के द्वारा उसकी अभिव्यक्ति होती है। पुण्यराज, वाक्य० २, २८—२९।

पदानि वाक्ये तान्येव वर्णास्ते च पदे यदि।
वर्णेषु वर्णभागानां भेदः स्यात् परमाणुवत् ॥
वाक्य० २, २८।

पदार्थ से भिन्न वाक्यार्थ—यदि पदार्थ को ही वाक्यार्थ मानें तो एक यह दोष आता है कि कितने ही वाक्यों में पहले पदों से कुछ अर्थ ज्ञात होता है और वाक्य समाप्त होने पर कुछ भिन्न ही अर्थ ज्ञात होता है। उसको पदार्थ नहीं कह सकते जैसे एक वाक्य पतञ्जलि ने दिया है कि :—

अनड्वाहमुदहारि या त्वं हरसि शिरसा कुम्भं भगिनि साचीनमभिधावन्त-मद्राक्षीरिति। महा० १, १, ५७।

इसका पहले शब्दार्थ यह ज्ञात होता है कि "हे पानी ले जाने वाली बहन जो कि तू सिर पर बैल को ले जा रही है, क्या तू ने तिरछे दौड़ते हुए घड़े को देखा है"। पतञ्जलि का कथन है कि वाक्य में जो शब्द यथा स्थान नहीं रक्खे हुए होते हैं उनको यथास्थान रखकर वाक्यार्थ जाना जाता है। उक्त वाक्य का अन्वय करने पर ठीक वाक्यार्थ यह होता है कि "हे पानी ले जाने वाली बहन, जो कि सिर पर घड़ा ले जा रही है, क्या तूने तिरछे दौड़ते हुए बैल को देखा है"। भर्तृ-हरि का कथन है कि पदार्थ को वाक्यार्थ मानने पर वाक्य के अन्त में जो अन्य अर्थ का ज्ञान हुआ है, वह नहीं हो सकता। वाक्य० २, २४८।

व्यङ्ग्यार्थ में पदार्थ का अभाव—भर्तृहरि ने और दोष दिया है कि व्यङ्ग्यार्थ वाले भी वाक्य होते हैं, जिनका शाब्दिक अर्थ प्रशंसा है, परन्तु वाक्यार्थ निन्दा होता है और कुछ ऐसे भी वाक्य होते हैं जिनका शब्दार्थ निन्दा है, परन्तु व्यङ्ग्यार्थ प्रशंसा है। ऐसे वाक्यों में पदार्थ की सत्ता नहीं मानी जा सकती है, अतः अन्विताभिधान को वास्तविक समझना ठीक नहीं है। पद से अतिरिक्त वाक्य है और पदार्थ से अतिरिक्त वाक्यार्थ है। वाक्य० २, २४९।

६—वाक्य का अर्थ प्रतिभा है।

भावनाभेद से अर्थभेद—यहाँ पर यह प्रश्न स्वाभाविक है कि यदि वाक्यार्थ एक ही है, तो उसके विषय में अनेक मत क्यों हुए। इसका उत्तर भर्तृ-हरि ने दिया है कि वाक्यार्थ एक होने पर भी उसके विषय में अनेकों विकल्प पुरुषों की अनेकों भावनाओं के कारण हैं। इस विषय में प्राचीन आचार्यों के बहुत मत थे। उन मतों के अनुसार ही व्यक्तियों की विभिन्न भावनाएँ हो जाती हैं। वाक्यार्थ वस्तुतः एक ही रहता है, भावना भेद से उसे विभिन्न समझते हैं। वाक्य० २, ११८।

अविकल्पेऽपि वाक्यार्थे विकल्पा भावनाश्रयाः। वाक्य० २, ११८।

वाक्यार्थ प्रतिभा है—पुण्यराज ने निर्देश किया है कि अखण्ड पक्ष के तीनों वाक्य के लक्षणों में प्रतिभा वाक्य का अर्थ है। (वाक्य० २, १) नवनवोन्मेष-शालिनी प्रज्ञा को ही प्रतिभा कहा जाता है। प्रतिभा को वाक्यार्थ कहने का क्या अभिप्राय है, इसको स्पष्ट करते हुए नागेश ने कहा है कि वाक्य का अर्थ प्रतिभा का ही विषय है। प्रतिभा का विषय होने से वाक्यार्थ के लिए प्रतिभा शब्द का व्यवहार होता है। मंजूषा, पृ० ४१७।

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के वाक्याधिकरण में प्रतिभा के विषय में अपना मत प्रकट किया है कि पदार्थों के विषय में मनुष्यों की प्रतिभा विभिन्न प्रकार की उत्पन्न होती हैं, फिर भी वाक्य का अर्थ बाह्य पदार्थ ही मानना चाहिए। यदि प्रतिभा को वाक्यार्थ मानने का यह अभिप्राय है कि प्रतिभा वाक्य का प्रयोजन है या प्रतिभा वाक्य से उत्पन्न होती है, तब उसको वाक्य का अर्थ मानने में हमें कोई आपत्ति नहीं है। श्लोक० ३२५ ३२७।

जयन्त ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानने के विषय में विचार करते हुए कहा है कि प्रतिभा ज्ञान है, वह शब्द से उत्पन्न होती है। वह शब्द का विषय नहीं है, जैसे रूप का ज्ञान चक्षु का। एक स्त्री को प्रत्येक व्यक्ति अपनी वासना के अनुसार वैसा ही समझता है, कोई उसे घृणित समझता है, कोई प्रिया और कोई उसे उप-भोग्य। इस प्रकार से प्रत्येक की प्रतिभा विभिन्न होती है। 'व्याघ्र आया" कहने पर शूरों को उत्साह, कायरों को भय होता है, इतने से प्रतिभा को शब्दार्थ नहीं कह सकते। यदि वाक्य का प्रयोजन होने के कारण उसको वाक्यार्थ मानते हो तो वह मान्य है। प्रतिभा के विषय पदार्थ वाक्यार्थ हैं, प्रतिभा वाक्य का अर्थ नहीं है। न्यायमंजरी, पृ० ३३५ - ३३६ ।

नागेश ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानने में जो भ्रम या कठिनाई थी, उसको स्पष्ट कर दिया है कि प्रतिभा का विषय होने के कारण वाक्यार्थ को ही प्रतिभा कह दिया है।

भर्तृहरि और पुण्यराज ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानकर उसकी जो व्याख्या की है उसका सारांश निम्न है। वाक्य० २, ११६—१२० तथा १४५—१५४।

जो कोई भी शब्द है, वह प्रतिभा का कारण है, अतः वस्तुतः प्रतिभा ही एक वाक्य का अर्थ है। शब्द प्रतिभा को जागृत करता है, शब्द के सुनने से जिस व्यक्ति की जिस प्रकार की प्रतिभा जागृत होती है, वही उसके लिए उस शब्द का अर्थ होता है। प्रत्येक की प्रतिभा समान नहीं होती है, अत सबको एक शब्द से एक ही ज्ञान नहीं होता है। ऐसी स्थिति में वस्तु का क्या स्वरूप है, यह ऐसा है रूप में कोई नहीं बता सकता है। प्रत्येक पुरुष अपनी प्रतिभा के अनुसार उसको उस रूप में समझता है, जानता है और देखता है, प्रतिभा अखण्ड है। अतः वाक्यार्थ

अखण्ड और एक होता है। उसका स्वरूप व्यक्ति की प्रतिभा पर निर्भर है। शब्द ज्ञानवान् प्राणियों की ही प्रतिभा को उद्बुद्ध नहीं करता है, अपितु बालक पशु-पक्षी आदि को भी अर्थ का ज्ञान कराता है। बालकों, पशु, पक्षियों आदि को अनादि वासना के कारण शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है। प्रत्येक की प्रतिभा अपनी-अपनी विभिन्न जाति के अनुसार नियत है। उसी का प्रबोध होता है, उसी के आधार पर सारा व्यवहार होता है। यह प्रतिभा सारे प्राणियों द्वारा अनुभव की जाती है। यह शब्द का कारण है। समस्त व्यवहारों का मूल कारण है। अतः प्रतिभा को वाक्यार्थ मानना चाहिए।

प्रतिभा स्वाभाविक होती है—अभ्यास के कारण शब्द को प्रतिभा का कारण माना गया है। वह अभ्यास (संस्कार) इस जन्म का होता है या जन्मान्तर का और उसका क्या स्वरूप है, इसका उत्तर दिया है कि वह इस जन्म का नहीं होता है। बालक को उसका कोई उपदेश नहीं देता है, वह पूर्व जन्म का ही है। उसी को समय या संकेत नाम दिया जाता है। यह प्रतिभा स्वाभाविक होती है। इसका ज्ञान इस प्रकार से होता है कि वह सहसा इस बात को बता देती है कि यह करना चाहिए। कोड़ा लगते ही घोड़ा चल पड़ता है और अंकुश के मारते ही हाथी यह समझ जाता है कि मुझे यह करना चाहिए। इस प्रकार सारे प्राणी अनादि वासनामूलक अभ्यास के कारण प्रतिभा से अपने कार्यों को करते हैं।

वाक्य से प्रतिभा का प्रबोध—वाक्य में अवास्तविक पदार्थों के द्वारा अभिव्यक्त प्रतिभा को वाक्यार्थ कहा जाता है। विभिन्न पदों को विच्छिन्न रूप में ग्रहण करने पर भी वाक्यार्थज्ञान के समय प्रतिभा एक और पदार्थ बुद्धि से पृथक् होती है। वैयाकरण इसी को वाक्यार्थ मानते हैं। प्रतिभा का क्या स्वरूप है, इसका "यह है" इस रूप में कोई वर्णन नहीं किया जा सकता है। यह स्वानुभव सिद्ध है, परन्तु अनुभवकर्त्ता भी उसका निरूपण नहीं कर सकता।

प्रतिभा सारे रूपों वाली है—प्रतिभा का स्वभाव यह है कि वह असम्मिलित पदार्थों में भी अज्ञातरूप से मेल करा देती हैं। वही सारे स्वरूपों वाले वाक्यों में स्वरूप वाली होकर वाक्य का विषय बन जाती है। इसका भाव यह है कि सारे वाक्य प्रतिभा का आश्रय लेकर अर्थ बोध कराने में सफल होते हैं।

प्रतिभा साक्षात् शब्द से भी उत्पन्न होती है, अर्थात् व्यावहारिक काल में शब्द से प्रतिभा का उदय होता है। यह जन्मान्तर की भावना के कारण भी रहती है, जैसे पशु-पक्षियों आदि में। कोई भी इस प्रतिभा का उल्लंघन नहीं कर सकता है। इसका भाव है कि प्रतिभा को ही सारा संसार प्रमाण

मानता है, पशु पक्षी आदि भी प्रतिभा के आधार पर ही अपने सारे कार्य करते हैं।

प्रतिभा स्वभाव-सिद्ध है—जिस प्रकार प्रत्येक द्रव्य में स्वाभाविक मन्द आदि शक्तियां देखी जाती हैं, उसी प्रकार प्रतिभाशाली प्राणियों को विशेष संस्कारों से उत्पन्न प्रतिभा का स्पष्टतया ज्ञान होता है। यह प्रतिभा पूर्व जन्म के अभ्यासों के कारण होती है जैसे वसन्त ऋतु में कोयल की ध्वनि को कौन बदलता है। पक्षियों को घोंसला बनाना किस ने सिखाया? मकड़ी को जाला बनाना कौन बताता है? यह सब स्वाभाविक प्रतिभा के कारण है। भोजन करना, प्रेम करना, द्वेष करना, कूदना, आदि क्रियाएँ, जो कि जाति विशेष में प्रसिद्ध होती हैं, उन्हें पशु-पक्षियों को कौन सिखाता है। इन उदाहरणों से ज्ञात होता है कि प्रतिभा समस्त जीवों में रहती है। वह स्वाभाविक है। उसी से ज्ञान होता है।

प्रतिभा का मूलकारण शब्द है—भर्तृहरि ने यह सिद्ध करने के पश्चात् कि ऐसा कोई जीव नहीं है जिसमें प्रतिभा किसी न किसी स्वरूप में नहीं हो, यह सिद्ध किया है कि प्रतिभा का मूलकारण शब्द ही है, चाहे वह इस जन्म की हो या पूर्व जन्मों की। प्रतिभा का विकास शब्द के बिना नहीं हो सकता है। यह प्रतिभा शब्द के द्वारा इस जन्म में भी प्रबुद्ध होती है और कभी यह जन्मान्तरीय होती है। अन्ततोगत्वा प्रतिभा का मूल शब्द को ही मानना पड़ता है।

प्रतिभा छः प्रकार की होती है—भर्तृहरि ने इस प्रतिभा को निमित्त भेद से छः प्रकार का माना है। इसका भाव यह है कि प्रतिभा सब में रहती है, परन्तु उसमें भेद आश्रय भेद से होता है। वस्तुतः प्रतिभा में कोई भेद या विभाग नहीं है। कहीं पर यह स्वाभाविक होती है, जैसे पशु-पक्षियों आदि में। कहीं चरण (आचरण, क्रिया), अभ्यास, योग (योगाभ्यास, ध्यान, समाधि), अदृष्ट (पूर्वजन्म के शुभाशुभकर्म) तथा विशेष अर्थात् किसी योगी ऋषि आदि के द्वारा आधान के कारण यह प्रतिभा जागृत होती है।

स्वभावचरणाभ्यासयोगादृष्टोपपादिता।
विशिष्टोपहिता चेति प्रतिभां षड्विधां विदुः॥

वाक्य० २, १५४।

प्रतिभा का भावार्थ—भर्तृहरि ने वाक्य को अखण्ड और अवयवरहित नित्य माना है। उनके मत से वाक्यार्थ वाक्य का ही विकास है। अखण्ड और नित्य वाक्य का विकास प्रतिभा है। वह स्वाभाविक आदि भेद से ६ प्रकार की है। शब्द को वे शब्दतत्त्व (परब्रह्म) मानते हैं। सृष्टि के मूल में यही शब्दतत्त्व रहता है। उसी की ध्वनि (प्रतिभा) है। परब्रह्म की प्रतिभा जीवात्मा है। इस

विकास का परिणाम सृष्टि है। यह प्रतिभा जिस प्रकार मूलतत्त्व में रहती है उसी प्रकार संसार के सूक्ष्म और स्थूल प्रत्येक तत्त्व में रहती है। मनुष्य पशु-पक्षियों आदि में वह प्रतिभा के रूप में है। संसार का शब्दशास्त्र मनुष्य की प्रतिभा का उद्‌गार है। प्रतिभा ही शब्दतत्त्व को समझती है और उसको शब्द शास्त्र के रूप में मूर्तरूप दे देती है अतएव भर्तृहरि ने प्रतिभा को वाक्यार्थ मानने पर इतना बल दिया है। किसी और तत्त्व को मानने में भले ही किसी को विप्रतिपत्ति हो, परन्तु प्रतिभा को मानने में किसी को आपत्ति नहीं हो सकती। वही परब्रह्म की ध्वनि है, परब्रह्म का मूर्तरूप है। उसका साक्षात्कार वाक्यार्थ का साक्षात्कार है।

अध्याय ९

स्फोटवाद और अर्थविज्ञान

वाक्य और वाक्यार्थ के विषय में इससे पूर्व लिखा जा चुका है। वैयाकरणों ने भाषातत्त्व पर बाह्य दृष्टिकोण से ही विचार नहीं किया है, अपितु उसके मौलिक तत्त्व पर अन्तर्दृष्टि से भी विचार किया है। शब्द और अर्थ का क्या स्वरूप है, उनका परस्पर क्या सम्बन्ध है, अर्थ का विकास कैसे होता है, अर्थ में नित्यता है या अनित्यता, आदि विषयों का विचार वैयाकरणों ने स्फोटवाद में किया है। सार्थकता वर्ण में है या पद में या वाक्य में। इनका वास्तविक रूप क्या है, यह सब स्फोटवाद का विषय है। अर्थविज्ञान का विषय है, अर्थ विषयक सभी प्रश्नों पर विचार करना, परन्तु स्फोटवाद का विषय शब्द और अर्थ दोनों के सभी तात्त्विक प्रश्नों पर विचार करना है। वैयाकरणों के मतानुसार शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो विभिन्न भाग हैं, अतएव भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के प्रथम काण्ड में स्फोट और ध्वनि दोनों पर विचार किया है। अन्तर्दृष्टि से देखा जाय तो शब्द और अर्थ एक ही तत्त्व है। अर्थ शब्द का ही विवर्त है। वाक्य-स्फोट अर्थात् अर्थ-समन्वित शब्द का प्रायोगिक स्वरूप देखा जाय तो वह वाक्य रूप है। उसमें दो तत्त्व रहते हैं। एक स्फोट और दूसरा ध्वनि। स्फोट के कारण सार्थकता है और ध्वनि के कारण व्यावहारिक उपयोगिता। स्फोटवाद का मौलिक अभिप्राय यह है कि शब्दतत्त्व का वास्तविक स्वरूप क्या है, उससे अर्थतत्त्व का विकास कैसे होता है, शब्दतत्त्व से अर्थतत्त्व का विकास होने पर अर्थतत्त्व का क्या स्वरूप होता है।

स्फोटवाद का प्रारम्भ

स्फोटायनऋषि से प्रारम्भ—स्फोटवाद का प्रारम्भ कब हुआ, इसका क्या इतिहास है, यह निश्चित और असंदिग्ध रूप से नहीं कहा जा सकता। भूमिका में इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि स्फोटवाद के मौलिक सिद्धान्त का वेद और ब्राह्मणग्रन्थों आदि में उल्लेख मिलता है कि शब्द (वाक्-तत्त्व) नित्य है, अखण्ड है, उससे ही अर्थ (सृष्टि) का विकास होता है। पद-कार अर्थात् वैयाकरण उस वाक्यात्मक शब्दशास्त्र का विश्लेषण करके उसे सुबोध

और सरल बनाते हैं। वेद और ब्राह्मण-ग्रन्थों में शब्द, वाक्, गो आदि शब्द इस भाव को प्रकट करने के लिए प्राप्त होते हैं, परन्तु वेदादि में स्फोटशब्द इस भाव को व्यक्त करने के लिए प्राप्त नहीं होता है, अतः वाद के रूप में स्फोटवाद का प्रारम्भ कब हुआ यह अनिश्चित है। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में एक सूत्र दिया है 'अवङ् स्फोटायनस्य' (अष्टा० ६, १, १२३) जिसमें आचार्य स्फोटायन का नाम दिया है। इस नाम में स्फोटशब्द सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। हरदत्त ने उक्त सूत्र में आये हुए स्फोटायन नाम की व्याख्या काशिका की टीका पदमंजरी में की है कि स्फोटायन नाम के एक महान् वैयाकरण थे, उनका नाम स्फोटायन इसलिए पड़ा था कि स्फोट के सिद्धान्त का उन्होंने अयन अर्थात् पारायण किया था, और स्फोटवाद के प्रतिपादक थे।

स्फोटोऽयनं पारायणं यस्य स स्फोटायनः स्फोट प्रतिपादनपरो वैयाकरणाचार्यः
पदमंजरी, काशिका, ६, १, १२३।

नागेश ने स्फोटवाद पुस्तक में इस बात को स्वीकार किया है कि यह स्फोटवाद स्फोटायन ऋषि का मत है अर्थात् इस वाद का प्रारम्भ उनसे हुआ है।

वैयाकरणनागेशः स्फोटायन ऋषेर्मतम्।
परिष्कृत्योक्तवांस्तेन प्रीयतां जगदीश्वरः॥
(पृ० १०२ अड्यार लाइब्रेरी सीरीज नं० ५५)

यास्क ने निरुक्त के प्रारम्भ में (पृष्ठ १, १—२) शब्द की अनित्यता को मानने वाले आचार्य औदुम्बरायण के मत का खण्डन करके अपना मत स्पष्ट किया है कि शब्द नित्य है, व्यापक है, अणु से भी सूक्ष्म है। दुर्गाचार्य ने इसकी व्याख्या में स्फोटवाद की व्याख्या की है।

व्याप्तिमत्त्वात्तु शब्दस्याणीयस्त्वाच्च। निरुक्त १, २।

पाणिनि का मत—कात्यायन और पतञ्जलि ने इस बात पर विचार किया है कि आचार्य पाणिनि का क्या मत था। दोनों ने 'सिद्धे शब्दार्थसंबन्धे' (महा० आ० १) की व्याख्या में यह स्पष्ट किया है कि पाणिनि शब्द को नित्य मानते थे। वे भी स्फोटायन के तुल्य स्फोटवाद के समर्थक थे। पाणिनि के निम्न तीन सूत्रों से स्फोटवाद का भाव और पाणिनि का मत स्पष्ट हो जाता है।

'सर्वत्र विभाषा गोः', 'अवङ्स्फोटायनस्य', 'इन्द्रे च नित्यम्'। (अष्टा० ६, १, १२२ - १२४) पतञ्जलि ने अन्त के दोनों सूत्रों का भाव पारिभाषिक प्रक्रिया अर्थात् उदात्त अनुदात्त आदि की व्याख्या से स्पष्ट किया है। भट्टोजिदीक्षित और काशिकाकार वामन जयादित्य ने इसको चार उदाहरणों द्वारा स्पष्ट किया है। गो अग्रम्, गोऽग्रम्, गवाग्रम्, गवेन्द्रः। वर्णवादी वर्ण को सार्थक मानकर उसका पृथक्

अस्तित्व स्वीकार करते हैं। पदवादी वर्णों को अनर्थक मानकर पद को सार्थक मानते हैं, परन्तु वाक्य में पद की सत्ता मानते हैं। वाक्यवादी पद और वर्ण दोनों को अनर्थक मानते हैं, केवल वाक्य को सार्थक मानते हैं। प्रथम दो उदाहरण वर्णवादी और पदवादी का मत बताते हैं, तृतीय उदाहरण वाक्यवादी स्फोटायन का मत बताया है और चतुर्थ उदाहरण पाणिनि का मत बताता है। पाणिनि का गो शब्द को रखकर इन उदाहरणों को बताने का भाव यह ज्ञात होता है कि उन्होंने गो शब्द को शब्दतत्त्व का प्रतिनिधि रखकर स्फोटवाद पर विभिन्न मतों का उल्लेख किया है और अन्त में गवाग्रम् और गवेन्द्रः उदाहरणों द्वारा यह स्पष्ट किया है कि वस्तुतः वाक्य ही सार्थक होता है, उसमें वर्णों और पदों का अर्थ नहीं है। ओ को अवङ् करके शब्द के दो विभाग स्फोट और ध्वनि दोनों की व्याख्या की है। इसको इस प्रकार समझा जा सकता है 'ओ' बराबर है 'अवङ्' के। 'अवङ्' में तीन भाग हैं ओ (अव्)-अ-ङ्, ओ स्फोट का भाव बताता है कि अवङ् में भी स्फोट अर्थात् ओ का अंश उतना ही है। अङ् ध्वनि का भाव बताता है, आगे उल्लेख किया जायगा कि ध्वनि के भी दो भेद हैं, एक प्राकृत (मौलिक) और दूसरी वैकृत (अनुरणनरूपात्मक) अङ् में अ प्राकृत ध्वनि की व्याख्या करता है और ङ् वैकृत ध्वनि की।

व्याडि का मत—कात्यायन और पतञ्जलि स्फोटवाद के समर्थक हैं। इस विषय पर उनसे भी पूर्व आचार्य व्याडि ने अपने संग्रह नामक ग्रन्थ में बहुत विस्तार से शब्द के नित्यत्व और अनित्यत्व पर विचार किया था। अतएव पतञ्जलि ने 'किं पुनर्नित्यः शब्दः, आहोस्वित् कार्यः' (शब्द नित्य है कि अनित्य) (महा० आ० १) के विवरण में कहा है कि संग्रह में इस विषय पर मुख्य रूप से विचार किया गया है कि शब्द नित्य है या अनित्य। दोनों पक्षों के दोष और गुण बताए गये हैं। अंत में निर्णय दिया है कि यद्यपि शब्द नित्य है, तथापि अनित्य है। दोनों प्रकार से नियम सूत्र बनाने चाहिये। नित्य और अनित्य दोनों मानने का अभिप्राय यह है कि यद्यपि शब्द स्फोटरूप से नित्य है तथापि ध्वनिरूप से अनित्य है।

पतञ्जलि के विवेचन का आधार आचार्य व्याडि का सग्रह ग्रन्थ था। संग्रह के कुछ श्लोक पुण्यराज ने उद्धृत किए हैं जिनसे स्फोटवाद के मौलिक प्रश्नों पर प्रकाश पड़ता है। स्फोट और ध्वनि के विषय में आगे पतञ्जलि और भर्तृहरि के विवेचन का उल्लेख करते हुए विशेष विस्तार से लिखा जाएगा । यहाँ पर सूत्ररूप में व्याडि के विचारों का उल्लेख किया जायगा।

स्फोटवाद और अद्वैतवाद की समानता—स्फोटवाद के विवेचन में यह विशेषरूप से स्मरण रखना चाहिए कि स्फोटवाद अद्वैतवाद या ब्रह्मवाद का ही वैयाकरणरूप है। दोनों विवेचनों में कोई मौलिक अन्तर नहीं है। 'शब्द-

कौस्तुभ' में (पृ० १२) भट्टोजिदीक्षित ने इसका स्पष्ट उल्लेख किया है। जिस प्रकार अद्वैतवाद में भी विभिन्न मत हो गए हैं, उसी प्रकार स्फोटवाद के विषय में भी विभिन्न मत हैं। अद्वैत वेदान्त आत्मा को ज्ञानरूप मानता है। आत्मा ज्ञानरूप है और ज्ञाता भी है। ज्ञाता वस्तुतः ज्ञान से पृथक् नहीं होता। ये दोनों भिन्न वस्तु नहीं हैं। अद्वैतवादी आत्मा की अद्वैतता को मानकर उसे ब्रह्म नाम देते हैं। अखण्ड नित्य निर्विशेष ब्रह्म से सृष्टि की उत्पत्ति के मूल में ब्रह्म की बीज शक्ति को माया नाम देते हैं। माया में दो शक्तियाँ होती हैं आवरण तथा विक्षेप। आवरण शक्ति ब्रह्म के शुद्ध स्वरूप को ढक लेती है और विक्षेप शक्ति उस ब्रह्म में सृष्टि के प्रपंच को उत्पन्न करती है। (दृग्दृश्यविवेक, श्लोक १३—१५)। निर्विशेष ब्रह्म माया के द्वारा अवच्छिन्न होने पर सविशेष या सगुण रूप को प्राप्त होता है। तब उसे ईश्वर कहते हैं। विश्व की सृष्टि, स्थिति तथा प्रलय का कारण यही ईश्वर है। वेदान्त के अनुसार ईश्वर ही जगत् का उपादान कारण भी है। जगत् की सृष्टि ईक्षण के द्वारा होती है। अन्तःकरण में रहने वाले चैतन्य को जीव कहते हैं। जीव के विषय में शंकराचार्य का मत है कि (शांकरभाष्य २, ३, १७) शरीर तथा इन्द्रिय-समूह के अध्यक्ष और कर्मफल के भोक्ता आत्मा को ही जीव कहते हैं। जीव की उत्पत्ति के विषय में शंकराचार्य का कथन है कि (शांकरभाष्य २, ३, १७) शरीर आदि उपाधियों की ही उत्पत्ति होती है, नित्य आत्मा कभी उत्पन्न नहीं होता है। जगत् असत्य है। जगत् को असत्य या मिथ्या मानने का क्या भाव है, इसकी व्याख्या शंकराचार्य ने विज्ञानवादियों के मत का खण्डन करते हुए की है। यह कथन कि जगत् के समस्त पदार्थ स्वप्नवत् मिथ्या हैं, सर्वथा उपहासास्पद है। शंकराचार्य का कथन है कि बाह्य अर्थ की उपलब्धि सर्वदा साक्षात् रूप में हमें हो रही है। प्रतिक्षण अनुभूयमान पदार्थों की सत्ता उनके ज्ञान के अतिरिक्त न मानना उसी प्रकार उपहासास्पद है, जैसे स्वादु भोजन करके तृप्त होने वाला पुरुष, जो न तो अपनी ही तृप्ति को माने, न भोजन की बात स्वीकार करे। (शांकरभाष्य २, २, २८) असत्य मिथ्या या अनित्य का यह भाव नहीं है कि वह सर्वथा काल्पनिक है। अतः शंकराचार्य ने सत्य की परिभाषा यह की है कि "यद् रूपेण यन्निश्चितं तद् रूपं न व्यभिचरति, तत् सत्यम्" अर्थात् जिस रूप से जो पदार्थ निश्चित होता है, यदि वह सर्वदा उसी रूप से रहे, उसमें कभी कोई परिवर्तन आदि न हो, उसे सत्य कहते हैं। संसार में यह सत्यता का लक्षण नहीं घटता, क्योंकि वह परिणामी अस्थिर विनाशी है, अतः उसे असत्य माना है। इसी आधार पर तीन सत्ताएँ वेदान्त में मानी जाती हैं १ – प्रातिभासिक या प्रातीतिक जो प्रतीत हो कि सत्य है, परन्तु बाद में सर्वथा असत्य ज्ञात हो। जैसे रज्जु-सर्प। २ – व्यावहारिक सत्ता, जो व्यावहारिक दृष्टि से सत्य हो, परन्तु पारमार्थिक दृष्टि से सत्य न हो; जैसे जगत् के पदार्थों, मनुष्य जीव-जन्तुओं की सत्ता, ३—पारमार्थिक सत्ता, जो त्रिकाल में अबाध्य

होने से पूर्णरूप से सत्य होता है, ऐकान्तिक सत्य। वह केवल ब्रह्म है, वही पारमार्थिक सत्य है।

वैयाकरणों ने अर्थतत्त्व को स्पष्ट करने के लिए ब्रह्म, जीव, जगत्, माया आदि शब्द न रखकर उन भावों के लिए अन्य शब्द दिए हैं। स्फोटवादी परब्रह्म के स्थान पर शब्द को ब्रह्म कहते हैं। शब्दब्रह्म ज्ञान रूप है (वाक्य० १, ११२,) वही एक ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों रूपों में है। वही सब का उपादान कारण है। वही भोक्ता (पुरुष भोक्तव्य (विषय) भोग (सुख दुख आदि अनुभव) है, (वाक्य० १, ४ तथा १, १२८) वह स्वयं अखण्ड अनादि अक्षर है। शब्दतत्त्व से अर्थतत्त्व अर्थात् सृष्टितत्त्व की उत्पत्ति के मूल में उसकी बीजशक्ति को माया न कहकर वृत्ति कहते हैं, उसका स्वरूप क्रिया है, (वाक्य० १, ५१)। स्फोटवाद के शब्दों में स्फोट नित्य, अखण्ड, निर्लेप और अनिर्वचनीय है शब्द सृष्टि के मूल में विद्यमान उसकी बीज-शक्ति को ध्वनि कहते हैं। उसके दो भेद हैं प्राकृत और वैकृत। नित्य शब्द या स्फोट को ध्वनि से युक्त होने पर सगुणरूप को प्राप्त होने पर वाक्य-स्फोट कहते हैं। यही शब्दशास्त्र और अर्थशास्त्र का उपादान कारण है। इसको भर्तृहरि ने "एकोऽनवयवः शब्दः" (एक अखण्ड नित्य शब्द वाक्य है) कहा है। उसी में से अपोद्धार द्वारा पदों की कल्पना की जाती है। वे वस्तुतः उससे पृथक् नहीं हैं। अपितु उसके काल्पनिक अवयव हैं। वाक्यस्फोट के विषय में अन्विताभिधानवाद प्राकृत ध्वनि को ही सत्य मानता है, वैकृत को नहीं। अभिहितान्वयवादी वैकृत को भी सत्य मानते हैं। वे वर्णों को सत्य मानते हैं। भर्तृहरि ने वर्ण और पदों को असत्य मानने पर सत्यासत्य की व्यवस्था की है कि बाह्य सत्ता गौण सत्ता को सर्वथा असत्य या काल्पनिक नहीं मानते। (वाक्य० २, २८७—२९८)। वैयाकरणों के मतानुसार अखण्ड वाक्यस्फोट पारमार्थिक सत्ता है। पदस्फोट व्यावहारिक सत्ता है और वर्णवाद ध्वनिरूप वर्णों की सत्ता, तथा उनकी सार्थकता प्रातिभासिक सत्ता है।

स्फोटवाद और आचार्य व्याडि

स्फोटवाद के सिद्धान्त को मानने के लिए निम्न कुछ बातें मानना आवश्यक है। शब्द एक है, नित्य है, और अखण्ड है। उसकी अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है। ध्वनि के-दो भेद हैं, एक प्राकृत दूसरी वैकृत। वर्ण और पद सार्थक नहीं हैं, अपितु वाक्य ही सार्थक होता है,अर्थ की प्रतीति उसी से होती है। व्याडि ने इन बातों को स्पष्ट रूप से उल्लेख किया है। निम्न शब्द ध्यान देने योग्य हैं:—

शब्द एक और अखण्ड है—शब्द और अर्थ में कोई भेद नहीं है। व्यवहार में इनको पृथक् कर लिया जाता है। शब्द और अर्थ में मौलिकतत्व एक ही है, वह एक है और नित्य है।

शब्दार्थयोरसंभेदे व्यवहारे पृथक्क्रिया।
यतः शब्दार्थयोस्तत्त्वमेकं तत् समवस्थितम् ॥
वाक्य० १, २६ की टीका में।

शब्द में कोई विभाग नहीं है। उसकी विभागयुक्त अर्थात् क्रमयुक्त वर्णों से, जो कि वैखरी ध्वनिरूप हैं, अभिव्यक्ति होती है। वह अभिव्यक्त ध्वनिरूप वर्णों से अर्थ का वाचक होता है। वह अर्थ रूपात्मा शब्द बुद्धि में शब्दतत्व के साथ अभिन्नता अर्थात् तादात्म्य को प्राप्त हो जाता है, भाव यह है कि शब्द का उच्चारण होने पर वह बुद्धिस्थ शब्द के साथ तादात्म्य को प्राप्त होता है, उस बुद्धिस्थ शब्द से ही अर्थ का ज्ञान होता है।

अविभक्तो विभक्तेभ्यो जायतेऽर्थस्य वाचकः।
शब्दस्तत्रार्थरूपात्मा संभेदमुपगच्छति ॥
वाक्य० १, ४५ की टीका में।

स्फोट और प्राकृत वैकृत ध्वनि— स्फोट की उपलब्धि प्राकृत ध्वनि से होती है। वैकृत ध्वनि वृत्तिभेद अर्थात् शीघ्र विलम्ब आदि स्थिति के भेद में कारण है।

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते ॥
वाक्य० १, ७७ सूर्यनारायण की टीका।

वाक्य ही सार्थक है—कोई भी पद किसी अर्थ में नियमित नहीं है अर्थात् पदों का कोई अर्थ निश्चित नहीं है और न उनकी कोई सत्ता है। केवल वाक्य ही सार्थक है। उसी की सार्थकता से पद की सार्थकता और सत्ता है।

नहि किंचित् पद नाम रूपेण नियतं क्वचित्।
पदानामर्थरूपं च वाक्यार्थादेव जायते ॥
वाक्य० १,२६ की टीका

स्फोटवाद और पतञ्जलि

पाणिनि का नित्यशब्दवाद—पतञ्जलि ने समस्त महाभाष्य में पाणिनि के सिद्धान्त का दृढ़तापूर्वक प्रतिपादन किया है कि शब्द सर्वथा नित्य है। अतएव आगम आदि के स्थलों पर स्पष्टरूप से उल्लेख करते हैं कि पाणिनि का मत है कि शब्द नित्य है, यदि किसी भी शब्द में विकार आदि होगा तो नित्यता के सिद्धान्त की क्षति होगी। अतएव शब्दों में आगम विकार नहीं करके उनके स्थान पर आदेश करना चाहिए अर्थात् आगमरहित के स्थान पर आगमयुक्त

और विकाररहित के स्थान पर विकारयुक्त दूसरा पद आ जाता है। सारे पद के स्थान पर दूसरा नया पद आता है, विकार आदि नहीं होता।

सर्वे सर्वपदादेशा दाक्षिपुत्रस्य पाणिनेः।
एकदेशविकारे हि नित्यत्वं नोपपद्यते॥
महा० ७, १, २७।

नित्य शब्द का स्वरूप—पतञ्जलि ने 'अ इ उ ण्' (महा० आ० २) सूत्र की व्याख्या में जाति में शक्ति है कि व्यक्ति में, जातिस्फोट है कि व्यक्तिस्फोट, इस पर विस्तार से विचार किया है। इसी प्रकरण में शब्द के विषय में अपना सिद्धान्त लिखा है कि शब्द नित्य हैं। नित्य शब्दों में प्रत्येक वर्ण कूटस्थ अर्थात् सर्वथा निर्लेप निरंजन और अचल होना चाहिए, उसमें किसी भी प्रकार का क्षय, वृद्धि या विकार नहीं होना चाहिए। पतञ्जलि के इस कथन से स्पष्ट है कि उनका अभिमत शब्दब्रह्म ही है, अन्य नहीं।

नित्याश्च शब्दाः नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः। महाभाष्य, आ० २।

(स्फोट) शब्द का लक्षण—पतञ्जलि ने शब्द का लक्षण किया है कि जिसकी श्रोत्र से उपलब्धि होती है, जो बुद्धि के द्वारा ग्रहण किया जाता है, जो प्रयोग अर्थात् उच्चारण से अभिव्यक्त होता है और आकाश जिसका स्थान है, उसे शब्द कहते हैं, उसका आश्रय आकाश भी एक है।

श्रोत्रोपलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः। एकं च पुनराकाशम्। महा० आ० २।

स्पष्टीकरण—कैयट और नागेश ने पतञ्जलि के इस शब्द के लक्षण की व्याख्या में यह निर्देश किया है कि उक्त लक्षण में पतञ्जलि ने जो शब्द रक्खे हैं, वह बहुत सार्थक और विशेष भावपूर्ण हैं। पतञ्जलि ने यहाँ पर स्फोटरूपी शब्द की व्याख्या की है। कैयट और नागेश के अनुसार प्रत्येक भाग का भाव निम्न है।

१—जिसकी श्रोत्र से उपलब्धि होती है—का भाव यह है कि शब्द की कान में ही उपलब्धि होती है। यहाँ पर श्रोत्र शब्द का भाव यह है कि कान भी आकाश का एक अंश है। कान में विद्यमान आकाश को ही श्रोत्र कहते हैं, उसी में शब्द की साक्षात् उपलब्धि होती है। कान में उपलब्धि कहने से यह अर्थ निकलता है कि शब्द का स्थान आकाश है, क्योंकि इन्द्रियाँ असंबद्ध विषय का ग्रहण नहीं कर सकती हैं। श्रोत्र में क्रियाशीलता नहीं है कि वह दूसरे स्थान पर जाए। अतः जब तक शब्द को आकाश में रहने वाला नहीं मानेंगे, तब तक

इसका ग्रहण नहीं हो सकता है। जो इन्द्रिय जिस तत्त्व की बनी है, वही उसका ग्रहण करती है, श्रोत्रेन्द्रिय आकाशतत्त्व का ही कर्णवर्ती स्वरूप है, अतः उससे उसका ग्रहण होता है।

२—**बुद्धि से जिसका ग्रहण होता है**—श्रोत्रोपलब्धि से ही इस अर्थ की उक्ति होने पर इसके कथन की क्या आवश्यकता है। इसका समाधान यह है कि शब्द वर्णों के द्वारा बने हुए हैं, उनका उच्चारण करते ही नाश हो जाता है, अतः शब्दों का ग्रहण कैसे होता है, इसको स्पष्ट करने के लिए यह कहा गया है। इसका भाव यह है कि पूर्व-पूर्व ध्वनि से उत्पन्न की गई अभिव्यक्ति से संस्कार परंपरा का जन्म होता है। उसका परिपाक होने पर अन्त्य वर्ण के ज्ञान से शब्द का ग्रहण होता है। शब्दों को ग्रहण करने वाली बुद्धि ही है। शब्दों का पूरा ज्ञान अन्तिम वर्ण के ज्ञान से ही होता है, परन्तु उससे पूर्व जो प्रत्येक वर्णों की ध्वनियाँ हैं, वे शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं, उससे संस्कारों का उदय होता है, उन संस्कारों से युक्त अंतिम वर्ण के ज्ञान से शब्द का ज्ञान होता है। नागेश का कथन है कि उक्त प्रकार से संस्कार विशिष्ट अन्तःकरण से संयुक्त, उक्त प्रकार से संस्कार विशिष्ट श्रोत्र से अन्तिम वर्ण का सम्बन्ध होने पर वर्णसमुदाय के प्रतिबिम्ब से युक्त अखण्ड स्फोटरूपी पद आदि का प्रत्यक्ष होता है।

पूर्वपूर्वध्वन्युत्पादिताभिव्यक्तिजनितसंस्कारपरम्पराप्राप्तपरिपाकान्त्यबुद्धि-निर्ग्राह्य इत्यर्थः (कैयट)।

३—प्रयोग से प्रकाशित का अभिप्राय यह है कि यद्यपि शब्द सर्वदा सर्वत्र विद्यमान है, परन्तु उसकी सर्वदा उपलब्धि नहीं होती है। शब्द की उपलब्धि तभी होती है जब उसका उच्चारण किया जाय। यहाँ पर प्रयोग का अर्थ है ध्वनि या वर्ण, क्योंकि उसी का प्रयोग किया जाता है। अभिज्वलित कहने का अभिप्राय यह है कि शब्द उत्पन्न नहीं किया जाता है। अपितु ध्वनि से विद्यमान को ही प्रकाशित किया जाता है। स्फोट को ध्वनि प्रकाशित करती है।

४—आकाश में रहने वाले की व्याख्या में पतञ्जलि का यह कथन है कि आकाश एक है, इसको स्पष्ट करते हुए नागेश का कथन है कि जैसे एक आम के फल में एक ही रूप, रस, गन्ध आदि होता है उसी प्रकार अपने आश्रय के एक होने के कारण उसमें रहने वाला शब्द भी एक ही है। नागेश ने इसके द्वारा शब्द अर्थात् स्फोट का एक होना बताया है। यदि शब्द एक है तो यह पहले, यह बाद में, यह मन्दिर में, यह राजसभा में, इस प्रकार शब्द का भेद क्यों दिखाई देता है। इसका उत्तर यह है कि जैसे आकाश के एक होने पर भी उसके भेद कह दिए जाते हैं कि घटाकाश मठाकाश है अर्थात् यह घड़े में विद्यमान आकाश है, यह मठ का आकाश है, आदि। देशभेद भिन्नदेश स्थित पुरुषों के कहे हुए अभिव्यंजक ध्वनि के कारण हैं, वस्तुतः नहीं। जैसे नीला आकाश आदि

आकाश के लिए कह दिया जाता है, उसी प्रकार शब्द के लिए संसर्ग के कारण विभिन्न विशेषण लगा दिये जाते हैं, परन्तु इसमें उसमें कोई अनित्यता नहीं आती है।

५—पतञ्जलि ने शब्द को एकवचन रखकर यह बताया है कि स्फोट एक और अखण्ड है।

स्फोट और ध्वनि—पतञ्जलि ने बाद के रूप में स्फोट और ध्वनि का स्पष्ट उल्लेख 'तपरस्तत्कालस्य' (१, १, ६६) सूत्र में किया है। पतञ्जलि का कथन है कि स्फोट शब्द है और ध्वनि शब्द का गुण। शब्द में दोनों रहते हैं स्फोट और ध्वनि। इनमें से ध्वनि ही दिखाई पड़ती है। जिसको छोटा या बड़ा समझते हैं, जिसमें वृद्धि और ह्रास समझते हैं, वह ध्वनि ही है। इनमें भी किसी में स्फोट और ध्वनि दोनों दिखाई देते हैं। किसी में केवल ध्वनि। जैसे मनुष्य आदि की व्यक्त ध्वनि में दोनों ज्ञात होते हैं। अव्यक्त ध्वनि में केवल ध्वनि ही। स्फोट और ध्वनि सर्वत्र स्वाभाविक रूप से रहते हैं। इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे भेरी (नगाड़े) को चोट मारने पर नगाड़े का शब्द समान दूरी तक नहीं जाता। कोई थोड़ी दूर जाता है, कोई अधिक दूर, कोई २० गज, कोई ३० और ४०। कोई देर तक रुकता है, कोई थोड़ी देर, इनमें स्फोट उतना ही होता है, वृद्धि या ह्रास ध्वनि के कारण होता है।

स्फोटः शब्दः। ध्वनिः शब्दगुणः। कथम्? भेर्याघातवत्। स्फोटस्तावानेव भवति। ध्वनिकृता वृद्धिः।

ध्वनिः स्फोटश्च शब्दानां ध्वनिस्तु खलु लक्ष्यते।

अल्पो महांश्च केषाञ्चिदुभयं तत् स्वभावतः। महा० १, १, ६७।

कैयट और नागेश ने इसकी व्याख्या में स्फोट और ध्वनि के सिद्धान्त का वर्णन किया है। उनके वर्णन का आधार भर्तृहरि की व्याख्या है, जिसका उल्लेख आगे किया जाएगा। वहाँ पर उनके कथन की कुछ मुख्य बातें निम्न हैं :—

ध्वनि और स्फोट दोनों का परस्पर व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध है। ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है। शब्द व्यङ्ग्य है, उसके व्यञ्जक ध्वनि में ही वृद्धि और ह्रास दीखते हैं। व्यङ्ग्य स्फोट में कोई अन्तर नहीं पड़ता है, उसका कोई काल नहीं है, वह कालभेद से रहित है। स्फोट और ध्वनि दोनों ही प्रमाण के द्वारा स्वाभाविक रूप से सिद्ध हैं। इनके लिए अन्य प्रमाण की अपेक्षा नहीं है। ध्वनि को शब्द का गुण कहने का यह अभिप्राय है कि वह स्फोट का उपकारक है, वह स्फोट का व्यञ्जक है।

स्फोटवाद और भर्तृहरि

स्फोटवाद के विषय में भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश आदि ने शब्द-

कौस्तुभ, भूषण, मंजूषा, स्फोटवाद आदि में जो लिखा है, उसका आधार भर्तृहरि का वाक्यपदीय में विवेचन ही है। कुमारिल आदि ने जो उग्ररूप से इस वाद का खण्डन किया है, वह भर्तृहरि के विवेचन को ही खण्डन का आधार मानकर तथा शंकराचार्य, मण्डनमिश्र, भरतमिश्र, श्रीकृष्ण आदि ने जो स्फोटवाद का दृढ़तापूर्वक युक्तिसंगत समर्थन किया है, उनका भी आधार वाक्यपदीय ही है। कुमारिल आदि ने जो आक्षेप किये हैं, भर्तृहरि ने स्वयं उनका बहुत विस्तार से उत्तर दिया है। अतः भर्तृहरि के विचार का कुछ विस्तार से उल्लेख किया जाएगा।

स्फोट का अर्थ—भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में (पृष्ठ १२) स्फोटशब्द की व्युत्पत्ति दी है कि "स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः" जिसमें अर्थ प्रस्फुटित होता है, उस शब्दतत्त्व को स्फोट कहते हैं। शब्दकौस्तुभकार ने यहाँ पर इदं शब्द से शब्दतत्त्व का अर्थ लिया है। कौण्डभट्ट ने भूषण में स्फोट शब्द को केवल यौगिक माना है कि "स्फुटति अर्थो यस्मात्" जिससे अर्थ का ज्ञान होता है, उसे स्फोट कहते हैं। श्रीकृष्ण ने स्फोटचन्द्रिका में इसमें थोड़ा सुधार करके कहा है कि स्फोट शब्द की व्युत्पत्ति उक्त प्रकार से है, परन्तु वह केवल यौगिक नहीं है, अपितु पंकज आदि शब्दों के तुल्य योगरूढ़ है। यदि इसको केवल यौगिक माना जाएगा तो जिस किसी से भी अर्थ का ज्ञान होता है उसे स्फोट कहा जाएगा। वाच्य, लक्ष्य तथा व्यङ्ग्य अर्थ और चेष्टाएँ भी व्यङ्ग्य अर्थ का बोध कराती हैं, अतः तीनों प्रकार के अर्थों और चेष्टाओं को भी स्फोट मानना पड़ेगा। वैयाकरणों के मत से वाच्य लक्ष्य और व्यङ्ग्य अर्थों के प्रतिपादक वाचक लाक्षणिक और व्यञ्जक शब्दों को अथवा उनमें रहने वाली जाति को स्फोट कहते हैं। इस प्रकार से स्फोट वाचक आदि शब्दों का पर्यायवाची है। (स्फोटचन्द्रिका पृ० १—२)।

स्फोट और ध्वनि—भर्तृहरि ने शब्दतत्त्व के स्वरूप की व्याख्या करते हुए कहा है कि उपादान शब्द अर्थात् वाचक शब्द में दो शब्द रहते हैं। एक उनमें से शब्दों का कारण है और दूसरे का अर्थ में प्रयोग किया जाता है। (वाक्य० १, ४४)।

भर्तृहरि ने शब्द में रहने वाले दो तत्त्वों अर्थात् स्फोट और ध्वनि की पतञ्जलि के अनुसार व्याख्या की है। पुण्यराज ने उपादान शब्द की दो प्रकार से व्याख्या करके उसके दो अर्थ किये हैं। स्फोट और ध्वनि को दो प्रकार से कहा जा सकता है। १—स्फोट उपादान है, क्योंकि उससे अर्थ का ज्ञान होता है। "उपादीयते येनार्थः" स्फोट ध्वनि रूप शब्दों का, जिनका उच्चारण किया जाता है और जिनको वैखरी शब्द कहते हैं, कारण है। स्फोट रूप में जो शब्दतत्त्व हृदय में विद्यमान रहता है, उसकी ही बाहर अभिव्यक्ति ध्वनि से होती है, अतः

ध्वनि का वह उपादान कारण है। दूसरा शब्द ध्वनि रूप शब्द है, उसका अर्थों में प्रयोग किया जाता है। अर्थ को बनाने के लिए जिसका प्रयोग किया जाता है, वह ध्वनि रूपी शब्द है। स्फोट जब तक अभिव्यक्त नहीं होगा तब तक अर्थ का बोध नहीं होगा। ध्वनि स्फोट को व्यक्त कर देती है, अतः सब पदार्थों का ज्ञान हो जाता है। २—यदि उपादान का अर्थ किया जाय "उपादेय. समुदायः" वह शब्द समुदाय जो कि प्रयोग किया जाता है, तब ध्वनि का अर्थ लिया जाएगा। ध्वनि को ही हम प्रयोग में लाते हैं। वह स्फोट का निमित्त है। यहाँ पर स्फोट निमित्त का ध्वनि को कहने का अभिप्राय यह है कि ध्वनि व्यञ्जक है और स्फोट व्यङ्ग्य है। व्यङ्ग्य अर्थ का ज्ञान व्यञ्जक ध्वनि से होता है। दोनों के व्यङ्ग्य व्यञ्जक सम्बन्ध के आधार पर ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, अतः वह कारण है। दूसरे स्फोट का अर्थ के बोध में प्रयोग किया जाता है। श्रोता जब शब्द को सुनता है तो पहले वह ध्वनि को कानों से ग्रहण करता है, ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, श्रोता की बुद्धि में भी शब्द है, जो कि पहले उद्बुद्ध नहीं था, परन्तु शब्द सुनते ही उद्बुद्ध हुआ। वह उद्बुद्ध शब्द जो कि बुद्धि में क्रमरहित और स्फोट रूप में है, वह अर्थ का बोध कराता है।

स्फोट और ध्वनि का कार्य कारण सम्बन्ध है। ध्वनि कार्य है, स्फोट कारण है। स्फोट से ध्वनि की उत्पत्ति होती है। अतएव शब्द और अर्थ का वाचक वाच्य भाव सम्बन्ध कहा जाता है। शब्द वाचक है और अर्थ वाच्य है। परन्तु ध्वनि स्फोट का व्यञ्जक है और स्फोट व्यङ्ग्य है। अतः ध्वनि और स्फोट का व्यङ्ग्य व्यञ्जक भाव सम्बन्ध है। पतञ्जलि ने शब्द के लक्षण में दो बातें दी हैं, एक जो कान से सुना जाय और दूसरा बुद्धि से ग्रहण किया जाए। कान से ध्वनि सुनी जाती है, स्फोट नहीं, और बुद्धि से स्फोट का ग्रहण किया जाता है, ध्वनि का नहीं। अतएव अर्थज्ञान के लिए दोनों की आवश्यकता होती है।

ऊपर दो प्रकार से अर्थ करने का अभिप्राय यह है कि यह दोनों प्रकार की स्थिति सर्वदा घटती रहती है। एक बोलने वाला होता है और दूसरा सुनने वाला। दोनों ही दोनों काम करते हैं, अर्थात् बोलते भी हैं और शब्द सुनते भी हैं। बोलते समय पहली स्थिति होती है और सुनते समय दूसरी स्थिति। बोलते समय वक्ता की बुद्धि में जो शब्द (स्फोट) है, वह ध्वनि का कारण होता है। उस ध्वनि का अर्थ बताने के लिए प्रयोग करते हैं। सुनते समय वक्ता की ध्वनि को सुनते हैं, वह श्रोता की बुद्धि में विद्यमान शब्द (स्फोट) को अभिव्यक्त करता है। अभिव्यक्त स्फोट से अर्थ का ज्ञान होता है।

द्वावुपादानशब्देषु शब्दौ शब्दविदो विदुः।
एको निमित्तं शब्दानामपरोऽर्थे प्रयुज्यते॥

वाक्य० १,४४।

मतभेद क्यों है? वैयाकरणों का दृष्टिकोण—स्फोट और ध्वनि के प्रश्न पर मतभेद क्यों है। इस पर भर्तृहरि ने विचार किया है। मतभेद स्वाभाविक है, वह मौलिक प्रश्न के आधार पर। एक मार्ग वाले वह हैं, जो कि कारण और कार्य को पृथक् मानते हैं। मिट्टी और घड़े में तन्तु और पट में अन्तर करते हैं। स्फोट नित्य है ध्वनि अनित्य है, दोनों के स्वभाव में भेद है, अतः दोनों को एक नहीं मानते हैं। दूसरी ओर अन्य हैं, जो यह मानते हैं कि कार्य और कारण में अन्तर नहीं है, वह एक ही तत्त्व है, मौलिक दृष्टि से उनमें भेद न होने के कारण उनको भिन्न पदार्थ नहीं मानना चाहिए। घड़ा मिट्टी का ही बना है, दोनों में मौलिक अन्तर नहीं है, अतः पदार्थ की दृष्टि से मिट्टी और घड़ा तन्तु और पट एक ही पदार्थ है। शब्द से ही ध्वनि होती है, ध्वनि का मौलिक कारण शब्द ही है, पदार्थ या तत्व की दृष्टि से दोनों एक हैं, अतः उनको एक मानते हैं, भेदवादी कार्य कारण को मूल से ही भिन्न मानते हैं और अभेदवादी उनमें बुद्धिभेद कर देते हैं। स्फोट मन (बुद्धि) से सुना जाता है और ध्वनि कान से। अतः अभिन्न में भी भिन्नता की जाती है। कार्य कारण में भेद मानना व्यावहारिक दृष्टिकोण है और उनमें अभेद मानना वैज्ञानिक दृष्टिकोण। दोनों ही दृष्टिकोण स्वाभाविक हैं। दोनों की ही सत्ता स्वाभाविक और आवश्यक है। नैयायिक स्थूल व्यावहारिक दृष्टिकोण को प्रस्तुत करते हैं कि ध्वनि ही शब्द है, वह अनित्य है, उससे वाक्य बनते हैं। मीमांसक सूक्ष्म किन्तु व्यावहारिक दृष्टिकोण को रखते हैं कि स्फोट शब्द है, वह नित्य है, किन्तु वर्ण या पदरूप है, उससे वाक्य बनते हैं। वैयाकरणों का दृष्टिकोण वैज्ञानिक है, वह ध्वनि को भी मानते हैं, उसे अनित्य भी मानते हैं। स्फोट को भी मानते हैं। उसे वर्ण और पदरूप भी मानते हैं और उससे वाक्यों का बनाना भी मानते हैं। परन्तु वे सब कुछ मानने के बाद यह बता देते हैं कि यह सारी बातें व्यावहारिक दृष्टिकोण से हैं। वैज्ञानिक दृष्टिकोण से न वर्ण है, न पद, केवल वाक्य है, वही सार्थक होता है। उसी का प्रयोग किया जाता है। उसमें भी ध्वनि का अंश वास्तविक नहीं है, स्फोट ही वास्तविक है। अतः अखण्ड वाक्यस्फोट वास्तविक है, अन्य सब अवास्तविक। अखण्ड और नित्य का वाक्य से अर्थ का बोध नहीं कराया जा सकता, अतः वैयाकरण उसमें विभाजन करके व्यावहारिक उपयोगिता को लक्ष्य में रखकर पद वर्ण आदि की सत्ता बताते हैं। पदों के वर्णों के तथा उनके विभिन्न प्रकृति प्रत्ययों के अर्थ भी वे बताते हैं। परन्तु इन सब को व्यावहारिक ही समझना चाहिए, इससे अधिक नहीं।

> **आत्मभेदस्तयोः केचिदस्तीत्याहुः पुराणगाः।**
> **बुद्धिभेदादभिन्नस्य भेदमेके प्रचक्षते॥**
>
> **वाक्य० १,४५।**

व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रिया यतः ।
शास्त्रेषु प्रक्रियाभेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते
अनागमविकल्पा तु स्वयं विद्योपवर्तते ॥
वाक्य० २,२३४ २३५

भर्तृहरि का यह कथन सत्य है कि शास्त्रार्थ की प्रक्रिया व्यवहार के लिए है। सारे शास्त्र केवल पथप्रदर्शन के लिए हैं, जिस प्रकार बालक को लिपि को अक्षर बताना, लिपि न वर्ण है और न अक्षर, परन्तु बालक को बताने के लिए वह अनिवार्य है। इसी प्रकार व्याकरण आदि शास्त्र प्रकृति प्रत्यय, धातु निपात, ब्रह्म जीव प्रकृति आदि के सत्य तत्व को बताना चाहत हैं। जहाँ तक उसके स्वरूप का परीक्षण कर सकते हैं, वहाँ तक उसका परीक्षण करके उसकी स्थिति बता देते हैं। पतञ्जलि और भर्तृहरि ने सारे ही मतों का उल्लेख किया है। भर्तृहरि ने आस्तिक दर्शनों ही नहीं, अपितु नास्तिक दर्शनों बौद्धों आदि का भी उल्लेख किया है। उनके दृष्टिकोण को रख कर उसमें जो त्रुटि है, उसका निर्देश कर दिया है। वैयाकरण आदि दूरदर्शी उसको स्फोट की सत्ता मानकर स्वीकार करते हैं, अन्य उसको अज्ञेय, अनिर्वचनीय या अग्राह्य कहकर पहुँच से परे बता कर उसकी "नास्ति" नहीं है कह कर अज्ञेय रूप से सत्ता स्वीकार करते हैं। यदि खण्डन और मण्डन न हो तो विषय स्पष्ट नहीं हो सकता है। अतएव भर्तृहरि ने स्फोटवाद पर जो आक्षेप किये जा सकते हैं, उनका समाधान करके ध्वनि के कारण जो भ्रम होता है, उसका निराकरण किया है।

स्फोट से विकास कैसे हुआ—"एक स्फोट शब्दों का कारण है" इस बात को उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जिस प्रकार अरणि नामक काष्ठ में अग्नि रहती है, वह घिसने से पूर्व प्रकट नहीं होती है, परन्तु जब उसमें घर्षण किया जाता है, तब वह चिनगारी के रूप में प्रकट होती है और वह अग्नियों का कारण होती जाती है, वही एक अग्नि उद्‌बुद्ध होने पर अनेक अग्नियों के रूप में दिखाई पड़ती है। इसी प्रकार बुद्धितत्त्व में शब्दतत्त्व सदा रहता है, वह तब तक दृष्टिगोचर नहीं होता है, परन्तु जब कण्ठ तालु आदि स्थान कारणों के आश्रय से विवर्त को प्राप्त होता है तब वह ध्वनिरूप में आता है। व्यंजक ध्वनि के भेद से उसमें पूर्वापर की उपलब्धि होने लगती है, वह अनेक ध्वनि के रूप में दिखाई देता है। वह अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है तथा स्फोट को भी प्रकाशित करता है। ध्वनि के कारण ही घट पट आदि विभिन्न शब्दों का श्रवण होता है, वस्तुतः मौलिक रूप में स्फोट ही है। अरणिस्थ अग्नि के तुल्य मूलभूत एक स्फोट का ही विकास अनेक शब्द हैं। पुण्यराज, वाक्य० १, ४६।

स्फोट और ध्वनि में तादात्म्य न मानने में दोष शब्द और अर्थ में तादात्म्य न मानने पर जो शब्द जिस अर्थ में प्रयोग किया जाता है, उसका

रूप बदलने पर उस अर्थ का ग्रहण नहीं होना और अर्थ का ग्रहण देखा जाता है, यह व्यवस्था नहीं हो सकती। स्फोट और ध्वनि में यदि तादात्म्य न हो तो किसी भी ध्वनि से किसी अर्थ का ज्ञान होना चाहिये, परन्तु व्यवस्था देखी जाती है, अतः दोनों में तादात्म्य माना जाता है। शब्द का बुद्धि के द्वारा किसी अर्थ विशेष में निर्देश किया जाता है, अतः प्रत्येक शब्द किसी विशेष अर्थ का ही बोध कराता है। बुद्धि में शब्द और अर्थ का जो सम्बन्ध किया जाता है, वह कण्ठ तालु आदि से निकली हुई दीर्घत्व कत्व आदि ध्वनि के धर्मों से प्रतीत होता है। शब्द और अर्थ का बुद्धि में ही सम्बन्ध होता है। अतः वहाँ उनका तादात्म्य (अध्यास) माना जाता है। स्फोट से जिस अर्थ की अभिव्यक्ति करना चाहते हैं, उसी की अभिव्यक्ति होती है, अन्य की नहीं। वाक्य० १, ४७।

स्फोट में क्रम नहीं है—यदि एक ही स्फोट से नाना अर्थों का बोध कराया जाता है तो उसको अनेक मानना चाहिए। इसका समाधान भर्तृहरि ने किया है कि स्फोट में न कोई क्रम है और न भेद। स्फोट ध्वनि के द्वारा व्यङ्ग्य है अतएव ध्वनि की अभिव्यक्ति के क्रम से वह क्रम और भेद वाला प्रतीत होता है। वह नित्य और एक है, उसमें वस्तुतः पूर्वापर भाव नहीं है, जो कुछ भेद आदि है, ध्वनि के क्रम के कारण है। इसको स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण दिया है कि जैसे चंद्रमा में चंचलता आदि नहीं है, परन्तु जल आदि में उसके प्रतिबिम्ब को देखकर जल की चंचलता आदि के कारण चन्द्रमा को भी चंचल समझा जाता है। उसी प्रकार स्फोट और ध्वनि का सम्बन्ध है। स्फोट में कोई क्रम क्रिया आदि नहीं है, परन्तु ध्वनि में उसका प्रतिबिम्ब रहता है और ध्वनि के तुल्य ही वह क्रम आदि से युक्त प्रतीत होता है। वाक्य० १, ४८—४९।

स्फोट का विकास—भर्तृहरि ने ज्ञान के उदाहरण द्वारा यह बताया है कि जिस प्रकार ज्ञान में दो तत्त्व रहते हैं, एक ज्ञान और दूसरा ज्ञेय। ज्ञान अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है, साथ ही ज्ञेय का भी ज्ञान कराता है, उसी प्रकार स्फोट रूपी शब्द अपने स्वरूप को भी प्रकाशित करता है और शब्द के अर्थ को भी। ज्ञान और शब्द दोनों ही अपना और अपने बोध्य का ज्ञान कराते हैं। वाक्य० १, ५०।

विकास का कारण वृत्ति—शब्दब्रह्म के विकास को एक अन्य उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे मयूर आदि के अण्डे अन्दर तरल अवस्था में होने के कारण किसी विभाग से युक्त नहीं होते। बाद में धीरे-धीरे क्रमशः उसका विकास होता है। इसी प्रकार स्फोट ब्रह्माण्ड के अन्दर निर्विभाग व्यापक रूप में है, उसमें कोई क्रिया या क्रम नहीं है। मनुष्यों में वह निर्विभाग अवस्था में बुद्धि में सर्वदा विद्यमान रहता है। जब उसके उच्चारण की इच्छा होती है तब उसमें वृत्ति होती है। उस वृत्ति का स्वरूप क्रिया है अर्थात् जब शब्द को बोलने की

इच्छा होती है, तब उसके अन्दर एक क्रिया होती है, जिससे कि वह वाक्य पद आदि के रूप में आता है। अखण्ड होते हुए भी वृति के कारण भागों की स्थिति होने से उसमें क्रम की सत्ता होती है।

आण्डभावमिवापन्नो यः क्रतुः शब्दसंज्ञकः।
वृत्तिस्तस्य क्रियारूपा भागशो भजते क्रमम्॥

वाक्य० १, ५१।

अक्रम के तीन रूप—एक ही तत्त्व कभी सक्रम, कभी अक्रम आदि होकर विभिन्न रूप में कैसे दीखता है, इसको एक उदाहरण द्वारा बताया है कि जैसे एक चित्रकार एक पुरुष को देखता है, वह अवयवों से युक्त है, इसलिए चित्रकार को ज्ञान भी अवयवों के क्रम से होता है, शिर, हाथ, पाँव आदि। परन्तु जब पुरुष का चित्र उसकी बुद्धि का विषय हो गया, तब वह अक्रम हो गया। चित्रकार की बुद्धि में वह चित्र एक और अखण्ड रूप से होता है, फिर जब वह चित्र को किसी वस्त्र आदि पर बनाता है, तब उसमें क्रम दीखता है, बाह्य पुरुष सावयव और सक्रम है, बुद्धि में उसका चित्र निरवयव और अक्रम है, फिर वस्त्रादि पर चित्र बनाते समय वह सावयव और सक्रम दीखता है। इसी प्रकार शब्द बाहर सुनते समय सक्रम दीखता है, बुद्धि में वह अक्रम है, फिर बोलते समय सक्रम दीखता है। स्फोट को जब बाह्य रूप में देखते हैं, वह सक्रम दीखता है, क्योंकि वह ध्वनि रूप में होता है, परन्तु जब बुद्धि में देखते हैं तो वह अक्रम निरवयव अखण्ड दीखता है, क्योंकि वहाँ वह स्फोट रूप में रहता है। चित्र एक होने पर भी जिस प्रकार बाहर उसके विभाग दीखते हैं इसी प्रकार शब्द में तीन तत्त्व दीखते हैं, शब्द, अर्थ और उसका स्वरूप। वाक्य० १, ५२।

शब्द का क्रिया में अन्वय नहीं होता—अर्थज्ञान के लिए वक्ता और श्रोता दोनों शब्द का ही उपयोग करते हैं। प्रयोक्ता जब अर्थ का बोध कराना चाहता है, तब शब्द का ही आश्रय लेता है और श्रोता भी अर्थज्ञान के लिए शब्द को ही सुनता है। इस प्रकार से शब्द अर्थ ज्ञान का साधन है। इस पर यह प्रश्न उठता है कि जब शब्द का भी ज्ञान होता है, तब पदार्थ की तरह उसे भी क्रिया का अंग क्यों नहीं बनाते। "घटमानय" घड़ा लाओ कहने पर घड़ा शब्द भी लाया जाना चाहिए। उसका उत्तर दिया है कि शब्द अर्थ का बोध कराने के लिए प्रयुक्त हुआ है, अतः वह गौण है और अर्थ मुख्य है। अतः शब्द का क्रिया में अन्वय नहीं होता, केवल पदार्थ का ही अन्वय होता है। जहाँ पर शब्द शब्द के ही बोध के लिए कहा जाता है, वहाँ शब्द ही लिया जाता है। जैसे व्याकरण में यह कहने पर कि 'अग्नेर्ढक्" अग्नि से ढक् प्रत्यय होता है, अग्नि शब्द लिया जाएगा, आग नहीं। वाक्य० १, ५३—५४।

अपोद्धार से भेद—स्फोट और ध्वनि में भेद क्यों किया जाता है। इसका

कारण यह है कि कहीं पर दोनों की अभिन्नता की आवश्यकता होती है, और कहीं पर भिन्नता की, कहीं पर शब्द ही लेना होता है और कहीं पर अर्थ ही। स्फोट और ध्वनि में ग्राह्य ग्राहक सम्बन्ध है। शक्ति और शक्तिमान् में अभेद होने पर भी अपोद्धार की आवश्यकता होती है। अपोद्धार अर्थात् विश्लेषण के द्वारा दोनों में भेद करके उसको दो रूपों में रक्खा जाता है, उससे व्यवहार चलता है। वह व्यावहारिक आवश्यकता है संज्ञा और संज्ञी में अन्तर करना। देवदत्त शब्द नाम है, संज्ञा है, और शरीर नामी है, संज्ञी है। पाणिनि ने 'स्वं रूपम्' अष्टा० १, १, ६८ सूत्र में शब्द को ही संज्ञा और शब्द को ही संज्ञी बताया है, जैसा कि ऊपर दिये उदाहरण में अग्नि शब्द संज्ञा है और वही संज्ञी भी है। यह भेद अपोद्धार बुद्धि से ही किया जाता है। जैसे राहु शिर ही है, दोनों में अन्तर नहीं है, परन्तु भेद करके कहा जाता है कि "राहोः शिरः" (राहु का शिर)। भर्तृहरि ने इसको उदाहरण देकर स्पष्ट किया है कि "वृद्धिरादैच्" में वृद्धि शब्द संज्ञा है और आ ऐ औ संज्ञी। वृद्धि आदि शब्द अपने स्वरूप का भी बोध कराते हैं और आ ऐ औ से तादात्म्य सम्बन्ध को भी प्राप्त होते हैं। अतः पाणिनि ने अभिन्नता को बताते हुए कहा है कि "अदैच् वृद्धि है"। शब्द संज्ञा है, अर्थ संज्ञी है, स्फोट संज्ञा है, ध्वनि संज्ञी है, दोनों में इसी प्रकार भेद और अभेद आवश्यकतानुसार किया जाता है। वाक्य० १, ५८—६०।

भेद व्यावहारिक उपयोग के लिए—दो प्रकार के प्रयोग देखे जाते हैं, एक अभेद से और दूसरा भेद से। "यह देवदत्त है" और "इसका नाम देवदत्त है"। पहले उदाहरण में दोनों में अभिन्नता बताई गई है, अतएव व्याकरण में ऐसे स्थलों पर प्रथमा विभक्ति आती है 'अयं देवदत्तः' और जब संज्ञा और संज्ञी में भेद कर देते हैं तब वहाँ पर षष्ठी विभक्ति आती है "अस्य नाम देवदत्तः"। अतः भर्तृहरि का कथन है कि जब तक संज्ञा का संज्ञी से सम्बन्ध नहीं होता है, तब तक वह अपने स्वरूप का ही बोध कराती है। सम्बन्ध होने पर जब स्वरूप अर्थात् अभिन्नता को बनाना चाहते हैं, तब प्रथमा होती है और भेद बनाना चाहते हैं तो षष्ठी। इसका अभिप्राय यह है कि शब्दतत्त्व का जब तक किसी पदार्थ से सम्बन्ध नहीं होता है, वह अपने स्वरूप में ही रहता है। उस समय उसकी अवस्था स्फोटरूप है। परन्तु जब उसका किसी पदार्थ से सम्बन्ध करते हैं तो उसमें ध्वनि आ जाती है। उस अवस्था में यदि अभिन्नता बताना चाहते हैं तो स्फोट कह देते हैं और भेद बताना चाहते हैं तो स्फोट और ध्वनि, शब्द और अर्थ। वाक्य० १, ६६—६७।

दो प्रकार की ध्वनियां, प्राकृत और वैकृत—भर्तृहरि ने पतञ्जलि के भाव को स्पष्ट करते हुए तथा विभिन्न मतों का उल्लेख करते हुए जो विवेचन किया है, उसका सारांश निम्न है :—

ध्वनि दो प्रकार की है, एक प्राकृत और दूसरी वैकृत। जिस प्रकार प्राकृत में

भी स्वभाव भेद होता है, सत्व, रजस् और तमस् उसी प्रकार प्राकृत अर्थात् मौलिक ध्वनि में भी स्वभाव भेद रहता है, उसी के कारण ह्रस्व, दीर्घ और प्लुत होता है। यह कालभेद प्राकृत ध्वनि में रहता है, परन्तु शब्द में उसका लक्षणा वृत्ति के द्वारा आरोप करते हैं। शब्द नित्य है, उसमें ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, उदात्त, अनुदात्त, स्वरित नहीं हैं। नित्य शब्द बिना प्राकृत ध्वनि के कभी प्रकट नहीं होता है, अतः प्राकृत ध्वनि के काल का शब्द में आरोप किया जाता है। शब्द नित्य होने के कारण व्यवहार का विषय नहीं है, जब प्राकृत ध्वनि से सम्बन्ध किया जाता है, तब प्राकृत ध्वनि के गुण आ जाने से शब्द में ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि की सत्ता दृष्टिगोचर होती है। पतञ्जलि ने अतएव ध्वनि को स्फोट गुण कहा है।

स्वभावभेदान्नित्यत्वे ह्रस्वदीर्घप्लुतादिषु ।
प्राकृतस्य ध्वनेः कालः शब्दस्येत्युपचर्यते ॥
वाक्य० १, ७६ ।

प्राकृत ध्वनि में ह्रस्व, दीर्घ आदि गुण हैं, परन्तु वैकृत ध्वनि में द्रुत मध्यम विलम्बित वृत्तियां रहती हैं। उसका स्वभाव घंटे की मूल ध्वनि के पश्चात् अनुरणनरूप है। अत. भर्तृहरि कहते हैं कि शब्द की अभिव्यक्ति हो जाने पर अर्थात् प्राकृत ध्वनि के बाद वृत्तिभेद होने पर जो ध्वनियां होती हैं, उन्हें वैकृत ध्वनि कहते हैं। उसका प्रभाव स्फोट पर नहीं पड़ता है। अनुरणन के कारण शब्द में भेद नहीं माना जाता है। जैसे द्रुत या विलम्बित वृत्तिभेद से उच्चारण करने पर भी 'वही अ है", वही पद है, वही मंत्र है आदि कहा जाता है, उनमें भेद नहीं माना जाता है।

शब्दस्योर्ध्वमभिव्यक्तेर्वृत्तिभेदे तु वैकृताः ।
ध्वनयः समुपोहन्ते स्फोटात्मा तैर्न भिद्यते ॥
वाक्य० १, ७८ ।

स्फोट का ज्ञान कैसे होता है, स्पष्टीकरण—स्फोट को ग्रहण करने का साधन प्राकृत ध्वनि है और उसके वृत्तिभेद का कारण वैकृत ध्वनि है इस कथन का अभिप्राय यह है कि जब भी शब्द का उच्चारण किया जाता है, उससे स्फोट की अभिव्यक्ति होती है, उसमें जो प्राकृत ध्वनि है, उससे शब्द का ज्ञान होता है, बुद्धि उसको ग्रहण कर लेती है। उसके पश्चात् जो ध्वनि होती है, वह अनुरणन है, उससे शीघ्र विलम्ब आदि होता है।

परन्तु जब स्फोट का शुद्ध अर्थ शब्दतत्व या परब्रह्म लिया जायगा तो इसका भाव यह होगा कि ब्रह्म का ज्ञान प्राकृत ध्वनि से होता है। भर्तृहरि ने उसको वाक्यार्थ की व्याख्या में प्रतिभा कहा है, यदि आभ्यन्तर स्फोट मानते हैं तो

उसका ज्ञान प्रतिभा से होगा, अर्थात् प्रतिभा से शब्दसाक्षात्कार होगा। प्रतिभा ही ब्रह्म साक्षात्कार का साधन है। यदि बाह्य स्फोट को व्यक्तिवाद की दृष्टि से देखें तो उस प्राकृत ध्वनि का अर्थात् प्रतिभा का बाह्यरूप वेद है. संहिता है। वह शब्दसाक्षात्कार का साधन है। यदि बाह्य स्फोट को जातिवाद की दृष्टि से देखें तो उस प्रतिभा का बाह्यरूप समस्त संसार है, जिसमें सूर्य चन्द्र आदि से लेकर पंचभूतात्मक समस्त ब्रह्माण्ड सम्मिलित है। ध्वनि में अनित्यता है, अतएव समस्त ब्रह्माण्ड, सूर्य चन्द्र, पंचभूतों का बाह्यरूप अनित्य है। वेदों का बाह्यरूप अनित्य है। जीव, प्रतिभा का बाह्यरूप अनित्य है। प्राकृत ध्वनि में मौलिकता है, अतः चिरस्थायिता है। प्राकृत ध्वनि और स्फोट को पृथक् नहीं किया जा सकता है, अतः प्राकृत ध्वनि को शब्द का प्रतिबिम्ब माना जाता है। उनमें अनित्यता होने पर भी नित्यांश के आधार पर नित्यता मानी जाती है। प्राकृत ध्वनि के पश्चात् जो भी ध्वनि होती है, उसको उस मूल ध्वनि का ही विकार कहा जाता है, उससे ही सब प्रकार की वृत्तियों का भेद होता है।

स्फोटस्य ग्रहणे हेतुः प्राकृतो ध्वनिरिष्यते।
वृत्तिभेदे निमित्तत्वं वैकृतः प्रतिपद्यते॥

वाक्य० १,७७,

ध्वनि से किसका संस्कार होता है, तीन मत—ऊपर यह उल्लेख किया गया है कि स्फोटवाद को मानने वाले भी स्फोट को तीन विभिन्न दृष्टिकोण से देखते हैं। एक आभ्यन्तर दृष्टिकोण तथा दूसरा बाह्यदृष्टिकोण। बाह्य में भी एक व्यक्तिवाद की दृष्टि से और दूसरा जातिवाद की दृष्टि से। इस प्रकार तीन दृष्टिकोण से विचार किया गया है। ध्वनि भी प्राकृत और वैकृत है। दोनों का प्रभाव पृथक् है। भर्तृहरि का कथन है कि जो शब्द को नित्य मानते हैं, और ध्वनि से शब्द की अभिव्यक्ति मानते हैं, उनके तीन विभिन्न मत हैं, एक यह मानते हैं कि शब्द के द्वारा इन्द्रिय की शुद्धि हो जाती है, अतः शब्द का ग्रहण होता है। दूसरे यह मानते हैं कि ध्वनि से शब्द का संस्कार हो जाता है, वह प्रकट हो जाता है। तीसरे यह मानते हैं कि इन्द्रिय और शब्द दोनों का संस्कार होता है, अतः संस्कृत इन्द्रिय से संस्कृत शब्द का ज्ञान होता है।

इन्द्रियस्यैव संस्कारः शब्दस्यैवोभयस्य वा।
क्रियते ध्वनिभिर्वादास्त्रयोऽभिव्यक्तिवादिनाम्॥

वाक्य० १,७९।

तीनों मतों को भर्तृहरि तथा पुण्यराज ने निम्नरूप से स्पष्ट किया है। (वाक्य० १,८०—८१)

१—ध्वनि उत्पन्न होकर कान को शुद्ध कर देती है, उससे शब्द की उपलब्धि

में साधन होती है। जैसे चित्त की एकाग्रता, अंजन आदि के द्वारा आँख की ही शुद्धि की जाती है। यदि शब्द की ही अभिव्यक्ति मानी जायगी तो सब को ही वह सुनाई पड़ना चाहिए। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के शब्दनित्यताधिकरण में इन तीनों वादों पर विस्तार से विचार किया है। यदि यह प्रश्न किया जाय कि ध्वनि संस्कार का जनक कैसे हो सकता है, क्योंकि संस्कार को उत्पन्न करने वाला कोई आकार उसमें नहीं है। इसका उत्तर कुमारिल ने दिया है कि शब्द की उत्पत्ति मानने वालों को भी तद्भावभाविता के द्वारा अर्थात् ध्वनि के होने से शब्द की सत्ता माननी होती है। कार्य के द्वारा कारण का अनुमान करके अतीन्द्रियशक्ति माननी होती है। नित्यवादियों के मत में अभिव्यङ्ग्य अनुमेय अतीन्द्रिय शक्ति के द्वारा इन्द्रिय का संस्कार करती हुई ध्वनियाँ शब्द की अभिव्यक्ति करती हैं। यदि यह कहा जाय कि व्यञ्जक उसी जाति का होना चाहिए। ध्वनि शब्द से विजातीय है, अतः व्यञ्जक कैसे हो सकती है। उसका उत्तर कुमारिल ने दिया है जैसे घड़ा आदि पार्थिव पदार्थ है और दीपक तैजस्, विजातीय होने पर भी दोनों में प्रकाश्य-प्रकाशक-भाव सम्बन्ध है। दीपक से घट का संस्कार होता है। (श्लोक० शब्द० ४३—४६)।

२—ध्वनि के संसर्ग से शब्द में ही संस्कार होता है और वह सुनाई पड़ता है। जैसे पृथ्वी में गन्ध है, परन्तु सूखी हुई पृथ्वी पर पानी पड़ने से उस गन्ध की अभिव्यक्ति होती है विषय का ही संस्कार होता है इन्द्रिय का नहीं। इसी प्रकार शब्द का ही संस्कार होता है, कान का नहीं। कुमारिल ने इस विषय में लिखा है कि यदि इन्द्रिय का संस्कार होता तो एक बार कान का संस्कार होने पर वह सारे शब्दों को ग्रहण कर लेता, ऐसा नहीं होता कि घड़े के लिए आँख संस्कृत होने पर पट का बोध नहीं कराती। अतः विषय का ही संस्कार मानना चाहिए। श्लोक० ६० - ६१।

३—ध्वनि कान और शब्द दोनों को संस्कृत करती है। जैसे आँख विषय के स्थान पर जाकर जब विषय को ग्रहण करती है, तब प्रकाशक दीपक आदि के द्वारा विषय और इन्द्रिय दोनों का ही संस्कार होता है आँख और पट दोनों को ही दीपक संस्कृत करता है। उसी प्रकार ध्वनि में भी वही क्रम मानना चाहिए कि ध्वनि कान और शब्द दोनों को ही संस्कृत करती है, जैसे प्रकाश में खड़े हुए को अन्धकार में रक्खा हुआ घड़ा नहीं दीखता, उसी प्रकार अगृहीत शब्द भी सुनाई नहीं पड़ता है।

स्फोट और ध्वनि के ग्रहण के विषय में चार मत—जिस प्रकार ध्वनि से स्फोट की अभिव्यक्ति के विषय में कई मत हैं उसी प्रकार स्फोट और ध्वनि का किस प्रकार ग्रहण होता है, इस विषय में चार मत हैं।

१—ध्वनि स्फोट से पृथक् नहीं है, अतः स्फोट-समन्वित ध्वनि का ग्रहण होता

है। जैसे जवा के फूल के रंग से अनुरंजित स्फटिक मणि का ग्रहण होता है, उसी प्रकार ध्वनि के रूप से अनुरंजित स्फोट सुनाई पड़ता है। जैसे सूर्य के प्रकाश से प्रकाशित वस्तु में वस्तु और प्रकाश को पृथक् नहीं ग्रहण करते, अपितु दोनों को मिश्रित रूप में ही देखते हैं, उसी प्रकार स्फोट और ध्वनि अविभक्त रूप से सुनाई पड़ते है।

२—जैसे इन्द्रियों में गुण रूप रस आदि अपने स्वरूप से असंवेद्य अर्थात् अज्ञेय होते हुए भी विषय की अर्थात् रूप रसादि युक्त पदार्थ की उपलब्धि करा देते हैं, उसी प्रकार ध्वनि भी अपने स्वरूप से असंवेद्य होते हुए भी शब्द के ग्रहण में कारण होती है।

३—स्फोट अदृश्य है, दूर है। इस दूरता के दोष के कारण स्फोट का ग्रहण नहीं होता है, केवल ध्वनि से ही उसकी उपलब्धि होती है।

४—स्फोट सर्वदा प्रकाशमान है। दूर होने के कारण वह दिखाई नहीं पड़ता है, अस्पष्ट है। जैसे दूरता के दोष के कारण वस्तु अस्पष्ट या अज्ञात परिमाण वाली दिखाई देती है। उस दूरी को दूर कर देने से स्फोट दिखाई देता है। (पुण्यराज)।

स्फोटरूपाविभागेन ध्वनेर्ग्रहणमिष्यते।
कैश्चिद् ध्वनिरसंवेद्यः स्वतन्त्रोऽन्यैः प्रकाशकः॥
वाक्य० १, ८२।

ध्वनि से स्फोट ग्रहण कैसे ?—यहां पर यह प्रश्न उठता है कि जब ध्वनि का अस्तित्व माना जाता है, तब उसमें क्रम का होना अनिवार्य है, उससे पद या वाक्य का ग्रहण कैसे हो सकता है। उसका उत्तर दिया है कि जैसे एक अध्याय, एक मन्त्र या एक श्लोक बारबार आवृत्ति या जप आदि करने से एक बुद्धि का विषय हो जाता है। इसी प्रकार वर्ण पद और वाक्यविषयक प्रयत्न-विशेष से साध्य ध्वनियां वर्ण पद और वाक्य रूपी स्फोटों को बार-बार प्रकट करती हुई बुद्धि में उनका "स्फोटों का" बुद्धि में आरोप करते हैं। यदि क्रम से वर्णों का ग्रहण मानेंगे तो उनका कभी भी समुदाय नहीं बन सकता, और इसलिए वे कभी भी बुद्धि के विषय नहीं होंगे। यदि यह कहा जाय कि प्रत्येक ध्वनि वर्ण पद और वाक्यरूपी स्फोटों को बार-बार उद्बुद्ध करती है तो स्फोट को भी अनेक मानना पड़ेगा। इसका उत्तर दिया गया है कि एक ही मन्त्र सैकड़ों आवृत्ति करने पर या सहस्रों बार जप करने पर भी अनेक नहीं हो जाता है। यह आवृत्ति भी वृत्ति है वृत्तिभेद से वस्तु भेद नहीं होता है। प्रत्येक आवृत्ति के कारण श्लोकों या मन्त्रों का 'समुदाय रूपी ग्रन्थ वेद' अनेक नहीं माना जाता है। आवृत्ति के कारण भिन्नता नहीं की जाती, परन्तु मन्त्र आदि का पूरा ज्ञान

अन्तिम ध्वनि से होता है। मन्त्रादि का सहस्रों आवृत्ति करने पर भी जितना अर्थ बुद्धि में आया है, उतना ही प्रकट समझना चाहिए। जितना बुद्धि में नहीं आया उतना अज्ञात या अनुपलब्ध समझना चाहिए। अज्ञात या अनुपलब्ध ध्वनि से कोई व्यवहार नहीं होता है। भाव यह है कि प्रत्येक अक्षर से उस परम अक्षर ब्रह्म का बोध कराया जाता है, परन्तु बुद्धि स्पष्ट न होने से या पूर्णरूप से प्रतिभा का विकास न होने से असंख्यों अक्षरात्मक वाक्यों को जानकर भी, सहस्रों बार उच्चारण प्रयोग व्यवहार आवृत्ति करके भी उसके एक अंश को ही जान पाते हैं। जितना जानते हैं, उतने से व्यवहार करते हैं. अज्ञात अंश अज्ञात ही रहता है। सहस्रों आवृत्ति करने पर भी वह अक्षर एक अक्षर ही रहता है, अनेक नहीं हो जाता। यदि जीवन भर उसको निरर्थक ध्वनि समझा जाता है तो वह निरर्थक ही रहता है। यदि बुद्धि या प्रतिभा ने एक अक्षर के स्फोट रूप को समझ लिया तो उसका स्वरूप प्रकट होने लगता है। स्थूल प्रयोग में भी जब तक ध्वनि के स्फोट अंश को स्वयं बुद्धि नहीं ग्रहण कर लेती, तब तक हम न किसी शब्द का अर्थ समझ सकते हैं और न उसका प्रयोग कर सकते हैं। पुण्यराज।

यथानुवाकः श्लोको वा सोढत्वमुपगच्छति ।
आवृत्त्या न तु स ग्रन्थः प्रत्यावृत्त्या निरूप्यते ॥
वाक्य० १, ८३।

अन्य ध्वनियों की क्या आवश्यकता है—इस पर यह प्रश्न उठता है कि यदि अवान्तर ज्ञान स्फोट से ही होते हैं तो एक स्फोट से अर्थ का ज्ञान हो जाना चाहिए। एक से अधिक ध्वनियों की आवश्यकता ही क्या है। इसका उत्तर दिया है कि प्रत्येक स्फोट से जो ज्ञान होता है, वह स्पष्ट नहीं होता है। वह साधन है। वह आगे स्पष्ट होने वाले स्फोट के ज्ञान में सहायक है। आगे आगे जो ध्वनियाँ सुनी जाती हैं, वे उसी अस्पष्ट को स्पष्ट करती जाती हैं। वे उस अवर्णनीय ज्ञान को वर्णनीय बनाती जाती है। ध्वनि के द्वारा स्फोट रूपी शब्द का स्वरूप निर्धारित होता है। अतः अन्य ध्वनियों की आवश्यकता और उपयोगिता है। पुण्यराज।

प्रत्ययैरनुपाख्येयैर्ग्रहणानुगुणैस्तथा ।
ध्वनिप्रकाशिते शब्दे स्वरूपमवधार्यते ॥
वाक्य० १, ८४।

स्फोट के ज्ञान का क्रम क्या है—स्फोट का ज्ञान होता कैसे है। उसके स्वरूप का निर्धारण करते कैसे हैं कि बुद्धि को शब्द का ज्ञान हुआ। यह एक बड़ा बिचित्र प्रश्न है। स्थूलरूप से प्रश्न का भाव यह है हम शब्द कैसे सुनते हैं, कैसे

जानते हैं कि यही शब्द कहा गया है। परन्तु आगे जाकर इस प्रश्न का रूप यह हो जाता है कि शब्दब्रह्म या दूसरे शब्दों में परब्रह्म का बुद्धि में साक्षात्कार कैसे होता है। यह कैसे ज्ञात होता है कि आत्मसाक्षात्कार हुआ। इससे भी आगे जाकर प्रश्न का स्वरूप यह है कि सृष्टि के प्रारम्भ में शब्दतत्त्व का क्या स्वरूप था और वह अज्ञेय से ज्ञेय रूप में कब और किस रूप में आया। भर्तृहरि ने इसका एक श्लोक में उत्तर दिया है। पुण्यराज ने जो इसकी व्याख्या की है, उसके आधार पर पदार्थ यह होता है। प्रथम प्रश्न का उत्तर कुछ स्पष्ट होता है परन्तु भर्तृहरि का वाक्यार्थ आगे विचारणीय है। नाद से उसमें बीज का आधान होता है। अन्तिम ध्वनि के साथ आवृत्ति के कारण प्राप्त परिपक्वावस्थावाली बुद्धि में शब्द का अवधारण होता है।

पुण्यराज का कथन है कि नाद अर्थात् ध्वनियों से बीज का आधान होता है, अर्थात् व्यक्त को परिच्छिन्न करने के योग्य संस्कार पड़ता है। उसके पश्चात् अन्तिम ध्वनि होती है। पहले-पहले संस्कारों से समन्वित तथा आवृत्तियों के लाभ के कारण जो योग्यता प्राप्त होती है उससे परिपक्व बुद्धि में शब्द के स्वरूप का ज्ञान होता है।

नादैराहित बीजायामन्त्येन ध्वनिना सह।
आवृत्तपरिपाकायां बुद्धौ शब्दोऽवधार्यते॥

वाक्य० १, ८५।

वर्ण और पदों का आभास क्यों होता है—इस पर यह प्रश्न किया गया है कि आभ्यन्तर स्फोट (शरीर में जीव और ब्रह्माण्ड में ब्रह्म) अखण्ड है। फिर बीच-बीच में वर्ण और पदों का आभास क्यों होता है। इसका उत्तर दिया है कि वर्ण पद और वाक्य अखण्ड हैं; परन्तु ध्वनि के द्वारा वर्ण पद और वाक्य की अभिव्यक्ति होने पर वर्ण में वर्ण के सदृश भाग के अभिनिवेश (अनुभूति) वाली बुद्धि होती है। पद में वर्ण रूपी भाग के अभिनिवेश वाली तथा वाक्य में पदरूपी भाग के अभिनिवेश वाली बुद्धि होती है। उन बुद्धियों के कारण शब्द को ग्रहण करने वाले भागयुक्त असत्य शब्दों की बीच में सत्ता मानते हैं। यह उन ग्रहण करने वाले व्यक्तियों की अशक्ति का परिणाम है। परन्तु यह अशक्ति साधन है। इस प्रकार के उपायों से ही शब्दब्रह्म अर्थात् परब्रह्म का साक्षात्कार होता है। पुण्यराज।

असतश्चान्तराले याञ्छब्दानस्तीति मन्यते।
प्रतिपत्तुरशक्तिः सा ग्रहणोपाय एव सः॥

वाक्य० १, ८६।

वाक्य और पद का भेद क्यों है—इस पर यह प्रश्न किया है कि उक्त प्रकार को मानने पर वाक्यों और पदों का भेद नहीं माना जा सकता है। इसका

उत्तर दिया है कि जैसे ज्ञान एक है, उसमें न कोई भेद है और न कोई रूप, परन्तु नाना ज्ञेयों के रूप में ग्रहण होने के कारण वह विभिन्न प्रकार का ज्ञात होता है, जैसे घटज्ञान, पटज्ञान आदि। भाव यह है कि ज्ञान का रूप ज्ञेय के आधार पर ही होता है। जानने योग्य पदार्थों में अनेक रूपता के कारण ज्ञान भी अनेक रूप और भिन्न प्रतीत होता है। उसी प्रकार आभ्यन्तर शब्दतत्त्व अर्थात् परब्रह्म समस्त बीज शक्तियों के संहार के कारण निरीह निष्क्रिय आदि है, परन्तु व्यञ्जक ध्वनियों के भेद में क्रम का आभास होने के कारण आविर्भाव के समय नाना रूपों वाला प्रतीत होता है। हरिवृषभ का कथन है कि वह शब्दतत्त्व ब्रह्म है। वह वाणी और मन की पहुँच से परे हैं, परन्तु अन्य के रूपों के भेद के आश्रय से उसका ग्रहण होता है, अतः वह अन्यथा प्रतीत होता है अर्थात् विभिन्न रूप में प्रकट होता है। हरिवृषभ।

भेदानुकारो ज्ञानस्य वाचश्चोपप्लवो ध्रुवः।
क्रमोपसृष्टरूपाया ज्ञानं ज्ञेयव्यपाश्रयम्॥

वाक्य० १, ८७।

व्याडि की सम्मति—संग्रहकार व्याडि का इस विषय पर मत है कि ज्ञान ज्ञेय पदार्थ के बिना कभी व्यवहार में नहीं आता है। जब तक वाणी में क्रम का समावेश नहीं होगा, तब तक उससे किसी अर्थ का बोध नहीं कराया जा सकता है। भाव यह है कि ज्ञान का आधार ज्ञेय होता है, उसी प्रकार ध्वनि निराधार नहीं हो सकती है, पदार्थ बिना कारण के नहीं हो सकता है। अतः ध्वनि का आधार स्फोट को मानना पड़ता है और पदार्थ का आधार वाक्यार्थ को और पद का आधार वाक्य को। वह शब्द ब्रह्म है, परब्रह्म है, अखण्ड वाक्य है।

ज्ञेयेन न विना ज्ञानं व्यवहारेऽवतिष्ठते।
नालब्धक्रमया वाचा कश्चिदर्थोऽभिधीयते॥

वाक्य० १, ८७ की टीका।

वर्ण आदि साधन हैं—वर्ण आदि के बीच में श्रवण की उपयोगिता बताते हुए भर्तृहरि का कथन है कि जैसे दस सौ आदि संख्याओं के ज्ञान के लिए एक दो आदि संख्याओं के ज्ञान की आवश्यकता होती है। वे यद्यपि सौ आदि संख्याओं से भिन्न हैं, तथापि उनको सौ आदि के अवयव के रूप में समझा जाता है। इसी प्रकार वाक्य आदि में देवदत्त आदि शब्दों का सुनाई पड़ना वाक्य के ज्ञान में साधन है। यद्यपि वस्तुतः वे वाक्य के अवयव नहीं हैं, परन्तु साधन होने के कारण अवयव के तुल्य प्रतीत होते हैं। वाक्य० १, ८८।

ध्वनि भेद में एकता कैसे—यदि वाक्य और पद आदि में विद्यमान देवदत्त आदि के श्रवण में ध्वनि भेद है तो उनमें एकता कैसे होती है। इसका

उत्तर यह है कि पदों और वाक्यों में विशेष प्रयत्न से प्रेरित वायुएँ उन स्थानों के अभिघात से ध्वनियों को उत्पन्न करती हैं या अभिव्यक्त करती हैं। वे यद्यपि परस्पर विभिन्न स्वभाव के हैं तथापि उनमें विद्यमान शक्तियाँ बहुत संकीर्ण सी हैं अतः एकता प्रतीत होती है। जैसे भ्रमण में क्रिया प्रत्येक गति के साथ समाप्त होती जाती है, परन्तु भ्रमण में गति के प्रत्येक अंश में अत्यन्त विभिन्नता होने पर भी भ्रमण को एक कहा जाता है। इसी प्रकार उच्चारण की प्रत्येक ध्वनि में विभिन्नता होने पर भी उसे एक कहा जाता है। सामान्य की एकता के कारण एकता है। शक्ति भेद के कारण अनेकता नहीं कही जा सकती है। एक ही आश्रयभेद और कार्य भेद से भेद ज्ञात होता है। इसी प्रकार वर्णपद और वाक्य में मात्राविभाग, वर्णविभाग, और पदविभाग आश्रयभेद और कार्य-भेद के कारण हैं, वस्तुतः वह काल्पनिक और मिथ्या है। पुण्यराज, वाक्य० १, ८६।

इसको उदाहरण द्वारा स्पष्ट किया है कि जैसे बहुत दूरी के कारण या बहुत घने अन्धकार के कारण आँख से आकार की ही उपलब्धि होने पर वृक्ष आदि को हाथी आदि के तुल्य समझ लिया जाता है। परन्तु ध्यान से देखने पर तथा प्रकाश होने पर क्रमशः उनको ठीक-ठीक समझते हैं। रस्सी में अन्धकार आदि के कारण साँप का भ्रम हो जाता है। परन्तु ध्यान से देखने पर ज्ञात होता है कि वह रस्सी है। इसी प्रकार वाक्य आदि में वाक्य के प्रकट करने के साधन ध्वनियाँ हैं। उनमें क्रम है। उनका क्रमशः ग्रहण किया जाता है। पहले भ्रम के कारण ज्ञात होता है कि वर्ण है, पद हैं। परन्तु जब ध्यान से देखा जाता है तो ज्ञात होता है कि केवल अखण्ड वाक्य है। वही बुद्धि का विषय है। पूर्ण प्रणिधान के अभाव के कारण सर्वसाधारण वाक्यों में अवयवों को सत्य मानते हैं। वाक्य० १, ९०—९१।

असत्य में क्रम कैसे यहाँ पर यह प्रश्न किया जा सकता है कि यदि वाक्य में वर्ण आदि की सत्ता असत्य है तो असत्य में कोई निश्चित क्रम नहीं होना चाहिए। कोई अन्धकार में वृक्ष को हाथी समझता है, कोई कुछ और, कोई निश्चित नहीं कि यही समझा जाएगा, परन्तु वाक्य में क्रम आनुपूर्वी देखी जाती है पहले वर्ण फिर पद। इसका उत्तर दिया है कि जैसे दूध से दही क्रमशः ही बनती है, बीज से वृक्ष क्रमशः और निश्चित क्रम से ही होता है, उनमें क्रम का नियम निश्चित है, उसी प्रकार जानने वाले की बुद्धि में क्रम नियत है। पहले वर्ण को जानता है, फिर पद को और फिर वाक्य को। इसका अभिप्राय है कि तात्त्विक ज्ञान निश्चित क्रम से ही होता है, अनिश्चित क्रम से नहीं। वर्ण साधन है, उनसे क्रमशः सत्य वाक्य का ज्ञान होता है। सृष्टि में पहले प्रकृति का ज्ञान होता है, फिर जीव का और फिर उस सत्य वाक्यात्मा ब्रह्म का। यह क्रम स्वाभाविक है। अनित्य नित्य के ज्ञान का साधन है, असत्य सत्य के ज्ञान का

साधन है। स्थूलदृष्टि से असत्य सत्य ज्ञात होता है, और सत्य असत्य, परन्तु अविद्या का आवरण हट जाने पर वर्णरूपी प्रकृति और पदरूपी जीव असत्य ज्ञात होता है, तथा एक वाक्य रूपी ब्रह्म सत्य ज्ञात होता है। वाक्य० १, ६२।

स्फोट नित्य कैसे हो सकता है—यहाँ पर एक यह प्रश्न उठता है कि वाक्य स्फोट की सिद्धि के लिए ध्वनि से स्फोट की नित्यता सिद्ध नहीं हो सकती है दो ही प्रकार हो सकते हैं, शब्द की अभिव्यक्ति या शब्द की उत्पत्ति। दोनों प्रकार से अनित्य होगा। प्रथम पक्ष में युक्ति यह है कि शब्द अनित्य है, क्योंकि प्रकाश्य है, व्यङ्ग्य है, जैसे घट आदि। अनित्य घड़े आदि की दीपक आदि से अभिव्यक्ति देखी जाती है। शब्द को ध्वनि से व्यङ्ग्य कहा जाता है, अतः अनित्य है। दूसरे पक्ष में अनित्यता स्पष्ट ही है। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि यह अनुमान कि अनित्य की ही अभिव्यक्ति होती है, यह नियम सत्य नहीं है। यह नियम जाति के विषय में त्रुटिपूर्ण है। घटत्व आदि जातियों के आश्रय व्यक्ति हैं, वे अनित्य हैं, परन्तु उन अनित्य व्यक्तियों के द्वारा नित्य घटत्व आदि जाति की अभिव्यक्ति होती है। इसी प्रकार अनित्य ध्वनि से नित्य शब्दतत्त्व की अभिव्यक्ति होती है। वाक्य० १, ६६।

स्फोट और ध्वनि में अभिन्नता—इस पर यह प्रश्न किया गया है कि व्यवहार में यह देखा जाता है कि एक स्थान पर विद्यमान घड़े आदि की दीपक आदि से अभिव्यक्ति होती है। परन्तु यहां पर विचित्रता यह है कि ध्वनि तालु ओष्ठ आदि के व्यापार से होती है और अभिव्यक्ति होती है कान में। वहां पर भिन्न प्रदेशता स्पष्ट है। इसी प्रकार ध्वनियों से अन्दर विद्यमान स्फोटरूपी शब्दात्मा की अभिव्यक्ति भी सर्वथा युक्तिसंगत नहीं है। शब्द एक देश में रहता है, ध्वनियां नाना प्रदेशों में रहती हैं। दोनों में बहुत दूरी है। इसका उत्तर यह है कि यह व्यवहार स्थूल मूर्त पदार्थों के विषय में होता है। उनमें ही देशभेद कालभेद आदि होता है। ध्वनि और स्फोट शरीरधारी पदार्थ नहीं हैं। वे मूर्त नहीं हैं, उनमें देशभेद कालभेद नहीं होता है। देश आदि से सम्बन्ध मूर्त पदार्थों का ही होता है अमूर्त का नहीं। यदि प्रश्नकर्ता के आग्रह से यह मान भी लिया जाय तो भी कोई अपत्ति नहीं होती, क्योंकि ध्वनि और स्फोट में यह भेद है ही नहीं। दोनों आकाश में रहते हैं, आकाश एक है, अनेक नहीं। अतः देशभेद का प्रश्न ही नहीं उठता। दूसरे यह कि ध्वनि के द्वारा आभ्यन्तर स्फोट की ही अभिव्यक्ति होती है ध्वनियां भले ही नाना देशों में हों, परन्तु वे अभिव्यक्ति आभ्यन्तर शब्द की ही करती हैं। पुण्यराज, वाक्य० १, ६७।

देशादिभिश्च सम्बन्धो दृष्टः कायवतामिह।
देशभेदविकल्पेऽपि न भेदो ध्वनिशब्दयोः॥

अभिव्यक्तिवाद पर आक्षेपों का समाधान—एक प्रश्न इस पर यह किया गया है कि अभिव्यक्तिवाद ही ठीक नहीं है। यह देखा जाता है कि दीपक प्रकाशक है वह नियम से किसी एक वस्तु को ही प्रकाशित नहीं करता। घड़े को भी दिखाता है, पट को भी, अन्य वस्तुओं को भी। परन्तु ध्वनि में यह देखा जाता है कि वह नियमित रूप से निश्चित स्फोट की ही अभिव्यक्ति करती है। क आदि वर्णों की अभिव्यक्ति के हेतु ध्वनियों से उन्हीं वर्णों की अभिव्यक्ति होती है, अन्य की नहीं। अतः ध्वनियों को इस नियमबद्धता के कारण अभिव्यञ्जक नहीं कह सकते। इसका उत्तर यह है कि ग्राह्य और ग्राहक में भी यह योग्यता नियमित देखी जाती है। जैसे आंख रूप को ही दिखाती है, रस गन्ध अन्य गुणों को नहीं। अन्य इन्द्रियां भी इसी प्रकार अन्य इन्द्रियों के गुणों को नहीं प्रकट करती हैं। इसी प्रकार स्फोट और ध्वनियों में भी नियमित व्यङ्ग्य-व्यञ्जक-सम्बन्ध है। पुण्यराज।

> ग्रहणग्राह्ययोः सिद्धा योग्यता नियता यथा।
> व्यंग्यव्यञ्जकभावेन तथैव स्फोटनादयोः ॥
>
> वाक्य० १, ९८।

अभिव्यक्ति में नियम की सत्ता—इस पर दूसरा आक्षेप यह उठाया गया है कि विभिन्न इन्द्रियों के ग्राह्य की विभिन्न इन्द्रियों से अभिव्यक्ति नहीं होती, परन्तु जिन-जिन पदार्थों का एक ही इन्द्रिय से ग्रहण होता है उनमें यह नियम नहीं होता। प्रश्न का भाव यह है कि इन्द्रियां दो प्रकार की हैं एक वे जो अपने सजातीय द्रव्य के गुणों को ग्रहण करती हैं जैसे नाक और कान, गन्ध और शब्द को ही ग्रहण करती हैं, दूसरी वे हैं जो सजातीय और विजातीय दोनों प्रकार के द्रव्यों के गुण को ग्रहण करती हैं, जैसे आँख, जीभ और त्वचा। आँख अपने सजातीय अग्नि के भी रूप को ग्रहण करती है और साथ पृथिवी, जल आदि विजातीय द्रव्यों के रूप को भी। नाक और कान अपने सजातीय पृथिवी और आकाश के ही गन्ध और शब्द गुणों को ही ग्रहण करते हैं। एक नाक से ग्राह्य गन्ध में अभिव्यञ्जक का नियम नहीं है, उसी प्रकार शब्द में भी अभिव्यञ्जक का नियम नहीं होना चाहिए। ऐसा होता है, अतः ज्ञात होता है कि ध्वनि अभिव्यञ्जक नहीं, अपितु शब्द का उत्पादक है। इसका उत्तर भर्तृहरि ने दिया है कि गन्ध आदि जो कि एक ही इन्द्रिय से ग्रहण किये जाते हैं, उनका भी प्रकाशक संसार में प्रत्येक द्रव्य के विषय में नियमित ही है। प्रत्येक गन्ध की प्रत्येक प्रकार के संयोग से अभिव्यक्ति नहीं होती। कुंकुम के गन्ध की अभिव्यक्ति गाय के घी से ही होता है, अन्य से नहीं। इसी प्रकार प्रत्येक ध्वनि से प्रत्येक शब्द की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती। वाक्य० १,९९।

व्यञ्जक का व्यङ्ग्य में प्रतिबिम्ब—इस पर फिर यह आक्षेप किया गया है

कि अभिव्यक्ति मानना ठीक नहीं है। अभिव्यञ्जक के वृद्धि ह्रास और संख्या भेद से अभिव्यङ्ग्य में वृद्धि ह्रास आदि नहीं होता है। जैसे दीपक के वृद्धि या ह्रास से घड़े में वृद्धि या ह्रास नहीं होता है। दीपकों की संख्या घटने बढ़ने से घड़ों की संख्या नहीं घटती बढ़ती। परन्तु शब्द में ध्वनियों के भेद से संख्या और परिमाण में भेद होता है। इसका उत्तर दिया है कि अभिव्यञ्जक के भेद का अभिव्यङ्ग्य पर प्रभाव पड़ता है और वह तदनुसार दीखता है। जैसे नीचे शीशे में मुँह का प्रतिबिम्ब ऊंचा दीखता है, ऊंचे में नीचा। तेल में काला आदि। तलवार काँच आदि के परिमाणभेद से प्रतिबिम्ब में भी परिमाणभेद दीखता है, किसी में मुँह लम्बा, किसी में गोल आदि दिखाई देता है। शीशे आदि तथा पानी की तरंगों की अनेकता होने पर मुँह भी कई दिखाई देते हैं। इसी प्रकार अभिव्यञ्जक ध्वनि के भेद से शब्द अनेक दिखाई देता है। पुण्यराज, वाक्य० १, १००।

शीशे में चन्द्रमा या मुँह की उत्पत्ति नहीं हो सकती—इस पर प्रश्नकर्ता ने अपनी ओर से यह समाधान दिया है कि शीशे आदि में जो चन्द्रमा, मुँह आदि दिखाई देता है, वह सच्चे चन्द्रमा या मुँह आदि का प्रतिबिम्ब नहीं है, अपितु वह विभिन्न ही पदार्थ है, जो कि उसके अन्दर दिखाई देता है। अतः दर्पण आदि को अभिव्यञ्जक नहीं कह सकते। इस पर भर्तृहरि का कथन है कि यदि मणि दर्पण आदि में प्रतिबिम्ब के अतिरिक्त अन्य पदार्थ की सत्ता मानेंगे तो यह विचार ही सम्भव नहीं है। मणि, शीशा या जल में उसके विरुद्ध परिमाण वाले पर्वत, वृक्ष, चन्द्रमा, मुँह आदि के समान रूप वाले भावपदार्थ की उत्पत्ति नहीं हो सकती है। अतएव दर्पण आदि को अभिव्यञ्जक ही मानना चाहिये। भाव यह है कि शब्दतत्व का ही सारे शब्दों में प्रतिबिम्ब है, प्रकृति और प्रत्ययरूपी आधारों के भेद से वह अनेक और असंख्य ज्ञात होता है। सृष्टि और जीवात्मा में वही प्रतिबिम्बित हो रहा है। पदार्थों और जीवों की अनेकता आदि के कारण वह अनेक और असंख्य प्रतीत होता है। वस्तुतः तत्त्व एक ही है, उसमें भेद नहीं है। पुण्यराज, वाक्य० १,१०१।

ध्वनिभेद के कारण व्यावहारिक कार्य—इस पर यह प्रश्न किया गया है कि स्फोट एक और अखण्ड है तो उसमें पहले पीछे की सत्ता अर्थात् पौर्वापर्य नहीं होगा। अतः व्यवहार में जो यह कहा जाता है कि वह पहले की ध्वनि है यह बाद की, यह व्यवहार ही नहीं हो सकेगा। व्याकरण के नियम जैसे "इको यणचि" (इक् को यण् होता है अच् बाद में हो तो) ह्रस्व दीर्घ प्लुत, द्रुत विलम्बित आदि कोई व्यवहार नहीं हो सकेगा। इसका उत्तर दिया है कि यह पहले यह बाद में इस प्रकार का व्यवहार नाद के कारण होता है। ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत आदि व्यवहार प्राकृत ध्वनि के कारण होता है। द्रुत मध्यम विलम्बित यह व्यवहार वैकृत ध्वनि के कारण होता है। इस प्रकार से वृत्तिभेद कालभेद

आदि नादभेद के कारण होता है। वर्णपद वाक्य आदि में किसी प्रकार का कालभेद नहीं है। पुण्यराज, वाक्य० १, १०२।

कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के शब्दनित्यताधिकरण में ४४४ श्लोकों में इस विषय पर बहुत विस्तार के साथ विवेचन किया है और शब्द की नित्यता को सिद्ध किया है।

स्फोट और ध्वनि के विषय में विभिन्न मत

स्फोट और नाद का स्वरूप—भर्तृहरि ने स्फोट और ध्वनि के स्वरूप की व्याख्या की है कि अन्यों का मत है कि स्फोट उसे कहते हैं जो कि स्थान प्रयत्न आदि से वायु में संयोग या विभाग के कारण उत्पन्न होता है। ध्वनि उनको कहते हैं, जो कि उन शब्दों से अन्य शब्द उत्पन्न होते हैं।

यः संयोगविभागाभ्यां करणैरुपजन्यते।
स स्फोटः शब्दजाः शब्दा ध्वनयोऽन्यैरुदाहृताः॥

वाक्य० १, १०३।

पुण्यराज ने इसकी व्याख्या में विभिन्न मतों का उल्लेख किया है। जो शब्द को अनित्य मानते हैं उनका मत है कि स्थान कारण से वायु को संयोग या विभाग मूलक पहले अभिव्यक्त शब्द को ही स्फोट कहते हैं। उसका मुख्य समवायी देश आकाश है। अर्थात् यह आकाश में समवाय सम्बन्ध से रहता है। आकाश का भी संयोगी विभिन्न द्रव्यों के कारण भेद होने से तन्मूलक पौर्वापर्य व्यवहार होता है। उसके बाद सारे दिशाओं में शब्द के रूप के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करके मन्द दीपक के प्रकाश से प्रकाशित रूप के आभास के क्रम से भाषित होते हुए जो वर्ण श्रुति में भेद डालते हैं, वे ध्वनि कहे जाते हैं। वहाँ पर यह ध्यान रखना चाहिए कि वैयाकरण जिसको प्राकृत ध्वनि कहते हैं, उसको ही तार्किक स्फोट मानते हैं और जिसको वे वैकृत ध्वनि कहते हैं, उसको वे ध्वनि कहते हैं। वैशेषिक दर्शन के मानने वालों का मत है कि संयोग से, विभाग से या शब्द से शब्द की उत्पत्ति होती है। जैसे पहले वायु से एक लहर उत्पन्न होती है, उसके बाद उससे ही अन्य तरंग, उससे भी अन्य, इस प्रकार पूर्व-पूर्व तरंग से उत्तरोत्तर तरंगों की उत्पत्ति होती है। उसी प्रकार भेरी और डंडे के संयोग से या बांस के फाड़ने से जो शब्द आकाश में उत्पन्न होता है, वह असमवायी कारण के रूप में शब्दान्तर को उत्पन्न करता है, वह शब्दान्तर को, इस परम्परा से वह कान को सुनाई पड़ता है। भेरी का शब्द मैंने सुना, यह बुद्धि भ्रम है। इस प्रकार की वीचीतरंगन्याय से शब्दोत्पत्तिपक्ष कहा जाता है।

शब्द नित्यता के पक्ष में संयोग या विभाग से उत्पन्न ध्वनि से व्यङ्ग्य को

स्फोट कहते हैं, ऐसा कुछ का मत है। औरों का मत है कि संयोग-विभागरूपी फल से प्रकट ध्वनि से उत्पन्न नाद से अभिव्यङ्ग्य को स्फोट कहते हैं। वहां पर वे पहली अवस्था में ह्रस्व, दीर्घ आदि व्यवहार के कारण हैं तथा बाद में ध्वनियां या नाद जो कि धीरे-धीरे अभिव्यक्त होते जाते हैं, वे द्रुत आदि वृत्तियों के भेद की व्यवस्था के कारण हैं। पुण्यराज।

प्राकृत और वैकृत ध्वनि में भेद---देश व्याप्ति की समानता के कारण शब्द में अल्पता और महत्ता का आरोप किया जाता है, या लोकप्रसिद्धि के कारण, क्योंकि लोकप्रसिद्धि ही सर्वत्र व्यवस्था का कारण है। शब्द अर्थात् ध्वनि दो प्रकार की है। पहली उत्तरोत्तर शब्दों का कारण, दूसरी कार्यरूप ध्वनि। पहली को स्फोट का व्यञ्जक या स्फोट कहते हैं, कारणरूपी उस ध्वनि के कार्यारम्भ में निमित्तभेद के कारण सामर्थ्य में भेद पड़ता है। जैसे भेरी पर डंडे की चोट से उत्पन्न कार्यध्वनि की परम्परा दूर तक जाती है। कांसे आदि पर चोट से उत्पन्न ध्वनि समीप देश में ही बहुत देर तक अखण्ड रूप में रहती है। इनमें से पहली को प्राकृत और दूसरी को वैकृत ध्वनि कहते हैं। पुण्यराज, वाक्य० १, १०४।

ध्वनि ही दिखाई देती है---अनित्यवादियों में एकमत और यह है कि जैसे दीपक प्रभा के साथ उत्पन्न होता है इसी प्रकार स्फोट भी ध्वनि के साथ उत्पन्न होता है। जैसे दूर से दीपक की प्रभा ही दिखाई देती है, इसी प्रकार प्राकृत ध्वनि ही सर्वत्र दूर तक व्याप्त ज्ञात होती है। जैसे घंटे की ध्वनि में प्राकृत और वैकृत ध्वनिभेद दिखाई देता है, उसी प्रकार सारे वर्णों में ध्वनि और नाद रहते हैं। पुण्यराज, वाक्य० १, १०५।

तार्किकों का एकवाद यह कहता है कि 'वीचीतरंगन्याय' से शब्द की उत्पत्ति मानने पर उसका चारों ओर प्रसार नहीं होगा। अतः वे कदम्बगोलकन्याय मानते हैं। जैसे कदम्ब का फूल चारों ओर केसर को फैलाता है, इसी प्रकार प्रथमशब्द चारों ओर ध्वनियों को फैलाता है और वे अन्य ध्वनियों को, इसी वाद को दीप्यप्रभान्याय अर्थात् दीपक की प्रभा के तुल्य चारों ओर शब्द का विस्तार होना भी कहा जाता है।

स्फोटवाद के आठ स्वरूप

स्फोट के आठ रूपों का स्पष्टीकरण—वाक्य और वाक्यार्थ के अध्याय में वाक्य के आठ लक्षण दिए जा चुके हैं तथा उनकी व्याख्या भी की जा चुकी है। भट्टोजिदीक्षित, कौण्डभट्ट, नागेश आदि ने स्फोट को उन दार्शनिक नामों में न रखकर प्रचलित एवं वैयाकरणरूप में रक्खा है। इन आठ विभागों में उन्हीं आठ लक्षणों तथा छः वाक्यार्थों की व्याख्या की गई है। स्फोट की

व्याख्या की जा चुकी है कि जिससे अर्थ प्रस्फुटित होता है, उसे स्फोट कहते हैं। भट्टोजिदीक्षित ने शब्दकौस्तुभ में इसको आठ प्रकार से रखा है। उसका सारांश यह है कि सार्थक क्या है, इसको आठ प्रकार से कहा जा सकता है। १, प्रत्येक वर्ण सार्थक है, २, प्रत्येक वर्ण नहीं अपितु प्रत्येक पद सार्थक होता है। ३, प्रत्येक वर्ण और पद नहीं, अपितु प्रत्येक वाक्य सार्थक होता है। ४, निर्वचन के योग्य पद सार्थक नहीं, अपितु अनिर्वचनीय पद सार्थक होता है। पद अखण्ड है, उसके खण्ड नहीं होते हैं, अखण्ड पद सार्थक है। ५, वाक्य के खण्ड नहीं होते हैं, वह अखण्ड होता है, वही सार्थक है। वाक्य का निर्वचन नहीं किया जा सकता है, अनिर्वचनीय वाक्य सार्थक होता है। ६, असत्य वर्ण सार्थक नहीं है, अपितु सत्य वर्ण सार्थक होते हैं। अनित्य वर्ण सार्थक नहीं हैं, अपितु नित्य वर्ण सार्थक हैं। वर्णजाति सत्य है, सार्थक है। व्यक्तिरूपी वर्ण सत्य नहीं है, वे सार्थक नहीं हैं। ७, असत्य पद सार्थक नहीं होते हैं, अपितु सत्य पद सार्थक होते हैं। अनित्य पद सार्थक नहीं होता है, अपितु नित्य पद सार्थक होता है। व्यक्तिरूपी पद सार्थक नहीं है, अपितु जातिरूपी पद सार्थक है। प्रत्येक पद सार्थक नहीं है, अपितु एक ही पद नित्य है, वही सार्थक है। ८, असत्य वाक्य सार्थक नहीं होता है, अपितु सत्य वाक्य ही सार्थक होता है, अनित्य वाक्य सार्थक नहीं होता है, अपितु नित्यवाक्य सार्थक होता है। व्यक्तिरूपी वाक्य सार्थक नहीं है, अपितु जातिरूपी वाक्य सार्थक है। प्रत्येक वाक्य सार्थक नहीं है, अपितु एक ही वाक्य है, वह नित्य है, सत्य है, अखण्ड है, अनिर्वचनीय है, वही शब्द है, वही अर्थ है, वही स्फोट है, वही ध्वनि है, वही वाक्य है, वही वाक्यार्थ है, वही पद है, वही पदार्थ है, वही अक्षर है, वही अक्षरार्थ है, वही निर्गुण है, वही सगुण है, वही निष्क्रिय है, वही सक्रिय है, वही निष्काम है, वही सकाम है, वही निर्लेप है, निरंजन है, निराकार है, अक्षय है, वही सारांश है, वही भावार्थ है,। वही शब्द है, वही भाव है वही भाषा है, वही विज्ञान है, वही ज्ञान है, वही दर्शन है, वही साहित्य है, वही वेद है, वही संहिता है, वही व्याकरण है। पाणिनि और पतञ्जलि ने उसको वैयाकरणों के शब्दों में संहिता, पद, स्वरित, प्रातिपदिक, अंग, 'स्वतन्त्रः कर्त्ता' आदि की व्याख्या में विशेष रूप से स्पष्ट किया है। वह विरोधी गुणों का समन्वय है, इसकी व्याख्या में विशेषरूप से स्पष्ट किया है। वह विरोधी गुणों का समन्वय है, इसकी व्याख्या समास में समाहार के द्वारा की जाती है। समास में वृत्ति की व्याख्या में उसको अजहत्स्वार्था वृत्ति कहते हुए भी जहत्स्वार्था के द्वारा स्पष्ट करते हैं, 'समर्थः पदविधिः' (अष्टा० २, १, १) में उसको पद में रहते हुए भी वाक्य रूप बताया गया है। 'स्वं रूपम्०' (१, १, ६८) उसको शुद्ध शब्द बताते हुए भी उसे सार्थक कहा गया है। वह शब्द और अर्थ दोनों ही है। 'अर्थवदधातु०' (१, २, ४५) में पाणिनि ने उसे प्रातिपदिक नाम दिया है, क्योंकि वह प्रत्येक पद में है। इसलिए कहा जा चुका है कि प्रत्येक

पद में वाक्य की शक्ति है। प्रस्तुत विषय के दृष्टिकोण से यह सूत्र अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। पतञ्जलि ने इसकी व्याख्या में अर्थ क्या है, अनर्थक क्या है, आदि की विवेचना करते हुए स्पष्ट शब्दों में वर्णों को अनर्थक बताया है तथा वाक्य को सार्थक बताया है। पाणिनि ने चार पद इस सूत्र में दिए हैं, वे चारों शब्द तत्त्व के लक्षण हैं। १, वह सार्थक है अतएव अर्थवत् शब्द का प्रयोग किया है। २ 'अधातुः' वह धातु नहीं है, वह प्रकृति नहीं है, वह क्रिया नहीं है, वह निष्क्रिय है। ३, 'अप्रत्ययः' वह प्रत्यय नहीं है, वह लिंगरहित है, वह निर्गुण है, वह जीव नहीं है। ४, प्रातिपदिक उसका नाम है, उसकी संज्ञा प्रातिपदिक है, वह प्रत्येक पद में व्याप्त है, वह प्रकृति है, वह प्रत्यय है, वह धातु है, वह गुण है, वह प्रत्येक जीव में व्याप्त है।

ऊपर जो आठ विचार दिये गये हैं, उनमें से सात साधन हैं, अष्टम साध्य है। अष्टम ही पूर्ण रूप से सत्य है, परन्तु वह असिद्ध है, अनिर्वचनीय है, साध्य है, ज्ञेय है। निवर्चन विवेचन व्याकरण जहाँ तक व्याख्या कर सकते हैं, वह सप्तम पर समाप्त हो जाते हैं। सातों में सत्यांश है, परन्तु उन्हें ही सत्य समझ लेना भ्रम है, अविद्या है, अष्टम की प्राप्ति के वे साधन हैं, उन्हें साध्य समझ लेना अज्ञान है। सारे वेद, सारे दर्शन, संसार के सारे विज्ञान, संसार का सारा साहित्य उसके असत्यांश अनित्यरूप को देखता है, जानता है, परीक्षण करता है, परन्तु इन सातों कोटियों को पार कर लेने पर मनुष्य स्वयं अज्ञान, अविद्या, असत्य अन्धकार को पार कर लेता है और ज्ञान विद्या सत्य एवं प्रकाश के द्वार पर पहुँच जाता है, वही सत्य अर्थ है वही सत्य शब्द है। धर्म, सत्य, आत्मा, विद्या, द्रव्य, तत्त्व, वस्तु आदि शब्दों से उसी एक को संकेतित करते हैं।

उपर्युक्त विवेचन में वर्ण के स्थान पर प्रकृति, पद के स्थान पर जीव और वाक्य के स्थान पर ईश्वर रखकर समझने से अभिप्राय स्पष्ट हो जाता है। वैयाकरण सृष्टि के समस्त विज्ञान को वर्ण पद और वाक्य, नाम आख्यात और उपसर्ग, संज्ञा क्रिया और सर्वनाम की व्याख्या और परीक्षण द्वारा स्पष्ट करते हैं। वे प्रकृति को वर्ण समझते हैं, जीवात्मा को पद और ईश्वर को वाक्य। भर्तृहरि ने अतएव वाक्यपदीय में वाक्य और पद तथा इनके मूल ब्रह्म की तीन काण्डों में व्याख्या करके सारे विवेचन को समाप्त कर दिया है। वैयाकरण वर्णों का पृथक् अस्तित्व नहीं मानते हैं, अतः वर्ण को स्फोट नहीं मानते। भर्तृहरि ने मीमांसकों को पदवादी कहकर निर्देश किया है और पदवाद अर्थात् ब्रह्म के अतिरिक्त जीव का अस्तित्व मानने में जो कठिनाई आती है, उसका निर्देश दिया है। व्यावहारिक दृष्टि से सभी अंग ठीक हैं। यहाँ पर प्रश्न यह है कि अन्तिम सत्य क्या है, उसका स्वरूप क्या है। उसको वैयाकरणों ने वाक्य अर्थात् ईश्वर या ब्रह्म माना है।

इन आठों लक्षणों को भट्टोजि आदि ने निम्न नाम दिये हैं:—

१, वर्णस्फोट, २, पदस्फोट, ३, वाक्यस्फोट, ४, अखण्डपदस्फोट, ५, अखण्ड-वाक्यस्फोट, ६, वर्णजातिस्फोट, ७, पदजातिस्फोट, ८, वाक्यजातिस्फोट।

पंचकोशों से समानता—इन आठों को पांच भाग में रखा गया है, वर्ण-स्फोट, पदस्फोट, वाक्यस्फोट, अखण्डपदवाक्यस्फोट, तीन प्रकार के जातिस्फोट। भट्टोजि और कौण्डभट्ट ने भूषण कारिका ६६ में इस बात को स्पष्ट किया है कि इस विवेचन के मूल में उसी प्रकार की कल्पना है, जैसी कि तैत्तिरीय उपनिषद् में ब्रह्मानन्दवल्ली में शुद्धब्रह्म के ज्ञान के लिए पंचकोशों की कल्पना की गई है। वे पंचकोश हैं —अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्द-मय कोश। ये पांचों कोश शुद्धब्रह्मज्ञान के लिए उपाय हैं, ये क्रमश उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। स्थूल की ओर से सूक्ष्म की प्राप्ति की जाती है। ये पांचों ब्रह्म नहीं हैं, परन्तु इनमें ब्रह्म की कल्पना जिज्ञासु को अभीष्ट ब्रह्म तक पहुँचाने के लिए हैं। यहाँ पर पारमार्थिक अखण्ड तथा जातिरूप वाक्यस्फोट के ज्ञान के लिए पूर्वोक्त वर्णपद वाक्य तथा अखण्डपदस्फोट उपाय है।

इसकी विशेष व्याख्या श्रीकृष्णभट्ट ने स्फोटचन्द्रिका में, भट्टोजि ने शब्दकौस्तुभ में (पृ० ८,—१२) तथा शंकराचार्य ने ब्रह्मसूत्र (३,२,१ – १०) तथा तैत्तिरीय उपनिषद् (२,१) के भाष्य में की है।

वाक्यस्फोट ही सत्य है—भट्टोजिदीक्षित ने कौस्तुभ में (पष्ठ ८-१२), कौण्डभट्ट ने भूषण में (कारिका ६१-७४), नागेश ने मंजूषा में (पृष्ठ १६१-४८६) श्रीकृष्ण ने स्फोटचन्द्रिका में, मंडनमिश्र ने स्फोटसिद्धि में, शंकराचार्य ने पातञ्जल योगदर्शन के चतुर्थपाद के अन्त में, भरतमिश्र ने स्फोटसिद्धि में, तथा स्फोटसिद्धि-न्यायविचार के अज्ञात रचयिता ने बहुत विस्तार से यह सिद्ध किया है कि स्फोटवाद ही सत्य है, मुख्यरूप से वाक्यस्फोट ही सत्य है। भट्टोजि ने कहा है कि वस्तुतः वाचकता स्फोट में ही है। कौण्डभट्ट का कथन है कि अत्यन्त निष्कर्ष के पश्चात् वाक्यस्फोट ही सिद्ध होता है। वही वैयाकरणों का मत है।

वस्तुतस्तु वाचकता स्फोटैकनिष्ठा। कौस्तुभ, पृ० ८।
वाक्यस्फोटोऽतिनिष्कर्षे तिष्ठतीति मतस्थितिः॥
भूषण कारिका, ६१।

आधुनिक विचारकों का मत—आटोयेस्पर्सन ने फिलासफी आव् ग्रामर (पृ० ३०७), आग्डेन रिचार्ड्स ने मीनिङ् आव् मीनिङ् (पृ० १०,१६३ तथा २३०), हर्मन पाउल ने प्रिंसिपल्स आव् दी हिस्ट्री आव् लैंग्वेज (पृ० १११) तथा गार्डिनर ने थ्योरी आव् स्पीच एंड लैंग्वेज (अध्याय २ से ५) में बहुत

विस्तार से इस बात पर विचार किया है और यह निर्णय दिया है कि वाक्य ही सार्थक है, वाक्य एक अखण्ड अवयवी है। वाक्य की पद से पृथक् सत्ता है। पदों का कोई अर्थ नहीं होता है। आग्डेन और रिचार्ड्स तथा गार्डिनर का विवेचन प्रस्तुत विषय की दृष्टि से विशेष उपयोगी है। गार्डिनर ने इस विषय पर बहुत विस्तार से उक्त अध्यायों में विचार किया है।

आधुनिक ध्वनिविज्ञान विषयक आविष्कारों ने शब्द की नित्यता को सर्वथा सिद्ध कर दिया है। आधुनिक भाषाशास्त्री दोनों निर्णयों को पृथक् रखते हैं। अतएव वे नित्य शब्द तथा स्फोटवाद को भारतीय रूप में अभी तक नहीं मानते हैं। परन्तु दोनों निष्कर्षों का समन्वय न करना कहां तक उचित है यह विचारणीय है।

स्फोटवाद पर मीमांसकों और नैयायिकों द्वारा किए गए आक्षेपों का समाधान

स्फोटवाद पर मीमांसकों और नैयायिकों आदि ने बहुत से आक्षेप किये हैं। मीमांसादर्शन के भाष्य में शबरस्वामी ने वर्णस्फोट और पदस्फोट का समर्थन किया है। कुमारिल ने श्लोकवार्तिक के स्फोटवादप्रकरण में १३७ श्लोकों में स्फोटवाद का खण्डन करके वर्णवाद की स्थापना की है। मण्डन मिश्र ने स्फोटसिद्धि में ३७ श्लोकों में १३७ श्लोकों में किये गए आक्षेपों का उत्तर दिया है। शंकराचार्य ने वेदान्तसूत्र १, ३, २८ के भाष्य में वर्णवाद का समर्थन किया है। परन्तु योगदर्शन में चतुर्थपाद के अन्त में वर्णवाद का घोर शब्दों में खण्डन करते हुए कुमारिल के आक्षेपों को असत्य, भ्रान्त और निरर्थक बताया है। इसी प्रकार नैयायिकों में श्रीधर ने न्यायकन्दली में (पृ० २६७--२७०) में तथा जयन्त ने न्यायमंजरी में (पृ० ३४४—३५५) स्फोटवाद का विस्तार से खण्डन किया है। साहित्यिकों में आनन्दवर्धन ने ध्वनि की सिद्धि के लिए ध्वनि नामक कारिकाएँ लिखी हैं तथा उनकी आलोक नामक टीका स्वयं की है। अभिनवगुप्त ने ध्वन्यालोक की लोचन टीका करके ध्वनि की स्थापना की है। व्यक्तिविवेककार महिमभट्ट ने अपनी पुस्तक में ध्वनि का अनुमान में अर्थात् लक्षणा में समावेश सिद्ध करने के लिए बहुत बल दिया है। परन्तु मम्मट ने काव्यप्रकाश के पंचम उल्लास में तथा विश्वनाथ ने साहित्यदर्पण के पंचम परिच्छेद में उसके तर्कों का बहुत ऊहापोह से खण्डन किया है और व्यञ्जना शक्ति की पृथक् स्थापना की है।

जो प्रश्न किये गए हैं, यद्यपि उनका उत्तर पतञ्जलि और भर्तृहरि के शब्दों में दिया जा चुका है, तथापि विषय को स्पष्ट करने के लिए संक्षेप में उनका उल्लेख यहां किया गया है।

शबर स्वामी का कथन----शबरस्वामी ने मीमांसादर्शन में १, १, ५ सूत्र की व्याख्या में शब्द की जो व्याख्या की है उसी के आधार पर कुमारिल ने

स्फोटवाद का खण्डन किया है। शबर स्वामी का कथन है कि गौः इसमें क्या शब्द है ? भगवान् उपवर्ष का कथन है कि गकार, औकार और विसर्ग अर्थात् ग् औ तथा विसर्ग लोक व्यवहार में जो अर्थ कान से सुनाई पड़ता है, इसके लिए ही शब्द शब्द प्रसिद्ध है। 'ते च श्रोत्रग्रहणाः' यदि ऐसी बात है तो अर्थ का ज्ञान नहीं हो सकता है, क्योंकि एक-एक अक्षर के जानने से अर्थ का ज्ञान नहीं होता है, अक्षर से अतिरिक्त और कोई समुदाय नहीं है, जिससे अर्थ का ज्ञान हो। जब ग है, तब औ और विसर्ग नहीं है, जब औ तथा विसर्ग हैं तब ग नहीं है, अतएव ग आदि से अतिरिक्त अन्य गो शब्द है, जिससे अर्थ का ज्ञान होता है। यदि यह कहा जाय कि शब्द का तिरोभाव हो जाने पर स्मरण से अर्थ का ज्ञान होता है, तो यह ठीक नहीं है। क्योंकि स्मृति भी क्षणिक है अतः अक्षरों के सदृश ही है। अतः इसका समाधान करते हैं कि पूर्व वर्ण से उत्पन्न संस्कार के साथ अन्तिम वर्ण बोधक है। परन्तु इस पर यह आक्षेप होता है कि लोकव्यवहार में कहा जाता है कि शब्द से अर्थ समझते हैं (शब्दार्थं प्रतिपद्यामहे) यह लौकिक कथन सत्य नहीं होगा। यदि लौकिक वचन सत्य नहीं होता है तो न हो। लौकिक वचन सत्य नहीं होता है, अतः प्रत्यक्ष आदि से अज्ञात अर्थ को मानना ठीक नहीं है। लौकिक वचनों में कुछ का अर्थ सत्य होता है, कुछ का नहीं होता अर्थात् कुछ सार्थक होते हैं, कुछ निरर्थक।

इस पर प्रश्न उठता है कि शास्त्रकार भी ऐसा मानते हैं। यास्क ने निरुक्त में कहा है कि क्रिया के द्वारा प्रारम्भ से लेकर अन्तिम तक की सत्ता ली जाती है, जैसे "जाता है, पकाता है" में जाने और पकाने की क्रिया का जब से प्रारम्भ होता है, तब से लेकर समाप्त होने तक की क्रिया को जाना और पकाना कहते हैं। अप्रामाणिक बात यदि शास्त्रकार भी कहते हैं तो उसको नहीं मान सकते।

अक्षर से सिद्धि नहीं हो सकती, ऐसी बात नहीं है अक्षरों से संस्कार होता है, संस्कार से अर्थ का ज्ञान होता है, इस प्रकार से अर्थज्ञान सम्भव होने में अक्षर ही कारण हैं। यदि यह कहें कि अर्थज्ञान में शब्द गौण है, मुख्य नहीं, तो वह ठीक नहीं है। अक्षरों में निमित्तत्ता गौण नहीं है। अक्षरों के होने पर अर्थज्ञान होता है, उनके बिना नहीं होता है। यदि यह कहें कि ग आदि अक्षरों से गो शब्द पृथक् है तो यह ठीक नहीं, क्योंकि अक्षरों से पृथक् वह नहीं दीखता है, दोनों में अभिन्नता दीखती है। ग आदि प्रत्यक्ष है। इसलिये ग से लेकर विसर्ग तक पूरा पद अक्षर ही है। अतः अक्षरों से अतिरिक्त अन्य पद नहीं है। यदि यह कहा जाय कि संस्कार की कल्पना में भी अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ती है, तो इसका उत्तर यह है कि शब्द की पृथक् कल्पना करने में शब्द और अदृष्ट दो की कल्पना करनी पड़ती है। इसलिए अक्षरों को ही पद मानना चाहिए। पृष्ठ१३—१४।

** ननु संस्कारकल्पनायामदृष्टकल्पना। उच्यते। शब्दकल्पनायां सा च शब्द कल्पना च। तस्मादक्षराण्येव पदम्। पृ० १४।**

शब्द का अर्थ किसको मानते हैं, इस पर शबर ने सिद्ध किया है कि शब्द का अर्थ आकृति अर्थात् जाति है। "आकृतिः शब्दार्थः" यह जैमिनि का कथन भी सिद्ध होता है। पृ० १५।

शबर स्वामी ने 'उत्पत्तौ वाऽवचना०' सूत्र २४ के भाष्य में यह स्वीकार किया है कि पदार्थ ही वाक्यार्थ नहीं होता है, पद सामान्य अर्थ को बताता है और वाक्य विशेष अर्थ को। सामान्य और विशेष में अन्तर है। पदार्थ से वाक्यार्थ का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि पदार्थ में और वाक्यार्थ में कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि बिना सम्बन्ध हुए ही एक पदार्थ के ज्ञान से अन्य पदार्थ का ज्ञान हो जाए तो एक का ज्ञान होने पर सब का ज्ञान हो जाता। परन्तु ऐसा नहीं होता। अतः वाक्य का अर्थ पृथक् होता है। "तस्मादन्यो वाक्यार्थः"। पृ० ३२।

कुमारिल भट्ट—कुमारिल ने अक्षर शब्द के स्थान पर वर्ण शब्द रखकर अक्षरों को शब्द नहीं अपितु वर्णों को शब्द कहकर शब्द का लक्षण केवल श्रोत्रग्राह्यता किया है। कुमारिल ने वाक्यस्फोट के मानने में सबसे सैद्धान्तिक कठिनाई यह मानी है कि स्फोट मानने पर वाक्य अखण्ड होगा, वह अखण्ड वाक्यार्थ का वाचक होगा। उसके अवयव पद और वर्ण असत्य होंगे। अतः पद आदि के अवयवों के आश्रित ऊह आदि तथा महावाक्य के अवयव अवान्तर वाक्यों के अर्थ प्रयाज अनुयाज आदि के आश्रित प्रसंग तन्त्र आदि सारे कार्य मिथ्या हो जायँगे। अतः स्फोट का खण्डन करना निष्फल नहीं है। पार्थसारथिमिश्र।

> वर्णातिरिक्तः प्रतिषिध्यमानः पदेषु मन्दं फलमादधाति।
> कार्याणि वाक्यावयवाश्रयाणि सत्यानि कर्तुं कृत एष यत्नः।
>
> स्फोटवाद, १३७।

मीमांसकों के पाँच मुख्य आक्षेप, ५४ अन्य आक्षेप—भर्तृहरि ने वाक्यपदीय के द्वितीय काण्ड में (श्लोक ६२ से ८६) मीमांसकों की ओर से जो भी आक्षेप किये जा सकते थे, उन सब का संग्रह किया है। मीमांसकों के मत उल्लेख करते हुए भर्तृहरि ने कहा है कि जैसे एकत्रित पदों में वाक्यार्थ रहता है, उसी प्रकार एकत्रित वर्णों में पदार्थ उत्पन्न हो जाता है। अतएव पदों में वर्णों को और वाक्य में पदों को सार्थक मानना चाहिए। एक उदाहरण दिया है कि जैसे सूक्ष्म वस्तु ग्राह्य होते हुए भी किसी के संसर्ग से दीखती है, इसी प्रकार वर्ण सार्थक होते हुए भी अन्य वर्ण के संसर्ग से वाचक होता है। मीमांसकों का अभिप्राय यह है कि वर्ण सार्थक है परन्तु श्रोता अज्ञान के कारण उनको सार्थक नहीं समझता। पद को अनर्थक नहीं कह सकते क्योंकि पद के उच्चारण से कोई न कोई अर्थ ज्ञात होता है। उसका किसी अर्थ से सम्बन्ध नहीं, ऐसा नहीं कह सकते, क्योंकि अनुभव में उनका अर्थ देखा जाता है। उन एक-एक पदों में जो अर्थ है, उसी का समुदाय वाक्य है। अतः वर्ण समुदाय पद है, पदों का समुदाय वाक्य

है। उससे पृथक् वाक्य नहीं है। पुण्यराज ने कुमारिल का प्रसिद्ध श्लोक उद्धृत किया है, कि जितने जैसे जो वर्ण जिस अर्थ के प्रतिपादन में समर्थ देखे जाते हैं, उनको वैसा ही वाचक मानना चाहिए। पुण्यराज, वाक्य० २, ६२—६४।

यावन्तो यादृशा ये च यदर्थप्रतिपादने।
वर्णाः प्रज्ञातसामर्थ्यास्ते तथैवावबोधकाः॥
श्लोक० स्फोटवाद ६६।

यदि वाक्य में पदार्थ की सत्ता नहीं मानेंगे तो पांच मुख्य आपत्तियाँ ये आती हैं:—

१—प्रतिनिधि की कल्पना नहीं हो सकती। वैयाकरणों की भाषा में इसका अर्थ यह है कि किसी के स्थान में कोई आदेश नहीं हो सकता। जैसे धातु रूपों में ल के, स्थान पर तिप् तस् आदि होते हैं, उनका कोई अर्थ नहीं होना चाहिए। व्यावहारिक रूप से भाव यह है कि स्थानापन्न अधिकारी की कोई शक्ति नहीं होगी।

२—एक वाक्य में किसी विशेष पद का अर्थ न ज्ञात होने पर यह नहीं पूछ सकेंगे कि इस वाक्य में अमुक पद का क्या अर्थ है।

३—श्रुतिलिंगवाक्यप्रकरणस्थानसमाख्यानां समवाये पारदौर्बल्यमर्थविप्रकर्षात्। मीमांसा० ३, ३, १४।

मीमांसा का नियम है कि श्रुति, लिंग, वाक्य, प्रकरण, स्थान, समाख्यान ये विनियोग के कारण हैं। यदि ये एक स्थान पर हों तो इनमें से पूर्व-पूर्व बलवान् हैं, और एक के बाद दूसरा दुर्बल है, क्योंकि वह मुख्यार्थ से दूर हो जाता है। यदि वाक्य को मुख्य माना जाएगा तो वाक्य से श्रुति बलवान् होती है, यह नियम नहीं रह सकेगा।

४—एक महावाक्य में अवान्तर वाक्यों का कोई अर्थ नहीं होगा।

५—यदि पद और पदार्थ को नहीं मानेंगे तो मीमांसा दर्शन ने जो पदार्थ मूलक वाक्यों के नियम बताए हैं, वे सिद्ध नहीं होंगे। ये नियम इतने मुख्य हैं कि लौकिक और वैदिक अर्थात् संसार के सारे नियमों के वे आधार माने जाते हैं। इनके ज्ञान से ही वाक्यार्थ का निर्णय होता है। पुण्यराज, वाक्य० ६५—७८।

६—भर्तृहरि ने उपर्युक्त आक्षेपों का बहुत विस्तार से उल्लेख किया है। पंचम आक्षेप में उन्होंने ५४ आक्षेपों का समावेश किया है। मीमांसा में इन नियमों को लक्षणा कहा जाता है। लक्षणों को कई प्रकार से विभाजित किया गया है, इनकी संख्या ६, १२ और २४ है। शबर स्वामी ने इन ४२ में १२ और

पदार्थ के निश्चय के साधन लिखे हैं। इनमें विधि, भेद, शेष-शेषिभाव, प्रयोग, क्रम, अधिकारी, तन्त्र, प्रसंग, गौण, मुख्य आदि हैं।

आक्षेपों के उत्तर

पतञ्जलि ने 'हयवरट' (आह्निक २) तथा 'अर्थवदधातु०' (१,२, ४५) के भाष्य में बहुत विस्तार से वर्णवाद का खण्डन किया है, और निर्णय दिया है कि कुछ ऐसे अक्षर हैं जो कि एकाक्षर ही हैं, जैसे इ धातु, अ शब्द, अण आदि प्रत्यय, अ इ उ आदि निपात ये सार्थक हैं। अन्य वर्ण सार्थक नहीं हैं। जैसे कूप, सूप, यूप, में क स य और ऊप का अलग-अलग कोई अर्थ नहीं है। इसके विषय में वे कहते हैं कि यह स्वाभाविक है। जैसे सारे ही पढ़ने के इच्छुक तथा अध्ययन करने वालों में कुछ को ज्ञान प्राप्त होता है, कुछ को नहीं। एक को ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया, इसलिए सब को होना चाहिए या एक को नहीं हुआ, इसलिए किसी को न हो ऐसा नहीं होता। यह अन्तर स्वाभाविक है। एकाक्षर वर्ण सार्थक हैं, उनके अतिरिक्त वर्ण निरर्थक हैं।

कौण्डभट्ट ने भूषण में प्रतिनिधि वाले प्रश्न का उत्तर दिया है कि प्रतिनिधि जिसका प्रतिनिधित्व करता है, उसका अर्थ उसमें रहता है। व्यवस्था, व्यवहार एवं तन्निमित्तक होने से उनमें अर्थ रहता है। भूषण कारिका० ६२।

भर्तृहरि ने उक्त सारे प्रश्नों का उत्तर (वाक्य० २, ६०—११४) दिया है। सारे उत्तर का सारांश यह है कि अभिन्न में भी अपोद्धार से विभाग कर लिया जाता है, जैसे राहु और शिर एक होने पर भी "राहु का शिर" रस एक न होने पर भी अनेकों प्रकार का रस कहा जाता है। गन्ध एक है, उसमें भेद नहीं है, परन्तु भेद किया जाता है कि फूल की गन्ध, चन्दन की गन्ध आदि। गवय एक है, नरसिंह एक है, परन्तु उनमें भी भेद कर दिया जाता है कि इतना मनुष्य है, इतना सिंह। इसी प्रकार वाक्य में से अर्थ को पृथक् करके प्रतिनिधि की कल्पना, श्रुति और वाक्य का निर्णय करते हैं।

एक वाक्य में अज्ञात पद के विषय में जो प्रश्न करते हैं, वह अज्ञान का सूचक है। अज्ञानी वाक्य में अज्ञात पद की सत्ता मानते हैं, ज्ञानी नहीं। ज्ञानपद वाला वाक्य, अज्ञात पद वाले वाक्य से सर्वथा भिन्न है।

ज्ञान में विभाग नहीं है। ज्ञान एक है, वह प्रकाशक है। प्रकाश एक है, परन्तु उसमें भी भेद मान लिया जाता है कि नीले का ज्ञान, पीले का ज्ञान आदि। आकाश एक है, उसमें भेद नहीं होता है, परन्तु अज्ञानवश घटाकाश, मठाकाश आदि कहते हैं और समझते हैं। इसी प्रकार वाक्य में कोई खण्ड या भेद नहीं है, परन्तु अपोद्धार से भेद कर लेते हैं। लक्षणों आदि सब के विषय में यही उत्तर है, व्यावहारिक उपयोगिता के लिए लक्षणों की आवश्यकता है। पारमार्थिक एवं सत्य शब्दब्रह्म के लिए ये सारे लक्षण निरर्थक एवं अनुपयोगी हैं।

ध्वनि एक ही है, परन्तु वही वाद्य आदि की विभिन्नता से निषाद ऋषभ षड्ज मध्यम आदि भेदों से युक्त मानी जाती है।

जैसे एक वाक्य में से पदों को निकाल लेते हैं, उसी प्रकार महावाक्य में से अवान्तर वाक्यों की कल्पना करके उनको निकाल लिया जाता है। वस्तुतः उनमें भेद खण्ड आदि नहीं हैं। वाक्य० २, ६०—११४।

पदवादी वैयाकरणों के पाँच आक्षेप

पाँच और आक्षेप—पदवाद को मानने वाले वैयाकरणों की ओर से वाक्यस्फोट पर सात आक्षेप किये जा सकते हैं। भर्तृहरि ने स्वयं उनका उल्लेख करके निराकरण किया है।

१, द्वन्द्व समास में बहुवचन नहीं हो सकेगा। २, "धवखदिरपलाशाः" "सिध्यन्ताम्" धव, खैर, पलाश को सींचो, में सींचना क्रिया का प्रत्येक के साथ सम्बन्ध नहीं हो सकता। भाव यह है कि वाक्यार्थ की प्रत्येक व्यक्ति में समाप्ति नहीं होगी। ३, द्वन्द्व समास के बीच में कोई शब्द होगा तो उसको सर्वनाम पद के द्वारा सम्बोधित नहीं कर सकते। ४, वाक्य अक्रम मानने पर वाक्यार्थ का अनुष्ठान करते समय क्रम नहीं होना चाहिए, सहसा सारा काम हो नहीं सकता है। ५, एक अंश के कर लेने पर भी पूरे काम का कर लेना कह दिया जाता है, वह नहीं सम्भव होगा। जैसे थोड़ा काटने पर भी कह देते हैं कि "आप ने जो कहा था वह मैंने कर दिया" आदि। वाक्य० २, २२३—२२७।

आक्षेपों का उत्तर—भर्तृहरि ने विस्तार से इन प्रश्नों का उत्तर दिया है। भर्तृहरि का कथन है कि पहले वाक्य फिर समास आदि जो किया जाता है वह वास्तविक नहीं है। वाक्य समस्त ही है। बालकों एवं अविद्वानों को समझाने के लिए समास का विग्रह आदि किया जाता है, अपोद्धार को मानकर बहुवचन आदि किया जाता है। बहुव्रीहि समास में जहत्स्वार्था वृत्ति का ही आश्रय लिया जाता है। वहाँ पदार्थों की सत्ता न होना बताकर यह स्पष्ट किया जाता है कि वाक्य में पदार्थ की सत्ता वस्तुतः है ही नहीं। वाक्य० २, २२८—२३०।

अविद्या ही विद्याप्राप्ति का उपाय—भर्तृहरि ने आगे बताया है कि यदि पद पदार्थ सत्य होते तो व्याकरण में नाना प्रकार की प्रक्रियाएँ नहीं होतीं। अनेकों अपवाद नियम नहीं होते। कहीं प्रकृति प्रत्यय के अर्थ को बताती है, जैसेः—अहम् (भारा) में प्रत्यय नहीं है। कहीं प्रत्यय प्रकृति का अर्थ बताता है, जैसे इयत् (इतना) में इदम् शब्द का लोप है और उदाहरणों को देकर भर्तृहरि ने बताया है कि व्यवहार के लिए ये शास्त्रार्थ के प्रकार हैं। अज्ञान को हटाने के लिए इनका उपयोग है, कोई भी शास्त्रतत्त्व अर्थात् परब्रह्म का वर्णन नहीं

कर सकता है। प्रत्येक शास्त्र में अविद्या का ही वर्णन है, परन्तु शास्त्रों द्वारा अविद्या का ज्ञान होने पर उसके नाश हो जाने से शुद्ध ज्ञान की प्राप्ति हो जाती है। बालकों को जिस प्रकार रेखा आदि बनाकर अक्षरों का ज्ञान कराया जाता है, उसी प्रकार सारे शास्त्र शब्दतत्त्व के ज्ञान के लिए उपाय हैं। अज्ञान के नाश से ज्ञान होता है। असत्य के दूर होने से सत्य का दर्शन होता है। वाक्य० २, २३१—२४०।

व्यवहाराय मन्यन्ते शास्त्रार्थप्रक्रियायतः।
शास्त्रेषु प्रक्रिया भेदैरविद्यैवोपवर्ण्यते॥
अनागमविकल्पातु स्वयं विद्योपवर्तते॥
वाक्य० २, २३४–२३५।

पदवाद का खण्डन

चार आक्षेप—भर्तृहरि ने पदवाद मानने पर चार आक्षेप किये हैं। १—समास में किसी शब्द का कोई अर्थ नहीं हो सकेगा, क्योंकि समुदाय का अर्थ दूसरा होगा। अवयव का अर्थ दूसरा। दोनों भिन्नार्थ होंगे, अतः समास में एक साथ ही भेद और संसर्ग दो विरोधी गुण प्राप्त होंगे। एक ओर समुदाय और अवयव की विभिन्नता के कारण भेद होना चाहिए, दूसरी ओर समास के कारण संसर्ग। अनुभव में ऐसा नहीं देखा जाता है। २—अव्ययीभाव समास नहीं होगा। अधिहरि (हरि में) यथाशक्ति यथोचित आदि में अवयव का कोई अर्थ नहीं है। ३—बहुव्रीहि समास की सत्ता ही नहीं रहेगी। बहुव्रीहि अन्य पदार्थप्रधान होता है। पद का कुछ अर्थ मुख्य होता ही नहीं है। ४—प्रज्ञु, संज्ञु आदि शब्दों में जानु शब्दों के स्थान पर ज्ञु शब्द है, (अच्छे घुटने वाला)। यहां पर अवयवों अर्थात् प्रत्येक पद का कोई अर्थ नहीं है। वाक्य० २, २२०—२२२।

अन्य चार आक्षेप—१ - यदि पदवाद को मानेंगे तो वाक्य में पहले पद का अर्थ मानना पड़ेगा, फिर बाद में वाक्यार्थ के समय उसको छोड़ना पड़ेगा, इससे पदों को निरर्थक मानना पड़ेगा। २—यदि पद सत्य है तो वे सर्वदा एक जैसे रहने चाहिए, उनमें कभी किसी प्रकार का अन्तर नहीं आना चाहिए। एक ही शब्द के कर्त्ता, कर्म, करण आदि में रूप बदल जाते हैं। ३—यदि पद सत्य है तो एक पद का अन्य अर्थ में प्रयोग नहीं होना चाहिए। राजपुरुष 'समास में' राज शब्द क्रियावाचक भी हो सकता है कि हे पुरुष, तेजस्वी हो। ४—अश्व-कर्ण, कृष्ण-सर्प, नीलोत्पल आदि समस्त में अश्व कर्ण आदि पदों का कोई अर्थ नहीं है। वे विशेष जातिवाचक शब्द हैं। प्रत्येक काले सांप को कृष्ण सर्प नहीं कहते हैं। सांपों की जाति विशेष के लिए यह शब्द है। वाक्य० २, ३४–३६।

भर्तृहरि ने इसी प्रकार से कितने ही आक्षेप पदवाद मानने पर किये हैं। पदों से ही वाक्य नहीं बनते हैं। वाक्य की पदों से पृथक् सत्ता है। वही सत्य है। यहाँ पर भर्तृहरि के सारे आक्षेपों का उल्लेख सम्भव नहीं है।

वर्ण और पदवाद का खण्डन

कुमारिल आदि की त्रुटि— मण्डन मिश्र ने स्फोट सिद्धि में पृष्ठ २१—२२ इस बात को स्पष्ट किया है कि कुमारिल आदि मीमांसकों ने जो वर्णवाद का समर्थन करके स्फोट का खण्डन किया है, वह मीमांसा दर्शन के सिद्धान्त को ठीक न समझ करके किया है। मीमांसादर्शन में जैमिनि का कथन है कि भाव-वाचक कर्म शब्दों से क्रिया की प्रतीति होती है। वही अर्थ है। जैसे "यजेत" (यज्ञ करना चाहिये) में यज् धातु से भाव अर्थात् सत्ता का अर्थ बताया गया है। उस सत्ता को ही स्फोट, भाव, क्रिया आदि नाम दिये गए हैं। शबर स्वामी ने इसकी व्याख्या में ६ प्रकार का कर्मभेद बताया है, शब्दान्तर, अभ्यास, संख्या, गुण, प्रक्रिया, नामधेय। शबर स्वामी, मीमांसा० २, १, १।

भावार्थाः कर्मशब्दास्तेभ्यः क्रिया प्रतीयेतैष ह्यर्थो विधीयते। मीमांसा०, २, १, १।

कुमारिल आदि ने दूसरी बड़ी त्रुटि शब्द के लक्षण में की है। जो कान से सुना जाय, उसे शब्द कहते हैं, यह शब्द का लक्षण बहुत त्रुटिपूर्ण है। पतञ्जलि का शब्द का लक्षण दिया जा चुका है। मण्डन मिश्र ने शब्द का लक्षण किया है कि अर्थज्ञान की उत्पत्ति के कारण को शब्द कहते हैं। अनर्थक ध्वनि आदि को शब्द नहीं कहते हैं।

अर्थावसायप्रसवनिमित्तं शब्द इष्यते। स्फोटसिद्धि ३।

स्फोटवादी संस्कार को पृथक् नहीं मानते हैं। वे उसे वासना का रूपान्तर मानते हैं। अतः शबर स्वामी और कुमारिल का आक्षेप कि स्फोट और संस्कार और मानने पड़ेंगे। यह आक्षेप निरर्थक है। स्फोट० १०।

मण्डन ने अपना मत इस विषय पर स्पष्ट रूप से दिया है कि पद या वाक्य में स्फोटवादी अवयवों का अस्तित्व नहीं मानते हैं। स्फोटवाद सत्य है। शास्त्रीय और श्रुतिसंमत यही मत है। व्याकरण, निरुक्त और मीमांसा आदि इसी स्फोटवाद को मानते हैं। स्फोट० २६ ३६।

नानेकावयवं वाक्यं पदं वा स्फोटवादिनाम्। श्लोक० २६।

नैयायिकों और मीमांसकों के आक्षेपों का समाधान।

जयन्त भट्ट का विवेचन—जयन्त ने न्यायमंजरी में नैयायिकों और

मीमांसकों की ओर से जो आक्षेप स्फोटवाद पर किए गए हैं, तथा उनका जो उत्तर भर्तृहरि, मण्डन, भट्टोजि० आदि की ओर से दिया गया है, उसका सुन्दर और सुबोध भाषा में उल्लेख किया है। जयन्त ने अन्त में नैयायिकों की ओर से स्पष्ट किया है कि वे ध्वनि के कारण शब्द को अनित्य मानते हैं।

वे स्फोटवाद को स्फोट नाम से नहीं मानते; वे शब्द को मानते हैं और उसे सावयव मानते हैं। वैयाकरण स्फोट और ध्वनि दोनों को मानते हैं, परन्तु नैयायिक ध्वनि को ही स्फोट मानते हैं, अतः अनित्यांश के आधार पर खण्डन करते हैं, नैयायिकों आदि की ओर से स्फोटवाद के विरुद्ध निम्न आक्षेप हैं :—

१—वर्ण ही सार्थक है, उन्हीं से अर्थज्ञान होता है। २—प्रत्यक्ष और अनुमान प्रमाण से स्फोट सिद्ध नहीं होता। ३—वर्ण स्फोट के व्यञ्जक नहीं हैं। ४—ध्वनियाँ स्फोट की व्यञ्जक नहीं हैं। ५ वाक्यस्फोट नहीं है। ६—वाक्य के भाग पद आदि सत्य हैं। ७—स्फोट ब्रह्म नहीं है। इनके समाधान, जयन्त के शब्दों में निम्न हैं। न्यायमंजरी पृ० ३३७—३४४।

१—वर्ण अर्थबोधक नहीं है।

यह कथन कि वर्ण ही अर्थबोधक है, सत्य नहीं है, क्योंकि इस पर विचार यह है कि यदि वर्णों को अर्थ का बोध मानते हैं तो यह बताना होगा कि वे ग आदि वर्ण समस्त होकर अर्थ का प्रतिपादन करते हैं या व्यस्त रूप से, सम्मिलित रूप से या पृथक्-पृथक्। वे पृथक्-पृथक् अर्थ के बोधक नहीं हो सकते हैं, क्योंकि एक-एक वर्ण के सुनने से अर्थ की प्रतीति नहीं होती है। वे समस्त तो हो ही नहीं सकते हैं, क्योंकि उनके समस्त अर्थात् एकत्रित होने के दो ही प्रकार हैं, या तो सत्तामात्र से एकत्र हो सकते हैं या प्रतीति के विषय होने से। नैयायिकों के मत में सत्ता के आधार पर एकत्र होना सम्भव नहीं है, क्योंकि वे शब्दों को कार्य और विनाशी मानते हैं। उनके मत से शब्द उत्पन्न होते ही नष्ट हो जाते हैं।

हाँ, मीमांसक उन्हें नित्य मानते हैं, परन्तु उनके मत में भी सत्ता के आधार पर सम्मेलन होना सम्भव होने पर भी सारे वर्णों में सत्ता समानरूप से है, अतः कौन वर्ण समूह किस अर्थ का बोधक होगा, यह निर्णय नहीं किया जा सकता है। यदि यह कहा जाय कि वर्ण समूह आँख आदि इन्द्रियों के तुल्य अर्थ के बनाने वाले नहीं हैं, जिससे कि बिना उन्हें ग्रहण किए ही सत्तामात्र से उनके सम्मेलन से अर्थ बोध हो जाए। वे वर्ण ज्ञापक हैं, प्रकाशक हैं। जैसे विद्यमान धूएँ आदि से अग्नि आदि का बोध होता है, उसी प्रकार विद्यमान वर्णों

का ग्रहण होने पर ही अर्थ बोध होता है। उनका एकत्र होना बुद्धि में ही उपयुक्त है।

यह भी ठीक नहीं है यदि प्रतीति में एकता मानते हैं तो यह बताना होगा कि क्या एक वक्ता के प्रयुक्त वर्णों से अर्थ का ज्ञान होता है या अनेकों पुरुषों के भाषणों से, यदि अनेकों पुरुषों के भाषणों से तो वह कोलाहल ही होगा, उसमें वर्ण के स्वरूप का ही ज्ञान करना असंभव हो जाएगा, किसका सम्मेलन या किसका असम्मेलन। यदि किसी प्रकार सम्मेलन हो भी गया तो अर्थ की प्रतीति नहीं हो सकती। यदि एक के प्रयुक्त वर्णों से तो उसमें भी प्रयत्न स्थान, और करण कण्ठ, तालु, आदि के क्रम का परित्याग नहीं कर सकते हैं। वह कर्म अवश्यंभावी है। यदि क्रम को मानते हैं तो एक-एक वर्ण के द्वारा अर्थ की प्रतीति होनी चाहिए, परन्तु ऐसा देखा नहीं जाता है। इस प्रकार न सम्मिलित रूप से और न असम्मिलित रूप से वर्ण अर्थ का बोध करा सकते हैं। अतः वर्णों को वाचक नहीं मानना चाहिए।

अनेकों में स्मृति भी अनेक होती है—एक बात और है, वर्णों के विषय में बुद्धियाँ भी उसी प्रकार की माननी पड़ेगी। वे भी एकबार एकत्र नहीं हो सकती हैं। यदि क्रम मानते हैं तो एक-एक वर्णविषयक बुद्धि से अर्थ का ज्ञान मानना पड़ेगा। यह जो उत्तर दिया जाता है कि पूर्व-पूर्व वर्णों से उत्पन्न संस्कार के सहित अन्तिम वर्ण बोध कराता है यह भी युक्तिसंगत नहीं है। क्योंकि संस्कार जिस-जिस अनुभव से उत्पन्न हुआ है, वह उस विषय के ही स्मरण को उत्पन्न करता है। वह अन्य अर्थों के विषयक ज्ञान को उत्पन्न नहीं करता। यदि यह कहा जाय की स्मृति के द्वारा वर्ण अर्थ का बोध कराता है, तो यह भी ठीक नहीं है, क्योंकि इसमें एक साथ दो ज्ञानों की उत्पत्ति माननी पड़ेगी। (नैयायिकों का यह निर्णय है कि मन का स्वभाव है कि उसमें एक साथ दो ज्ञान नहीं उत्पन्न हो सकते हैं)। अन्त्य वर्ण के ज्ञान के अनन्तर ही पूर्व वर्णों के स्मरण की तरह समय का भी स्मरण मानना पड़ता है, अतः दो ज्ञानों की युगपत्स्थिति माननी होगी। उसमें क्रम मानने का या उसमें क्रम की उत्पत्ति का कोई कारण नहीं दीखता है, यदि यह मान भी लिया जाए कि उसी क्रम से दोनों ज्ञान होते हैं, तो भी उस समय अन्तिम वर्ण का ज्ञान नष्ट हो चुका है, अब पहले वर्णों की स्मृति किसकी सहायता करेगी। हाँ, अब तक जो कहा गया है वह अनेकों पहले वर्णों के विषय की एक स्मृति को मानकर कहा गया है, परन्तु यह भी जानना चाहिए कि सारे वर्णों के विषय में एक ही स्मृति नहीं होती है, क्योंकि भिन्न-भिन्न शब्दों के ग्रहण से उत्पन्न बासनाओं के भेद से निर्मित स्मृतियाँ भिन्न होनी चाहिएं। अनेकों में रहनेवाली एक स्मृति नहीं हो सकती।

संकलनात्मक ज्ञान सम्भव नहीं है—यदि यह कहा जाए कि एक संकलना ज्ञान (समन्वय ज्ञान) होगा जो कि सत् और असत् सभी वर्णों में रहेगा। उसके आश्रय से वर्ण अर्थ का ज्ञान कराएंगे तो यह भी दुराशामात्र है, क्योंकि संकलनात्मक ज्ञान का कोई कारण नहीं है। क्योंकि इन्द्रियाँ अतीत (नष्ट) वर्णों को ग्रहण करने में समर्थ नहीं हैं और न संस्कार वर्तमान का ग्राहक हो सकता है। इन्द्रिय और संस्कार युगपत् अर्थात् एक बार ही इस प्रकार की बुद्धि को उत्पन्न नहीं कराते हैं, क्योंकि सस्कार सहयोगी के दर्शन आदि से आहित (स्थापित) प्रबोधरूप है, केवल स्मरण को उत्पन्न करने की शक्ति उसमें है, इन्द्रिय के साथ उसका व्यापार "मेल" नहीं है, अत वर्णों को वाचक नहीं मानना चाहिए।

क्रम को मानने पर वर्णवाद नहीं होगा—हाँ, यदि उन्हें इस प्रकार से वाचक मान लिया जाएगा तो विपरीत क्रम से प्रयोग करने पर भी उन्हें उसी अर्थ का बोधक मानना होगा, जैसे नदीदीन, नाददान, राजा, जरा, राक्षस, साक्षर, आदि इनमें भेद नहीं होगा। यदि क्रम की अपेक्षा करनी पड़ती है तो यह विचारणीय है कि उसे अतिरिक्त मानना है या अपृथक्। यदि अपृथक् तो ये वही वर्ण हैं, क्योंकि उसी अर्थ को नहीं बताते हैं। यदि क्रम वर्णों से पृथक् है तो कुछ अधिक को वाचक मानना पड़ता है। ऐसी अवस्था में स्फोटवाद को मानना पड़ेगा।

यदि यह कहा जाए कि व्युत्पत्ति के कारण शब्द अर्थ का बोधक होता है और व्युत्पत्ति में जितने जिस क्रम से जो वर्ण जिस अर्थ को बताते हुए व्यवहार में देखे जाते हैं, वे उतने उसी क्रम से उस अर्थ का बोध कराएगे। जैसा कि कुमारिल ने कहा है कि जो जितने जैसे भी वर्ण जिस अर्थ के बोध कराने की साम्मर्थ्य वाले देखे गए हैं वे वैसे ही बोधक हो जाएँ, व्यर्थ के विवाद स क्या लाभ। श्लोक वार्तिक। स्फोट० ६६।

इस पर कथन यह है कि वह व्युत्पत्ति विचारणीय है। शब्द से अर्थ का जो ज्ञान होता है वह पहले अर्थात् पूर्वज व्यक्ति के ज्ञान से ही होता है। वृद्धों के ज्ञान से ही आगे शब्दों का ज्ञान होता है, वे व्यवहार करते हैं उनके व्यवहार को देखकर अर्थ जाना जाता है। यहाँ पर विवेचनीय नहीं है कि कौन कितने वर्ण आदि किस-किस अर्थ का प्रतिपादन करते हुए देखे गए हैं, जिनसे उसी प्रकार उन अर्थों को जान सके। व्यवहार में वर्ण से अर्थ की व्युत्पत्ति कहीं नहीं देखी जाती है। जितने जैसे आदि तभी तक प्रश्न हैं, जब तक कितने कैसे कौन आदि प्रश्न नहीं पूछे जाते हैं।

२—अनुमान से स्फोट की सिद्धि।

स्फोट अखण्ड है—इस प्रकार से वर्ण सर्वथा अवाचक सिद्ध होते हैं, उच्चारण किए गए शब्द से अर्थ की प्रतीति होती है वह बिना कारण के नहीं हो सकती है, इसलिए उसका कारण स्फोट है, इसको चाहे कार्यानुमान, परिशेषानुमान या अर्थापत्ति मानो, सर्वथा अर्थ प्रतीति रूपी कार्य से स्फोट की सिद्धि होती है। वह निरवयव नित्य एक अक्रम है, अतः उसमें क्रम पक्ष के दोष नहीं आते। अतः स्फोट ही अर्थ का प्रतिपादक है। स्फोट को मानने पर 'शब्दार्थं प्रतिपद्यामहे" में शब्द शब्द से प्रातिपदिकार्थ की सिद्धि हो जाती है।

यदि वर्णों को शब्द शब्द के द्वारा कहा जाता है और वे अर्थ के प्रतिपादक हैं तथापि "शब्दात्" में पंचमी और एकवचन का अर्थ ठीक नहीं होगा। उस अवस्था में शब्द शब्द से बहुवचन होगा और "शब्देभ्योऽर्थं प्रतिपद्यामहे" (शब्दों से अर्थ जानते हैं) ऐसा व्यवहार होता। जब स्फोट को अर्थ का प्रतिपादक मानते हैं तब प्रातिपदिक का अर्थ और पंचमी विभक्ति दोनों का अर्थ ठीक हो जाता है।

शब्द शब्द के द्वारा स्फोट का नहीं, अपितु वर्णों का ही बोध कराया जाता है। जो कान से सुनाई पड़े उसके लिए शब्द शब्द का प्रयोग होता है। वर्णों का ही कान से ग्रहण होता है, यह कथन ठीक नहीं है। कान में शब्दत्व अर्थात् कान में रहने वाली जाति का भी ग्रहण होता है, झरना, वीणा आदि की ध्वनि कान से सुनाई पड़ती है, परन्तु वह शब्द का कार्य सिद्ध नहीं करती, उससे अर्थ ज्ञान नहीं होता। अतः जिससे अर्थ का ज्ञान होता है, उसे शब्द कहना चाहिए। अर्थज्ञान स्फोट से ही होता है, वर्णों से नहीं, अतः स्फोट ही शब्द है।

यदि अर्थ बोधक होना ही शब्द का लक्षण करेंगे तो धूएँ आदि को भी शब्द मानना पड़ेगा। क्योंकि उससे भी अर्थ अर्थात् अग्नि का ज्ञान होता है। यह प्रश्न ठीक नहीं है। पतञ्जलि का प्रश्न था कि "अथ गौरित्यत्र कः शब्दः" गाय शब्द के सुनने से जो अर्थों की प्रतीति होती है, उसमें शब्द क्या है, इस प्रकरण में अर्थ-प्रतिपत्ति जिससे होती है, उसे शब्द कहते हैं, इस प्रकार उपसंहार करने पर धूएँ आदि में शब्दत्व की शंका को ही अवकाश नहीं है।

यदि यह कहा जाए कि अर्थ प्रतीति वर्णों के होने पर होती है, उनके न होने पर नहीं होती है। अतः उनको छोड़कर वह कैसे स्फोट का कार्य हो सकती है। इसका उत्तर यह है कि व्याप्ति वही होती है। जो अन्यथा सिद्ध न हो, यह अन्यथा सिद्ध है। अन्यथा सिद्धि क्या है, इसका उत्तर यह है कि वर्ण स्फोट के व्यञ्जक हैं, उसके अनन्तर ही अर्थप्रतीति होती है। वर्णों से अभिव्यक्त स्फोट अर्थ का बोध कराता है, लोगों को यह भ्रम होता है कि वर्णों से अर्थ प्रतीति होती है।

३—वर्ण स्फोट के व्यञ्जक हैं।

शबर और कुमारिल के प्रश्न का उत्तर—अच्छा यदि वर्णों को स्फोट का व्यञ्जक मान लें तो वर्णवाद पर जो समस्त या असमस्त आदि प्रश्न किए गए थे, वे कहां गए। कुमारिल ने अतएव कहा है कि जो स्फोट को अखण्ड मानते हैं, और वर्णज्ञान से उसकी अभिव्यक्ति मानते हैं, उन पर भी यह प्रश्न उसी प्रकार लागू होता है, (श्लोकवार्तिक, स्फोट० ६१)। शबर स्वामी ने (मीमांसा० १, १, ५) संस्कार की कल्पना करने पर अदृष्ट की कल्पना करनी पड़ेगी, इस प्रश्न का उत्तर देते हुए स्फोटवाद पर आक्षेप किया है कि शब्द की कल्पना करने पर संस्कार और शब्द दो कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं।

ये आक्षेप ठीक नहीं हैं। स्फोट की अभिव्यक्ति मानने पर विकल्प उत्पन्न नहीं होते हैं। इस आक्षेप के दो उत्तर हैं। एक मत यह है कि पहले वर्ण सुनने के समय स्फोट अभिव्यक्त होता है, दूसरे तीसरे आदि वर्ण निष्फल नहीं हैं। क्योंकि जो स्फोट पहले व्यक्त हुआ है, उस ज्ञान को ही वे संस्कृत करते हैं। जैसे रत्नों के परीक्षक रत्न को पहले ही दर्शन के समय उसे निर्मल आदि जान लेते हैं, परन्तु बार-बार उसकी परीक्षा करते करते अन्त में उनके हृदय में विशुद्ध रत्नतत्त्व का ज्ञान प्रकाशित होता है। इसी प्रकार यहां भी पहले वर्ण के सुनने पर स्फोट की अभिव्यक्ति होने पर भी और स्फोट प्रतीति के लिए अन्य वर्णों का प्रयोग किया जाता है। वाक्यपदीय, १, ३५।

४—ध्वनियां स्फोट की व्यञ्जक हैं।

दूसरा मत यह है कि ध्वनि ही स्फोट की व्यञ्जक है। उन ध्वनियों से अखण्ड स्फोट ही अभिव्यक्त होता हुआ तालु आदि स्थान करण के संयोग रूपी उपाधि से प्रभावित अनेकों ग आदि आकारों के विभागों से युक्त प्रतीत होता है। ध्वनि की चंचलता के कारण वे काल्पनिक आकार को प्राप्त होते हैं। आश्रय भेद से असत्यरूप का भी प्रतीति होती है, जैसे कृपाण, मणि, दर्पण आदि व्यञ्जकों के भेद से मुँह काला, लम्बा, आदि दिखाई देता है। नाद रूपी शब्द वीणा, मुरली, मृदंग, नगाड़ा आदि व्यञ्जकों के भेद से अनेकता को प्राप्त होता हुआ दीखता है। अतः वर्ण पारमार्थिक नहीं है, और न वे स्फोट के व्यञ्जक हैं। अतः समस्त या असमस्त आदि प्रश्न नहीं उठते हैं।

उपाधिभेद से प्रतिभासित होते हुए, असत्य आकार वाले वे अर्थबोध अन्वय व्यतिरेक के साधन होते हैं। अतः यह जो कहा गया है कि शब्द कल्पना में दो कल्पना करनी पड़ती है, यहां पर तो एक गुनी भी कल्पना नहीं है, दुगनी को तो

अतः स्फोटात्मक शब्द से ही अर्थज्ञान होता है, वर्णों से नहीं, यह सिद्ध होता है।

५—स्फोट प्रत्यक्ष दिखाई देता है।

तार्किक अनुमान प्रिय होते हैं। अतः उनके सन्तोष के लिए अनुमान द्वारा स्फोट की सिद्धि की गई है, पारमार्थिक दृष्टि से नहीं। पारमर्थिक दृष्टि से वह प्रत्यक्ष ही है, शब्दों से होने वाले ज्ञान में जिसकी प्रतीति होती है, वह स्फोट ही है, वही प्रत्यक्ष है। यह क्या विचित्र बात कही जा रही है, वर्ण प्रत्यक्ष उपलब्ध होते है, उनको तो अप्रत्यक्ष कहा जा रहा है और स्फोट जो कि अप्रत्यक्ष है, उसको प्रत्यक्ष कहा जा रहा है। इसका समाधान यह है कि हम यह नहीं कहते कि वर्ण प्रत्यक्ष नही हैं, वे तात्विक दृष्टि से नहीं हैं जैसे मुँह शीशे आदि के कारण लम्बा छोटा आदि दिखाई देता है, उसी प्रकार स्फोट उपाधि अर्थात् ध्वनि के कारण वर्णों के रूप में दिखाई देता है। शब्द वस्तुतः एक निरवयव है। अतएव यह एक पद है, यह एक वाक्य है, यह स्पष्ट प्रतीति होती है। जैसे कि व्यक्ति से अतिरिक्त जाति की सत्ता है और अवयवों से अतिरिक्त अवयवी की सत्ता है, इसी प्रकार वर्णों से अतिरिक्त पद है और पदों से अतिरिक्त स्फोट है। वही प्रत्यक्ष दिखाई देता है। यदि यह कहा जाए कि जैसें सेना, वन आदि की तरह पद और वाक्य की सत्ता अयथार्थ है, तो यह ठीक नहीं क्योंकि बाधक ज्ञान के बिना उसे असत्य नहीं कह सकते। यदि यह कहें कि एकार्थकबोधकता रूपी उपाधि के कारण यह एकाकार बुद्धि है, तो प्रश्न यह है कि यह एकार्थ की प्रतीति कहाँ से और कैसे हुई।

पद और वाक्य की प्रतीति के आधार पर पदार्थ और वाक्यार्थ की प्रतीति होती है, पदार्थ और वाक्यार्थ ज्ञान नामक कार्य की एकता से पद और वाक्य बुद्धि एकाकार होती है, इस प्रकार यह इतरेतराश्रय दोष हो जाएगा। जहाँ तक औपाधिक ज्ञान का प्रश्न है, वह तो जाति और अवयवी के विषय में कहा जा सकता है। यदि जाति और अवयवी के लिए यह उत्तर दिया जाए कि बाधा और सन्देह से रहित प्रतीति की दृढ़ता से उसको मानते हैं तो वही उत्तर पद और वाक्य के विषय में भी है। अतएव पदबुद्धि का पदस्फोट और वाक्यबुद्धि का वाक्यस्फोट विषय है। इस प्रकार स्फोट प्रत्यक्ष ही है, पदस्फोट से पदार्थ का ज्ञान होता है और वाक्यस्फोट से वाक्यार्थ का।

६—वाक्यस्फोट की सिद्धि।

यहाँ पर प्रश्न यह है कि निरवयव स्फोटात्मा शब्द है। वाक्य भी शब्द है। उसके पदरूपी अवयव नहीं होने चाहिए। यदि उसके पदरूपी अवयव हैं, तो पद के भी वर्णरूपी अवयव मानने चाहिए।

ध्वनि रूपी उपाधिभेद के कारण हुए वर्णभेद के आभास से विचलित बुद्धि वालों को समझाने के लिए अखण्ड पदस्फोट दिखाया गया है। वस्तुतः वाक्य

का अवयव पदस्फोट है ही नहीं । अखण्ड वाक्य ही अखण्ड वाक्यार्थ का बोधक है। जैसे पद के अवयव नहीं हैं, उसी प्रकार वाक्य के अवयव पद नहीं हैं, इसीलिए कहा गया है कि "वाक्य में पदों की असत्ता के कारण वाक्यार्थ में पदार्थ की सत्ता नहीं होती है । वाक्य और वाक्यार्थ अखण्ड है।" यदि अवयवों की कल्पना करेंगे और वाक्य के अवयव पद रहेंगे तो उसी प्रकार पदों के वर्ण हैं और वर्णों के भी अवयव होने चाहिये उनके अवयवों के भी और अवयव मानने पड़ेंगे । इस प्रकार अनन्तता हो जाने से क्या व्यवस्था होगी ? यदि वर्णों पर आकार अवयव की कल्पना से रुकना है तो वाक्य पर ही रुकना ठीक है। एक घटना के आकार वाली वाक्यार्थ बुद्धि होती है, वह वाक्य से ही हो सकती है। व्यवहार करने वाले वृद्धों के व्यवहार से ही शब्दार्थ को जानते हैं। वृद्ध व्यवहार में केवल पदों का प्रयोग ही नहीं होता है, क्योंकि पद व्यवहार का साधन नहीं है। वाक्य का ही प्रयोग होता है, उसी का ज्ञान होता है, उसी से अर्थ की प्रतीति होती है। अवयव का आभास भ्रममात्र है। अर्थ भी वाक्य का एक ही होता है जैसे नरसिंह, कृष्णसर्प, राजपुरुष आदि। इनमें दोनों भागों का पृथक् कोई अर्थ नहीं है।

इसी प्रकार पदार्थ से अन्य वाक्यार्थ है, जैसे पेय पदार्थ आदि। पेय ठंडाई शक्कर, नागकेशर, मिर्च आदि से पृथक् ही पदार्थ होना है। सिन्दूर, हड़ताल, लाक्षा रंग आदि से चित्र पृथक् होता है, षड्ज ऋषभ गान्धार आदि से राग पृथक् ही है, इसी प्रकार पद से वाक्य और पदार्थ से वाक्यार्थ पृथक् है।

७—वाक्य के अवयवों की असत्यता।

यदि वाक्य एक है तो उसमें उसके अवयवों का ज्ञान क्यों और कैसे होगा। इसका उत्तर यह है कि यह कल्पना मात्र है, वास्तविक नहीं। एक शब्द के हट जाने से उस अर्थ का कम होना और एक शब्द के बढ़ने से उस अर्थ की वृद्धि देखने से अवयवों को वास्तविक मानना चाहिए, यह कथन ठीक नहीं है। कूप, सूप, यूप में एक अक्षर के हट जाने से भी अर्थ का ज्ञान नहीं होता है। इसलिए प्रकृति और प्रत्यांश रूपी असत् पदार्थ की कल्पना वाक्यार्थ ज्ञान के उपायरूप में ग्रहण की जाती है, वस्तुतः वहाँ प्रकृति और प्रत्यय का अर्थ नहीं है, जैसे अश्वकर्ण (एक औषधि का नाम) में न अश्व का अर्थ है और न कर्ण का। असत्य का भी आश्रय सत्य की प्राप्ति के लिए लिया जाता है, जैसे लिपि के अक्षर असत्य हैं, परन्तु वे सत्य अर्थ का ज्ञान कराते हैं। यदि यह कहें कि वे अपने स्वरूप से सत्य हैं, तो यह ठीक नहीं। रेखारूप से वे अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं। यह ग है. इस प्रकार की रेखाएँ अर्थ बताने के साधन हैं, वे रेखा रूप से सत्य हैं, उस रूप से वे अर्थ का बोध नहीं करा सकतीं, और जिस रूप से अर्थ का बोध कराती हैं, उस रूप से वे सत्य नहीं हैं।

यदि यह कहें कि प्रकृति प्रत्यय आदि अंश भी वस्तुतः सत्य हैं, क्योंकि वैसी

है, व्याख्यान भेद से उसके स्वरूप की इयत्ता का निश्चय नहीं हो पाता। 'भवति' (है) में कोई मानते हैं कि भू धातु है, कोई मानते हैं कि इसमें 'भव' धातु है। कोई कुछ धातु बताता है, कोई कुछ, कोई एक प्रत्यय बताता है, दूसरा और। अतः वास्तविक कौन सा प्रकृति प्रत्यय विभाग है, कोई नहीं। यह प्रकृति है यह प्रत्यय है, यह केवल कल्पना है।

इसी प्रकार वाक्यार्थ की कल्पना से ही पदार्थों का विभाजन करते हैं। अतएव भर्तृहरि ने कहा है कि जैसे पद में से प्रकृति और प्रत्यय की कल्पना करके उनका अपोद्धार (विभाजन) किया जाता है, इसी प्रकार वाक्य में अपोद्धार से पदों की कल्पना की गई है।

कोई पदों की संख्या दो मानते हैं, कोई चार और कोई पाँच। कोई नाम और आख्यात, कोई इसके साथ उपसर्ग और निपात और मानते हैं, कोई पंचम कर्मप्रवचनीय भी मानते हैं।

पदं कैश्चिद् द्विधा भिन्नं चतुर्धा पञ्चधाऽपि वा।
अपोद्धृत्येव वाक्येभ्यः प्रकृतिप्रत्ययादिवत्॥

वाक्य० ३, १।

यदि पद पारमार्थिक होते तो निश्चित और असंदिग्ध उनका रूप होता। परन्तु उसमें अनिश्चितता संदिग्धता आदि है। कहीं पर वही संज्ञा का रूप है कहीं वही क्रिया का रूप है। अतः पद काल्पनिक ही है। वास्तविक नहीं। जैसे: अश्वः (घोड़ा) कर्ता है। अश्वः (गया) श्वि धातु का लुङ् मध्यमपुरुष एकवचन का रूप है 'ते' (वे सब वे दोनों, तेरे लिए, तेरा आदि) "अजापयः पीयताम्" (बकरी का दूध पी) और 'अजापयस्त्वं राजानम्" (तू ने राजा को जिताया) में अजापयः एक जगह नाम पद है, दूसरे स्थान पर क्रिया पद। 'कालेनदन्तिनागाः" का विभाजन कैसे किया जाय, ज्ञात नहीं होता। इसके तीन विभाजन हो सकते हैं, १—तू काले हाथी से गया, २—समय पर नाग अर्थात् हाथी चिंघाड़ते हैं, ३—समय पर नाग अर्थात् सर्प ध्वनि करते हैं। इस अनियम से ज्ञात होता है कि पद पदार्थ का विभाग सत्य नहीं है।

८—स्फोट ब्रह्म है।

यदि पदों में अर्थ नहीं है, वाक्यों में पद नहीं है, तो महावाक्यों में अवान्तर वाक्य नहीं होने चाहिए। इस कथन से क्या लाभ? प्रकरण आदि की अपेक्षा महावाक्य भी तात्त्विक नहीं होंगे, इससे क्या लाभ? शास्त्रकी अपेक्षा प्रकरण भी नहीं होंगे उस कथन से भी क्या लाभ? अन्त में एक ही यह शास्त्रतत्त्व शब्दतत्त्व अविभाग अद्वितीय स्फोटरूप में शेष रहता है।

हाँ, यदि सत्य पूछना चाहते हो और सत्य तत्व को जानते हो तो शब्द-ब्रह्म

में परिणत (विकसित) होता है। वाचक पृथक् कुछ नहीं है। इसलिए वाच्य वाचक का विभाग काल्पनिक है। विद्या की प्राप्ति का साधन अविद्या ही है, अतः अविद्या का आश्रय लिया जाता है। भर्तृहरि ने अतएव कहा है :—

अनादिनिधनं ब्रह्म शब्दतत्त्वं यदक्षरम्।
विवर्ततेऽर्थभावेन प्रक्रिया जगतो यतः॥
वाक्य० १, १।

संसार में वाग्रूपता (वाक्तत्त्व) ही तत्त्व है। सारे ज्ञानों में वही अन्तः प्रविष्ट है। अतः भर्तृहरि ने कहा है कि यदि ज्ञान में से वाक्तत्त्व निकल जाए तो संसार में कोई प्रकाश प्रकाशित नहीं हो सकता है। वही प्रकाशक है। (वाक्य० १, १२५)। भर्तृहरि ने उसका साक्षात्रूप प्रतिभा माना है। प्रतिभा संसार के जिस तत्त्व से निकल जाती है, वह तत्त्व कभी प्रकाशयुक्त, तेजस्वी नहीं हो सकता है।

वह वाक्तत्त्व संसार में तीन रूप से व्यवस्थित होकर प्रकाशित हो रहा है। उसके नाम हैं, वैखरी, मध्यमा, और पश्यन्ती। इनमें से स्थान करण और प्रत्यत्न के क्रम से व्यक्त होती हुई ग आदि वर्णसमुदायरूपी जो वाक् है, उसे वैखरी कहते हैं, विखर का अर्थ है देह और इन्द्रियों का समूह, उसमें उत्पन्न हुई को वैखरी कहते हैं। इसीलिए कहा गया है कि कंठ तालु आदि स्थानों में वायु के विकृत होने पर वर्णरूप को ग्रहण करके प्रयोक्ता के मुख से जो वाणी निकलती है, उसे वैखरी कहते हैं। प्राणवृत्ति उसके बन्धन का आश्रय है जो अन्दर संकल्पात्मक क्रमवाली है, जिसको बुद्धि ही ग्रहण करती है, वह मध्यमा वाक् कही जाती है। वह प्राणवृत्ति को अतिक्रमण करके रहती है।

जो भेद क्रम आदि से रहित, सूक्ष्म, अविनाशिनी केवल स्वप्रकाशरूप ज्योति जो कि सृष्टि में सर्वत्र व्याप्त है, उसको पश्यन्ती कहते हैं। न्यायमंजरी, पृष्ठ ३३७ – ३४३।

अविभागात् तु पश्यन्ती सर्वतः संहृतक्रमा।
स्वरूपज्योतिरेवान्तः सूक्ष्मा वागनपायिनी॥
वाक्य० १, १४४ की टीका

उपसंहार

भर्तृहरि ने जिस शब्दब्रह्म की अपने त्रिकाण्डात्मक वाक्यपदीय में व्याख्या की है, उसी का विकास अर्थब्रह्म है। एक ही आत्मतत्त्व के दो अविनाभाव से रहने वाले ये युगल हैं। यही सृष्टि में स्फोट और ध्वनि दो रूपों से प्रत्येक अणु में व्याप्त हैं। शब्द ब्रह्म की प्राप्ति का साधन अर्थब्रह्म है। दोनों में से एक अंश की भी न्यूनता होने से सृष्टि की स्थिति नहीं रह सकती। पतञ्जलि और कात्यायन ने इस शब्दब्रह्म की "सिद्धेशब्दार्थसम्बन्धे" कह कर व्याख्या की है। यह

सिद्ध है नित्य है। सारे वेद, सारे दर्शन सारे शास्त्र और सृष्टि का सारा साहित्य उसी की प्राप्ति के लिए है वही शब्द है, वही अर्थ है, वही सृष्टि के प्रत्येक अणु में सम्बद्ध है। वेदों ने उसकी व्याख्या वाक् नाम से की है। वही ज्ञान है, वही वृत्ति के द्वारा ज्ञान ज्ञेय और ज्ञाता रूप को प्राप्त हो गया है। यह स्फोटरूप से प्रत्यक्ष है, वह ध्वनिरूप से लक्षित होता है। प्रत्येक दर्शन ने उसको विभिन्न दृष्टिकोण से प्रस्तुत किया है। सबका भाव एक है, सबका सार एक है, सबका लक्ष्य एक है, सबका इष्ट वही है। उपनिषदों आदि ने उसे नेति नेति कह कर समझाया है। पाणिनि ने उसे "अ अ" कह कर समझाया है। पाणिनि ने उसे ही अर्थयुक्त बताया है, वही सार्थक है। वह न धातु है, न प्रत्यय, वह न प्रकृति है न जीव, वह अलिंग निष्क्रिय, अक्रम, अखण्ड, अव्यय है। उसी से इस अर्थ का विकास है। उसे पाणिनि ने प्रातिपदिक नाम दिया है। यह प्रत्येक पद में है। वही संज्ञा है, और वही संज्ञी है। वह सुबन्त और तिङन्त है। वह आकृति और द्रव्य है। वह जाति और व्यक्ति है, वही प्रस्तुत विषय का विषयी है। उसी की व्याख्या इस प्रयत्न का लक्ष्य है। वह सबके लिए शुभ हो, सुखकर हो।

अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्। पाणिनि, १, २, ४५।

इत्योम्

अनुक्रमणिका

अनुक्रमणिका (क)

सामान्य-अनुक्रमणिका

(अंक पृष्ठ-सूचक हैं)

अनुक्रमणिका (ख)

(नामों की अकारादि अनुक्रमणिका)

म

य

र

ल

अनुक्रमणिका (ग)

(उद्धरणों की अकारादि-अनुक्रमणिका)

आ

फ

ब

भ